

## पेट के रोग सम्पूर्ण चिकित्सा

### लेखकीय

### वर्तमान सन्दर्भ में पेट के रोग

आज भारत की कुल जनसंख्या का ७० प्रतिशत से भी अधिक भाग मध्यम या तीव्र लक्षणों युक्त विभिन्न प्रकार के पेट से सम्बन्धित रोगों यथा कब्ज (कोठबद्धता), अजीर्ण, अग्निमौद्य (भूख न लगना), अफारा या पेट में गैस बनना, पेट में जलन या अति अम्लता (हाइपर एसीडिटी), आमाशय या ग्रहणी के व्रण (पेप्टिक अल्सर), मितली और वमन आना, बवासीर, भगन्दर, पेट में दर्द, प्रवाहिका, अतिसार, ऑत्र कृमि, आमाशय शोथ, आँतों की सूजन और पाचन संस्थान के विभिन्न भागों से सम्बन्धित कैंसर आदि से ग्रसित हैं। इन रोगों के कष्ट से छुटकारा पाने (अस्थायी रूप में ही सही) के लिए उसे प्रतिदिन नियमित रूप से इस या उस औषधि का दामन थामना पड़ता है। इधर से उधर, इस या उस चिकित्सा के पास भटकना पड़ता है। यह चिन्ता का विषय केवल इस बात में ही समाप्त नहीं हो जाता कि ये तो केवल पेट से सम्बन्धित रोग हैं, बल्कि इन पेट से सम्बन्धित रोगों से तो शुरुआत होती है अन्य भयानक और असाध्य रोगों की, जिनसे अधिकांश रोगियों को मुक्ति केवल मृत्यु से ही मिलती है, जैसे हृदय, गुर्दे, यकृत और अग्न्याशय (मधुमेह) से सम्बन्धित रोग।

पर क्या वास्तव में यह मान लिया जाये कि प्रकृति या फिर 'ईश्वर' ने मानव जाति का निर्माण केवल इसलिए किया है कि वह अपने स्वास्थ्य को लेकर सदैव चिन्तित, परेशान और परतंत्र बना रहे? सुष्टि का निर्माण करने वाली जननी (प्रकृति) के प्रति ऐसी भावना रखना (शायद) हमें शोभा नहीं देता, क्योंकि वह इतनी निष्ठुर, इतनी कुटिल हृदय नहीं हो सकती है कि अपनी सन्तति को कष्टमय और पीड़ायुक्त देख सके। तो फिर क्या कारण है कि मनुष्य अपने स्वास्थ्य के विषय में इतना परावलम्बी बन गया है कि उसे आये दिन विभिन्न रोगों का आक्रमण अपने ऊपर सहना पड़ता है। उसे छोटी-छोटी व्याधियों के नाम पर अनाप-शनाप औषधियों का सेवन करना पड़ता है। इनसे धन की हानि तो होती ही है, शरीर पर इनके दुष्प्रभाव भी पड़ते हैं और उसकी जीवनी शक्ति का भी ह्रास होता है। मौसम में आये दिन होते रहने वाले संक्षिप्त परिवर्तन भी उसे व्याधिग्रस्त बना डालते हैं जबकि यही मनुष्य दो-तीन दशक पूर्व तक इन्हीं का सामना भली प्रकार, बिना किसी औषधि के कर लेता था।

इस सम्पूर्ण विषय पर सूक्ष्म विश्लेषण करने पर एक ही सूत्र हाथ लगता है कि इन सब दुष्परिणामों के लिए स्वयं मानव ही जिम्मेदार है। वह अपने प्राकृतिक जीवन क्रम से भटक कर अपने आहार-विहार व दैनिक जीवन में कृत्रिम साधनों व संस्कारों की तरफ दीवानों की भाँति बढ़ता जा रहा है। उसी गति से रोगों का आक्रमण व रोगियों की संख्या बढ़ती जा रही है। आज से कुछ दशक पूर्व तक मधुमेह रोगियों, हृदयाघात से मरने वाले व्यक्तियों की संख्या, उच्चरक्तचाप से पीड़ित और गुर्दे विफलता के रोगियों की संख्या लाखों तक सीमित थी। इन्हें धनाढ्य व्यक्तियों का रोग समझा जाता था। आज इनकी संख्या करोड़ों में पहुँच चुकी है और प्रसार निम्न आयवर्ग के लोगों तक हो गया है। भारत में जिस गति से इन रोगियों की संख्या बढ़ रही है, वह वास्तव में अत्यंत चिन्ता का विषय है। भारत में आज ५० लाख से अधिक कैंसर रोगी हैं, जबकि विश्व भर में इनकी संख्या मात्र ६० लाख है। आने वाले दो सालों तक भारत में इन कैंसर रोगियों की संख्या बढ़ कर ६५ लाख से अधिक हो जाने की संभावना चिकित्सा विशेषज्ञ कर रहे हैं।

आज का मानव अपने खान-पान के मामले में इतना लापरवाह होता चला जा रहा है कि स्वाद, शुद्धता और तथाकथित पौष्टिकता के नाम पर अनाप-शनाप जैसे माँस, मछली, अंडे, शराब, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, पान-मसाला, भारी, गरिष्ठ, तले-भुने, अधिक मिर्च-मसालेदार और देर से पचने वाले खाद्य पदार्थ और आधुनिक परिष्कृत खाद्य पदार्थों के नाम पर ब्रेड, केक, पेस्ट्री, डिब्बाबंद आहार, ठंडे पेय आदि खाने लगा है। इनमें कितने ही प्रकार के प्रिजरवेटिव एण्टी ऑक्सीडेंट, स्वाद, सुगन्ध और रंग पैदा करने वाले रसायन मिलाये जाते हैं, जो शरीर में पहुँच कर धीरे-धीरे अपना विषाक्त प्रभाव प्रकट करते हैं। इसके साथ ही उच्च तापमान पर खाद्यान्नों को पकाने पर उनमें मौजूद अधिकांश पोषक तत्व नष्ट हो जाते



**COLLECTION OF VARIOUS**  
**-> HINDUISM SCRIPTURES**  
**-> HINDU COMICS**  
**-> AYURVEDA**  
**-> MAGZINES**

**FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)**

**Made with**



**By**

**Avinash/Shashi**

**Icreator of  
hinduism  
server!**

**KAPWING**





**COLLECTION OF VARIOUS**  
**-> HINDUISM SCRIPTURES**  
**-> HINDU COMICS**  
**-> AYURVEDA**  
**-> MAGZINES**

**FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)**

**Made with**  
  
**By**  
**Avinash/Shashi**

**Icreator of**  
**hinduism**  
**server!**

 **KAPWING**

हैं। यहाँ तक कि उनका एक विशेष प्रोटीन उच्च तापमान पर विघटित होकर बेंजोपायरीन नामक रसायन में परिवर्तित हो जाता है। यह एक कैंसरकारी पदार्थ है।

इस प्रकार के भारी, गरिष्ठ और परिष्कृत आहार के सेवन से पाचन संस्थान पर अतिरिक्त दबाव बनने लगता है। आमाशय और अन्तड़ियों में अधिक समय तक खाया गया भोजन पड़ा हुआ सड़ता रहता है। इससे रोगी की भूख धीरे-धीरे घटने लगती है। उसे अपच या अजीर्ण हो जाता है। आमाशय में अम्ल के अधिक रिसाव से छाती और पेट में जलन या आमाशय एवं ग्रहणी में व्रण (घाव) तक बन जाता है। व्यक्ति को मल त्याग समय पर नहीं होता और कब्ज रहने लगती है, जिससे बवासीर, भगन्दर जैसे रोगों का जन्म होता है। कब्ज का एक और कारण है- रात्रि को देरी से खाना, देरी से सोना और देरी से ही जागना एवं प्रातःकाल शीघ्रता में तैयार होकर अपने काम पर चले जाना ।

हमारे आधुनिक खान-पान की एक और विशेषता है कि जब शरीर श्रम करता है तब उसे कम आहार दिया जाता है और जब वह विश्राम की अवस्था में होता है तब उसे अधिक मात्रा में अधिक कैलोरीयुक्त खाने को दिया जाता है। जैसे कि , दिन का समय, जो मेहनत-परिश्रम का समय है तब तो बार-बार चाय, कॉफी, ठंडे पेय, चावल आदि कम कैलोरी वाले आहार से काम चला लिया और रात्रि के समय, जो शरीर के विश्राम की अवस्था है, तले-भुने , गरिष्ठ भोजन का सेवन किया जाता है और ऊपर से दूध पी लिया जाता है। चूंकि विश्राम की अवधि में शरीर को बहुत कम ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है अतः आहार में मौजूद बहुत से पोषक तत्व (कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज) तो शरीर में ही संचित होते चले जाते हैं जबकि अन्य पोषक तत्व (प्रोटीन, जल) शरीर से बाहर निकलने के लिए यकृत और गुर्दों पर अतिरिक्त दबाव डालने लगते हैं। वसा आदि के जमने से शरीर का वजन बढ़ता है, रक्त धमनियां संकीर्ण होती चली जाती हैं। इस प्रकार के आहार से कुछ समय उपरांत अनेक रोगों का जन्म होता है। एक बात और गौर करने की है कि जो लोग अधिक शारीरिक परिश्रम वाला कार्य करते हैं उनके पास कैलोरी के नाम पर खाने को थोड़ा बहुत है और जो बिना परिश्रम किये, आनन्द का जीवन जी रहे हैं उनके पास कैलोरी और बस, कैलोरी वाला आहार ही है।

आहार-विहार में समाविष्ट कृत्रिमता ने जिस प्रकार और जिस सीमा तक शरीर के अंग अवयवों को अपंग-असमर्थ बनाया एवं विभिन्न रोगों को जन्म दिया है, उनके शमन के लिए उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के चिकित्सा क्रम भी बनते और विकसित होते चले गये हैं। आज चिकित्सा के नाम पर आधुनिक ऐलोपैथी, होमियोपैथी, आयुर्वेदिक, यूनानी, तिब्बती-सिद्धा, योग-चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, चुम्बक चिकित्सा, कल्प चिकित्सा प्रणाली इत्यादि अनेक प्रकार की पद्धतियां प्रचलित होते हुए भी चारों ओर एक ही माँग है कि वैकल्पिक चिकित्सा प्रणाली ढूँढ निकाली जाये और मानवता को स्वास्थ्य संकट से मुक्ति दिलायी जाये। जितनी ही यह माँग बढ़ रही है, उतनी ही मात्रा में व्याधियों की संख्या व भिन्नताएं भी बढ़ रही हैं। इनके अतिरिक्त ‘ड्रग रजिस्ट्रेंस’ एवं ‘ड्रग डिपेन्डेंस’ जैसी समस्याओं ने तो वैज्ञानिक जगत को इतना उद्धेलित किया है कि उन्हें एक नितान्त सुरक्षित, प्राकृतिक जीवन क्रम से मिलती सहज, सुलभ चिकित्सा पद्धति के आविष्कार हेतु विवश होना पड़ा है।

कुछ पद्धतियों को छोड़कर आज जितनी भी चिकित्सा पद्धतियां विकसित और प्रचलित हैं, उनका लक्ष्य या तो रोगी को रोग के कष्टों से बचाना अर्थात् रोग के लक्षणों को दबाना या फिर एक बार रोग उत्पन्न हो जाये तब उसका शमन करना है। पर वास्तव में होना ऐसा चाहिए कि रोग पैदा ही न हों, इस बात के पर्याप्त उपाय किये जायें। तभी वास्तव में मानव जाति रोग मुक्त हो सकेगी ।

मेरी, स्वयं की शिक्षा-दीक्षा भी आधुनिक चिकित्सा माध्यम से ही हुई और अभी कुछ समय पूर्व तक मैं अपने अधिकांश रोगियों का उपचार आधुनिक औषधियों (शल्य चिकित्सा सहित) से ही करता था। उस उपचार के दौरान औषधियों के इतने दुष्प्रभाव प्रकट होने लगते हैं कि ऐसा लगने लगता है कि रोगी को कोई अन्य रोग हो गया है, या फिर अधिकांश मामलों में रोगियों को जीवन भर इन औषधियों पर निर्भर रहना पड़ता है एवं दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। जहाँ तक कि शल्य चिकित्सा से रोग मुक्त हुए अधिकांश रोगियों में भी ऐसा ही दखा जाता है कि कुछ वर्षों बाद ही रोग के लक्षण पुनः उत्पन्न होने लगते हैं। एक तथ्य अवश्य सराहनीय है कि आपातकालीन रूप में रोगों को तुरंत कष्ट मुक्त करने में इस पद्धति का कोई सानी नहीं है।

इस उपचार के दौरान मेरे मस्तिष्क में यह विचार आता था कि कोई ऐसी सरल, सहज, सस्ती और हानि रहित चिकित्सा पद्धति जो रोगी को बिना कष्ट और हानि पहुँचाये रोगों से स्थायी रूप में मुक्ति दिला सके। मैंने ऐसी कुछ चिकित्सा पद्धतियों के विषय में सुना अवश्य था जो रोगों से छुटकारा दिलाने के लिए प्राकृतिक पद्धतियों का सहारा लेते हैं, पर उनका अनुभव मुझे नहीं था। तब स्वयं के अनुभव और अनुसंधान से संस्पर्श उपचार, वानस्पतिक चिकित्सा, ऊर्जा चिकित्सा, शरीर को प्राकृतिक रूप से उपचारित करने एवं आयनिक डिसोसियेशन पद्धतियों के मिश्रण से मैंने एक वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति विकसित की है। आज मैं अपने पास आने वाले असाध्य रोगों से पीड़ित, हताश और निराश रोगियों का इन्हीं पद्धतियों से उपचार करता हूँ। मुझे इस वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति से हृदय रोग, श्वसन रोग, अस्थियों के जोड़ों, गुदों की विफलता, मधुमेह जैसे जटिल रोगों को पूरी तरह नियंत्रित करने में सफलता मिली है। इन पद्धतियों से हृदय की धमनियों के अवरोध तक का बिना शल्य चिकित्सा से हटाने पर अनुसंधान जारी है।

मेरा विश्वास है कि यदि मानव जाति प्राकृतिक प्रणाली के अनुसार अपने खान-पान, रहन-सहन और कर्म व व्यवहार को अपना ले तो काफी हद तक रोगों से मुक्त रहकर लंबे जीवन का आनन्द ले सकती है।

यह जो पेट के रोग : सम्पूर्ण चिकित्सा नामक पुस्तक आपके हाथ में है उसे लिखा मैंने और मेरे साथियों ने अवश्य है किन्तु इस पुस्तक की प्रेरणा स्रोत पुस्तक के प्रकाशक श्री मोहन कुमार कश्यप जी ही रहे हैं जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य विचारों से हमें प्रोत्साहित किया और पुस्तक के लिए पेट से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण विषयों को चुनने में मदद की। इस कार्य के लिए मैं श्री मोहन कुमार कश्यप जी और सहयोग के लिए अपने साथियों डॉ. विपिन चन्द्र त्रिवेदी, डॉ. राहुल देव तथा आदरणीय वैद्य श्री हरिमोहन जी शर्मा का हृदय से आभारी हूँ।

वास्तव में इस पुस्तक की विषय वस्तु इस प्रकार से निर्धारित की गई है कि पाठकों से सम्बन्धित समस्त रोगों के कारणों, रोगों के लक्षणों, सम्बन्धित शारीरिक अंगों में होने वाले परिवर्तनों, रोग के दौरान लिए जोन वाले आहार के संबंध में जान सकें। जबकि रोगों के उपचार पक्ष पर इसलिए कम ध्यान दिया गया है कि कहीं पाठक स्वयं ही अपना उपचार करने न बैठ जायें, क्योंकि पुस्तक का लक्ष्य सामान्य पाठकों को चिकित्सक बनाना नहीं रहा, बल्कि उनकी ज्ञान वृद्धि रहा है। पुस्तक में पेट के रोगों पर आधुनिक चिकित्सा की बहुत कम चर्चा हुई है, जबकि रोगों के उपचार पक्ष में केवल सरल, हानि रहित आयुर्वेदिक घरेलू योगों, आहार और विहार तक ही सीमित रखा गया है। आशा है कि पुस्तक की यही विषय सामग्री सामान्य पाठकों की ज्ञान तृप्ति के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकेगी तथा इन्हीं संक्षिप्त, सरल उपचारों से उनके कितने ही पुराने जटिल रोग दूर हो सकेंगे। इस सबके बावजूद यदि पुस्तक के पाठक किसी अतिरिक्त जानकारी की आवश्यकता महसूस करते हैं तो निःसंकोच अपने सुझाव व शंकाएं भेज सकते हैं। उन्हें पुस्तक के नये संस्करण में अवश्य सुधार और शामिल कर लिया जायेगा। इसके साथ ही व्यक्तिगत पत्र व्यवहार से तुरंत पाठकों की समस्या का समाधान भी किया जा सकेगा।

वैसे तो चिकित्सा विज्ञान पर हिन्दी में लिखी जाने वाली यह मेरी चौथी पुस्तक है। इससे पूर्व प्रकाशित पुस्तकों 'असाध्य रोग और सफल उचार', 'सेक्स : एक सम्पूर्ण विज्ञान', आयुर्वेदिक औषधियों का वैज्ञानिक विश्लेषण' आदि को पाठकों ने बहुत पसंद किया है तथा वे पुस्तकें बहुत चर्चित भी हुई हैं। आशा है यह पुस्तक भी पूर्व पुस्तकों की भांति सफल सिद्ध रहेगी। फिर भी पुस्तक के विद्वान पाठकों से विनम्र निवेदन है कि वे पुस्तक के सम्बंध में अपनी निष्पक्ष समालोचना लिखकर भेजना न भूलें, क्योंकि उसीसे हमें गलतियां सुधारने, कमियों को दूर करने तथा नये विचार और विषयों को चुनने एवं शामिल करने में सहायता मिलती है। वैसे भी लेखक और पाठकों के मध्य मधुर और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध बना रहे, यही अच्छा है।

डॉ.आर.कृष्ण शर्मा (एम.एस.)

बगीची पेड़मल टै लोहगढ़ गेट अमृतसर - १४३००१ फोन : ०१८३-२६२०८३

## पेट के रोग - एक सम्पूर्ण पुस्तक

पेट को रोगों की जड़ माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति पेट के किसी न किसी रोग से अक्सर पीड़ित रहात है। शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखने, ऊर्जावान बनाये रखने में पेट का महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए जब व्यक्ति का पेट, चाहे किसी भी कारण से गड़बड़ हो जाता है तो सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसके पीछे एक कारण तो यही है कि व्यक्ति में अभी तक इतनी चेतना नहीं आयी है कि वह समझा सके कि उसे क्या खाना चाहिए, कितना खाना चाहिए, कैसे खाना चाहिए? इसी कारण की वजह से व्यक्ति का खान-पान अक्सर गड़बड़ा जाता है। पेट एकाएक किसी गड़बड़ी के प्रति विद्रोह नहीं करता लेकिन जब लगातार और लंबे समय तक आहार सम्बन्धी गड़बड़ी बनी रहती है तो पेट के विभिन्न पाचन संस्थान अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, उनके भीतर विभिन्न प्रकार की गड़बड़ियाँ पैदा होने लग जाती हैं। परिणामस्वरूप पेट के विभिन्न प्रकार के रोग सिर उठाने लगते हैं। और अन्ततः व्यक्ति को बीमार कर जाते हैं। एक समस्या व्यक्ति के साथ और भी है, वह यह कि रोग की अवस्था में वह नहीं समझ पाता की उसे अपना आहार कैसा लेना चाहिए। रोग की अवस्था में आहार का अत्यंत महत्व है। आहार अपने आपमें एक औषधि का काम करता है। लेकिन व्यक्ति आमतौर पर आहार की न तो उपयोगिता समझ पाता है और न ही किये जाने वाले आहार के प्रति जागरूक होता है। इस कारण उसे रोग मुक्त होने में काफी समय लग जाता है। कई बार व्यक्ति पूरी तरह से ठीक होता नहीं किन्तु अपने आपको ठीक समझ कर फिर वही सब कुछ करने लग जाता है जो कि उसे नहीं करना चाहिए था। सब कुल मिला इसे आज सन्दर्भ में देखा जाये तो व्यक्ति ने अपने पेट को गोदाम से भी बदतर अवस्था में ला दिया है क्योंकि गोदाम की भी चार छः महिने में सफाई हो जाती है किन्तु पेट की सफाई की तरफ गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया जाता ।

**पेट के रोग : सम्पूर्ण चिकित्सा** को प्रकाशित करने का एक बड़ा कारण यही है । यह पुस्तक आम व्यक्ति में पेट के रोगों के प्रति एक चेतना जाग्रत करने का काम करेगी । इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य पाठक को स्वयं का चिकित्सक बनाने का कदापि नहीं है। इस प्रकार पुस्तकें पढ़ कर कोई अपना डॉक्टर आप नहीं बन जाता । पूर्ण ज्ञान के अभाव में अर्द्धज्ञानी , अज्ञानी से अधिक खतरनाक माना जाता है। जो लेखक अथवा प्रकाशक इस बात का प्रचार करते हैं कि उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तक पढ़ कर व्यक्ति अपना डॉक्टर आप बन सकता है, वे पाठकों के साथ धोखा करते हैं। केवल प्राकृतिक चिकित्सा एकमात्र ऐसी चिकित्सा है जिसमें व्यक्ति कुछ ज्ञान और कुछ प्रयास से, सम्पूर्ण नहीं केवल छोटे-मोटे रोगों का उपचार स्वयं कर सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में रोग के विवरण के साथ उस रोग से सम्बन्धित अंगों की संरचना तथा उनकी कार्यविधि पर विस्तार से चर्चा की गयी है। यह इसलिए आवश्यक समझा गया कि पाठक समझ सकें कि उनके गलत प्रकार के आहार लेने के कारण पेट को उसे पचाने में कितना परिश्रम करना पड़ता है? भोजन गले से नीचे उतरने के बाद किन-किन अवस्थाओं और अंगों से गुजरता हुआ कैसे आगे बढ़ता है? व्यवधान कैसे आता है? व्यवधान (रोग) की अवस्था में सम्बन्धित अंग की स्थिति कैसी होती है? इन सबसे आम व्यक्ति भी इस बात को सहज ही समझ सकेगा कि गलत प्रकार का आहार जितनी सहजता के साथ गले के नीचे उतर जाता है उतनी सहजता के साथ पेट के बाहर नहीं निकल पाता। अगर व्यक्ति थोड़ी भी समझदारी से काम लेंगे तो किसी प्रकार का गलत आहार लेने से पहले एक बार विचार अवश्य करेंगे कि उन्हें यह खाना चाहिए कि नहीं? यह विचार करने वाली स्थिति पैदा करना ही इस पुस्तक के प्रकाशन का मूल उद्देश्य है।

इस बारे में एक बात और है। व्यक्ति गलती करता है और रोग को गले लगाता है, उस पर भी वह रोग की परवाह नहीं करता। पूरी तरह से लापरवाही का भाव रखते हुये वह उस समय तक रोग को गम्भीरता से नहीं लेता जब तक कि रोग स्वयं ही गम्भीर नहीं हो जाता । ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्थिति कई बार बहुत ही गम्भीर और दयनीय हो जाती है। कई बार ऐसी भी स्थिति आती है जब व्यक्ति रोग के लक्षणों को सही प्रकार से समझ नहीं पाता। इस कारण वह चिकित्सा करवाने में असाधारण विलम्ब कर देता है। दूसरी स्थिति में वह मूल रोग के लक्षणों को सही प्रकार से समझ नहीं पाता और अन्य रोग समझ कर वैसा उपचार लेने लगता है। पुस्तक में इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है। यदि व्यक्ति ठीक प्रकार से रोगों के बारे में जानकारी लेता है तो उसे रोग सम्बन्धी लक्षणों के बारे में भी पूरा ज्ञान हो जाएगा। ऐसी अवस्था जबकि पेट किसी भी कारण से गड़बड़ है, वह समझ सकेगा कि वास्तव में गड़बड़ी कहा है।

पेट के रोगों के अलावा रोग सम्बन्धी सामान्य ज्ञान के विषयों पर भी ध्यान दिया गया है ताकि व्यक्ति न केवल रोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करे बल्कि साथ ही साथ यह भी समझे कि आखिर पेट के रोग होते क्यों हैं। हालांकि यह विषय काफी गहरा है किन्तु फिर भी हमने इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे विषयों को चुना है जो वास्तव में और प्रमुख रूप से पेट के रोगों के लिए जिम्मेदार हो सकते हैं। ये ऐसे विषय हैं जिनके बारे में सही जानकारी न होने के कारण व्यक्ति जानबूझकर अपने आहार में विकृति पैदा करता है। इस विकृति से उपजे रोग जब उसे जकड़ लेते हैं तो उस दुःख को प्रत्येक व्यक्ति को भुगतना होता है। रोग सम्बन्धी अनेक विषय ऐसे हैं जिनके बारे में वास्तविक जानकारी हो तो पेट के अनेक रोगों से बचा जा सकता है। इस प्रकार के लेख सभी के लिए काफी उपयोगी साबित होंगे। जैसे कि वर्तमान संदर्भ में पेट के रोग, मांसाहार और पेट के रोग, पेट के रोग पैदा करने वाले आहार , मादक पदार्थ और पेट के रोग , पेट के रोग पैदा करने वाले प्रमुख कारण, पेट के रोग:वैज्ञानिक अनुसंधान आदि। इन लेखों के द्वारा पाठकों को पेट के रोगों की पृष्ठभूमि के बारे में पहले ही जानकारी हो जाने से रोगों को समझने में भी मदद मिलेगी। इसके अलावा दो और लेखों को प्राथमिकता के आधार पर दिया गया है। इनमें से पहला पेट की आन्तरिक संरचना और भोजन को पचाने का कार्य करने वाले अंगों की कार्यविधि और महत्व को स्पष्ट किया गया है। पेट की आन्तरिक संरचना और कार्यविधि वाले लेख में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है कि गले से नीचे उतरने के बाद भोजन का पाचन किस प्रकार होता है, मल के रूप में गुदाद्वार से निकलने तक भोजन किन-किन अंगों से गुजरता है और पूरी तरह पाचन कैसे होता है? इसके बाद एक प्रमुख पक्ष रह जाता है, वह यह कि पेट के रोगों से कैसे मुक्ति मिले और रोगी व्यक्ति का आहार कैसा हो? 'नियमित दिनचर्या और ऋतुचर्या से पेट के रोगों से सहज मुक्ति' में अत्यंत सरल शब्दों में इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही रोगी व्यक्ति के आहार के बारे में प्रकाशित लेख 'रोगी व्यक्ति का आहार कैसा हो?' में रोगी के आहार सम्बन्धी विषय को गम्भीरता से उठाया गया है। इस लेख का महत्व इसलिए भी है कि रोगी का आहार स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति के आहार से अलग होता है। यदि रोग की अवस्था में आहार व्यवस्था पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाये तो रोग से मुक्ति शीघ्र मिलती है। पेट के रोगों से सम्बन्धित इस प्रकार के लेख प्रकाशित करना एक अभिनव प्रयोग है। एक ऐसा प्रयोग जिससे निश्चित रूप से पाठकों को अत्यंत लाभ प्राप्त होगा।

जहां तक चिकित्सा का प्रश्न है, वहां पर आधुनिक चिकित्सा के साथ लेते हुए आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, योग तथा आहार चिकित्सा पर विशेष बल दिया गया है। पेट के रोगों से मुक्ति के लिए उपरोक्त चारों प्रकार की चिकित्सा उपयुक्त मानी गयी है फिर भी हमारा अपने समस्त प्रबुद्ध पाठकों से निवेदन है कि वे अपने रोग को समझाने का प्रयास करें, रोगों से बचाव के बारे में विचार करें, अपनी आहार व्यवस्था को सही करने का प्रयास करें लेकिन चिकित्सा का काम चिकित्सक को ही करने दें। यदि आयुर्वेद के कोई योग तैयार करना चाहें तो किसी योग्य आयुर्वेद चिकित्सक से परामर्श अवश्य लें। इसलिए चिकित्सा पक्ष पर अधिक ध्यान देने के स्थान पर उन कारणों को खोजने का कार्य किया जाये जो रोग पैदा करते हैं और फिर भरसक प्रयास करके उन कम ध्यान दिया है। रोग के विवरण तथा विश्लेषण पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया है। आशा है कि पाठक हमारी इस स्पष्ट मनोभावना को समझाने का प्रयास करेंगे तथा जिस दृष्टिकोण को लेकर हमने इस पुस्तक को प्रकाशित किया है उसे पूरा करने का प्रयास करेंगे।

अथक प्रयासों तथा सामूहिक सहयोग का स्वरूप है पेट के रोग: सम्पूर्ण चिकित्सा । इस पुस्तक के साथ हमारे सभी सहयोगियों डॉ. आर.के. शर्मा, डॉ. विपिन चन्द्र त्रिवेदी, वैद्य श्री हरिमोहन जी शर्मा, डॉ. एस.ए. जैदी, डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज, डॉ. अरुण गुप्ता की हमारे सभी पाठकों के लिए शुभकामनाएं हैं कि वे सभी स्वस्थ रहें। स्वस्थ समाज के निर्माण में योगदान दें। स्वस्थ समाज से ही एक स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण होता है। हमारे इन सभी विद्वान लेखकों ने मिलकर पेट के रोगों से बचने का रास्ता दिखाया है। पाठकों की भी यह जिम्मेदारी है कि वे पेट के रोगों से बचाव वाले रास्ते पर चलें, स्वस्थ रहें। पाठकों को यदि किसी प्रकार की अतिरिक्त जानकारी चाहिए तो हमें लिखें । हम भरपूर प्रयास करेंगे कि उनको इच्छित जानकारी उपलब्ध करवाई जाए । हम सभी अपने समस्त पाठकों के अच्छे स्वास्थ्य तथा दीर्घायु की कामना करते हैं।

-प्रकाशक



## पेट के रोगों में-

### योग चिकित्सा का महत्त्व

आज के आधुनिक वातावरण में मानव अनेक रोगों के चंगुल में फंसा हुआ है, इसके पीछे वैज्ञानिक रहस्य यह है कि मानव कहीं न कहीं प्रकृति के नियमों और कानूनों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उल्लंघन कर रहा है। इन्हीं के दुष्परिणामस्वरूप अनेक बीमारियों का विकास हुआ है। चिकित्सा शास्त्री अपनी-अपनी पैथियों द्वारा इन विकारों को नियंत्रित करने का उपाय करते हैं परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि रोग पर नियंत्रण तो कम होता है परन्तु नई-नई बीमारियों का विस्फोट अधिक होता जा रहा है जिससे पूरी मानव जाति आक्रांत है। दूसरी सबसे बड़ी बात यह है कि मानव जब-जब तनाव में रहेगा तब-तब बीमारियों के चंगुल में फंसेगा। एक अन्य बड़ा कारण यह है कि मानव स्वाद लेने के कारण अपने भोजन में अनेक प्रकार का परिवर्तन स्वाद लेने के कारण कर रहा है। विपरीत रसायन युक्त भोजन का सीधा प्रभाव हमारे शरीर पर, खास कर पेट (पाचन तंत्र) पर पड़ता है जिसको परिणाम स्वरूप मानव को पेट से संबंधित अनेक रोगों को भोगना पड़ता है। यह बहुमूल्य जीवन के लिए काफी घातक है।

चिकित्सा के क्षेत्र में अनेक पैथियों का योगदान है जो मानव के रोगों का निराकरण करने में लगी हैं। मैं किसी भी पैथी को बेकार या बुरा नहीं कह सकता हूँ, लेकिन अधिकांश पैथियाँ सिर्फ बीमारी का इलाज करती हैं, न कि बीमारी के कारणों का। इसका परिणाम यह होता है कि एक रोग पर जैसे ही काबू पाते हैं, वैसे ही दूसरे रोग का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस तरह हम पाते हैं कि जब तक बीमारी के कारणों का निवारण नहीं करेंगे तब तक बीमारी समाप्त नहीं हो सकती है, वह सिर्फ अपना रूप परिवर्तन कर लेती है। कहा भी गया है कि सिर्फ वृक्ष के पत्रों को छांटते हैं तो वृक्ष और घना होता है परन्तु यदि बीमारी रूपी वृक्ष को खत्म करना है तो वृक्ष की जड़ में कुल्हारी से वार करना होगा ताकि समूल कारण ही खत्म हो जाये।

एक और बात यह भी है कि सिर्फ चिकित्सा ही बीमारी पर काबू नहीं कर सकती है। मानव जब तक अपने रहन-सहन तथा खान-पान की पद्धति में परिवर्तन नहीं करेगा, तब तक इस प्रकार की समस्याओं का जन्म होता ही रहेगा। परन्तु चिकित्सा के क्षेत्र में एक ऐसा भी विज्ञान है जो रोगों पर तो नियंत्रण करता ही है साथ ही साथ मानव मन को शांत एवं उसे प्रकृति से जोड़ता है जिस कारण खुद-ब-खुद रोग पर काबू हो जाता है। उस विज्ञान का नाम है 'योग'।

'योग' का शाब्दिक अर्थ होता है 'जोड़'। हमारे शरीर में तीन प्रकार की शक्तियाँ संचालित होती हैं- शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक। जब तीनों शक्तियों को एक साथ जोड़ देते हैं तब व्यक्ति शारीरिक स्तर से निरोग, मानसिक स्तर से शांत तथा आध्यात्मिक स्तर से आनंदित अनुभव करता है। 'योग' में आसन शरीर को, प्राणायाम मन एवं शरीर तथा ध्यान, मन एवं आत्मा को प्रभावित करता है। इसलिए योग में आसनों का भी काफी योगदान है। आसनों का अभ्यास स्वास्थ्य लाभ एवं उपचार के लिए भी किया जा सकता है। आसनों के अभ्यास से माँसपेशियों में साधारण खिंचाव, आँतरिक अंगों की मालिश एवं सम्पूर्ण स्नायुओं में सुव्यवस्था होती है जिससे स्वास्थ्य में अद्भुत सुधार होता है। अनेक असाध्य रोगों में लाभ एवं उनका पूर्णरूपेण निराकरण भी योगाभ्यासों के माध्यम से किया जा सकता है।

आसनों के नित्य अभ्यास से शरीर की 'अन्तःस्त्रावी ग्रन्थि प्रणाली' नियंत्रित एवं सुव्यवस्थित होती है, जिससे सभी ग्रंथियों से उचित मात्रा में रस का स्त्राव होने लगता है। इसका लाभ स्वास्थ्य के साथ-साथ जीवन के प्रति हमारे मानसिक दृष्टिकोण पर भी पड़ता है। यदि कोई भी एक ग्रंथि का कार्य ठीक से नहीं होता है तो उसका कुप्रभाव शरीर पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि इस प्रणाली को सुचारू रूप से संचालित रखा जाए ताकि रोग पीड़ित अंगों को पुनर्जीवित कर सामान्य कार्य के योग्य बनाया जाये।

आसनों के अभ्यास से माँसपेशियाँ, हड्डियाँ, स्नायुमंडल, ग्रंथि प्रणाली, श्वसन प्रणाली, उत्सर्जन प्रणाली, रक्त प्रणाली आदि में एक-दूसरे से संबंधित होते हैं एवं सहायोग देते हैं। इससे शरीर लोचदार तथा परिवर्तित वातावरण के अनुकूल ढालने योग्य बनाता है। यह पाचन क्रिया को तीव्र करता है तथा उचित मात्रा में पाचन रस तैयार करता है।



अनुकंपी (Sympathetic) तथा परानुकंपी (Parasympathetic) तंत्रिका प्रणालियों को संतुलित करता है। इसलिए आसन से शरीर स्वस्थ होकर सक्रिय एवं रचनात्मक कार्य करने को तैयार होता है।

यह रोग का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है रोगों से मुक्ति में योग कितना सहायक है? सभी रोगों में योग का विशेष महत्व है। खास कर पेट के रोगों से द्वारा काफी लाभ होता देखा गया है। परन्तु प्रश्न उठता है कि योग किस प्रकार पेट के रोगों में लाभकारी है? इसलिए सबसे पहले पेट के कुछ महत्वपूर्ण अंगों को हम जान लें। पेट के मुख्य अंग जो पाचन क्रिया में भाग लेते हैं, वे हैं- यकृत, ग्रहणी, अग्न्याशय, पित्ताशय, छोटी आँत आदि। वैसे तो और भी अंग हैं जो पाचन क्रिया में सहयोग देते हैं परन्तु उसमें प्रमुख उपर्युक्त अंग ही हैं। हम यह जानते हैं कि पेट से संबंधित जो भी बीमारी है वह पाचन क्रिया के काम नहीं कर सकने के कारण ही पैदा होती है या बचे हुए पदार्थ का जब सही रूप से उत्सर्जन नहीं होता है तो भी बीमारी का जन्म होता है। पेट जिसे योग विज्ञान में अग्नि कहा गया है यानि यहाँ पर ही भोजन पचता है जिसे पचाने में औसतन 9-12 घंटे का समय लगता है क्योंकि भोजन के पचने के बाद ही ऊर्जा पैदा होती है तथा वह शरीर के प्रत्येक अंगों को भेजती है ताकि शरीर के समस्त अंग अपना कार्य निरंतर कर सकें। परन्तु जब ऊर्जा का निर्माण उचित मात्रा में नहीं हो पाता है तो शरीर के आन्तरिक अंगों में अव्यवस्था फैल जाती है जिसके परिणामस्वरूप अनेक बीमारियों का जन्म शरीर में होता है। पेट एक ऐसा अंग है जिस पर पूरे शरीर को निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए सर्वप्रथम कुछ मुख्य पेट की बीमारियों को जान लें तथा इसके होने के कारण क्या हैं ? तब फिर हम बात करेंगे कि योग किस प्रकार इन कारणों को दूर करता है-

**अतिसार :** अंतर्द्वियों में गंभीर संक्रमण, जिससे बार-बार दस्त होता है तथा साथ में खून तथा आँव गिरता है।

**अपच या अजीर्ण :** इसमें उदर विकार, मितली, मुंह में अम्ल का स्वाद और असाधारण डकारें शामिल हैं। इसका मुख्य कारण प्रकृति विरुद्ध भोजन करना, परिश्रम नहीं करना, क्रोध या मानसिक उत्तेजना रहना ।

**आंत्रशोथ (गैस्ट्रो-इन्टाइटिस):** आमाशय और आँत में सूजन। इसके लक्षण हैं- बुखार, दस्त और उल्टी।

**यकृत शोथ:** यकृत की सूजन, विषाणु के संक्रमण से उत्पन्न, यद्यपि जहरीले रसायन, औषधियाँ और कुछ रोग इसके कारण हो सकते हैं।

**यकृत सिरोसिस:** यकृत की एक बीमारी जिसमें यकृत कोशिकाएं धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं और उनकी जगह रेशेदार या चर्बीवाले ऊतक ले लेते हैं।

**कृमि रोग :** शरीर में दुग्धाम्ल की अधिकता से यह रोग उत्पन्न होता है। कृमि आँतों में अपना घर बना लेते हैं।

**उदर शूल :** आँतों की क्रिया में गड़बड़ी के साथ पेशियों के कारण आवरण में संकोचन, पेट में वायु होना, अफारा , आँतों में अजीर्ण, कब्ज एवं अत्यधिक मल इकट्ठा हो जाना आदि कारणों से पेट में दर्द होता है।

**कब्ज (कोष्ठबद्धता):** यकृत की क्रिया में गड़बड़ी भोजन दोष, रात्रि जागरण, मल के वेग को रोकना, शारीरिक श्रम न करना आदि ।

**पेचिश :** बड़ी आँत में जख्म अथवा प्रदाह होने के कारण होता है, धीरे-धीरे आँतें भी इस रोग से आक्रांत हो जाती हैं।

**हैजा:** यह रोग पित्त विकार से उत्पन्न होता है तथा इसके रोगी के मल में पित्त नहीं रहता है। यह बीमारी संक्रामक रूप में भी फैलती है।

**हिचकी :** यह कोई स्वतंत्र रोग नहीं है अपितु अन्य रोगों का उपसर्ग मात्र है। साथ ही साथ पक्वाशय की गड़बड़ी भी एक कारण है।

**जलोदर:** उदर-प्रदेश में जल संचय को जलोदर कहा जाता है।

**पीलिया :** यह रोग पित्त न निकलने तथा यकृत गड़बड़ी से उत्पन्न होता है।

**बवासीर (अर्श):** यह दो प्रकार का होता है- खूनी तथा बादी। इसमें सरलान्त्र (तुमबजनउ) अथवा मल द्वार (दने) की एक विशेष शिरा फूल जाने के कारण होता है। इनका सामान्य कारण कब्ज है।

**भगन्दर:** यह बवासीर के कारण ही होता है। इस बीमारी में मलद्वार के भीतर एक तरह का नासूर हो जाता है जिसका दूसरा मुंह गुदाद्वार के समीप बाहर होता है। इस छिद्र से रस, रक्त, पीव, मल आदि का स्राव होता है।

**एनीमिया:** जब रक्त में लाल रक्त कणों की मात्रा घट जाती है तो रक्ताल्पता होती है। गर्भवती महिलाएं भी इसका शिकार होती हैं।

कुछ रोगों के वर्णन करने का मुख्य उद्देश्य मात्र यह था कि यह पाठकगण को स्पष्ट हो जाए कि पेट से संबंधित जो भी रोग होते हैं, उसके होने का मुख्य कारण यह है कि पेट के अंग सुचारु रूप से काम नहीं कर रहे हैं। इस विषय में जितने भी आसनों का वर्णन किया गया है उसमें स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि वह आसन किस अंग पर अपना प्रभाव डालते हैं। जब कोई आसन किसी विशेष अंग या विशेष अंतःस्त्रावी ग्रंथियों पर प्रभाव डालता है तो उसमें आन्तरिक हलचल होती है तथा सूक्ष्म रूप से मालिश भी होती है जिस कारण वह अंग अपना काम सुचारु रूप से करते रहते हैं। आधुनिक समाज में जिस प्रकार हमारा रहन-सहन तथा काम का क्रियाकलाप है, उसमें यह सम्भव नहीं है कि शरीर के सभी अंगों का उपयोग हो। जब हम बीमार पड़ते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे अंग सही-सही कार्य नहीं कर रहे हैं। योग का एक भाग दृढ़ योग है जो शरीर के आन्तरिक अंगों की धुलाई या सफाई करता है। जैसे लघुशंखप्रक्षालण, कुंजल आदि क्रिया। जब शरीर से बेकार पदार्थ आदि बाहर निकल जाते हैं तो शरीर के सारे अंग सुचारु रूप से अपना काम करते हैं। इसलिए आसन के साथ प्राणायाम, वेद तथा हठयोग को भी किया जाना चाहिए ताकि हमारा शरीर पूर्ण स्वस्थ तथा निरोग रहे।

अब प्रश्न उठता है कि आधुनिक व्यक्ति के लिए आसन कहां तक उपयोगी है? हम पहले ही बता चुके हैं कि हमारा पूरा जीवन मशीनों पर निर्भर हो गया है। हमारे खाने की आदतें, हमारे रहने का रंग-ढंग बिल्कुल कृत्रिम है। हम प्रकृति से दूर हट गए हैं जिससे हमारे जीवन में प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट हो गया है। हमारे भोजन में बनावटी रसायनों की मात्रा इस तरह मिलाई जा रही है कि जो शरीर पर काफी बुरा प्रभाव डालती है। परन्तु योगासनों के अभ्यास से हमें पुनः प्राकृतिक स्वास्थ्य और सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है।

आज मानव के पास शारीरिक आराम और इन्द्रिय सुख के लिए अनेक सुख-सुविधायें हैं। जैसे-मोटे-मोटे गद्दों पर सोना, कार से यात्रा करना, मनोरंजन के लिए सिनेमा या रात्रि क्लबों में जाना। जीवन के नकारात्मक प्रभाव को काबू में करने के लिए नींद की गोलियां खाना एवं शांति को पाने के लिए शराब या नशे का प्रयोग करना आम बात सी हो गयी है। परन्तु हमें इससे शांति और विश्राम तो नहीं मिलता है बल्कि 'शारीरिक', मानसिक और भावनात्मक तनावों का ही सामना करना पड़ता है। आज हमें जीवन की इस चिन्ता, कुंठा के भार से मुक्त होने के लिए कोई मार्ग नहीं मिल रहा है। परन्तु सिर्फ योगाभ्यास ही एक ऐसा मार्ग है जो आधुनिक सभ्य जीवन के रोग जैसे- कब्ज, गठिया, निराशा, तनाव, कुण्ठा आदि से मुक्त कर सकता है। आसनों के करने से मानव को जीवन की समस्याओं से लड़ने की ताकत प्राप्त होती है तथा एक नई स्फूर्ति मिलती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के इस आधुनिक युग में जीवन को आरामदायक बनाने में असंख्य साधन दिये हैं परन्तु बिरले ही ऐसे लोग हैं जो इस सामग्री का भरपूर उपयोग करते हैं।

आज हमारे पास स्वाद लेने के लिए अनेक खाद्य पदार्थ हैं परन्तु हमारी विवशता यह है कि हम चाह कर भी खाना नहीं खा सकते हैं। आज डॉक्टर रोगी को यह सलाह देते हैं कि यह मत खाओ, वह मत खाओ। हालात यदि ऐसे ही बने रहे तो एक दिन ऐसी स्थिति आयेगी कि मानव को बीमारी के कारण सिर्फ पानी और हवा ही नसीब होगी। इसलिए यदि हम सब चाहते हैं कि परमात्मा द्वारा प्रदत्त जो खाद्य पदार्थ हैं उसका स्वाद तथा आनन्द उठाएं तो हमें यह प्राकृतिक विज्ञान को, जिसे योग कहते हैं अपनाना ही पड़ेगा, क्योंकि योग में आसन पशु-पक्षियों तथा जानवरों से लिये गये हैं। इसलिए

आसनों से कोई दुष्प्रभाव नहीं है। खासकर पेट के रोगों में यह रामबाण का काम करते हैं। हमें आशा है कि हमारे सभी पाठगण इस विज्ञान को अपने व्यावहारिक जीवन में ढालने की कोशिश करेंगे, जिससे वे स्वास्थ्य, शांति तथा आनन्द को उपलब्ध हो सकें।

### आसन करने से पूर्व निर्देश एवं सावधानियाँ :

हम जानते हैं कि आसन करने से हमें लाभ मिलता है परन्तु यह तभी पूर्णरूपेण संभव है जब उसे उचित ढंग से एवं विश्वास के साथ किया जाए। इसलिए किसी भी आसन को करने से पूर्व कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण दिशा निर्देश का पालन करना आवश्यक है।

- आसन करने से पूर्व आँतों को खाली रखें या खाने के चार घंटे बाद इसे करें।
- आसन तब करना चाहिए जब आपने मल त्याग , दांतों या मुँह की सफाई कर ली हो।
- जहाँ भी अभ्यास करना हो वह स्थान साफ-सुथरा तथा हवादार हो तथा आस-पास कोलाहल या दुर्गन्ध नहीं फैली हो।
- अभ्यास सूर्योदय से पूर्व हो तो अच्छा माना जाता है परन्तु दिन में भी किसी समय किया जा सकता है।
- आसन को कम्बल पर ही करें। कम्बल को चार तह करके ठीक प्रकार से समतल जमीन पर बिछा लें।
- जितना देर अभ्यास करें उसका एक चौथाई समय विश्राम के आसन करने में लगायें।
- आसन करते समय किसी प्रकार की चिन्ता, भय या निराशा की अवस्था नहीं होनी चाहिए।
- इसे किसी भी उम्र, जाति तथा लिंग के लोग कर सकते हैं।
- दो आसनों के बीच एक मिनट 'शवासन' जरूर करें।
- जब भी आसन करें तो आसन पर ही ध्यान रहना चाहिए एवं विश्राम समय के बाद उसकी पुनरावृत्ति करें।
- आसन करते समय वस्त्र ढीला-ढाला पहनें।
- स्नान करने के बाद यदि आसन करते हैं तो वह अच्छा माना जाता है।
- कठिन अभ्यास को धीरे-धीरे करें। उसे झटके से नहीं करें।
- जब भी भूख लगे तो भूख से कम भोजन करें।
- यदि सम्भव हो तो सप्ताह में एक दिन धूप-स्नान जरूर करें। गर्मी में कुछ देर तक चढ़ते सूर्य की धूप की किरणों अपने शरीर पर लें।
- बिस्तर से उठते ही तुरंत पानी के दो गिलास पियें।
- आसनों का अभ्यास नियमित होना चाहिए ।

-डॉ. राहुल देव

## पेट की आन्तरिक संरचना और कार्य विधि

‘पेट’ को अंग्रेजी में “एब्डोमेन” तथा आयुर्वेद में “उदर” नाम से जाना जाता है। पेट शरीर की सबसे बड़ी गुहा या केविटी है। इसका ऊपरी भाग मध्यपुच्छ या डायफ्रम से बनता है जो पेट के ऊपर एक गुम्बद की भांति फैला रहता है तथा पेट को फेफड़ों से अलग करता है। सामान्य रूप में पेट को दो भागों में बांटा जा सकता है- वास्तविक पेट (प्रोपर एब्डोमेन) तथा निचला पेट या पेडू या श्रोणि (पेल्विस)।

पेट के ऊपरी भाग में दायीं पसलियों और उनकी कुर्रियों के नीचे यकृत का अधिकांश भाग स्थित रहता है। यकृत के बायीं ओर आमाशय स्थित होता है जिसके निचले किनारे से पर्युदर्या (पेरीटोनियम) नामक झिल्ली का दो परतों वाला एक पर्दा चढ़ा रहता है। यह झिल्ली पेट के भीतरी अंगों तथा आमाशय, यकृत, तिल्ली (प्लीहा) आदि को कुछ हद तक छिपाये रखती है। पर्युदर्या एक बड़ी जलयुक्त बारीक झिल्ली है जो एक तरफ पेट की दीवारों से चिपकी रहती है तो दूसरी तरफ पेट के भीतरी अंगों पर लिपटी रहती है, जिसे पर्युदर्या गुहा कहा जाता है। इस पर्युदर्या के वसा वाली वृद्धि को वपा या आँत्रच्छदा कला या ओमेण्टम कहा जाता है। यह वपा अन्तड़ियों पर आच्छादित रहती है।

पेट के ऊपरी भाग में अन्न नलिका का निम्न भाग, यकृत, प्लीहा, छोटी और बड़ी आँत्र अग्न्याशय (पैन्क्रियास), गुर्दे (किडनी) आदि स्थित रहते हैं, जबकि पेट के निचले भाग में अर्थात् पेडू में अन्तड़ियों का निम्न भाग, मूत्राशय, स्त्री-पुरुष दोनों की आन्तरिक जननेन्द्रियां आदि स्थित रहते हैं।

पेट में स्थित विभिन्न अंगों यथा अन्न नलिका, आमाशय, अन्तड़ियां, मलाशय आदि मिलकर एक संस्थान निर्मित करते हैं जिसे पाचन संस्थान या पाचन तंत्र के नाम से जाना जाता है। पेट के अधिकांश भाग में यह संस्थान ही भरा रहता है।

### पाचन संस्थान :

पाचन संस्थान शरीर का वह तंत्र है जो आहार को ग्रहण करने, उसका पाचन करने, पाचित आहार से शरीर के लिए आवश्यक समस्त पौषक तत्वों का अवशोषण करने तथा पाचन एवं अवशोषण के उपरांत बचे अनावश्यक व्यर्थ पदार्थों को मल के रूप में शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है। इस पाचन संस्थान को विभिन्न नामों से जाना जाता है, जैसे पाचन संस्थान (डायजिस्टिव सिस्टम), आहार नाल (एलीमेन्टरी केनाल), पोषण नाल, पाचिक नलिका, उदर संस्थान इत्यादि ।

पाचन संस्थान एक ६ मीटर के लगभग लम्बी नली है जो मुख से आरम्भ होकर वक्ष स्थल और उदर से गुजरती हुई गुदा द्वार पर जाकर समाप्त होती है। इस आहार नलिका के भीतरी स्तर पर आरम्भ से लेकर अंत तक श्लेष्मिक कला (म्यूकस मेम्ब्रेन) का एक पर्दा चढ़ा रहता है। सम्पूर्ण पाचन संस्थान आरंभ से लेकर अंत तक क्रमानुसार निम्नलिखित अंगों से मिलकर बना होता है- १. मुँह (माउथ), २. गला (थ्रोट) या कंठ, ३. ग्रसनी (फेरिन्क्स), ४. अन्न नलिका या ग्रास नलिका (इसोफेगस), ५. आमाशय (स्टॉमक), ६. छोटी आँत्र (स्मॉल इन्टेस्टाइन), ७. वृहदाँत्र (लार्ज इन्टेस्टाइन या कोलन), ८. मलाशय (रेक्टम) और ९. गुदा या गुदाद्वार (ऐनस)। इनके अतिरिक्त यकृत (लिवर), अग्न्याशय और पित्ताशय (गॉल ब्लेडर) आदि अंग भी पाचन संस्थान से मिलकर आहार के पाचन, अवशोषण और मल विसर्जन के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पाचन संस्थान के ये सभी अंग आहार को ग्रहण करने, उसका पाचन, अवशोषण एवं मल निष्कासन का कार्य मिल कर करते हैं। इसलिए इन्हें अलग-अलग न मानकर एक ही अंग के पृथक-पृथक भाग माना जाता है। ऐसा इस कारण माना जाता है कि इन अंगों का कार्य एक-दूसरे पर निर्भर होकर ही सम्पन्न हो पाता है।

आहार नाल कई जगह चौड़ी (विस्फारित) होकर और कई जगह संकीर्ण होकर आगे बढ़ती है। आहार नाल में पहला विस्फार मुख गुहा में और उससे आगे ग्रसनी में होता है, परन्तु उससे आगे यह सिकुड़ कर अन्न नलिका के रूप में नाली का रूप ले लेती है। इसका दूसरा विस्फार आमाशय में होता है जो आहार को ग्रहण करने का कार्य करता है। इससे



आगे यह पतली होती है तथा छोटी आँत्र के प्रथम भाग में, ग्रहणी के रूप में उसका थोड़ा विस्फार होता है। सम्पूर्ण छोटी आँत्र एक बहुत लंबी और पतली नलिका है। जहाँ आमाशय के अर्द्धपाचित आहार का सम्पूर्ण पाचन और अवशोषण का कार्य सम्पन्न होता है। बड़ी आँत्र छोटी आँत्र की अपेक्षा ज्यादा मोटी होती है। बड़ी आँत्र के अंत में आहार नाल का मलाशय के रूप में पुनः विस्फार होता है। मलाशय मल के संचय का कार्य करता है।

पाचन संस्थान के विभिन्न अंगों की संक्षिप्त संरचना इस प्रकार है-

**१. मुँह :** आहार नाल का सबसे पहला अंग है मुँह । इसमें ३२ दाँत, एक जीभ और तीन जोड़ी लाला ग्रन्थियाँ (सेलिबरी ग्लैंड्स) होते हैं। दाँत भोजन को काटने, चबाने और पीसने का कार्य करते हैं। जीभ भोजन का स्वाद लेने, दाँतों द्वारा चबाये भोजन में लाला स्राव (थूक) मिलाने तथा उस लुगदी बने भोजन को ग्रसनी में निगलने का कार्य करती है। मुँह के अंदर दोनों तरफ तीन-तीन लाला ग्रन्थियाँ रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ २४ घंटों में १२०० से १५०० मिलीलीटर के लगभग लाला रस या थूक का स्राव करती हैं। यह लाला स्राव आहार को पतला, चिकना व निगलने योग्य बनाने तथा उसके कार्बोहाइड्रेट अंश का पाचन शुरू करने का कार्य करता है।

लाल स्राव की प्रकृति थोड़ी अम्लीय होती है। उसमें ६६.५ प्रतिशत पानी तथा शेष खनिज लवण, मुख की ग्रन्थियों से उत्सर्जित श्लेष्मा, कई प्रकार के जीवाणु और विषाणु, टायलीन (लाला एमिलेज) नामक पाचक एन्जाइम, कार्बोनिक एनहाइड्रेज तथा जीवाणुनाशक लाइसोजाइम आदि उपस्थित रहते हैं।

**२. गला या कंठ :** गला, जीभ का अन्तिम सिरा तथा ग्रसनी का मुँह है। यह भली प्रकार से चबाये तथा लार से तर हुए भोजन को मुँह से ग्रहण करके ग्रसनी में प्रवेश करता है।

**३. ग्रसनी :** यह माँसपेशियों से निर्मित तथा श्लेष्मिक झिल्ली से ढकी १५ से.मी. के लगभग लम्बी एक नलिका समान रचना है। यह जीभ तथा वायु प्रणाली या स्वर यंत्र (लेरिन्क्स) के पीछे स्थित होती है। ग्रसनी ऊपर से नीचे की तरफ नासा ग्रसनी, मुख ग्रसनी तथा वायु संवेदन शील होती है। इसमें तरल पेय पदार्थ अथवा हवा तक के स्पर्श से ही तीव्र प्रतिक्रिया होने लग जाती है तथा आहार को निगलने की जटिल प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। यदि ग्रसनी की श्लेष्मा में मौजूद स्नायु किसी कारण से क्षति ग्रस्त हो जाएं तो आहार को निगलना मुश्किल हो जाता है। ग्रसनी में संकीर्ण माँसपेशियों की सहायता से आहार अन्न नलिका में धकेला जाता है।

ग्रसनी में फेफड़ों की तरफ या स्वर यंत्र के ऊपर एपिग्लोटिस नामक एक ढक्कन के समान रचना होती है जो आहार को निगलते समय उसे वायु प्रणाली में जाने से रोकती है। एपिग्लोटिस केवल तरल या ठोस आहार निगलते समय ही वायु मार्ग को अवरुद्ध करता है, शेष समय यह खुला ही रहता है, जिससे फेफड़ों में नाक एवं मुँह से हवा का आवागमन सतत रूप से जारी रहता है और व्यक्ति को बोलने में भी कोई परेशानी नहीं होती, किन्तु आहार निगलते समय इस वायु प्रणाली में न चला जाये, इस कारण उस समय यह बंद हो जाता है। जब कभी पेय या आहार के कण वायु प्रणाली में चले जाते हैं तो तुरंत व्यक्ति को तीव्र रूप में खांसी या छींको का दौरा शुरू हो जाता है।

**४. ग्रास नलिका या अन्न नलिका :** ग्रास नलिका भी पेशियों और श्लेष्मिक कला से निर्मित एक १० सेमी. लंबी नलिका है जो ऊपर ग्रसनी से तथा नीचे आमाशय के ऊपरी मुख से जुड़ी रहती है। ग्रास नलिका छत्रती में डायफ्राम के एकपेशीय छिद्र से गुजरती हुई उदर में स्थित आमाशय तक पहुँचती है।

ग्रास नलिका में वलय पेशियों के सिकुड़ने और फैलने से पुरःसरण गति बनती है जो ग्रसनी की संकीर्ण पेशीय गति की सहायता से ग्रसनी से गुजर रहे आहार को ग्रास नलिका के माध्यम से आमाशय तक पहुँचाते हैं।

कंठ, ग्रसनी और ग्रास नलिका में किसी प्रकार के पाचन रसों का स्राव नहीं होता है अतः इन भागों का आहार के रासायनिक पाचन में कोई योगदान नहीं होता है।

**५. आमाशय :** आमाशय पाचन संस्थान का सबसे चौड़ा और महत्वपूर्ण भाग है। यह ग्रास नलिका के अन्तिम सिरे से प्रारंभ होकर छोटी आँत्र के प्रथम भाग (ग्रहणी) के मध्य स्थित होता है तथा उर के बायें अनुपार्श्विक प्रदेश तथा हृदयाधरिक प्रदेश को आश्रय करते हुए तिरछा डायफ्राम के नीचे एवं अग्न्याशय के सामने स्थित रहता है। इसका चौड़ा और गोल सिरा बायीं ओर पसलियों और डायफ्राम के नीचे प्लीहा की ओर होता है, जबकि इसका लम्बा दायां सिरा दायीं ओर यकृत की निचली तह के नीचे होता है। आमाशय का आकार खाली रहने व भोजन की उपस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। लेकिन सामान्य रूप में आमाशय की आड़ी लम्बाई २० से ३० से.मी. और खड़ी चौड़ाई ५ से.मी. के लगभग होती है। रिक्त अवस्था में आमाशय का वजन १३५ ग्राम के लगभग होता है। आमाशय की भोजन को ग्रहण करने की क्षमता १.१२ से १.७० लीटर तक होती है। रिक्त आमाशय में झुर्रियों सी पड़ी रहती हैं, किन्तु उसमें भोजन के भर जाने पर झुर्रियां लुप्त हो जाती हैं।

आमाशय में दो मुँह होते हैं। एक ऊपरी कुब्जाकार भाग को आमाशय स्कन्ध (फण्डस) कहा जाता है। यह आमाशय का सबसे चौड़ा भाग है। बायीं ओर कला बन्धनी से जुड़ा रहता है। आमाशय का यह भाग वामानुपार्श्विक प्रदेश में महाप्राचीरा पेशी की गोद में स्थित रहता है। आमाशय का मध्य भाग पिण्ड या बोडी कहलाता है। यह भाग चौड़ा विस्फार वाला है तथा यही मुख्य रूप से पेय और खाद्य पदार्थों को धारण करता है। आमाशय का अन्तिम मोटे नल के समान भाग जठर निर्गम कोटर (एण्ड्रम) कहलाता है। यह पित्ताशय के नजदीक में स्थित ग्रहणी से संयुक्त रहता है और इसमें जठर निर्गम कपाट लगे रहते हैं।

आमाशय के स्कन्ध और पिण्ड भाग की श्लेष्मिक कला में तीन विशेष प्रकार की कोशिकाएं पायी जाती हैं। इनमें एक है, म्यूकस नेक कोशिकाएं, जो म्यूकस या श्लेष्मा का स्राव करती हैं। दूसरी हैं पैराइटल या ऑक्सीनटिक नामक कोशिकाएं। ये नमक का तेजाब (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) उत्पन्न करती हैं। तीसरी विशिष्ट प्रकार की कोशिकाएं पेप्सिनोजन नामक रस का स्राव करती हैं। यह स्राव बाद में पेप्सिन नामक जठर एन्जाइम में बदल जाता है। यह पेप्सिन एन्जाइम ही आमाशय में आहार के पाचन में मुख्य भूमिका निभाता है। आमाशय के अन्तिम एण्ड्रम नामक भाग की श्लेष्मिक कला में भी एक विशेष प्रकार की कोशिकाएं मौजूद रहती हैं, जो इन्ट्रोक्रोमाफिन या जी कोशिकाएं कहलाती हैं। यह कोशिकाएं गैस्ट्रिन नामक एक हार्मोन का स्राव करती हैं। यह हार्मोन जठर रस के उत्सर्जन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आमाशय में प्रत्येक आहार सेवन के समय ५०० से १००० मि.ली. और २४ घंटों में ४ से ८ लीटर तक जठर पाचक रस उत्पन्न होता है। जठर रस में ६६.४५ प्रतिशत पानी तथा शेष भाग में आर्गेनिक एवं इन आर्गेनिक खनिज पदार्थ ०.४ प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक एसिड, पेप्सिन, रेनिन, गैस्ट्रिक लाइपेज और कैथोसिन आदि पाचक एन्जाइम्स मौजूद रहते हैं। जठर रस की प्रकृति तीव्र अम्लीय होती है अर्थात् इसका पी.एच. ०.६ से १.५ के मध्य रहता है। इस अम्ल के कारण आहार में उपस्थित सूक्ष्म जीव मर जाते हैं और प्रोटीन वाले आहार सूक्ष्म कणों में विखंडित होकर पाचन योग्य बन जाते हैं।

**६. छोटी आँत्र या क्षुद्रांत्र :** छोटी आँत्र आमाशय के निचले द्वार, जठर निर्गम द्वार से आरंभ होकर वृहदांत्र के उण्डुक कपाटिका (कोलिक वाल्व) पर जाकर समाप्त होती है। छोटी आँत्र की लंबाई २२ फीट (६६० से.मी.) के लगभग होती है। संरचना और कार्य की दृष्टि से छोटी आँत्र को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। ग्रहणी, मध्यांत्र और शेषांत्र।

ग्रहणी या पक्वाशय (ड्यूडीनम) छोटी आँत्र का २२.५ से २५ से.मी. लंबाई वाला प्रथम भाग है। यह छोटी आँत्र का सबसे चौड़ा भाग भी है। इसकी रचना वक्राकार है। छोटी आँत्र के इसी भाग में पित्त प्रणाली और अग्न्याशय की प्रणालियां आकर खुलती हैं जिनके द्वारा पित्त तथा अग्न्याशय के पाचक रस आकर अर्द्धपाचित भोजन में मिलते रहते हैं। ग्रहणी की श्लेष्मिक कला में मौजूद कुछ विशेष प्रकार की कोशिकाएं एक क्षारीय बाई कार्बोनेट रस का उत्सर्जन भी करती हैं।

मध्यांत्र (जेजुनम) ग्रहणी से आगे का २२५ से २७० से.मी. लंबा छोटी आँत्र का मध्य भाग है। इस भाग की मोटाई ४ से.मी. के लगभग रहती है। मध्यांत्र का अधिकांश भाग नाभि के चारों ओर ही स्थित रहता है तथा पीछे आँत्र बन्धनिय या स्नायुओं (लिगामेन्ट्स) से मजबूती के साथ बन्धा रहता है।

छोटी आँत्र का अन्तिम शेष भाग शेषाँत्र (इलियम) कहलाता है। यह भाग छोटी आँत्र का सबसे पतला और संकीर्ण भाग है। शेषाँत्र लच्छों और गुठलियों के रूप में पायी जाती है और एक मध्यांत्रावण कला (मेसेन्टरी) के द्वारा पेट की पिछली दीवार से चिपकी रहती है, जिसकी सहायता से यह स्वतंत्रता पूर्वक गति कर सकती है।

छोटी आँत्र के दो मुख्य कार्य हैं। आहार का सम्पूर्ण पाचन और पाचित आहार के आवश्यक अंशों का अवशोषण करना। इसलिए छोटी आँत्र में दो तरह की रचनाएं पायी जाती है। एक वह जो आँत्र पाचक रस का स्त्राव करती है और दूसरी वह जो पाचित अंशों का अवशोषण करती है। छोटी आँत्र की भीतरी परत में एक विशेष रचना होती है। इसमें गोल दोहराओं, विभिन्न प्रकार की ग्रंथियां और मलमल के तन्तुओं के समान उभार वाले अंकुर(विली) पाये जाते हैं। इनमें प्रत्येक तन्तु में एक छोटी बंद शोषक नलिका होती है जिसके द्वारा आहार के पाचित अंशों का अवचूषण होता है। छोटी आँत्र की अन्य कोशिकाएं २४ घंटों में १ से २ लीटर के लगभग आँत्र पाचक रस (सक्कस एण्टेरिक्स) का स्त्राव भी करती है। इस आँत्र पाचक रस में ६८.५ प्रतिशत पानी तथा शेष भाग में आर्गेनिक एवं इन ऑर्गेनिक खनिज लवण, ट्रिप्सीन, काइयोट्रिप्सीन, पेप्टिडेसिस, लायपेज, एमाइलेज, सूकरेज, माल्टेज, लेक्टोजेन, न्यूक्लियोजेन आदि पाचक एन्जाइम्स एवं म्यूसिन मौजूद रहते हैं।

**७. वृहदाँत्र या बड़ी आँत्र :** बड़ी आँत्र (शेषाँत्र) के अन्तिम सिरे से शुरू होकर गुदा पर जाकर समाप्त होती है। इसकी कुल लंबाई ५ फीट (१५०से.मी.) के लगभग होती है। यह छोटी आँत्र की अपेक्षा ज्यादा मोटी तथा झालर वाली होती है। इसकी मोटाई पैर के अंगूठे समान या कुछ अधिक होती है। यह उदर गुहा में दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में पहुँचती है तथा फिर वहाँ से कुण्डलिका बना कर पीछे मध्य रेखा में सीधे उतरती है और मेरूदण्ड के सामने धनुष के समान टेढ़ी गुदा नलिका, मलाशय में बदल जाती है।

वृहदाँत्र छोटी आँत्र से आये पाचित व अवशोषित आहार के शेष भाग में मौजूद अतिरिक्त जल, लवण एवं ग्लूकोज आदि का अवशोषण करके उसे शुष्क मल के रूप में मलाशय की ओर धकेलकर उसे वहाँ संचय करती है। यों तो वृहदाँत्र की बनावट छोटी आँत्र के समान ही है किन्तु उसमें अंकुरिकाओं (विली) और पाचक रस का स्त्राव करने वाली कोशिकाओं का पूर्ण अभाव रहता है। वृहदाँत्र को उसके विभिन्न भागों की संरचना के आधार पर छः भागों में विभाजित किया जाता है। उण्डुक (सीकम), अरोही वृहदाँत्र (एसेण्डिंग कोलन), अनुप्रस्थ वृहदाँत्र (ट्रांसवर्स कोलन), अवरोही वृहदाँत्र (डिसेण्डिंग कोलन), कुण्डलिका (सिगम्बाइड फ्लेक्सर), गुदा नलिका या मलाशय (रेक्टम) ।

उण्डुक वृहदाँत्र का प्रारम्भिक ५ से.मी. चौड़ी थैली के आकार का भाग है जो दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में स्थित रहता है। इसे अधाँत्र भी कहा जाता है। इसके वाम पार्श्व से छोटी आँत्र का अन्तिम भाग प्रविष्ट रहता है। इसका प्रवेश द्वार संदेश (फोरसेव) के आकार वाली दो माँस तन्तुमयी और कलावृत कपाटिकाओं से संयुक्त होता है। इन्हें संदेश कपाटिकाएं (इलियोसीकल वाल्व) कहते हैं। ये कपाटिकाएं मल को विपरीत दिशा में जाने से रोकती हैं। उण्डुक में नीचे ५ से.मी. लंबी एक पतली नलिका जुड़ी रहती है जिसे आँत्र पुच्छ (एपेन्डिक्स) कहा जाता है। यह गर्भस्थ शिशु की अन्तड़ी के बनने से बचा निष्क्रिय भाग है।

उण्डुक से प्रारंभ होकर सबसे मोटा बड़ी आँत्र को जो भाग ऊपर की ओर दक्षिण कटिपार्श्विक प्रदेश में चढ़ता है उसे ऊपर चढ़ने वाली वृहदाँत्र या आरोही वृहदाँत्र कहते हैं। यह यकृत के नीचे तल पर पहुँच कर , फिर टेढ़ी होकर आड़ी हो जाती है और तब अनुप्रस्थ वृहदाँत्र से संयुक्त होकर प्लीहा की ओर बढ़ती है। वृहदाँत्र के इस निर्मित कोण को यकृत कोण या हेप्टिक फ्लेक्सर कहा जाता है।

अनुप्रस्थ वृहदाँत्र का यह भाग यकृत के नीचे तल से प्लीहा के नीचे तल प्रदेश तक अर्गल की भाँति रहता है तथा नाभि के ऊपर आमाशय के नीचे तल के साथ धनुष के समान कुछ टेड़ा सा हो जाता है। अनुप्रस्थ वृहदाँत्र की प्लीहा के तलस्थ भाग से अगला हिस्सा, जो नाभि के नीचे वाम कटि पार्श्विक प्रदेश में उतरता है, अवरोही वृहदाँत्र कहलाता है। वृहदाँत्र के इन भागों के सन्धिस्थल के कोण को प्लैहिक कोण (स्प्लेनिक फ्लेक्सर) कहते हैं। वृहदाँत्र का अन्तिम शेष, कुण्डल के आकार का भाग कुण्डलिका या अवग्रह वृहदाँत्र कहलाता है। यह अधिवस्ति प्रदेश में स्थित रहता है। तथा नीचे की ओर गुदा नलिका से जुड़ा रहता है।

**८. मलाशय :** मलाशय (गुदा नलिका) आँत्र का अन्तिम भाग है जो २२.५ से.मी. के लगभग लंबा होता है। मलाशय पेल्विक कोलन से आरंभ होता है। इसकी आकृति त्रिकोणीय (सेक्रम) के सामने में प्रायः धनुष के समान टेढ़ी होकर पुनः सीधी गई हुई सरल नलिका सी बन जाती है। उस ऊपर अवग्रह वृहदाँत्र से तथा नीचे गुदाद्वार के रूप में होती है। इसके सामने पुरुषों में मूत्राशय तथा स्त्रियों में गर्भाशय एवं योनि भाग स्थित रहते हैं।

मलाशय के अंदर आड़े रूप में झिल्लीयों से आच्छादित माँस तन्तुओं से निर्मित चक्राकार ३.४ वलियां होती हैं जो गुदा के संकुचित होने पर मल को रोकने में सहायता करती हैं। बीच में पर्दे जैसी बनी होती है, ये गुदा द्वार के विस्फारण से रास्ते के खुल जाने पर मल को त्यागती है। मल विसर्जन या कूँथने (प्रवहण) की क्रिया उदरीय पेशियों और मलाशय के प्रथम भाग के संकोचन तथा पायुधारिणी पेशी के शिथिल होने से सम्पन्न होती है। गुदा द्वार का संवरण गुदा संकोचनी नामक दो पेशियों के संकुचन से तथा पायुधारिणी द्वारा गुदा द्वार के खिचाव (कर्षण) से होता है। “गुद भ्रंश” रोग में यह संकुचन शक्ति शिथिल पड़ जाने से गुदाद्वार मल विसर्जन के पश्चात् बाहर ही निकला रह जाता है और बड़ी कठिनाई से ही भीतर आ पाता है।

**९. गुदा द्वार:** गुदाद्वार मलाशय के नीचे का भाग है। यह अनुत्रिकास्थि के सामने दोनों नितम्बों के मध्य स्थित रहता है। इसके चारों ओर की त्वचा अति पतली एवं लंबी वली राजियों (रेक्टल कोलयास) से युक्त रहती है। त्वचा और श्लेष्मिक कला के सन्धिस्थल पर नीली झाँई वाली सफेद रेखायें होती हैं। श्लेष्मिक कला में भी इसी प्रकार की गमीर वली राजियां होती हैं। गुदा द्वार के चारों ओर की खातिका (ग्रीव) चर्बी से भरी होती है तथा “गुदाकौकुन्दर” नाम से जानी जाती है। भगन्दर नामक रोग इसी खातिका में होता है।

इनके अतिरिक्त अग्न्याशय, यकृत, पित्ताशय आदि कुछ ऐसे अंग हैं जो हैं तो आहार नाल से पृथक्, किन्तु आहार के पाचन और अवशोषण आदि के कार्य में पाचन संस्थान से मिलकर ही कार्य करते हैं। इन अंगों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

### अग्न्याशय (पैन्क्रियास)

अग्न्याशय १५ से.मी. लंबी, ३.७५ से.मी. चौड़ी, ३.१२ से.मी. के लगभग मोटी और ६० से १८० ग्राम भार वाली एक ग्रंथि है जिसका आकार कुत्ते की जीभ के समान होता है। यह नाभि से ७.५ से १० से.मी. ऊपर आमाशय के पीछे कमर के पहले मोहरे के सामने स्थित होती है। इस ग्रंथि में एक नलिका होती है जो इसके दायें सिरे से आरंभ होकर बायें सिरे की ओर आकर पित्ताशय की सामान्य नली के साथ मिलकर ग्रहणी में आकर खुलती है। इसी नलिका से अग्न्याशय का पाचक रस छोटी आँत्र में आकर आहार से मिलता रहता है।

अग्न्याशय अन्तः रस स्त्राव (हार्मोन) और पाचक रस स्त्राव, दोनों का कार्य करता है। इसमें इन्सुलिन और ग्लूकोन नामक हार्मोनों का उत्पादन होता है जो ग्लूकोज (शर्करा) के उप-पाचन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रत्येक आहार के सेवन के समय ५०० मि.ली. के लगभग व २४ घंटों में १५०० मि.ली. तक अग्न्याशय पाचक रस का उत्पादन भी करता है। अग्न्याशय के पाचक रस में सोडियम और पोटेशियम के बाई कार्बोनेट काफी मात्रा में मिलते रहते हैं जिससे इसकी प्रकृति क्षारीय होती है। अग्न्याशय के पाचक रस में सोडियम, पोटेशियम के कार्बोनेट के अतिरिक्त कैल्शियम, मैग्नीशियम, जिंक आदि खनिज तत्व, ट्रिप्सीनोजन, काइमोट्रिप्सीनोजन, पैक्रियाटिक लाइपेज, एमाइलेज आदि पाचक एन्जाइम भी मौजूद रहते हैं।

### यकृत (लिवर)

यह शरीर की सबसे बड़ी २५-३० से.मी. लंबी तथा १० से १८ से.मी. चौड़ी ग्रंथि है। एक स्वस्थ, वयस्क व्यक्ति में इसका भार १.५ से २ किलो के लगभग होता है। इसका रंग गहरा लाली युक्त भूरा अर्थात् चॉकलेटी होता है। यकृत में एक लंबी दरार होती है जो यकृत को दो भागों में अर्थात् दायें और बायें लोब या लोथड़े में बांट देती है। दायां लोब बायें लोब की अपेक्षा ६ गुना बड़ा होता है और आमाशय मुख के पास स्थित होता है। यकृत में इन दो लोबों के अतिरिक्त तीन लोब और भी होते हैं। यकृत में कुल ५ लोब, ५ दरार, ५ बंद और ५ प्रकार की ही रक्तवाहिनियां होती हैं।



यकृत रक्तोत्पादन , कार्बोहाइड्रेट और अन्य पौषक तत्वों के उपापचय तथा अनावश्यक, व्यर्थ एवं हानिकारक पदार्थों को सरल हानि रहित पदार्थों में परिवर्तित करके शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है। इनके अतिरिक्त यकृत का एक और महत्वपूर्ण कार्य है, आहार के पाचन के लिए पित्त (वाइल) का निर्माण करना।

सामान्य रूप से यकृत प्रतिदिन ५०० से १००० मि.ली. पित्त का निर्माण करता है। यह पित्त पीलापन लिए हरे तरल के रूप में होता है और उसका स्वाद तीक्ष्ण कड़वा रहता है। पित्त में सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम के क्लोराइड्स, कार्बोनेट्स, फॉस्फेट्स और सोडियम बाई कार्बोनेट आदि खनिज लवण , सोडियम टैरीकोलेट तथा सोडियम ग्लाइकोनेट नामक पित्त लवण, बिलिरुबिन और बिलीवर्डीन नामक दो पित्त रंजक (वर्णक) और कोलेस्ट्रॉल आदि उपस्थित रहते हैं।

### पित्ताशय (गॉल ब्लेडर) :

यह एक ५ से.मी. लंबी, २.५ से.मी. चौड़ी गौपुच्छ आकार की नाशपाती जैसी थैली है जो यकृत के दाहिने लोव की निचली परत पर स्थित रहती है। यकृत में निर्मित पित्त यकृत की नलिका के द्वारा आकर पित्ताशय में ही एकत्र होता रहता है। लेकिन पित्ताशय का यह पित्त आहार के आमाशय से ग्रहणी में प्रवेश करते ही पित्ताशय से निकलकर पित्तवाहिनी द्वारा ग्रहणी में पहुँचने लगता है।

पित्ताशय और यकृत में उत्पन्न हुए पित्त की संरचना एक समान ही होती है किन्तु पित्त जब यकृत से निकलकर पित्ताशय में पहुँचता है तो उसमें मौजूद अधिकांश पानी को पित्ताशय की भित्तियाँ अवशोषित कर लेती हैं जिससे पित्त की सान्द्रता काफी बढ़ जाती है। इसके साथ ही पित्त में पित्ताशय की श्लेष्मा के अंश भी मिल जाते हैं।

### पाचन संस्थान में आहार के पाचन की प्रक्रिया :

पाचन आहार की वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आहार के समस्त अंश भौतिक तथा रासायनिक विधियों द्वारा, सामान्य सूक्ष्म पदार्थों में परिवर्तित करके इस योग्य बना दिये जाते हैं कि आंतों के अंकुरों द्वारा उनका ग्लूकोज, फ्रक्टोज, एमीनो अम्लों, वसा अम्लों, खनिज लवणों आदि के रूप में अवशोषित किया जा सके और प्रतिहारिणी शिरा (पोर्टल वेन) द्वारा उन्हें यकृत तक पहुँचाया जा सके। पाचन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

### (१) भौतिक पाचन क्रिया और

### (२) रासायनिक पाचन क्रिया

१) **भौतिक पाचन क्रिया** : मुँह में दाँतों द्वारा भोजन को चबाने से आहार के अंश छोटे-छोटे सूक्ष्म कणों में विखण्डित हो जाते हैं, जिससे भोजन का प्रत्येक अंश यथा कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा आदि पर पाचक एन्जाइमों की सीधी जैव रासायनिक प्रतिक्रिया हो सके तथा भोजन का शीघ्र सम्पूर्ण पाचन सम्पन्न हो सके। आहार को चबाने से उसमें लाला स्त्राव भी भलीभाँति मिला जाता है, जिससे आहार अर्द्ध तरल व चिपचिपा निगलने योग्य बन जाता है। लाला स्त्राव में टायलिन और लाला एमाइलेज नामक एन्जाइम भी होते हैं जो स्टार्च व कार्बोहाइड्रेट के पाचन की प्रक्रिया को मुँह में ही प्रारंभ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण आहार नाल में कीड़ों की चाल (प्रचलन) की भाँति की गति भी होती रहती है। इसे पुरःसरण (पेरिस्टोलसिस मूवमेंट) द्वारा पेट में आहार के साथ पाचक रसों का भली प्रकार समिश्रण, पाचित अंशों का शोषण एवं आगे सरकने की क्रिया सम्पादित होती रहती है। आँतों में पनःसरण गति के अतिरिक्त तीन प्रकार की गतियाँ और भी होती हैं, जैसे सम्मिश्रण गति, घटिका गति और अंकुर गति। इन चारों गतियों को सहायता से आँत्रगत आहार २.५ से ५ से.मी. प्रति मिनट की गति से आगे बढ़ता है और विभिन्न पाचक रसों के साथ भली प्रकार से मिलता रहता है।

२) **रासायनिक पाचन क्रिया** : मुँह में पहुँचे आहार को अग्र चर्वणक (प्री मोलर) और चर्वणक मोलर दाँतों से चबा-चबा कर बारीक कर दिया जाता है। चबाने की क्रिया से परानुकम्पी तन्त्रिकाएं (पेरासिम्पेथेटिक नर्व्स) उद्दीप्त होकर लाला स्त्राव का उत्सर्जन बढ़ा देती हैं, जिससे आहार में लाला रस मिलने लगता है। जीभ तथा मुँह की पेशियाँ दाँतों के कार्य में सहायता करती हैं। आहार में लाला स्त्राव मिलने से ग्रास एक पिण्ड (बाउल) सा बन जाता है, तब जीभ कठिणका, तालु

तथा ग्रसनी की पेशियां उसे ग्रसनी में धकेल देती हैं। निगलने की यह क्रिया है, इच्छाधीन है, परन्तु इसके पश्चात् ग्रास नली और उससे आगे की गति अनैच्छिक क्रिया है, जो कि पुनःसरण गति से संचालित होती है।

मुँह के पाचक एन्जाइम की भूमिका : आहार के मुख्य घटक हैं- कार्बोहाइड्रेट (गेहूँ, चावल, अन्य अनाज, स्टार्च, गुड़ आदि), प्रोटीन (माँस, मछली, अण्डे, दालें, दूध इत्यादि), वसा (घी, तेल, मक्खन, चर्बी इत्यादि), जल, खनिज लवण, विटामिन्स आदि। मुँह की लार में श्लेष्मा और टायलिन नामक एन्जाइम होते हैं। श्लेष्मा आहार की लुगदी बनाने, मुख को गीला व तर रखने, जीभ को स्वाद का ज्ञान करने में सहायक होती है जबकि टायलिन पाचन का कार्य करता है। इसकी क्रिया स्टार्च पर होती है। उबली तथा पकी हुई स्टार्च को यह माल्टोज नामक सरल शर्करा में परिवर्तित कर देता है। सेल्यूलोज पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। अतः सेल्यूलोज के आवरण (छिलका) चढ़े स्टार्च का यह पाचन नहीं कर पाता। पकाने या चबाने से स्टार्च का सेल्यूलोज वाला आवरण टूट जाता है, फिर उन पर टायलिन की क्रिया होने लगती है।

गेहूँ के ऊपर जो पतला छिलका होता है, जिसे छानकर चोकर के रूप में निकाल दिया जाता है, उसमें डायटेज नामक एन्जाइम होता है, जो टायलिन की पाचन क्रिया में सहायता करता है।

**(२) आमाशय में पाचन क्रिया:** निगलने की क्रिया के परिणामस्वरूप आहार ग्रसनी और ग्रास नलिका के द्वारा तीन सैकण्ड के समय में ही आमाशय में पहुँच कर एकत्रित होता चला जाता है। आमाशय में सुपाच्य आहार के पाचन में ३ से ४ घंटे का समय लग जाता है। वैसे विभिन्न प्रकार के आहार के पाचन में कम या अधिक समय लगता है। जब तक आहार आमाशय में पड़ा रहता है, पुनः भूख की अनुभूति नहीं होती। यदि आमाशय में आहार न ठहरे तो हर समय भूख बनी रह सकती है।

आमाशय के तीन कार्य हैं- आहार का अस्थायी संग्रह करना, भौतिक और रासायनिक क्रिया से आहार का पाचन करना। आहार ग्रहण करने की गति पाचन की गति से तीव्र होती है। इसलिए आहार को आमाशय में अस्थायी रूप में संग्रह करना पड़ता है, ताकि धीरे-धीरे उसका पाचन होता रहे। आमाशय में तालबद्ध आवर्ती होते रहते हैं जिन्हें मन्थन गतियाँ (चूर्निंग मूवमेंट) कहते हैं। इन गतियों द्वारा आहार अत्यंत छोटे-छोटे कणों में विभक्त होता है और जठर पाचक रस में मिलता रहता है।

आहार के आमाशय में पहुँचते ही आमाशय अपनी माँसपेशियों के तन्तुओं से गति करने लग जाता है जिससे आमाशय का जठर रस उत्पन्न होकर आहार में मिलने लगता है। यौं खाली आमाशय और आहार के आमाशय में पहुँचने से ही पूर्व ही, आमाशय में जठर रस उत्पन्न होने लग जाता है क्योंकि आहार की गंध और परिदर्शन से ही मस्तिष्क के शीर्ष स्थित वेगस तन्त्रिका उद्दीप्त हो उठती है। आहार के पाचन, अवशोषण आदि का नियंत्रण वेगस तन्त्रिका के नियंत्रण में ही होता है। यह विचारों की उत्तेजना, तनाव, क्रोध एवं ईर्ष्या आदि संवेगों से भी उत्तेजित हो जाती है, जिससे इन मानसिक परिस्थितियों में पाचन की क्रिया गड़बड़ा जाती है। मस्तिष्क से दसवीं क्रैनियल वेगस तन्त्रिका निकलती है जो गर्दन में होती हुई हृदय के पास पहुँच कर हृदय, फेफड़ों, ग्रास नली आदि की शाखाओं में विभाजित हो जाती है। इसकी शाखाएं ही आमाशय, अग्न्याशय, पित्ताशय तथा पाचन संस्थान तक पहुँचती और पाचन के कार्य में सहयोग करती हैं। आहार की उपस्थिति से आमाशय के अन्तिम भाग, एण्ड्रम में स्थित 'जी कोशिकाएं' गेस्ट्रिन नामक हार्मोन का स्राव बढ़ा देती है। यह हार्मोन और अधिक जठर रस उत्पादन हेतु, आमाशय की भित्ति में स्थित पैराइटल तथा पेप्टिक कोशिकाओं को उद्दीप्त करके जठर रस (अम्ल और पेप्सिन आदि) की मात्रा बढ़ा देता है। गेस्ट्रिन अग्न्याशय को भी अग्न्याशय रस तथा आँत्र में पौषक तत्वों के अवचूषण के लिये उन्हें उत्तेजित करता है।

जब आंशिक रूप में पाचित आहार आमाशय से ग्रहणी में प्रवेश करता है और यदि उस आहार में वसा की मात्रा अधिक हो, तो एन्ट्रोगेस्ट्रिन नामक हार्मोन उत्पन्न होने लग जाता है जिसके प्रभाव से जठर रस का उत्सर्जन मंद पड़ जाता है और आमाशय निर्गम द्वारा ग्रहणी में पहुँचने लगता है तथा ग्रहणी में आहार के साथ अग्न्याशय रस भी अच्छी तरह से मिलने लगता है।

**आमाशय में पाचक एन्जाइमों की भूमिका :** आमाशय में आहार परतों के रूप में संचित होता रहता है और लाला का टायलिन एन्जाइम भी स्टार्च के पाचन का कार्य जारी रखता है, परन्तु जब उसमें आमाशय का जठर अम्ल मिलने लग जाता है, तब टायलिन की क्रिया निष्क्रिय हो जाती है और स्टार्च का पाचन अवरूद्ध हो जाता है। इसी कारण कम खाने व अधिक चबाने के अभ्यास से मुख में आहार के साथ पर्याप्त टायलिन मिल जाता है तथा स्टार्च का पाचन भली प्रकार से हो जाता है। भोजन करने के बाद पानी कुछ समय तक न पीने से टायलिन अधिक समय तक आमाशय में सक्रिय बना रहता है।

आमाशय की पेशियों के ऊतकों के संकुचन से आहार का मंथन होता है। मंथन के जठर रस आहार में भली प्रकार मिल जाता है। इससे आहार और अधिक पतला हो जाता है, तब जठर रस के एन्जाइम पाचन के कार्य में सक्रिय हो जाते हैं। जठर रस के अम्ल (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) और पेप्सिन एन्जाइम मिल कर प्रोटीन को क्रमशः एसिडमेल प्रोटीन, प्रोटियोसम तथा पेप्टोन पौलीपेप्टाइड तथा एमीनो अम्लों में बदलने का कार्य करते हैं।

**१.) पेप्सिन का कार्य :** पेप्सिन एन्जाइम का स्त्राव पेप्सिनोजन के रूप में होता है जो जठर अम्ल की उपस्थिति में सक्रिय पेप्सिन में बदल जाता है। पेप्सिन की क्रिया प्रोटीन पर होती है। यह प्रोटीन के कुछ पेप्टाइड बन्धों को तोड़ कर उसे पेप्टोन में रूपान्तरित कर देता है। कैथोप्सिन एवं गेस्ट्रिकसिन एन्जाइमों की क्रिया भी कुछ विशेष प्रोटीनों पर इसी प्रकार से होती है।

**२.) रेनिन का कार्य:** रेनिन का कार्य शिशुओं के आमाशय में प्रोटीन का पाचन करना है। यह दूध को दही में रूपान्तरित कर देता है। रेनिन सामान्य अम्लीय माध्यम (घे- ६.० से ६.५ तक) में ही क्रियाशील रहता है, जबकि जठर रस का माध्यम अति अम्लीय रहता है। इसलिए इसका उपयोग वयस्क अवस्था में नहीं होता। यह कैल्शियम की उपस्थिति में कैसिनोजन को कैल्शियम केसीनेट में बदल देता है। कैसिनोजन दूध का प्रोटीन है। वयस्क मनुष्य में यह कार्य अन्य एन्जाइम करते हैं।

**३.) गेस्ट्रिक लायपेज का कार्य:** लायपेज की क्रिया वसा पर होती है। आमाशय में इसकी क्रिया अति मंद होती है। दूध पर निर्भर शिशुओं में इसकी क्रिया विशेष लाभप्रद होती है। यह मक्खन में उपस्थित ट्राइबुट्रिन नामक वसा पर क्रिया करके उसे तोड़ देता है।

**४.) हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का कार्य :** जठर अम्ल की अम्लीयता १.५ से १.८ के मध्य रहती है। यह आहार को जल अपघटित (हाइड्रोलाइज) करता है। इसकी उपस्थिति में पेप्सिनोजन सक्रिय पेप्सिन में बदल जाता है। यह एक सशक्त जीवाणुनाशक घटक भी है, क्योंकि वह म्यूसिन आदि से मिलकर आहार के द्रव्यों के किण्वन (फरमेन्टेशन) को रोकता है जिसके कारण अनेक जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। यह मजदूरों, अधिक शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियों के आमाशय में अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है, जिसके कारण आहार, पेयादि पदार्थों दूध तथा जल आदि में मिश्रित जीवाणु आमाशय में पहुँच कर नष्ट हो जाते हैं। योगासनों तथा नियमित व्यायाम या खेलों से भी आमाशय की ग्रन्थियों से पर्याप्त मात्रा में जठर अम्ल और जठर रस उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु ३ वर्ष तक की आयु के बच्चों में जठर रस में अम्ल की बजाय रेनिन अधिक उत्पन्न होता है। इसी कारण तीन वर्ष तक के बच्चों को पानी, दूध आदि उबाल कर पिलाना चाहिए तथा मक्खी, मच्छर आदि द्वारा प्रदूषित खाद्य पदार्थ भी नहीं देने चाहिए। बासी रोटियाँ व दाल, साग आदि भी कम मात्रा में देने चाहिए।

**५.) अन्तःस्थ घटक का कार्य :** इनके अतिरिक्त आमाशय के फण्डस और बॉडी भाग से एक विशेष श्लेष्म प्रोटीन होता है जिसे अन्तःस्थ घटक (इन्ट्रीन्सिक फेक्टर) कहते हैं। यह आमाशय में उपस्थित विटामिन बी-१२ (साइनेकोबालेमिन) का अवशोषण करने में सहायता करता है। इसकी अनुपस्थिति से घातक प्रकार की रक्ताल्पता हो जाती है। यह विटामिन शेषांत्र में अवशोषित होता है, किन्तु उसका संचय यकृत में होता है। यह हड्डियों में रक्त की लाल कणिकाओं के निर्माण में काम आता है।

**६.) आमाशयिक श्लेष्मा (म्यूसिन) का कार्य :** यह आमाशय में स्नेहन का कार्य करती हुई जठर रस की अम्लता को मंद करती है, जिसके कारण आमाशय की भित्ति की श्लेष्मिक कला जठर रस की अम्लीयता के प्रभाव से सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार आमाशय में जठर रस द्वारा प्रोटीन, कुछ अंश में वसा का पाचन हो जाता है तथा कुछ मात्रा में जल, लवण, लौह, एल्कोहल, ग्लूकोज एवं कुछ औषधियों के अवशोषण का कार्य भी सम्पन्न हो जाता है।

**(३) छोटी आँत्र में पाचन की क्रिया :** आमाशय की पेशियां आहार का मंथन करती है और आमाशय के पाचित आहार को आगे की तरफ धकेलती रहती हैं। जब जठर निर्गम क्षेत्र के आहार में जठर रस व अम्ल पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है और वह पर्याप्त पतला, जौ के पानी के समान हो जाता है, तब वह काइम कहलाता है। जैसे ही आमाशय की पेशियां संकुचित होती हैं, आमाशय का जठर निर्गम द्वार ढीला पड़ जाता है और उससे छोटी-छोटी फुहारों के रूप में काइम ग्रहणी में प्रवेश कर जाता है। जठर निर्गम केवल पचे हुए आहार को ही ग्रहणी में जाने देता है।

जैसे ही काइम ग्रहणी में पहुँचता है, आँत्र में पाचन क्रिया शुरू हो जाती है, जिसे आँत्रगत पाचन (इण्टेस्टाइनल डाइजेशन) कहा जाता है। काइम के आँत्र में पहुँचते ही उसमें प्रथम अग्न्याशय रस और फिर पित्त वाहिनी द्वारा पित्त तथा अंत में छोटी आँत्र के आँत्र पाचक रस क्रमशः मिश्रित होते हैं। यद्यपि आँत्र रस ग्रहणी, मध्यांत्र तथा शेषांत्र की भित्तियों से उत्पन्न होता है, परन्तु इसका कार्य मध्यांत्र में ही सम्पादित होता है, जिनकी सहायता से छोटी आँत्र में कार्बोहाइड्रेट का मोनो सैकराइड (ग्लूकोज आदि में), प्रोटीन का एमीनो अम्लों में तथा वसा का वसा अम्लों एवं ग्लिसरॉल में पाचन हो जाता है। छोटी आँत्र के अंकुरों द्वारा इनका अवशोषण भी कर लिया जाता है।

**अग्न्याशय रस के कार्य :** आमाशय से ग्रहणी में पहुँचने वाला काइम तीव्र अम्लीय होता है। इसके अम्ल से ग्रहणी में स्थित विशेष प्रकार की श्लेष्मिक कोशिकाएं क्षारीय बाई कार्बोनेट व अन्य काशिकाएं सेक्रीटीन तथा पित्ताशय का पित्त आहार की अम्लीयता कम कर देते हैं, ताकि अग्न्याशय रस का पाचन कार्य शुरू हो सके। जबकि सेक्रीटीन और कोलेसिस्टोकाइनिन व पैन्क्रियोजाइमिन हार्मोन अग्न्याशय रस के उत्सर्जन को प्रेरित करते हैं। अग्न्याशय रस पित्त वाहिनी की तुम्बिका (एम्पुला) द्वारा ग्रहणी में पहुँचता है। अग्न्याशय का पी.एच. ८.५ के लगभग होता है।

**अग्न्याशय रस के एन्जाइमों के कार्य -**

**१) ट्रिप्सीनोजन तथा काइमोट्रिप्सीनोजन:** ये एन्जाइम जब तक आँत्र रस (एन्ट्रो काइनेज) के सम्पर्क में नहीं आते, तब तक सक्रिय नहीं होते। एन्ट्रोकाइनेज इनको ट्रिप्सीन तथा काइमोट्रिप्सीन के रूप में बदल देता है। ट्रिप्सान, जठर रस के पेप्सिन द्वारा प्रोटीन को पेप्टोन में बदलने से बचे प्रोटनों को विखण्डित करके उन्हें छोटे-छोटे पौलीपेप्टाइड कणों में बदल देता है, जबकि काइमोट्रिप्सीन की क्रिया केसीन तथा जिलेटिन नामक प्रोटीनों पर होती है। ये इस एन्जाइम से हाइड्रोलाइज होकर पौलीपेप्टाइड तथा पेप्टाइडों में रूपान्तरित हो जाते हैं।

**२) कार्बोक्सी पेप्टिडेज :** ये एन्जाइम अधिकांश पौलीपेप्टाइडों को एमीनो अम्लों में बदल कर अधिकतर प्रोटीनों के पाचन का कार्य सम्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार ५० से ६० प्रतिशत तक प्रोटीनों का पूर्ण पाचन होकर उनका एमीनो अम्लों के रूप में रूपान्तरण हो जाता है।

**३) न्यूक्लिओटाइडेज:** आमाशय में पेप्सिन द्वारा तथा ग्रहणी में ट्रिप्सीन द्वारा न्यूक्लिओ प्रोटीन पेप्टोन में बदल दिये जाते हैं, जिससे न्यूक्लिक अम्ल पृथक् हो जाता है। न्यूक्लिओटाइडेज द्वारा न्यूक्लिक अम्ल विघटित होकर न्यूक्लिओटाइडेनेज में बदल दिये जाते हैं।

**४) इलेस्टेज तथा कोलेजनेज :** इलेस्टेज पर इलेस्टेज की क्रिया तथा कोलेजिन पर कोलेजनेज की क्रिया के परिणामस्वरूप ये दोनों प्रोटीन पौलीपेप्टाइडों में बदल जाते हैं।

**५) एमाइलेज :** अग्न्याशय के एमाइलेज एन्जाइम से सभी प्रकार के स्टार्च (पौली सैकराइड), जो टायलीन द्वारा पाचित नहीं हो पाते, शर्करा (डाइसैकराइड) अर्थात् माल्टोज में बदल जाते हैं। इसकी क्रिया पकी, उबली अथवा बिना पकी, सभी प्रकार की स्टार्च पर होती है। केवल अग्न्याशय रस में सोडियम और क्लोराइड आयन होने आवश्यक हैं। इस एन्जाइम का ६ माह तक के शिशुओं में अभाव रहता है। अतः इस उम्र तक के शिशुओं को गेहूँ, चावल, आलू आदि स्टार्च युक्त आहार नहीं देना चाहिए।

**६) वसा पाचक एन्जाइम :** लाइपेज, लेसिपिनेज तथा कोलेस्ट्रॉल इस्टेरेज आदि एन्जाइम अपने-अपने वसा कणों का पाचन करके उन्हें वसा अम्लों तथा ग्लिसरॉल आदि में विभाजित कर देते हैं। इन एन्जाइमों की क्रिया से पूर्व पित्त में मौजूद



पित्त लवण वसा को छोटे-छोटे कणों में विघटित करके उनका इमल्शन बना देते हैं। वसा का इमल्शीकरण होने के पश्चात ही उपरोक्त एन्जाइम उसको वसा अम्लों तथा ग्लिसरोल में खण्डित कर पाते हैं। वसा का अवशोषण भी इन्हीं रूपों में हो पाता है।

### पित्त के कार्य :

पित्त एक क्षारीय द्रव है। यद्यपि इसमें पाचक एन्जाइम नहीं होते, तो भी यह वसा के पाचन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब काइम ग्रहणी में पहुँचता है तो ग्रहणी की श्लेष्मिक कोशिकाएं कोलेसिस्टोकिनिन नामक पदार्थ की उत्पत्ति करती है। यह रक्त में अवशोषित होकर रक्त परिसंचरण द्वारा पित्ताशय में पहुँच कर पित्ताशय में संकोच पैदा करता है, जिससे पित्त, पित्ताशय से निकल कर पित्तवाहिनी द्वारा अग्न्याशय रस के साथ ग्रहणी में प्रविष्ट होने लग जाता है।

पित्त में सोडियम टैरीकोलेट तथा सोडियम ग्लाइकोलेट नामक दो पित्त लवण होते हैं जो ग्रहणी में आहार के साथ पहुँचे वसा गोलिकाओं का तल तनाव कम कर देते हैं, जिससे वसा कणों का इमल्शन बन जाता है और वसा पर क्रिया करने वाले एन्जाइमों की क्रिया उस पर सरलता से होने लगती है। इसके अतिरिक्त वसा के अकार्बनिक लवण एवं सोडियम क्लोराइड, सोडियम बाइकार्बोनेट आदि हानिकारक जीवाणुओं को भी नष्ट करते हैं। पित्त लवण, वसा, अम्लों एवं विटामिन ए, डी, ई, के, लौह, कैल्शियम एवं अन्य खनिज तत्वों के अवशोषण में भी सहायता करता है।

पित्त के बिलीरुबिन और बिलीवर्डीन नामक दो वर्णक मल का रंजन करते हैं। पित्त के मल के साथ मिलने से दुर्गन्ध घटती है। पित्त मृदु विरेचक का कार्य भी करता है, क्योंकि यह आँत्र की पुरःसरण गति को तीव्र करता है। इस कारण आहार में सीमित मात्रा में वसा अवश्य ही होनी चाहिए।

जैसे ही काइम ग्रहणी में प्रवेश करता है, छोटी आँत्र की श्लेष्मिक कला से एन्ट्रोक्रोनिन हार्मोन उत्पन्न होने लग जाता है, जिसके उद्दीपन से आँतों की ग्रंथियों से आँत्र रस का उत्सर्जन होने लग जाता है। भोजन में पौषक तत्वों की प्रेरणा से भी आँत्र रस उत्पन्न नहीं होता। छोटी आँत्र में जो आँत्र पाचक रस (सक्ससएन्टेरीकस) स्वावित होते हैं, वह मंद क्षारीय अर्थात् पी.एच. ८ वाले होते हैं। ये आँत्र की श्लेष्मिक कला के अंकुरों के मध्य स्थित विशेष प्रकार की कोशिकाओं से उत्पन्न होकर कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा का सम्पूर्ण पाचन सम्पन्न करते हैं। आँत्र पाचक रस के निम्नलिखित एन्जाइम हैं-

१) **प्रोटीन पर कार्य करने वाले एन्जाइम :** इरेप्सिन या पेप्टीडोसिस अनेक एन्जाइमों का मिश्रण है। इन एन्जाइमों द्वारा पेप्टाइड तथा पौलीपेप्टाइड को एमीनो अम्लों में रूपान्तरण करके प्रोटीन का सम्पूर्ण पाचन किया जाता है। इन एमीनो अम्लों को बाद में आँत्र भित्ति के द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। न्यूकियेज, न्यूक्टा योटाइडेज और न्यूक्लियोसाइडेज आदि तीनों एन्जाइम मिलकर न्यूक्लिक अम्लों के विभिन्न रूपों पर क्रिया करके उन्हें पेनरोज, प्यूरिन या पेरिमिडीन आदि में बदल देते हैं।

२) **कार्बोहाइड्रेट पर क्रिया करने वाले एन्जाइम :** यदि ग्रहणी में स्टार्च का कोई अंश बिना पचे शेष रह जाये तो आँत्र का एमाइलेज एन्जाइम उसे माल्टोज में बदल देता है। आँत्र रस में यह एन्जाइम बहुत कम मात्रा में रहता है। माल्टेज नामक एन्जाइम माल्टोज को ग्लूकोज में परिवर्तित करता है। सेक्रेज नामक एन्जाइम गन्ने की शर्करा को ग्लूकोज, फ्रक्टोज में बदलता है। लैक्टेज एन्जाइम दुग्ध शर्करा के लैक्टोज को ग्लूकोज तथा ग्लेक्टोज में परिवर्तित करता है। इनके अतिरिक्त आइसोमाल्टेज ओलिगो तथा ग्लूकोसाइडेज आदि एन्जाइम विभिन्न शर्कराओं को ग्लूकोज में बदलते हैं।

३) **वसा पर कार्य करने वाले एन्जाइम :** आँत्र रस में यों तो लाइपेज नामक एन्जाइम बहुत कम मात्रा में रहता है। यह वसा अम्लों तथा ग्लिसरोल में बदल देता है।

इस तरह छोटी आँत्र में आहार के पाचन का कार्य लगभग समाप्त या पूर्ण हो जाता है। आहार नाल में जो आभ्यन्तर पेशी स्तर होते हैं उसके पेशी तन्तु दो प्रकार से अवस्थित रहते हैं। बाहर की ओर अनुदैर्घ्य तथा अन्दर की ओर वृत्ताकार क्रम से होते हैं। अनुदैर्घ्य पेशियों के संकोच से आँत्र लंबाई में सिकुड़ती है तथा वृत्ताकार पेशियों के संकोच से

उसकी परिधि कम हो जाती है। आँत्र के मध्य मार्ग के संकुचन व इन दोनों प्रकार की गतियों से पाचक रस आहार में मिल जाते हैं तथा आहार आगे की तरफ भी खिसकता रहता है। इसके साथ ही छोटी आँत्र की भित्तियों में अंकुर तन्तुओं द्वारा पाचित आहार के सूक्ष्म अंश अवशोषित भी होते रहते हैं। छोटी आँत्र के अन्तिम भाग तक पाचन के साथ ही अवशोषण का कार्य भी सम्पन्न हो जाता है। छोटी आँत्र में ग्लूकोज, एमीनो अम्लों, वसा अम्लों, ग्लिसरोल के रूप में अंकुरों द्वारा लसिका कोशिकाओं तथा रक्तवाहिनियों द्वारा शोषित कर लिया जाता है। वसा अम्ल तथा ग्लिसरोल को काइल कहा जाता है। पानी, विटामिनो, खनिज लवणों तथा अन्य पौषक तत्वों का भी आँतों की अंकुरों द्वारा ग्लूकोज, एमीनो अम्लों के साथ ही अवशोषण कर लिया जाता है। आँत्र की श्लेष्मिक कला की वर्तुलाकार वलियों के कारण तथा अंकुरों की अधिक संख्या के कारण अवशोषण के लिए एक बड़ा क्षेत्र बन जाता है। अवशोषण का क्षेत्र शरीर की त्वचा के क्षेत्रफल से पांच गुना से भी अधिक होता है। छोटी आँत्र में पाचन और अवशोषण का कार्य लगभग 90 से 92 घंटों में सम्पन्न हो जाता है।

**४) वृहदाँत्र में पाचन क्रिया :** कुछ आहार द्रव्य तो ऐसे होते हैं, जिनका आहार नाल में बिना कोई अधिक परिवर्तन हुए ही अवशोषण हो जाता है, जैसे पानी, खनिज लवण, विटामिन्स इत्यादि। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जिनका पाचन, पाचन संस्थान के एन्जाइम कर डालते हैं और तब उनका सूक्ष्म कणों के रूप में अवशोषण होता है, परन्तु कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जिन पर इन एन्जाइमों का कोई प्रभाव नहीं होता। अतः उनका पाचन अवशोषण बिलकुल नहीं हो पाता। ये मल का भारवर्द्धन करते हैं जैसे सेल्यूलोज आदि। अतः छोटी आँत्र से बिना पचा व अप्रचूषित आहार का भाग संदेश कपाटिका द्वार द्वारा वृहदाँत्र में प्रवेश करता है। जहाँ पर उसमें मौजूद जल, उसमें घुले हुए शेष लवण, ग्लूकोज, एमीनो अम्लों को कुछ मात्रा में अवशोषण कर लिया जाता है। कई तरह की औषधियाँ यथा संवेदन हर औषधियों का अवशोषण भी यहाँ होता है। वृहदाँत्र के दूरस्थ भाग की तुलना में प्रथम भाग में अवशोषण की क्रिया तीव्र होती है। वृहदाँत्र के दूरस्थ भाग की तुलना में प्रथम भाग में अवशोषण की क्रिया तीव्र होती है। वृहदाँत्र में अनेक प्रकार के जीवाणु भी निवास करते हैं जो अनेक विटामिनो का निर्माण करते हैं। इन जीवाणुओं द्वारा कार्बोहाइड्रेट का कार्बन डाई ऑक्साइड व कार्बोनिक अम्लों में, वसा का वसा अम्लों तथा ग्लिसरोल में तथा प्रोटीन का एमीनो अम्लों, अमोनिया आदि में विच्छेदन कर दिया जाता है। ट्रिप्सिन का इन्डोल तथा स्काटोल में परिवर्तन हो जाने से मल में इनकी दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। सम्पूर्ण वृहदाँत्र में जो श्लेष्मिक कोशिकाएं होती हैं, उनमें श्लेष्मा का स्राव होता है जो सम्पूर्ण वृहदाँत्र को चिकनी बनाये रखता है। वृहदाँत्र से मल के गुदा द्वार से निष्कासन में २४ से २६ घंटे का समय लग जाता है।

**५) मल विसर्जन की क्रिया :** आहार नाल के अन्य भागों के समान वृहदाँत्र में पुरःसरण गति नहीं होती किन्तु जिस समय आहार आमाशय में पहुँचता है तो पर्याप्त लंबे अन्तराल के बाद अनुप्रस्थ वृहदाँत्र में जठर वृहदाँत्र प्रतिवर्त (गेस्ट्रोकोलिक रिफ्लेक्स) द्वारा पुनःसरण की एक तीव्र तरंग आती है, जो अनुप्रस्थ वृहदाँत्र के मल को अवरोही तथा कुण्डलिका वृहदाँत्र की तरफ धकेल देती है। इसे सामूहिक गति कहते हैं। इस सामूहिक गति के कारण आहार का शेष अंश मल के रूप में कुण्डलिका से मलाशय में पहुँच जाता है। जब यह मलाशय में पर्याप्त मात्रा में पहुँच जाता है तो मलाशय विस्फारित कर जाता है, जिससे मलाशय के तन्त्रिका तंत्र उद्दीप्त हो उठते हैं तथा मल त्याग की इच्छा उत्पन्न होने लगती है। गुदा का बाह्य द्वार ऐच्छिक पेशियों के नियंत्रण में रहता है। मल त्याग करते समय मलाशय की पेशियों का अनैच्छिक संकुचन, गुदा के भीतरी द्वार पर शिथिलन तथा गुदा के बाह्य द्वार पर ऐच्छिक शिथिलन एक साथ कार्य करते हैं। उदर की भित्तियों के संकुचन तथा डायफ्राम के नीचे की तरफ आने से, उदरगत दबाव में वृद्धि होती चली जाती है, जो मल त्याग करने की क्रिया में सहायता करती है। व्यायाम तथा योगासन आदि से पेशियाँ सशक्त बनती हैं, जिससे मल त्याग में सुगमता रहती है तथा मलाशय अन्य समय खाली बना रहता है।

**६) पाचन के उपरांत :** पाचन के उपरांत कार्बोहाइड्रेट का मोनोसैकराइड (ग्लूकोज आदि में), प्रोटीन का विभिन्न एमीनो अम्लों में रूपान्तरण हो जाता है, जिन्हें छोटी आँत्र के अंकुर की कोशिकाएं शोषित करके, प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृत में पहुँचा देती है। यकृत में पहुँच कर ग्लूकोज का विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए ऊर्जा उत्पादन के लिए प्रयुक्त किया जाता है तथा अतिरिक्त ग्लूकोज को ग्लाइकोजन आदि के रूप में यकृत आदि में ही संग्रह कर लिया जाता है जबकि एमीनो अम्लों का प्रयोग शरीर के ऊतकों तथा कोशिकाओं के पुनः निर्माण व नयी कोशिकाओं के निर्माण के लिए प्रयोग किया जाता है। जिन एमीनो अम्लों को उपयोग शरीर में नहीं हो पाता, उन्हें यकृत विघटित करके यूरिया तथा ऊर्जा उत्पादन के कार्य में उपयोग हो जाता है। पाचित वसा, वसा अम्लों तथा ग्लिसरोल के रूप में अवशोषण होकर वृक्वाहिनी

शिरा द्वारा यकृत में पहुँचती है, जहाँ उसका पुनः मानव वसा में रूपान्तरण हो जाता है, जिस रूप में शरीर के वसा आगारों में, वसा को संचित कर लिया जाता है। जब आहार की कार्बोहाइड्रेट का पर्याप्त मात्रा में उपयोग नहीं हो पाता, तब उपवास आदि काल में , शरीर में संचित वसा को ऊर्जा तथा उष्मा प्रदान करने के लिए यकृत द्वारा प्रयोग में लाया जाता है।

## पेट का दर्द - वैज्ञानिक अनुसंधान

निश्चित रूप से 'दर्द' ही किसी रोग विशेष का ऐसा प्रथम लक्षण है जो रोगी और चिकित्सक दोनों का ध्यान सबसे पहले (रोग की तरफ) आकर्षित करता है। रोगी किसी भी कीमत पर उससे तात्कालिक रूप में मुक्ति चाहता है। यों तो शरीर के किसी भी अंग में दर्द हो सकता है जैसे कि सिर, गले, छाती, हृदय, गुर्दे, हाथ-पैर, अंगुलियां, कान, नाक, जनन अंगों, विभिन्न सन्धियों एवं पेट इत्यादि में, किन्तु इस अध्याय का सम्बन्ध केवल पेट से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के दर्दों तक ही सीमित है।

पेट का दर्द कभी ऐंठन और मरोड़ की तरह होता है तो कभी शूल (कांटे) की चुभन के समान। रोगी को कभी पेट में तीव्र जलन और घाव सदृश पीड़ा के रूप में होता है तो कभी केवल भारीपन या बोझ के समान। पेट दर्द कभी थोड़े-थोड़े समय के बाद दौरों के रूप में तो कभी लगातार कई दिनों तक होता रहता है। पेट दर्द के साथ कभी-कभी रक्त मिश्रित या म्यूकस वाले दस्त या कब्ज अथवा वमन-मितली जैसे लक्षण भी मिलते हैं।

वास्तव में पेट दर्द आमतौर पर देखे जाने वाला लक्षण है और उससे बच्चे, युवा, वृद्ध स्त्री-पुरुष कोई भी अचानक या धीरे-धीरे पीड़ित हो सकते हैं। इनके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं और उनमें बिना किसी उपचार के स्वयं या मामूली औषधियों के उपयोग अथवा खान-पान में थोड़े से परिवर्तन से छुटकारा मिल सकता है जबकि इनके विपरीत कुछ पेट दर्दों में दर्द से राहत पाने के लिए रोगी को तात्कालिक ऑपरेशन की आवश्यकता हो सकती है, जैसे कि यदि पेट दर्द के साथ रोगी को ज्वर व वमन की शिकायत भी हो तथा दर्द का स्थान पेट के निचले दाहिने भाग में नाभि एवं कूल्हे की हड्डी के सामने वाले उभार (इलियक स्पाइन) के बीच में हो और वहाँ हाथ रखने पर शोथ एवं तीव्र दुखन महसूस हो (यह मैकवर्नी चिह्न कहलाता है), तो इस दर्द का कारण ऑत्रपुच्छ शोथ (तीव्र ऐपेंडिसाइटिस) हो सकती है। ऐसे रोगियों का तुरंत आपातकालीन रूप में ऑपरेशन करना पड़ता है, क्योंकि यदि ऐपेंडिक्स में गैंगरीन है, जिसका तुरन्त पता नहीं चलता, तो उसके अंदर ही अंदर फट जाने से कई दूसरी भयानक पेचीदगियां उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु होने का डर रहता है।

### पेट दर्द के कारण :

कई प्रकार के पेट दर्दों का सम्बन्ध पोषण नाल के साथ सीधे ही होता है तो कुछ अन्य प्रकार के पेट दर्दों का सम्बन्ध पेट में स्थित अन्य अवयवों जैसे यकृत, गुर्दे, गर्भाशय, मूत्राशय, पित्ताशय आदि के विकारों के साथ होता है। पेट दर्द के कुछ प्रमुख कारण हैं- आमाशय में अम्ल की अधिकता या घाव का बन जाना, छोटी आँत्र में घाव, शोथ या रूकावट, बड़ी आँत्र में शोथ या रूकावट, ऑत्रपुच्छ शोथ, अग्न्याशय शोथ, पेट में गैस का बनना, कब्ज, पित्ताशय में शोथ या रूकावट या पथरी इत्यादि। कई बार भारी, गरिष्ठ व तले-भुने भोजन का बार-बार सेवन करने, आहार में विषाक्ता, एलर्जीजन्य आहार के सेवन तथा अजीर्ण आदि के कारण भी रोगी के पेट में दर्द होने लगता है।

वास्तव में पेट दर्द के निश्चित कारण को ज्ञात करने के लिए पेट के विभिन्न हिस्सों में उपस्थिति विभिन्न आन्तरिक अंगों, दर्द के प्रकार, स्थान, उसके प्रसार उसके समय तथा पुनरावृत्ति के विषय में जानकारी होनी आवश्यक है। इस उद्देश्य के लिए रोगी के पेट को काल्पनिक दृष्टि से नौ भागों में विभाजन किया जाता है। दो रेखायें रोगी के पेट पर सामने की ओर गले की हड्डी (क्लेविकल) के बीच ऊपर से नीचे की ओर उर्ध्व रूप में (वर्टिकल) खींची जाती है और इसी प्रकार सामने की ओर से दो रेखायें समतल (होरिजॉन्टल) रूप में खींची जाती हैं। ऊपर वाली रेखा पसलियों के सामने वाले निचले भाग को मिलाती है जबकि निचली रेखा कूल्हे की हड्डी के सामने वाले दोनों उभारों को मिलाती है। इस प्रकार पेट के नौ भग बन जाते हैं।

(१) दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (रायट हायपोकोण्ड्रिक रीजन): पेट के इस भाग में यकृत का दाहिना पिण्ड, बड़ी आँत्र का मोड़ (हैपोटिक फ्लेक्शर) और दाहिने वृक्क का ऊपरी कुछ भाग स्थित रहता है।

(२) वाम अनुपार्श्विक प्रदेश (लेफ्ट हायपोकोण्ड्रिक रीजन): इन भाग में आमाशय स्कन्ध, प्लीहा, अग्न्याशय की पूंछ, बड़ी आँत्र का बायाँ मोड़, जिसे प्लैविक कोण (स्प्लेनिक फ्लेक्शर) कहते हैं तथा बायें वृक्क का ऊपरी कुछ भाग रहता है।

(३) **हृदयाधिरिक प्रदेश (ऐपिगेस्ट्रिक रीजन):** इस भाग में यकृत का कुछ भाग, पित्ताशय, आमाशय का निचला भाग, अग्न्याशय तथा ग्रहणी (इयूडेनम) स्थित रहते हैं।

(४) **दक्षिण कटिपार्श्विक प्रदेश (रायट लम्बर रीजन) :** इस भाग में दाहिने वृक्क का अधिकांश भाग, बड़ी आँत्र का आरोही भाग तथा छोटी आँत्र का कुछ हिस्सा स्थित रहते हैं।

(५) **वाम कटिपार्श्विक प्रदेश (लेफ्ट लम्बर रीजन) :** इस भाग में बायें वृक्क का अधिकांश भाग, बड़ी आँत्र का अवरोही भाग तथा छोटी आँत्र का कुछ हिस्सा स्थित रहते हैं।

(६) **परिनाभिक प्रदेश (अम्बलाइकोल रीजन) :** इस भाग में बड़ी आँत्र का अनुप्रस्थ भाग, ग्रहणी का कुछ भाग तथा छोटी आँत्र का काफी भाग स्थित रहते हैं।

(७) **दक्षिण वंक्षण प्रदेश (रायट इलियक रीजन) :** इस भाग में छोटी व बड़ी आँत्र का जोड़ (उण्डूक), आँत्रपुच्छ, अण्डकोष की धमनी, स्त्रियों में दाहिनी ओवरी व अण्डावाहिनी नलिका (फैलोपियन ट्यूब) आदि अंग स्थित होते हैं।

(८) **वाम वंक्षण प्रदेश (लेफ्ट इलियक रीजन) :** इस भाग में बायीं मूत्र प्रणाली की गवनी (यूरेटर), बड़ी आँत्र का निचला अंग्रेजी का S के आकारवाला सिगमोइड कोलोन भाग, स्त्रियों में बायीं अण्डाशय (ओवरी) तथा अण्डावाहिनी नलिका स्थित रहती है।

(९) **वस्ति प्रदेश (हायपो गैस्ट्रिक रीजन) :** इस भाग में मूत्र की थैली (ब्लेडर), पुरुषों में प्रोस्टेट ग्रन्थि तथा स्त्रियों में बच्चेदानी (यूरेटर) स्थित रहते हैं।

ये तो कुछ प्रमुख अंग हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य छोटे-छोटे अंग प्रत्यंग होते हैं जो एक आवरण (पेरीटोनियम मेम्ब्रेन) द्वारा ढके हुए तथा इसी के द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए इन भागों में स्थित रहते हैं।

पेट के दर्द की शिकायत लेकर आने वाले रोगियों में दर्द का वास्तविक कारण ज्ञात करने के लिए रोग और रोगी की निम्न चार बातों पर ध्यान दिया जाता है कि (अ) पेट दर्द, उदर के किस भाग में है, (ब) दर्द का प्रकार क्या है, (स) दर्द कितने समय से है तथा (द) दर्द में किस-किस चीज से राहत मिलती है ? इस प्रकार पेट दर्द व रोग का वास्तविक कारण ज्ञात करके रोग को समूल नष्ट किया जा सकता है।

**(अ) पेट दर्द किस भाग में है ?**

**१) पेट के दायें ऊपर भाग में दर्द :** पेट के ऊपरी दायें भाग में दर्द प्रायः आमाशय, छोटी आँत्र के ऊपरी भाग, यकृत, पित्ताशय और अग्न्याशय (पेन्क्रियास) के विभिन्न रोगों के कारण उत्पन्न होता है। आमाशय के प्रमुख रोग हैं उसकी म्यूकस झिल्ली की सूजन (गैस्ट्रीटाइटिस), अधिक जठर अम्ल का बनना (एसीडिटी), आमाशय व्रण (पेप्टिक अलसर) और उसमें कैंसर। यकृत के मुख्य रोग हैं, यकृत में घाव बन जाना उसका छोटा या बड़ा हो जाना व उसकी शोथ आदि। पित्ताशय के मुख्य रोग हैं, उसमें तीव्र या पुरानी सूजन (कोली सिस्टाइटिस), उसमें पथरियां बन जाना या उसमें रूकावट एवं उसका कैंसर। इनके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पेट के इस भाग में दर्द हृदय शूल (एंजाइना पेक्टोरिस) या हृदयाघात (हार्ट अटैक), न्यूमोनिया या फेफड़ों की सूजन (प्ल्यूरीसी) के कारण भी हो सकता है, किन्तु इन दर्दों के साथ अन्य लक्षण भी प्रमुख रूप से मौजूद रहते हैं।

**२) पेट के बायें ऊपरी भाग में दर्द :** पेट के इस भाग में दर्द प्रायः तिल्ली के रोगों जैसे मलेरिया ज्वर, टायफाइड ज्वर के कारण, हृदय के अन्दरूनी भाग में सूजन का ज्वर (रयूमेटिक फीवर) और रक्त कैंसर के कारण हो सकता है।

**३) नाभि के आसपास दर्द :** यह दर्द अक्सर छोटी आँत्र के निम्न रोगों के कारण हुआ करता है जैसे आँत्र शोथ, आँत्र की टी.बी. (क्षय), आँत्र व्रण, कब्ज और पेट में मल के सड़ने से उत्पन्न हुई गैस।



४) **नाभि की सीध में कमर की ओर दर्द** : इस स्थान पर दर्द प्रायः गुर्दे (वृक्कों) के रोगों के कारण हुआ करता है। गुर्दे के प्रमुख रोग हैं, उनमें संक्रमण, पथरी का बन जाना या रसौली आदि तथा मूत्र तंत्र का संक्रमण आदि। इस दर्द के साथ रोगी को मूत्र त्याग के समय दर्द, जलन या कष्ट हो सकता है या फिर मूल की मात्रा कम, अवरुद्ध अथवा रक्त मिश्रित मूत्र आ सकता है।

५) **पेट के निचले भाग में दर्द** : पेट के निचले भाग में दर्द आँत्रपुच्छ की सूजन, बड़ी या छोटी आँत्र की टी.बी., उनमें अमीबा परजीवी का संक्रमण या उस भाग में कैंसर, स्त्रियों में डिम्बग्रन्थि (ओवरी) की सूजन या उसमें सिस्ट या ट्यूमर (रसौली) बन जाने के कारण हो सकता है।

६) **पेट के निचले मध्य भाग में दर्द** : इस भाग का दर्द मूत्राशय की सूजन या उसमें पथरी के कारण मूत्र प्रवाह में रुकावट आ जाने के कारण, मूत्राशय का आकार बढ़ जाने से, बड़ी आँत्र में अमीबा परजीवी व अन्य जीवाणुओं से उत्पन्न सूजन या कोलाइटिस से एवं स्त्रियों में गर्भाशय एवं उसकी नलियों में शोथ के कारण हो सकता है।

७) **पेट के निचले भाग में दर्द**: अक्सर इस भाग का दर्द कोलाइटिस से, बड़ी आँत्र के कैंसर से, स्त्रियों में डिम्बग्रन्थि की सूजन या उसमें सिस्ट अथवा रसौली बन जाने के कारण हो सकता है।

८) **पेट दर्द के कुछ अन्य कारण** : पेट के किसी विशेष हिस्से या पूरे पेट में दर्द कुछ अन्य कारणों, जैसे आँत्र कृमि, मन के सड़ने से उत्पन्न गैस, आमाशय या आँत्र शोथ, आँत्र में रुकावट या आँत्र का फट जाना, पेरिटोनियम झिल्ली की सूजन या उसमें पानी भर जाना, मधुमेह तथा कुछ मानसिक कारणों से भी हो सकता है।

#### (ब) पेट दर्द किस प्रकार का है :

रोगी को पेट दर्द का अनुभव कई प्रकार से हो सकता है जैसे कि मरोड़ा जाना, कील की चुभन जैसा, जलन, भारीपन या दबाव पड़ना आदि। मरोड़ के साथ दर्द होने पर रोग को प्रायः छोटी या बड़ी आँत्र से सम्बन्धित माना जाता है। पित्ताशय (गॉल ब्लेडर) में पथरी या सूजन का दर्द प्रायः तीव्र कील चुभन के रूप में अचानक उठता है और फिर धीरे-धीरे तीव्र होकर स्थिर हो जाता है जो लगातार एक-दो दिन या अधिक समय तक रह सकता है, जबकि उसके कैंसर का दर्द महीनों तक लगातार बना रह सकता है तथा रोगी की हालत बिगड़ती चली जाती है। यद्यपि कैंसर बहुत दिनों तक बिना दर्द के भी बना रह सकता है। आमाशय व्रण का दर्द तीव्र जलन के रूप में खट्टी डकारों के साथ होता है। यकृत वृद्धि के कारण रोगी के पेट में भारीपन बना रहता है तथा उसका पाचन तंत्र गड़बड़ा जाता है। हृदय दर्द का आभास और गुर्दे की पथरी का अहसास कील चुभने जैसा होता है।

#### (स) पेट दर्द कितने समय से है ?

कुछ रोगी कई वर्ष से पेट दर्द की शिकायत के अलावा मल के साथ अत्यधिक आँव (म्यूकस) आने की शिकायत करते हैं। ये रोगी प्रायः म्यूकस कोलाइटिस के रोगी होते हैं। कुछ रोगी कई वर्षों से जलन के साथ मध्य ऊपर पेट के भाग में दर्द बताते हैं तो प्रायः उनको जीर्ण आमाशय या ग्रहणी का व्रण (अल्सर) होता है। २-३ साल से नाभि के पास दर्द के साथ वायुगोला सा घूमने की शिकायत करने वाले रोगियों को आँत्र की टी.बी. (क्षय रोग) हो सकती है।

कुछ घंटों या १-२ दिनों से दर्द के साथ उल्टी व पतले रक्त मिश्रित या वैसे ही मल के साथ दर्द हो तो ये लक्षण आमाशय शोथ, कोलाइटिस या अतिसार के हो सकते हैं। कुछ महीनों या वर्षों से युवावस्था में रक्त मिश्रित मल आने पर प्रायः अल्सरेटिव कोलाइटिस का अनुमान होता है। ५-६ महीने से पेट दर्द के साथ पेट में गाँठ या ठोस उभार के साथ रोगी में भूख की अत्यधिक कमी, वजन का तेजी से गिरना व रात्रिकालीन मध्यम ज्वर प्रायः क्षय या कैंसर के कारण हो सकते हैं। कुछ घंटों या १-२ दिन से युवावस्था में पेट के दायें निचले भाग में एकाएक दर्द के साथ वमन, हलका ज्वर व उस स्थान पर गाँठदार उभार के साथ रक्त परीक्षण में श्वेत रक्त कणों (जुब्) व वोलीमर्स की संख्या बड़ी होने पर आँत्रपुच्छ शोथ का कारण हो सकते हैं। पेट के ऊपरी दायें भाग में दर्द, ज्वर, के साथ और यकृत के बढ़े होने पर रक्त में श्वेत रक्त कणों में बोलीमर्स की संख्या बड़ी होने पर प्रायः यकृत में अमीबा परजीवी के कारण बना फोड़ा हो सकता है। कुछ घंटों या १-२

दिन से पेट दर्द के साथ पेट फूलना, वमन व मल का न निकलना तथा मलद्वार से हवा के निकास तक में रुकावट आँत्र अवरुद्ध हो जाने के कारण हो सकता है।

#### (द) पेट दर्द में राहत :

पेट दर्द के मूल कारण को ज्ञात करने का एक और प्रमुख लक्षण है कि दर्द में किन चीजों से राहत मिलती है, जैसे कि आमाशय व्रण की पीड़ा भोजन, दूध, मीठा सोड़ा आदि लेने से कुछ समय के लिए शांत हो जाती है, जबकि अपच, अजीर्ण या आँत्र अवरोध में कुछ खा लेने के बाद पीड़ा में वृद्धि हो जाती है। कब्ज में मल त्याग के बाद, अफारा में गुदा द्वार से हवा निकल जाने के बाद तथा अपच में वमन से रोगी को कुछ आराम आ जाता है। पौख्य ग्रंथि के आकार वृद्धि के कारण मूत्र में रुकावट आ जाती है, किन्तु मूत्र के निकल जाने पर रोगी को आराम आ जाता है। यकृत के रोगों में भोजन कर लेने से दर्द में वृद्धि हो जाती है।

#### पेट से सम्बन्धित कुछ प्रमुख दर्द व उनके लक्षण निम्न प्रकार से हैं -

१) **आमाशय का दर्द** : यह दर्द प्रायः रात्रि को दौरे के रूप में हुआ करता है, परन्तु बहुधा यह अनियमित रूप से किसी भी समय हो सकता है। इसमें कुछ खा लेने से दर्द की अधिकता बढ़ जाती है, जबकि दबाने से कुछ कमी हो जाती है। प्रायः मितली, वमन, खट्टे डकार आते हैं और दुर्गन्धित गैस निकलती है। आमाशय में बोज़ या अफारा सा महसूस होता है।

**लक्षण** : यह दर्द अचानक प्रारंभ होता है। दर्द की तीव्रता के कारण रोगी का चेहरा निस्तेज, पीला सा, शरीर ठंडा पड़ जाना, अधिक मात्रा में पसीने आना तथा वमन तक आ जाती है। रोगी में बेचैनी, नाड़ी की गति तीव्र पर कमजोर और रोगी दर्द की तीव्रता के कारण कभी-कभी अपने घुटनों को मोड़ कर पेट की तरफ कर लेता है।

२) **आमाशय व्रण का दर्द** : आमाशय या ग्रहणी व्रण में रोगी को तीव्र प्रकार की जलन, खट्टे डकारों के साथ डायफ्राम के नीचे, मध्य या बायें भाग में होता है जो पीठ और पसलियों तक जाता भी प्रतीत होता है। भोजन करने के आधे घंटे से दो घंटे बाद तक किसी भी समय यह दर्द शुरू हो सकता है। यह दर्द कई बार इतना भयानक रूप में होता है कि रोगी को वमन तक आ जाता है। वमन आने से दर्द में कुछ शांति मिलती है। तीव्र आमाशय व्रण के कारण कई बार वमन मल में रक्त मिश्रित होकर आ सकता है। कई बार ग्रहणी व्रण के कारण आमाशय का निम्न द्वार सिकुड़ जाता है, जिससे अचानक किन्तु बहुत ही तीव्र प्रकार का दर्द कुछ समय के लिए रोगी को हो सकता है।

३) **आँत्रपुच्छ शोथ का दर्द** : आँत्रपुच्छ शोथ में संक्रमण, शोथ या रुकावट के कारण यह दर्द होता है जो नाभि के पास वाले अम्बलाइकल क्षेत्र में शुरू होकर दाहिनी इलियक फोसा की ओर जाकर मैकबर्नी चिन्ह पर ठहर जाता है। यह आरंभ में ऐंठन के रूप में होता है जो धीरे-धीरे ठहर जाता है। इसका आक्रमण अचानक बड़ी तीव्र गति से होता है और कई घंटे तक रह सकता है। आँत्रपुच्छ शोथ के कारण रोगी के चलने-फिरने एवं गति करने से दर्द में वृद्धि होती है। किसी भी उपाय से यह कम नहीं होता (औषधि चिकित्सा नहीं)। रोगी को ज्वर व वमन हो सकती है। दाहिनी इलियक फोसा पर हाथ लगाने व छूने पर दुखन व कड़ापन महसूस होता है। यह इस दर्द का एक प्रामाणिक चिन्ह है। बच्चों में यह दर्द नाभि या हृदय क्षेत्र में प्रतीत होता है।

४) **छोटी आँत्र का दर्द** : आँत्र में रुकावट के कारण फैलाव या संकुचन के कारण पेट का यह दर्द नाभि के भाग में होता है जो इधर-उधर कहीं नहीं फैलता तथा तीव्र रूप में ऐंठन के प्रकार में होता है। दर्द का आक्रमण शीघ्रता से होता है और कई घंटों या दिनों तक चलता रहता है। यह किसी भी प्रकार से रोगी के गति करने पर नहीं बढ़ता व न किसी उपाय से कम होता है। वमन हो सकती है। नाभि के चारों ओर उभार तथा आँतों की आवाज में वृद्धि होती है। मलाशय गुब्बारे के रूप में फैला तथा खाली रहता है।

५) **बड़ी आँत्र का दर्द** : पेट का यह दर्द बड़ी आँत्र में रुकावट के कारण हायपोगेस्ट्रिक भाग में होता है। यह दर्द दायीं या बायीं ओर को अपनी सीध में जहाँ बड़ी आँत्र के मोड़ होते हैं, तक फैल सकता है। दर्द ऐंठन के रूप में तीव्र

प्रकार का होता है। इसका आक्रमण धीरे-धीरे होता है तथा कई दिनों तक रह सकता है। रोगी के गति करने पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आरंभ में रोगी कब्ज की शिकायत करता है तथा कई दिन तक मल त्याग न करने के कारण वमन आरंभ हो सकती है। कभी वायु के कारण भी पेट फूल जाता है। पेट में उभार, आँतों की गति में वृद्धि (पुरःसरण गति के कारण), मलाशय खाली किन्तु गुब्बारे की भाँति फूला हुआ रहता है। एक्स-रेज में आँतों में तरल की रुकावट का पता चलता है।

**६) पित्ताशय का दर्द :** यह दर्द प्रायः पित्ताशय या पित्त प्रणाली में शोथ या पथरी बन जाने के कारण होता है। यह दर्द दाहिने हायपोकोन्ड्रियम (यकृत प्रदेश) या एपिगैस्ट्रियम में होता है जो रोगी को दाहिने कंधे की हड्डी के स्थान पर प्रतीत होता है। दर्द ऐंठन के रूप में तीव्र प्रकार का होता है जो अचानक आरंभ होकर घंटों तक रह सकता है। यह दर्द तेल, घी, चिकनी वस्तुओं के खाने व रोगी के गति करने पर बढ़ सकता है। रोगी को वमन भी हो सकती है। दर्द के स्थान पर से छूने, दबाने पर दुखन होती है। रंगीन एक्स-रे (कोलीसिस्टोग्राम) या सोनोग्राफी में पित्ताशय की पथरी या शोथ दिखाई दे सकती है। कई रोगियों में इस दर्द के साथ एक-दो दिन में पीलिया के लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं। यह रोग अधिकतर स्त्रियों में, चालीस वर्ष के बाद देखने में आता है।

**७) गुर्दों का दर्द :** यह दर्द प्रायः गुर्दों की सूजन, उनकी पथरी, मूत्र नली के संक्रमण, गर्भाशय के रोगों के कारण होता है। दर्द का आरम्भ पीठ में कमर के स्थान पर पसलियों के नीचे कूल्हे की हड्डियों के ऊपर होता है जो दाहिनी या बायीं ओर से होकर जाँघ के जोड़ की ओर फैलता है तथा और नीचे की ओर गति करते हुए अण्डकोषों तथा योनि ओष्ठ तक में प्रतीत होता है। यह ऐंठन के प्रकार का तीव्र रूप में उठता है। इसका आक्रमण अचानक हो सकता है जो कुछ मिनटों से लेकर कई घंटों तक हो सकता है। रोगी को किसी भी प्रकार से झटका लगने, हिलने-डुलने से दर्द में वृद्धि होती है। वमन, बार-बार मूत्र त्याग या उसका आभास, मूत्र के साथ रक्त आना आदि कुछ सम्बन्धित लक्षण हैं। एक्स-रे में मूत्र तंत्र में पथरी दिखाई दे सकती है, किन्तु अन्य भौतिक चिन्ह कोई नहीं होते। यह दर्द पुरुषों में ही ज्यादा देखने में आता है।

**७) अग्न्याशय का दर्द:** अग्न्याशय की शोथ के कारण एपिगैस्ट्रिक या दायें हायपोकोन्ड्रियम क्षेत्र में यह दर्द होता है जो कमर (पीठ) तथा पूरे पेट में फैल जाता है। यह दर्द लगातार एक सा बना रहता है और बहुत ही कष्टदायक होता है। यह दर्द किसी प्रकार की गति करने से घटता-बढ़ता नहीं है। वमन तथा कंपकंपी हो सकती है किन्तु ज्वर आवश्यक नहीं है। पेट आरंभ में कोमल, लचीला एवं तत्पश्चात् कठोर हो जाता है। मूत्र व रक्त के परीक्षण में एमाइलेज एन्जाइम की मात्रा में वृद्धि पायी जाती है।

### पेट दर्द का उपचार :

विभिन्न प्रकार के पेट दर्द, पेट के विभिन्न महत्वपूर्ण अंगों में उत्पन्न हुये विकार, विकृति और विषमता की सूचना देते हैं, जिससे रोगी और चिकित्सक का ध्यान रोग विशेष की तरफ आकर्षित होता है। अतः तात्कालिक रूप से दर्दनाशक औषधियों की सहायता से दर्द को दबाने के स्थान पर उसके पीछे छिपे रोग के वास्तविक कारण को ज्ञात किया जाये और फिर उस रोग के अनुसार उसकी चिकित्सा की जाये। पेट से सम्बन्धित विभिन्न रोगों की चिकित्सा का यथास्थान वर्णन किया ही गया है। इसलिए रोग विशेष की चिकित्सा के लिए उसी अध्याय विशेष का एक बार पुनः अध्ययन कर लेना चाहिए। फिर भी पेट से सम्बन्धित दर्दों में निम्न उपायों का यथाआवश्यक उपयोग किया जा सकता है -

- पेट दर्द के दौरान रोगी गरिष्ठ व भारी आहार का सेवन पूर्णतः छोड़ दें तथा अधिकतम मात्रा में तरल आहार का सेवन करें, जैसे नींबू पानी, उबले जौ, चना या पेटे का पानी। इसके अतिरिक्त रोगी मक्खन रहित पतने दही की ताजा लस्सी, फलों (संतरा, मौसम्मी, अनार, अन्ननास) का रस, हरी-साग-सब्जियों का रस आदि पर ही निर्भर रहें। रोग की स्थिति में थोड़ा सुधार होने पर रोगी सेव, अंगूर, पपीता, टमाटर, मूंग, मसूर, कुलथ की दाल का पानी, उबली हुई सब्जियां या उनका सूप, पतली खिचड़ी या दलिया आदि का सेवन कर सकता है।
- अम्लपित्त, आम्लाशय व्रण तथा आम्लाशय शोथ के कारण उत्पन्न हुए दर्द में थोड़े से पानी में खाने वाला सोड़ा मिलाकर पीने, ठंडा दूध पीने या आधा पका हुआ केला खाने से शीघ्र आराम आ जाता है।

- यदि पेट में दर्द का कारण मल के सड़ने से उत्पन्न हुई गैस (अफारा) है तो उसमें २ ग्राम आँवला चूर्ण, एक ग्राम सेंधा नमक पिसा हुआ तथा ४ ग्राम की मात्रा में अजवायन का चूर्ण, एक मात्रा के रूप में गर्म पानी के साथ सेवन करने से आराम आ जाता है।
- इसके साथ सरसों के तेल में हींग या लहसुन का स्वरस भून कर उस तेल की मालिश नाभि के आस-पास करने से शीघ्र आराम आ जाता है।

## पेट के रोग पैदा करने वाले आहार

आज के समय में जितनी अज्ञानता स्वास्थ्य के विषय को लेकर है शायद ही किसी अन्य विषय को लेकर हो। वास्तव में देखा जाए तो ईश्वर ने समस्त प्राणियों के शरीर के कुछ इस तरह से निर्मित किया है कि रोगों का होना कतई अनिवार्य नहीं लगता। यदि प्राणियों की रोग प्रतिरोधक शक्ति ठीक-ठाक है तो उनके शरीर पर किसी भी रोग के आक्रमण की संभावना बिलकुल नहीं रहती। इस रोग प्रतिरोधक शक्ति में बाधा उत्पन्न की जाए तो प्राणी आयुपर्यन्त पूर्णतः निरोगी जीवन जी सकता है। यदि यह प्रतिरोधक शक्ति प्रबल है तो उन पर संक्रामक रोगों के जीवाणुओं का आक्रमण भी निष्प्रभावी सिद्ध होता है। यही कारण है कि प्रकृति ने मानव शरीर के महत्वपूर्ण अंगों को कुछ इस प्रकार से निर्मित किया है कि यदि उनके जीव कोषों को नितान्त स्वस्थ अवस्था में रखा जा सके तो गुर्दे २०० वर्ष, हृदय २०० वर्ष, त्वचा १००० वर्ष, फेफड़े १५०० वर्ष और अस्थियां ४००० वर्ष तक जीवित रह कर कार्य कर सकती है।

मनुष्य के शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता स्वस्थ और सामान्य बनी रहे इसके लिए आवश्यक है कि पूरी तरह उचित आहार-विहार का ध्यान रखते हुए प्राकृतिक जीवन व्यतीत किया जाये। लेकिन वर्तमान समय में मनुष्य आधुनिकता के परिवेश में फँस कर प्रकृति के नियमों का खुला उल्लंघन करने लगा है और उसने अपने आहार-विहार में भी अनियमितता को अपना लिया है। इन्हीं सबका यह परिणाम है कि आज अधिकाधिक व्यक्ति रोगों का शिकार बनते रहते हैं। अन्यथा कुछ वर्षों पूर्व तक मनुष्य चिकित्सकों की पहुँच से दूर ही था।

यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि न केवल उदर सम्बन्धी रोगों के लिए अपितु अधिकांश शारीरिक रोगों के पीछे एकमात्र प्रमुख कारण उसके द्वारा लिया जाने वाला यह आहार ही है। भोज्य पदार्थों में ही सभी तरह के रोगों और अस्वस्थता के ६६.६ प्रतिशत कारण छिपे हुये रहते हैं। इसलिए जब तक मनुष्य अपने आहार पर पूरा ध्यान नहीं देगा, तब तक सारे उपचार और सारी चिकित्सा पद्धतियाँ आरोग्य प्रदान करने में विफल होती रहेगी। आहार के सम्बन्ध में अभी तक जो भी मान्यताएँ हैं, वे खासतौर से इस कारण गलत और अपूर्ण हैं कि खाद्य पदार्थों में मौजूद पोषक तत्वों के गुणों पर ही ध्यान दिया जाता रहा है। जबकि खाद्य पदार्थों में मौजूद पोषक तत्वों के अलावा उनके सुपाच्य होने, उनके मन निष्कासन कर, शरीर की शुद्धि करने और आरोग्य प्रदान करने की क्षमता भी मौजूद होनी चाहिए।

जिस प्रकार यंत्रों की क्षमता उसके ईंधन के गुण और परिणाम पर निर्भर करती है, पेड़-पौधों को अच्छे फलों के लिए मौसम की अपेक्षा धरती की उर्वरता का ही अधिक भरोसा करना पड़ता है और किसान भी अच्छी तरह यह समझता है कि वह जो चारा अपने पशुओं को देता है, उसी पर उनकी अच्छी या बुरी हालत निर्भर करती है। इसलिए यह कहा जाए कि जानवरों, पशु-पक्षियों और मनुष्य का भी स्वास्थ्य उनके द्वारा लिये जाने वाले खाद्य पदार्थों पर ही निर्भर है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

यद्यपि वर्तमान के इस विकसित समय में लोग ही नहीं चिकित्सक भी रोग के कारण के रूप में आहार के अलावा दुनिया की हर चीज को दोषी ठहराते फिरेंगे क्योंकि उनके लिए रोग अभी तक रहस्य के रूप में बना हुआ है। लोग तो नहीं जानते पर चिकित्सक तो जानना ही नहीं चाहते कि आवश्यकता से बहुत अधिक खाने, संयोग विरुद्ध आहार खाने तथा अधिकांशतः हानिकारक पदार्थ खाने की जीवन भर की बुरी आदत के कारण शरीर का भीतरी भाग कितना गन्दा और दूषित रहता है जिसके कारण अनेक पेट सम्बन्धित रोग पैदा होते रहते हैं।

## पेट के रोगों के कारण :

उदर अर्थात् पेट के रोगों की उत्पत्ति का एक मूल कारण है “मन्दाग्नि”। मन्दाग्नि से अजीर्ण कारक पदार्थों के सेवन करने से शरीर में मलों व दोषों के जमा होने से उदर रोगों की उत्पत्ति होती है। पाचन तंत्र पर अत्यधिक दबाया या कार्य के कारण सबसे पहले अग्निमंद होती है। इस मन्दाग्नि की वजह से अजीर्ण हो जाता है। अजीर्ण के कारण शरीर में मल एकत्रित होने लगते हैं। मलों के संचय होने पर दोष कुपित होकर जठराग्नि को नष्ट करके उदर रोगों की उत्पत्ति करते हैं।

वर्तमान की इस अत्यधिक व्यस्त जीवन शैली ने व्यक्ति को प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करने के लिए इस हद तक मजबूर कर दिया है कि उसकी जीवन शैली ही अत्यधिक अव्यवस्थित बन कर रह गई है। उनके पास आज न तो अपने खाने, पीने, सोने, यहाँ तक कि स्वतन्त्रता पूर्वक सोचने तक का समय नहीं रह गया है। साथ ही अधिकांश लोगों ने शारीरिक श्रम को पूरी तरह तिलांजलि दे दी है। इन सब व्यतिक्रमों का उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और वे अस्वस्थ रहने लगे हैं। इस अस्वस्थता के लिए उनके आहार-विहार की भी प्रमुख भूमिका है। पेट सम्बन्धी रोगों के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं-

### शौचादि नित्यकर्म :

आज के व्यस्त मनुष्य के पास न तो सोने का और न ही उठने का ही कोई निश्चित समय है। रात्रि को देर तक जागने व प्रातःकाल देर से उठने के कारण जैविक क्रिया कलापों में स्पष्ट परिवर्तन आ जाने से उनके दैनिक क्रियाओं के समय में भी बदलाव आ गया है। भाग-दौड़ के कारण ही उसे प्रातः काल जल्दी-जल्दी ही शौच आदि क्रियाओं से निवृत्ति होना पड़ता है। जबकि शारीरिक श्रम तथा रेशेयुक्त आहार के अभाव से उसे अक्सर कब्ज की शिकायत पहले ही रहती है। इन कारणों से मल प्रवृत्ति सम्यक रूप से नहीं हो पाती है परिणामस्वरूप कब्ज का कष्ट और बढ़ जाता है। इसीलिए आज कुल जनसंख्या की ४० प्रतिशत व शहरों की ७० प्रतिशत से अधिक आबादी मल त्याग के लिए प्रतिदिन ही कोई न कोई विरेचन औषधि का सहारा लेती है। बाद में इस जीर्ण कब्ज की परिणति पेट सम्बन्धी अनेकों रोगों जैसे- अरुचि, अग्निमाँद्य, उदर में भारीपन की अनुभूति, अम्लपित्त, पेट के घाव, अर्श (बवासीर), भगन्दर, गुदभ्रंश आदि रोगों के रूप में सामने आती है।

मनुष्य आहार के रूप में जो कुछ भी खाता-पीता है वह आँत्र में जाकर पाचक रसों से पचकर रसों (रक्त, माँस, अस्थि, वीर्य) में बदल जाता है तथा जो अनावश्यक शेष भाग बचता है वह 'दोष' (मल, मूत्र, पसीना, श्वास व अन्य स्त्रावों के रूप में ) शरीर से बाहर निकल जाता है। इन मलों के साथ ही कई अन्य अनावश्यक व हानिकारक पदार्थ जैसे यूरिया, यूरिक एसिड, अमोनिया, आक्जेलेट आदि भी बाहर निकलते रहते हैं परन्तु जब इन मलों के निष्कासन में बाधा उत्पन्न होने लगती है तो उनका शरीर में संचय शुरू हो जाता है, जो बाद में रोगों का कारण बनते हैं।

### रोग कारक आहार

शौचादि से निवृत्ति होने के बाद मनुष्य समय के अभाव या अरुचि के कारण आहार को जल्दी-जल्दी निगल लेता है। व्यक्ति भोजन भी इस जल्दबाजी में करता है जैसे किसी कार्य को जल्दी से जल्दी निपटाना हो। इस प्रकार जल्दी-जल्दी खाने से वह भोजन को सही तरह से नहीं चबाता । इस कारण आहार के पाचन में कठिनाई बढ़ जाती है क्योंकि जैसे ही आहार मुँह में पहुँचता है, दाँत उसे चबाकर सूक्ष्म कणों में तोड़ देते हैं, आमाशय से पाचक रसों का स्त्राव शुरू हो जाता है। मुँह की लार में मौजूद 'टाईलीन' नामक एन्जाइम आहार में मौजूद जटिल शर्करा को सरल शर्करा कणों में बदल देता है। बाद में कंठ और अन्न प्रणाली की माँसपेशियाँ इसे आमाशय में धकेल देती हैं। यहाँ पर आमाशय का पाचक रस में मौजूद नमक का तेजाब (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल), पेप्सिन, रेनिन, लाइपेट आदि एन्जाइम्स आहार को और सूक्ष्म पाचन करके उसके पोषक तत्वों को रक्त में घुलने योग्य बना देते हैं। आमाशय में भोजन के पाचन का यह कार्य लगभग ३-४ घंटों में सम्पन्न हो जाता है। किन्तु लोग भोजन को मन लगाकर न खाते हैं और न चबाते हैं। उनके आमाशय में पाचक रसों का स्त्राव बहुत कम मात्रा में होता है तथा अधपचा आहार काफी अधिक समय तक आमाशय में ही पड़ा रहता है। आहार के अधपचे रह जाने से उसमें मौजूद और शरीर के लिए आवश्यक पोषक तत्व शरीर को नहीं मिल पाते और व्यक्ति आहार लेते रहने के बावजूद कुपोषण का शिकार बन जाता है।

इसी प्रकार व्यक्ति सुपाच्य और प्राकृतिक भोजन के स्थान पर स्वाद के चक्कर में पड़कर गरिष्ठ और अधिक मिर्च, मसालेदार भोजन जैसे समोसा, कचौड़ी, पकौड़े, पूड़ियाँ, डिब्बाबंद खाद्य, प्रोसेस्ड फूड्स, केक, डबल रोटी, बंद, पेस्ट्री, मक्खन, अण्डे और चाय, कॉफी आदि अधिक मात्रा में लेता रहता है तो उसकी पाचन प्रक्रिया पर दबाव बढ़ जाता है । स्पष्ट ही है कि इन सभी खाद्य पदार्थों का पाचन देरी से होता है। इस कारण इनका आमाशय भी काफी देरी से रिक्त हो पाता है, साथ ही पाचन प्रक्रिया में विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

कई प्रयोगों में ऐसा देखा गया है कि जो व्यक्ति सामान्य भोजन के २ घंटे बाद भी केवल एक आइसक्रीम खा लेते हैं तो उनके आमाशय को खाली होने में सामान्य समय की अपेक्षा २ से २<sup>१/२</sup> घंटे अधिक लगते हैं, जबकि भोजनोपरांत मटर-मक्खन आदि से बना कोई पदार्थ (डबल रोटी आदि) खा लेने से आमाशय को खाली होने में ६-१० घंटे का समय लग जाता है। ऐसे ही एक परीक्षण में कई लोगों को प्रातःकाल नाश्ते के १<sup>१/२</sup> घंटे बाद आधा डबल रोटी का टुकड़ा मक्खन लगाकर खिलाया गया तथा प्रत्येक आधे घंटे के अंतराल से ये दिये जाते रहे। उन सभी के आमाशय को खाली होने में १० से ११ घंटे का समय लगा। इतने समय बाद भी उनके आमाशय में नाश्ते के अंश पाये गये। इसी प्रकार भोजन के बाद एक चॉकलेट खा लेने से आमाशय को रिक्त होने में १३-१४ घंटे का समय लग जाता है।

अतः स्पष्ट है कि तले, चिकनाई युक्त, मिर्च-मसालेदार, गरिष्ठ आहार बार-बार लेते रहने से पाचन की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है और पाचन तंत्र का कार्य भार बढ़ जाता है। यदि आमाशय को खाली होने में अधिक समय लगे तो उससे अम्लपित्त, परिणामशूल, अन्नद्रवशूल, यकृत सम्बन्धी विकार, अर्श आदि रोग पैदा हो सकते हैं।

प्रत्येक भोजन के पश्चात् आमाशय को आराम न मिलने से जठर रसों का स्त्राव तो लगातार होता रहता है किन्तु उनकी भोजन के प्रति संवेदनशीलता व सान्द्रता घटने लगती है। इससे आहार अधपची अवस्था में ही ग्रहणी (आँत्र) में प्रवेश कर जाती है। यह तो सर्वविदित ही है कि आमाशय का वातावरण अम्लीय (एसिडिक) तथा आँत्र का क्षारीय होता है। अम्ल की उपस्थिति से ग्रहणी की आहार को पचाने की क्षमता प्रभावित होती है।

तेज अम्ल किसी भी वस्तु को गलाने की क्षमता रखते हैं। ग्रहणी की दीवारें प्रारंभ में तो अपने क्षार से अम्ल को निष्क्रिय करने का दबाव बढ़ने लगता है, परिणामस्वरूप भोजन अधपचा रहने लगता है और ग्रहणी की दीवारों पर छाले (घाव) बनने लगते हैं, जिसे पेप्टिक अल्सर, सिण्ड्रोम कहा जाता है। ऐसी ही कुछ स्थिति तनावग्रस्त व्यक्तियों में भी देखी जाती है जिनके स्नायु अचेतन अवस्था में भी सक्रिय रहते हैं एवं अन्ततः अत्यधिक स्त्राव के कारण आमाशय की दीवारें गलनी शुरू हो जाती है।

जब यह अधपचा आहार थोड़ा आगे बढ़ता है तो उसका सामना पित्त, यकृत, अग्न्याशय आदि के पाचक रसों से होता है, किन्तु जब इन्हें ग्रहणी के पाचक रसों का कार्य भी स्वयं करना पड़ता है तो इनकी पाचन क्षमता और कार्य पद्धति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। बार-बार इनकी यही स्थूल भूमिका आरंभ हो जाने से जो दबाव इन पर पड़ता है उसका परिणाम अनेक व्याधियों के रूप में सामने आता है।

समुचित रूप से भोजन का पाचन नहीं हो पाने के कारण एक तरफ तो शरीर की आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति नहीं हो पाती, तो दूसरी व्यक्ति की आहार के प्रति रुचि कम होने लगती है, भूख घट जाती है तथा पेट में सड़ रहे मल में कई प्रकार के जीवाणुओं को फलने-फूलने का अवसर मिल जाता है जो आन्त्र ज्वर (टाइफाइड) तक का कारण बन सकते हैं, अथवा सड़न से उत्पन्न गैस के कारण पेट में असहनीय दर्द तक उठ सकता है।

## माँसाहार

पश्चिम देशों की अपेक्षा भारत में माँसाहार की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती जा रही है। माँस मछली, अंडे आदि चाहे पोषक तत्वों के भण्डार हैं पर हैं ये सब अम्लवर्द्धक खाद्य जबकि मानव रक्त क्षार प्रधान है। यह भी स्पष्ट है कि जब तक रक्त का क्षारत्व बना रहता है तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है और जैसे ही रक्त की अम्लता बढ़ती है व्यक्ति को कई शारीरिक कष्टों से गुजरना पड़ता है। अनेकों प्रयोगों में एक बात और सिद्ध हुई है कि जो लोग नियमित रूप से माँसाहार का सेवन करते हैं उनमें सिगमायड कोलन (वृहदांत्र का भाग) का कैंसर होने की संभावना कई गुना बढ़ जाती है।

इसी तरह जो खाद्य पदार्थ ८०० डिग्री सेन्टीग्रेड से अधिक तापमान पर पकाये जाते हैं, जैसे कि तन्दूरी मांस, मुर्गा आदि उनका प्रोटीन अंश उच्च तापमान में एक रासायनिक अभिक्रिया द्वारा 'बेंजोपाइरीन' नामक रसायन में बदल जाता है। ध्यान रहे कि यह बेंजोपाइरीन एक घातक रसायन है जो शरीर में प्रवेश करके कैंसर की संभावना को जन्म देता है। उल्लेखनीय है कि धूम्रपान की प्रक्रिया में भी इसी बेंजोपाइरीन का निर्माण होता है लेकिन जितना बेंजोपाइरीन ६०० सिगरेट पीने से पैदा होता है उतना एक किलो मांस पकाने से ही पैदा हो जाता है।



अण्डों में एबिडीन नामक एक पदार्थ रहता है जो हमारी आँतों से विटामिन 'बी' समूह के एक अंश बायोटीन के अवचूषण को अवरुद्ध कर देता है। ध्यान रहे कि इस विटामिन की कमी से कमजोरी, थकावट, भूख की कमी, बालों का झड़ना, सफेद होना, डिप्रेशन तक होने की संभावना रहती है। मांसाहार के ये कुछ विशेष अवगुण ही हैं।

### **दूषित जल :**

भारत की ८० प्रतिशत आबादी के पास आजादी के बाद से अब तक भी पीने के लिये शुद्ध जल उपलब्ध नहीं है। अधिकांश महानगरों में जल की आपूर्ति नदियों से की जाती है। इन्हीं नदियों में शहरों तथा कारखानों का उत्सर्जित पदार्थ युक्त पानी छोड़ दिया जाता है, जिससे इन नदियों का जल न केवल प्रदूषित हो जाता है बल्कि पीने के बिल्कुल अयोग्य हो जाता है। कई कारखाने तो इनमें विषाक्त रसायनों का उत्सर्जन भी करते हैं, जिनकी शुद्धिकरण विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं के बावजूद सम्यक रूप से नहीं हो पाती है।

इनके अतिरिक्त इन्हीं पानी के स्रोतों में मनुष्य और पशुओं को स्नान कराया जाता है जिससे कई प्रकार के जीवाणुओं को भी इनमें घुलने का अवसर मिल जाता है। सरसरी तौर पर ही देखें तो मनुष्य की चमड़ी की उपरी पत्र के एक मिली मीटर भाग में लगभग ५,३०,००० जीवाणु पाये जाते हैं। जीवाणुओं के अतिरिक्त कई कवक और विषाणु भी चमड़ी पर पलते हैं, जो स्नान के दौरान पानी में मिल जाते हैं। मनुष्य के मुँह में करीब १०० प्रकार के जीवाणु पाये जाते हैं जो लार, थूक या कुल्ला करने के समय पानी में मिल जाते हैं। इस प्रकार के अशुद्ध जल का प्रयोग करने से व्यक्ति कई प्रकार के कृमि रोगों, अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, पीलिया, आन्त्रिक ज्वर आदि रोगों से पीड़ित हो जाता है।

इन पेट के संक्रामक रोगों की उग्रता वर्षा ऋतु में अपने शिखर पर होती है। इसका एक प्रमुख कारण तो है कि वर्षा के पानी के साथ बह कर मल-मूत्र और गंद के अवशेष जल स्रोतों तक पहुँच उन्हें प्रदूषित कर देते हैं तो दूसरी तरफ इस मौसम की अत्यधिक गर्मी के कारण व अधिक पसीना निकलने से व्यक्ति को बार-बार पानी पीना पड़ता है जिससे पेट में मौजूद नमक के तेजाब व पाचक रसों की सांद्रता घट जाती है। इस कारण न तो आहार का पाचन ठीक प्रकार से हो पाता है और न ही अम्ल आहार के साथ प्रवेश कर गये जीवाणुओं को नष्ट कर पाता है।

### **मद्यपान तथा धूम्रपान :**

मद्यपान, धूम्रपान तथा तम्बाकू मिश्रित पान मसाला आदि का प्रचार-प्रसार आजकल बहुत बढ़ गया है जिससे उनके स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। शराब तो हमारे पाचन तंत्र को प्रभावित करके ग्रास नलिका शोथ, अग्न्याशयिक शोथ, अग्न्याशय शोथ, जीर्ण यकृत शोथ, यकृत सिरोसिस, वसायुक्त यकृत, जलोदर, अतिसार आदि अनेक रोगों को जन्म देती है। शराब पीने वाले व्यक्तियों में ग्रास नलिका, आमाशय, यकृत तथा अग्न्याशय में कैंसर होने की संभावना दस गुना बढ़ा जाती है।

धूम्रपान से भी हृद्रोग तथा फेफड़ों के कैंसर ग्रस्त होने की संभावना कई गुना बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त इससे आमाशय तथा ड्योडीनल अल्सर होने की संभावना भी बढ़ जाती है और इनका रोपड़ भी काफी देरी से हो पाता है। भारत में जिह्वा, मुख तथा ग्रसनी के कैंसर के रोगी सर्वाधिक पाये जाते हैं क्योंकि यहाँ तम्बाकू खाने, बीड़ी, सिगरेट पीने अधिक चूना, मसाला, जर्दा तथा तम्बाकू युक्त पान या पान मसाला बहुतायत से सेवन किया जाता है।

इनके अतिरिक्त खाद्य पदार्थों और अनाजों पर कवक के आक्रमणों से जैसे कि फ्यूजेरियम नामक कवक गेहूँ, जौ के संक्रमित होने, एस्परीजलस फ्लेक्स नामक कवक से बाजरा के संक्रमित होने, पेनेसिलियम एक्सवेन्सम नामक कवक से सेव के सड़ने पर इन्हें खाने पर कैंसर होने की संभावना रहती है। इसलिए सदैव फलों तथा ताजा सब्जियों तक को प्रयोग में लाने से पूर्व उन्हें अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए।

### **अनियमित दिनचर्या :**

रात्रि के समय देर तक जागने, सुबह देरी से उठने अथवा सुबह कार्यालय आदि जाने के लिए जल्दी उठने से शरीर को विश्राम के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता है। इस कारण शरीर के लगभग प्रत्येक अंग की कार्यक्षमता प्रभावित होती है। पाचन तंत्र भी कमजोर पड़ जाता है, व्यक्ति को भूख नहीं लगती है, खाये हुए भोजन का पाचन भली प्रकार से नहीं हो पाता है जिससे उदर सम्बन्धी कई अन्य रोगों को भी पनपने का अवसर मिल जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समय की व्यस्त तथा अव्यवस्थित जिन्दगी तथा अव्यावहारिक आहार से मनुष्य का स्वास्थ्य बुरी तरह प्रभावित होता है और अनेक रोगों की पकड़ में आ जाता है। समस्या तब होती है जब रोग का कारण तो स्वयं व्यक्ति होता है किन्तु उससे मुक्ति पाने के लिए वह चिकित्सकों के पास भटकता रहता है। वर्तमान में यदि रोगों से बचना है तो व्यक्ति को स्वयं को भी बदलना होगा और अपनी आदतों को भी। अन्यथा तो रोग व्यक्ति को कभी भी कभी भी और किसी भी हाल में जकड़ने को तत्पर रहते हैं।

## माँसाहार और पेट के रोग

मनुष्य प्राकृतिक रूप में शाकाहारी है। माँस उसका खाद्य नहीं है। उसके शरीर, दाँतों, आहार नाल की संरचना भी माँसाहारी जीवों की आँतों की रचना से तनिक भी मेल नहीं खाती। शाकाहारी जीवों की तरह मनुष्य की छोटी और बड़ी आँत्र की लंबाई उनके शरीर की लंबाई से ४ गुने से भी ज्यादा लंबी होती है। जबकि माँसाहारी जीवों की आँत्र की लंबाई उनकी शरीर की लंबाई के लगभग बराबर ही रहती है। माँसाहारी जीवों की तरह मनुष्य के दाँत नुकीले नहीं होते जिससे वे माँस काट सकें। मानव के केनाइन दाँत भी वास्तव में केनाइन नहीं होते, वरन् बहुत छोटे होते हैं। मानव के थूक में टायलिन की उपस्थिति के कारण वह क्षारीय होता है जिससे कार्बोहाइड्रेट के पाचन का कार्य सुगमता से शुरू हो सके, जबकि माँसाहारी जीवों का थूक अम्लीय होता है। इसके साथ ही माँसाहारी जीवों के जठर रस में अम्ल की मात्रा मानव की तुलना में चार गुना अधिक होती है जिससे माँस में मौजूद प्रोटीन की अधिक मात्रा का पाचन सरलता से हो सके। माँसाहारियों के यकृत में भी पित्त का निर्माण अधिक मात्रा में होता है जिससे माँस में मौजूद अतिरिक्त वसा का पाचन हो सके।

वैदिक साहित्य और आयुर्वेदिक ग्रन्थों में वर्णित है कि प्राचीन काल में ऋषि मनीषियों का आहार प्रायः कन्द, मूल, फल और कच्चा अनाज हुआ करता था और वे उसे ही ग्रहण करके पूर्ण स्वस्थ, दीर्घजीवी एवं तेजस्वी बने रहते थे। ईसा से १०० साल पहले सम्पूर्ण पश्चिम एशिया और यूरोप के कुछ हिस्सों में भी शाकाहार पर ही जोर दिया जाता था। ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल में भी इसी तरह के शाकाहार के उल्लेख मिलते हैं कि अनाज को उसके प्राकृतिक रूप से खाकर लोग सौ वर्ष की आयु पा सकते हैं। पाइथागोरस और अफलातून (प्लेटो) ने भी सामिष भोजन न करने की सलाह अपने शिष्यों और समाज को दी थी।

किन्तु आज विश्व भर में, भारत सहित माँसाहार का प्रचार प्रोटीन पौष्टिकता के नाम पर दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। यद्यपि इस प्रचार के बावजूद अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, मैक्सिको, चीन जैसे देशों के निवासी अपने आहार में विशेष परिवर्तन कर शाकाहारी बनते जा रहे हैं। इसके विपरीत अपने देश में माँसाहार का प्रचलन दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। हाल के दिनों में भारत में परम्परागत शाकाहारी परिवारों में भी माँसाहारियों की संख्या बढ़ रही है।

जनगणना के आंकड़ों के अनुसार वर्तमान समय में गुजरात (६०:), पंजाब और हरियाणा (५४:), उत्तर प्रदेश (५०:), अपेक्षाकृत अधिक शाकाहारी आबादी वाले राज्य हैं। मध्यप्रदेश (४५:), कर्नाटक (३४:), महाराष्ट्र (४५:) और बिहार (२४:) राज्य समग्र दर्जे में आते हैं, जबकि सबसे कम शाकाहारी आबादी वाले राज्य हैं- आन्ध्रप्रदेश (१६-७:), असम (१५:), केरल, पं.बंगाल, उड़ीसा (६-७:) आदि। सन १९७१ में भारत में औसतन २८: लोग शाकाहारी थे जो आज घट कर २४: रह गये हैं। सामिष आहार का सेवन करने वालों में भी मछली खाने वालों की संख्या मांस खाने वालों से ज्यादा है। एक माँसाहारी औसतन कुल आहार का १७ ग्राम सामिष भोजन के रूप में लेता है। यानि भारत में सामिष भोजन मात्र एक अतिरिक्त तरकारी के रूप में प्रयोग किया जाता है। समुद्र के किनारे बसे केरल, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, पं.बंगाल में मछली खाने वालों का प्रतिशत ज्यादा है। गोआ और अंडमान में प्रतिदिन १०० ग्राम मछली प्रति व्यक्ति द्वारा खायी जाती है।

### क्या माँसाहार उतना ही पौष्टिक है ?

मानव शरीर जिन तत्वों से निर्मित है, लगभग उन्हीं तत्वों से अधिकांश जन्तुओं के शरीर का निर्माण होता है। इसी आधार पर माँसाहार की प्रवंचना करने वाले विद्वान ऐसा विश्वास करते हैं कि मानव को अपने शरीर के विकास और अपनी सम्पूर्ण क्रियाकलापों को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन-जिन तत्वों (प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज लवणों व तत्वों और विटामिन्स आदि) की आवश्यकता रहती है, उन सबकी पूर्ति बड़े सुचारु रूप से माँसाहार से हो जाती है। अतः माँसाहार मानव के लिए उनकी दृष्टि के अनुसार उत्तम आहार है। यद्यपि उनका यह विश्वास काफी हद तक तर्क संगत लगता है और माँस, मछली, अण्डे आदि में तमाम आवश्यक एमीनो अम्ल (प्रोटीन), रक्त निर्माण के काम आने वाले विटामिन -बी समूह के कई प्रमुख घटक (बी-६, बी-१२), फास्फोरस, तांबा, सल्फर आदि काफी मात्रा में मौजूद रहते हैं लेकिन माँसाहार में लाइसिन, आइसो ल्यूसिन और वैलिन आदि एमीनो अम्लों के न्यूक्लियो प्रोटीन भी काफी मात्रा में पाया जाता है। शरीर में इसके चयापचय के पश्चात काफी मात्रा में यूरिया, यूरिक एसिड और क्रिटेनिन आदि विषाक्त पदार्थ पैदा

होते हैं जो व्यक्ति के शरीर में संचित होकर गठिया, गुर्दों की सूजन या गुर्दों की विफलता का कारण बनते हैं। माँसाहार में संतृप्त वसा अम्लों की अधिकता रहती है जो रक्त में कोलेस्ट्रॉल का स्तर बढ़ाते हैं तथा विभिन्न गम्भीर रोगों को जन्म देते हैं। कार्बोहाइड्रेट के मामले में भी माँसाहार काफी निम्न स्तरीय आहार सिद्ध होता है। इनके अतिरिक्त माँसाहार में विटामिन ए,ई, के तथा सी तथा लौह तत्व को छोड़कर शेष खनिज लवण का अभाव या अल्प मात्रा ही मौजूद रहती है।

इसी कारण इस धारणा को अनेक स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने निरन्तर अनुसंधानों के पश्चात भ्रांति पूर्ण और गलत सिद्ध कर दिखाया है कि माँस, मछली, अण्डे आदि पौष्टिक और स्वास्थ्यवर्धक आहार हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि माँसाहार से न केवल व्यक्ति का पाचन तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, शरीर भी रोगग्रस्त बनता चला जाता है, वरन् अप्राकृतिक आहार होने से उसका मन भी दूषित और विकार ग्रस्त बनता जाता है।

### माँहार और पेट के रोग :

माँसाहार में रेशे की मात्रा बिल्कुल नहीं रहती जिससे पाचन संस्थान में माँस के पाचन के पश्चात मल की बहुत कम मात्रा शेष बचती है, परिणामस्वरूप आँत्र अपनी गति को भली प्रकार नहीं दे पाती और उसका परिणाम फिर कब्ज के रूप में सामने आता है। कब्ज के कारण मल आँत्र में आगे की ओर सरलता से नहीं खिसक पाता जिससे कारण एक तरफ तो आँत्र में मौजूद विभिन्न जीवाणुओं को सड़ते मल में आसानी से पनपने का अवसर हाथ लग जाता है तो दूसरी तरफ मल में मौजूद जल के अधिकांश भाग को आँत्र भित्तियां सोख लेती हैं जिससे मल अतयंत शुष्क और कठोर बन जाता है और रोगी को मल त्याग के समय कष्ट का सामना करना पड़ता है। कुछ समय उपरांत ऐसे अधिकांश व्यक्ति बवासीर, गुदा व्रण और भगन्दर के रोगी बन जाते हैं।

आँत्र में मौजूद विभिन्न रोगाणु जब मल का विघटन (सड़ाव) करने लगते हैं तो कई प्रकार के जीव विषों तथा अन्य विषाक्त रसायनों का निर्माण कर डालते हैं जो रक्त संचार के माध्यम से यकृत, गुर्दे, फेफड़ों, हृदय, मस्तिष्क, जोड़ों की संधियां तथा समस्त ऊतकों में पहुँच और उन्हें संक्रमित करके विभिन्न रोगों को जन्म देने लगते हैं। आँत्र में मौजूद ये जीवाणु आहार के प्रोटीन भाग के पाचन से स्वतंत्र हुये अनेक एमीनो एसिडों को बायोजेनिक एमाइन्स रसायनों में बदल देते हैं जैसे कि ट्रिप्टोफिन एसिड को ट्रिप्टोमाइन, टायरोसाइन एमीनो अम्ल को टायरोमाइन तथा हिस्टीटाइन एमीनो अम्ल को हिस्टेमाइन आदि। ये सभी हानिकारक पदार्थ हैं जो रक्त में शोषित होकर रक्त संचरण से विभिन्न सन्धि स्थलों तक पहुँच जाते हैं और रोग का कारण सिद्ध होते हैं। इन रोगाणुओं से उत्पन्न हुये जीव विषों से आँत्र में रहने वाले कई मित्र जीवाणु कुलों का नाश भी हो जाता है। ये मित्र जीवाणु विटामिन-के, बी समूह के कई घटकों और कई एन्जाइमों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

डॉ. एलन लौंग का कहना है कि शाकाहारी और माँसाहारी व्यक्तियों की आँत्र में पाये जाने वाले जीवाणुओं में भी भिन्नता होती है। उनका कहना है कि शाकाहारियों की आँत्र में ऑक्सीजन में जीवित रहने वाले जीवाणु ज्यादा पाये जाते हैं जबकि माँसाहारियों में वातनिरपेक्षी जीवाणु अधिक होते हैं। इनमें एक बैक्टीरोइड्स ऐसा है जिसमें ७- एल्फा डीहाइड्रोक्सीलेज नामक एन्जाइम पाया जाता है। यह पित्त के कई घटकों को डीऑक्सी चोलेट्स में परिवर्तित कर देता है। यह रसायन जीवों में कैंसर कारक पाये गये हैं। माँसाहारी लोगों के मल में डीऑक्सीचोलेट्स की काफी मात्रा मौजूद रहती है। माँसाहारियों में पित्त का निर्माण भी ज्यादा होता है।

माँस, मछली आदि को जब अधिक तापमान (८००°ब) पर पकाया जाता है जैसे कि तन्दूरी माँस, मुर्गा आदि तो उनका प्रोटीन अंश उच्च तापमान पर एक रासायनिक अभिक्रिया द्वारा बेंजोपाइरीन नामक रसायन में बदल जाता है। यह 'बेंजोपाइरीन' एक घातक रसायन है, जो शरीर में पहुँचकर कैंसर की संभावना को जन्म देता है। उल्लेखनीय है कि धूम्रपान की प्रक्रिया में भी बेंजोपाइरीन का निर्माण होता है लेकिन जितना बेंजोपाइरीन ६०० सिगरेटों के जलने से पैदा होता है उतना एक किलो माँस में पैदा हो जाता है, अर्थात् एक सिगरेट पीने में व्यक्ति जितना बेंजोपाइरीन ग्रहण करता है, उसकी तुलना में अनेकों गुना अधिक वह एक बार के माँस में उदस्थ कर जाता है। आस्ट्रेलिया में आँत्र कैंसर के सर्वाधिक रोगी हैं और वहाँ प्रतिवर्ष औसतन प्रति व्यक्ति १३० किलो ग्राम माँस (सूअर का) खाया जाता है।

माँसाहार में मौजूद प्रोटीन की अधिक मात्रा के पाचन के लिए जठर पाचक रस और अम्ल की अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। अतः माँसाहारियों में अम्ल का स्त्राव अधिक मात्रा में होता रहता है जिससे धीरे-धीरे आमाशय और ग्रहणी की श्लेष्मिक कला में मौजूद अम्ल से सुरक्षा प्रदान करने वाला तंत्र कमजोर पड़ने लगता है तथा उन लोगों में आमाशय व्रण और ग्रहणी व्रण के होने की संभावना बढ़ने लगती है।

आहार विशेषज्ञों का कहना है कि माँस मनुष्य का प्राकृतिक आहार नहीं हो सकता। मानवीय काया को उचित विकास के लिए जिन तत्वों की सन्तुलित मात्रा अनिवार्य है उनकी पूर्ति शाकाहार से हो जाती है। इसके विपरीत माँस में जिन तत्वों को पौष्टिक बताया जाता है उनसे एक विपत्ति जुड़ी रहती है- यूरिक एसिड की अधिकता। ब्रिटेन के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. अलेग्जेन्डर के अनुसार यूरिक एसिड शरीर के अंदर जमा होकर गठिया, मूत्र तंत्र सम्बन्धी विकार, रक्त विकार, हृदय रोग, क्षय, अनिद्रा, हिस्टीरिया, यकृत रोग आदि कितनी ही बीमारियों को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त माँस में उपस्थित चर्बी एवं कोलेस्ट्रॉल की अत्यधिक मात्रा माँस खाने वालों के शरीर में पहुँच कर रक्त धमनियों की आन्तरिक भित्तियों में जमकर उन्हें संकरा बना देती है जिससे रक्त संचार में बाधा उत्पन्न होती है तथा हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, गुर्दे के रोग, पथरी आदि के रूप में अनेक रोगों का जन्म होता है। विकसित देशों में ये रोग आज ७०३ मृत्यु का कारण बने हुए हैं।

वानस्पतिक स्रोतों से प्राप्त वसा जैसे कॉर्न आयल, सफोला तेल आदि पौली अनसेचूरेटिड वसा अम्लों वाले होते हैं जिनसे कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ने की बजाय घटती है। मुंगफली, तिल, जैतून और सरसों के तेल में मोनो अनसेचूरेटिड वसा अम्ल होते हैं जिससे रक्त कोलेस्ट्रॉल का स्तर लगभग अपरिवर्तनशील ही रहता है, किन्तु जानवरों से प्राप्त वसा घी, मक्खन, माँस, मछली, अण्डे में मौजूद वसा रक्त कोलेस्ट्रॉल की मात्रा की शीघ्रता से बढ़ाती है जिससे रक्त धमनियाँ संकीर्ण होने लगती है। इससे उच्च रक्तचाप की दशा उत्पन्न होने लगती है व अनेक रोग जन्म लेने लगते हैं, यहाँ तक कि मस्तिष्क में रक्तस्त्राव होकर पक्षाघात, हृदय के रक्तचाप में बाधा से हृदय शूल व हृदयाघात (हार्ट अटैक) तक हो सकता है। अधिकांश पित्ताशय की पथरियाँ कोलेस्ट्रॉल से बनी होती हैं। अतः यदि व्यक्ति अपने आहार में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा घटा ले तो पित्ताशय के रोगों से भी बच सकता है। मानव के स्वस्थ गुर्दे प्रतिदिन सात ग्रेन की मात्रा में ही यूरिक एसिड का उत्सर्जन कर पाते हैं, किन्तु जब माँसाहार के सेवन से शरीर में यूरिक एसिड की अधिक मात्रा उत्पन्न होने लगती है तो उससे गुर्दों पर अतिरिक्त दबाव बनने लगता है जिससे या तो गुर्दों में पथरी बनने लगती है या गुर्दों की कोशिकाओं में सूजन उत्पन्न होने लगती है। यदि अधिक समय तक ऐसी ही परिस्थिति बनी रहे तो गुर्दों की असफलता के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं।

माँसाहार इनके अतिरिक्त पेट सम्बन्धी विभिन्न संक्रमण रोगों के लिए भी जिम्मेदार होता है। एक तो वैसे ही मृत शरीर में विभिन्न जीवाणु सक्रिय होकर शरीर कोशिकाओं का विघटन तथा कैटा वोलीज्म प्रारंभ कर देते हैं जिससे एक तरफ तो जीवाणुओं की संख्या में बड़ी शीघ्रता से अतिवृद्धि होने लग जाती है तो दूसरी तरफ मृत देह में जीवाणुओं के कारण विभिन्न जीव विषों तथा हानिकारक पदार्थों का निर्माण होने लगता है। इनमें से बहुत से पदार्थ ऐसे होते हैं जो माँस को सामान्य रूप में पकाते समय नष्ट नहीं होते। माँस के लिए अक्सर ऐसे जानवरों को भी काट दिया जाता है जो रोगग्रस्त चल रहे थे अथवा जिनमें रोग के कीटाणु पल रहे थे। इस तरह दूषित माँसाहार के माध्यम से रोगाणु अथवा जीव विष एवं हानिकारक पदार्थ शरीर में पहुँच कर रोग का कारण बनते हैं।

माँसाहार को अक्सर स्टैफाइलोकोकस अरोसिस नामक जीवाणु संक्रमित करके जीव विष उत्पन्न कर देता है। यह जीव विष माँस को पकाते समय नष्ट नहीं हो पाता तथा उदर में पहुँच कर पाचन तंत्र सम्बन्धी विभिन्न विकारों का कारण बनता है। यह जीवाणु प्रायः बीमार जानवरों के शरीर में मौजूद रहता है।

लाल माँस, मुर्गा, मछली, अण्डे, दूध और उससे निर्मित पदार्थ अक्सर सालयोनेला टायफीम्यूरियम नामक एक जीवाणु से संक्रमित हो जाते हैं। यह जीवाणु प्रायः आँत्र ज्वर (टायफाइड फीवर) का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त यह जीवाणु व्यक्ति के यकृत, पित्ताशय अस्थि मज्जा, गुर्दे, प्लीहा, फेफड़ों आदि को संक्रमित करके न्यूमोनिया तथा ब्रोंकीसाइटिस्ट रोग का कारण भी सिद्ध हो सकता है।

जानवरों और मुर्गे के माँस में कई बार क्लोस्ट्रीडियम परफ्रीजेंस नामक जीवाणु की उपस्थिति मिलती है। जब इन जीवाणुओं की काफी संख्या दूषित माँस के साथ पेट में पहुँच जाती है तब ये एण्टीजेनिक जीव विष (टॉक्सिन) पैदा करते हैं। इस कारण पेट में माँस का किण्वन (फरमेंटेशन) होने से काफी मात्रा में गैसों पैदा होने लग जाती हैं जो आँत्र में अफारा जैस लक्षण, उदरशूल, अतिसार तथा मरोड़ उत्पन्न कर देते हैं।

इनके अतिरिक्त सूअर के माँस में अक्सर ट्रीचीनेला स्पेरेट्स नामक कृमि पाया जाता है जो सूअर का माँस खाने वाले के पेट में पहुँच कर वहाँ भी अपना वसेरा डाल लेता है तथा तत्सम्बन्धी रोग के लक्षणों को जन्म देता है।

अनेक अनुसंधानों में ऐसा देखा गया है कि माँसाहार से रक्त में उपस्थित अम्ल और क्षार का निर्धारित अनुपात बिगड़ जाता है और आँतों की बड़ी हुई गर्मी के दबाव में उसका अधिकांश भाग मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है। उस कमी को पूरा करने के लिए रोगी की हड्डियों के अतिरिक्त कोई दूसरा स्रोत नहीं मिलता, फलस्वरूप रक्त में आवश्यक सन्तुलन बनाये रखने के लिए अम्ल और क्षार हड्डियों से रिसने लगता है। इसीलिए माँसाहारियों की हड्डियाँ कमजोर व रोग ग्रस्त बनती चली जाती हैं।

इनके अतिरिक्त जब जानवरों का माँस प्राप्त करने के लिए वध किया जाता है तब उनमें भय व्याप्त रहता है। उन्हें जीवित रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। उस समय जानवरों में भय, चीत्कार व संघर्ष के कारण अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों में तेजी से गतिविधियाँ होने लगती हैं तथा तेजी से अनेक हार्मोन्स का स्त्राव शुरू होकर रक्त में मिल जाते हैं। यह हार्मोन्स माँसाहार के द्वारा शरीर में पहुँच कर अनेकों शारीरिक रोगों को जन्म देते हैं। भय और संघर्ष की स्थिति में अक्सर एड्रीनलिन, एंजियोटेन्सिन, टेनिन, एल्डोस्टेरोन, टेस्टोस्टेरोन तथा एण्ड्रोजन सम्बन्धी हार्मोनों का स्त्राव बढ़ता है। इससे जीवों के हृदय की लय बिगड़ जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता तक घट जाता है। इस प्रकार के माँसाहार से व्यक्ति की तामसिक प्रवृत्तियाँ भड़क उठती हैं जिससे उन्हें क्रोध, हिंसा, तनाव और अनेक मानसिक स्थितियों से गुजरना पड़ता है।

माँसाहार के प्रभाव से न केवल शरीर में विभिन्न रोगों को पनपने का सुअवसर मिलता है बल्कि इस प्रकार के आहार से मनुष्य के मस्तिष्क, उसके सोचने, उसकी भावनाओं और संवेदनाओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न संस्थाओं में किये गये विभिन्न अनुसंधानों के निष्कर्ष बहुत ही आश्चर्य चकित कर देने वाले सिद्ध हुये हैं। जैसे कि बाल्टीमोर विश्वविद्यालय के क्रिमिनोलोजी विभाग के विशेषज्ञ डॉ. फिकावोन का मानना है कि यदि एक स्वस्थ और स्वभाव से विनम्र व्यक्ति आहार में उत्तेजक भोजन का प्रयोग अधिक करने लग जाये तो उसकी मनोवृत्ति हिंसक तथा उद्दण्डता वाली बनने लग जाती है। जबकि न्यूयार्क के सिनार्ड मेडीकल सेन्टर के साइकेयट्री विभाग के अध्यक्ष साचिपाठी का निष्कर्ष है कि अपराधी व हिंसक व्यक्तियों के आहार में यदि उत्तेजक खाद्य पदार्थों (माँस, मछली, अण्डे) को निकालकर उनके स्थान पर सात्विक शाकाहार दिया जाये तो शीघ्र ही उसके व्यवहार में ऐसे परिवर्तन आने लग जाते हैं कि वे लोग इस प्रकार के हिंसक व आपराधिक कार्य एकदम से छोड़ देते हैं। शाकाहार के इस गुण की पुष्टि ब्रिटिश जेलखानों के सर्जन इन चीफ डॉ. नार मनरीड ने भी अपने अध्ययनों से की है।

इसी प्रकार का एक अध्ययन कार्य वर्जीनिया में चेसैपीय मेडीकल सेन्टर में भी किया गया। उनका निष्कर्ष है कि छोटे बच्चों का बिगड़ल बनाने के पीछे उनकी माताओं की प्रमुख भूमिका होती है, जो अपने गर्भकाल में माँसाहार युक्त उत्तेजक खाद्य पदार्थों का सेवन करती रहीं और जन्मोपरांत अपने बच्चों को भी शाकाहार के स्थान पर माँसाहार व मिर्च-मसाले युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन करने के लिए उन्हें प्रेमवश विवश करती रहती हैं। फलतः इससे न केवल बच्चों के पाचन तंत्र पर ही बुरा प्रभाव पड़ता है वरन् उसका स्वभाव भी झगड़ालू, दुराव करने वाला तथा निर्दयी बनता जाता है।

### माँसाहार और शाकाहार में तुलनात्मक अन्तर :

सम्पूर्ण भारत में ग्रामीणों और मध्यम वर्ग के लोगों का भोजन मूलतः शाकाहारी है। उत्तर भारत में गेहूँ, पूर्वी और दक्षिणी भारत में चावल, पश्चिमी भारत में गेहूँ, चावल और बाजरा आहार के मुख्य भाग हैं। इस आहार से उनके लिए पर्याप्त मात्रा में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा प्राप्त हो जाती है। अनाजों में पाये जाने वाले प्रोटीन में दो एमीनो अम्ल सिस्टीन

और मीथायोनिन अच्छी मात्रा में प्राप्त हो जाता है। दाल की प्रोटीन में लाइसिन नामक एमीनो अम्ल पाया जाता है। अनाज और दाल साथ-साथ खाने पर बहुत ही अच्छी गुणवत्ता का प्रोटीन प्राप्त हो जाता है अण्डा, माँस, मछली के प्रोटीन में ८० प्रतिशत तथा दूध के प्रोटीन में ७२ प्रतिशत यही एमीनो अम्ल पाये जाते हैं। दाल और अनाजों के प्रोटीन में ये करीब ६५ प्रतिशत होते हैं। अतः आवश्यक एमीनो के मामलों में माँस और अनाज-दालें लगभग समान ही बैठती हैं। इनके अतिरिक्त भारत में रेशेदार सब्जियां व फल भी आहार में खाये जाते हैं, जिनसे लगभग सभी आवश्यक खनिज लवण तथा विटामिन्स प्राप्त हो जाते हैं एवं लोग पेट सम्बन्धी बीमारियों से भी बचे रहते हैं।

माँसाहार में विटामिन 'सी' का पूर्णतः अभाव रहता है जबकि कच्चे आहार यथा चटनी, सलाद, रायता आदि में तथा अंकुरित अनाज, चना, मूंग और रागी आदि में विटामिन सी और बी समूह काफी मात्रा में मौजूद रहते हैं। पश्चिमी देशों में असंतृप्त वानस्पतिक तेलों को खाद्य तेलों के रूप में इस्तेमाल होता रहता है। इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडीकल रिसर्च के अनुसार एक व्यक्ति को प्रतिदिन २५ ग्राम वसा की आवश्यकता रहती है। गेहूँ और चावल में २.४ प्रतिशत वसा होती है। आमतौर पर लोग ५०० ग्राम अनाज प्रतिदिन खाते हैं। इस तरह १०-२० ग्राम वसा उन्हें अपने अनाजसे ही प्राप्त हो जाती है।

इसके विपरीत माँस, मछली आदि में मौजूद वसा न केवल मात्रा में ही अधिक होती है बल्कि रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ाने वाली भी होती है। माँस, मछली में १८ प्रतिशत प्रोटीन मिलते हैं, जबकि अधिकांश दालों में २०-३० प्रतिशत तक प्रोटीन मिलते हैं।

शाकाहार अर्थात् अनाज फलों, सब्जियों और दूध वाले आहार की प्रमुख विशेषता यही है कि शारीरिक परिपुष्टता एवं मानसिक विकास के लिए जिन आवश्यक पोषक तत्वों की एन्जाइमों व विटामिनों आदि की आवश्यकता पड़ती है, वह प्रचुर मात्रा में इनमें विद्यमान रहते हैं, किन्तु जब इन्हें उच्च ताप पर पकाया जाता है तो इनके अधिकांश पोषक तत्व नष्ट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप न तो इनका अच्छी तरह पाचन हो पाता है और न ही रक्त में विलय। इसके विपरीत कच्चे व अंकुरित आहार से मानव की स्वस्थ आँते अपने अंदर स्थित बैक्टीरियल फ्लोरा की सहायता से एक हजार से अधिक एंजाइमों एवं विभिन्न विटामिनों को प्राप्त कर लेती है। ऐसा देखा गया है कि उच्च तापमान के कारण आहार में सन्निहित प्रोटीन एवं कार्बोहाइड्रेट दुष्पाच्य बन जाते हैं। खनिज लवण, एन्जाइम तथा विटामिन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। चिकनाई (वसा) एवं कार्बोहाइड्रेट अधिक ताप के कारण विघटित होकर विषाक्त बन जाते हैं। यही कारण है कि पौष्टिक आहार लेते रहने पर भी पेट खराब रहने लगता है व उनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति को कृत्रिम विटामिन, खनिज, लवण आदि का सहारा लेना पड़ता है।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. राल्फबर्चर का कहना है कि शाकाहार तथा अंकुरित अनाज में एक विशेष प्रकार की पोषक क्षमता विद्यमान रहती है। उनके अनुसार अंकुरित अनाज के खाने से छः प्रकार के विशेष औषधीय तत्व प्राप्त होते हैं जो रोग कारक विषाणुओं, जीवाणुओं को नष्ट करके एवं जीवनी शक्ति का अभिवर्द्धन कर उसे रक्त, माँस, मज्जा आदि के निर्माण योग्य बना देते हैं। इसके विपरीत पकाये आहार का मात्र ३५ प्रतिशत भाग तथा माँसाहार का केवल १२ प्रतिशत भाग ही जीवनी शक्ति बढ़ाने वाली प्रक्रिया में प्रयुक्त हो पाता है। अंकुरित अन्न एवं हरी सब्जियों में पाये जाने वाले तत्व शारीरिक कोशिकाओं एवं तन्तुओं में खनिजीय और रासायनिक सन्तुलन को स्थिरता प्रदान करते हैं। फलतः असंतुलनजन्य बीमारियों का शमन स्वयमेव हो जाता है। इससे न केवल मानसिक तनाव दूर होता है, वरन् कैल्शियम, पोटेशियम, सोडियम, मैग्नीशियम तत्वों की समुचित उपलब्धता के कारण हृदय की कार्य क्षमता भी बढ़ जाती है तथा स्नायु तंत्र सशक्त एवं सक्रिय बने रहते हैं।

वास्तव में मनुष्य प्राकृतिक रूप से शाकाहारी ही है। पहले व हअपने आहार में नैसर्गिक प्राकृतिक रूप में फल, सब्जियों आदि को सीधे ही प्रयोग में लाता था, पका कर खाना या माँस का खाना उसने सभ्यता के विकास के साथ बाद में सीखा। इसीलिए आज उसकी आँतें पके हुए आहार को पचाने की अभ्यस्त तो अवश्य बन गयी हैं, किन्तु इससे पर्याप्त पोषक तत्व न मिलने के कारण हम में से अधिकांश को समय पूर्व जरा जीर्णता के कारण अनेकानेक बीमारियों का शिकार बनना पड़ता है। इस विषय में प्रख्यातः आहारविद् टेन्स एण्डरसन ने अपनी पुस्तक “द न्यू फूड थैरपी” में लिखा है कि



“यदि इस भूल को सुधार कर प्राकृतिक आहार की तरफ लौटा जा सके तो कोई कारण नहीं कि स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन का लाभ न उठाया जा सके।” उन्होंने वैज्ञानिक खोजों एवं परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिखाया कि कच्चे अनाज, फल एवं सब्जियां सूर्य किरणों की शक्ति को अवशोषित कर अपने बीज कोषों में कैद कर लेती हैं। प्राकृतिक रूप में इन्हें खाने पर उस ऊर्जा भण्डार को हमारी आँत्र कोशिकाएं आत्मसात कर लेती हैं एवं उसे पचाने के लिए उन्हें कोई विशेष परश्रम भी नहीं करना पड़ता ।

हरी साग-सब्जियों एवं अंकुरित अनाज में क्लोरोफिल नामक एक पदार्थ होता है, इसे ‘ग्रीन ब्लड’ का नाम दिया गया है। इसमें पोषण प्रदान करने वाले एवं स्वास्थ्यवर्द्धन करने वाले सभी प्रकार के तत्वों का समावेश है। यह रक्त की शुद्धि करने, कोलेस्ट्रॉल की मात्रा घटाने और रक्त कणों की अभिवृद्धि करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। डॉ. ब्रिशर इसे सूर्य शक्ति केन्द्रित मानते हैं। उनका कहना है कि क्लोरोफिल अणु मानव रक्त में पाये जाने वाले हीमोग्लोबिन कणों से बहुत साम्य रखते हैं। यही कारण है कि इसके सेवन से रक्त कणों की संख्या में असाधारण रूप से वृद्धि होती देखी जाती है। इस हरे रंग का नियमित सेवन रक्त संचरण की प्रक्रिया को संतुलित कर हृदय तंत्र को सशक्त बनाता है। श्वसन तंत्र, आँतों एवं गर्भाशय के लिए भी यह विशेष लाभकारी पाया गया है। कायिक निर्माण के काम आने वाले एमीनो अम्लों की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर पुष्टिवर्द्धन का कार्य भी यह सुगमता से करता है। इसलिए यह एक उत्तम टॉनिक भी माना जाता है।

विख्यात चिकित्सक और नोबल पुरस्कार से सम्मानित डॉ. फिशर ने रक्ताल्पता दूर करने में अंकुरित अन्न के जवारों को बहुत सफल बतलाया है। इसके अतिरिक्त ये आँत्र शोथ, त्वचा रोग, पेट के व्रण, पायरिया जैसे रोगों को भी शीघ्र ठीक कर देते हैं। उनके अनुसार अंकुरों के रस में अब तक सौ से अधिक जीवनरक्षक तत्व खोजे जा चुके हैं। एक ग्राम अंकुरों में जितने पोषक तत्व पाये जाते हैं उनकी तुलना २५ ग्राम साग सब्जियों से हो सकती है। यह शरीर के अंदर एकत्र दूषित पदार्थों को दूर कर शरीर का परिशोधन और अभिवर्द्धन का महत्वपूर्ण कार्य भी कर डालते हैं।

डॉ. एन विग्मोर के अनुसार अनाज के जवारे के रस में एक ‘लेट्राइल’ नामक एन्जाइम काफी मात्रा में पाया जाता है जो कैंसररोधी गुण रखता है। इसके साथ ही यह व्यक्ति की रोग प्रतिरोधक क्षमता को भी बढ़ता है। डॉ. विग्मोर के अनुसार मूल बीज में जितनी मात्रा में लेट्राइल मौजूद रहता है, अंकुरित अन्न में इसकी मात्रा सौ गुना बढ़ जाती है। मधुमेह के रोगियों के लिए यह अंकुरित सेम बहुत लाभकारी है।

## मादक पदार्थ और पेट के रोग

मादक पदार्थों का सेवन आज के सभ्य और उन्नत समाज के लिए सबसे भयानक अभिश्राप बनकर रह गया है। एक अनुमान के अनुसार ६० प्रतिशत से अधिक वयस्क आबादी किसी न किसी प्रकार के मादक पदार्थों के सेवन की अभ्यस्त बन चुकी है और यह प्रतिशत तो तब है जब समाज में इनके प्रति इतनी जागरूकता है और लोगों को इनके दुष्परिणामों के विषय में जानकारी है। वयस्क आबादी की अपेक्षा युवा पीढ़ी इनके जाल में शीघ्र फंस जाती है। शायद यही कारण है कि विश्व विद्यालयों और कॉलेजों के प्रांगणों में इन मादक पदार्थों ने अपने पैर पसार लिए हैं तथा नशा निरोधक सभी प्रयास बेअसर होते प्रतीत होने लगे हैं।

अलग-अलग लोग अलग-अलग कारणों से इनके अभ्यस्त बनते हैं वह अलग-अलग नशों को अपनाते हैं पर सबसे अधिक सेवन शराब और तम्बाकू का किया जाता है। कुछ लोग इनका सेवन इसलिए करते हैं कि वे अपने आपको अधिक आधुनिक और सभ्य दिखाकर दूसरों पर रोव जमा सकें, तो कुछ लोग अपने एकाकीपन को भुलाने, उदासी के क्षणों को दूर करने अर्थात् अपने गमों को भुलाने और विवाह शादी तथा खुशी के अवसरों पर प्रसन्नता को व्यक्त करने के उद्देश्य से इन्हें अपने गले से लगाते हैं। कुछ लोग अपने शरीर को तरो-ताजा और अधिक शारीरिक परिश्रम करते समय अथवा थकावट दूर करने के नाम पर इनका सेवन करते हैं। कुछ विद्यार्थियों और दूसरे अन्य कई व्यक्तियों को मानसिक एकाग्रता बनाने के लिए भी इनका सेवन करते देखा गया है। कुछ लोग अपनी पत्नी या प्रेमिका के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने से पूर्व भी अपनी तथा कथित पौरुष शक्ति बढ़ाने के नाम पर इनका सेवन करते हैं। कुछ लोग शौच जाने से पूर्व आमाशयीय प्रतिवृत्त (डिजेंटपब त्सिमग) पैदा करने के लिए भी इनका सहारा लेते देखे गये हैं।

अक्सर इन मादक पदार्थों के सेवन की शुरुआत शराब या तम्बाकू (बीड़ी, सिगरेट, खैनी, तम्बाकू युक्त गुटखे आदि) के रूप में होती है, जो बाद में कभी-कभी अधिक काल्पनिक आनन्द की प्राप्ति के लिए चरस, गांजा, भांग, हेरोइन, कोकीन, कुछ दर्द निवारक, अवसादक व उत्तेजना शामक औषधियों के सेवन तक पहुँच जाती है। किन्तु एक बात बिल्कुल तय है कि चाहे किसी भी मादक पदार्थ का सेवन किया जाये और चाहे किसी भी कारण से क्यों न किया जाये, उसकी प्रतिक्रिया शरीर पर अवश्य होगी और वह भी दुष्परिणाम युक्त। साथ ही इनका खामियाजा एक न एक दिन शरीर को भुगतना ही पड़ेगा चाहे रोगों के रूप में चाहे शारीरिक क्रिया हीनता के रूप में।

मादक पदार्थ कई प्रकार के होते हैं। इनकी रासायनिक संरचना अलग-अलग तरह की होती है और शरीर पर इनकी प्रतिक्रिया भी अलग-अलग तरह से होती है। उसी प्रकार उनके शरीर पर कुप्रभाव भी पड़ते हैं। लोगों द्वारा सेवन किये जाने वाले कुछ प्रमुख मादक पदार्थ हैं शराब (ईथाइल एल्कोहल), तम्बाकू के उत्पाद (सिगरेट, बीड़ी, गुटखा, हुक्का, खैनी आदि), अफीम, चरस, गांजा, भांग, कोकीन, कोडीन आदि औषधियाँ, हेरोइन इत्यादि। इनमें से शराब और तम्बाकू के पदार्थों का सेवन सबसे ज्यादा और अधिक लोगों द्वारा किया जाता है। इनमें से शराब तो केवल पीने वाले के शरीर पर अपना अधिकार दिखाती है पर तम्बाकू तो बिना बुलाये मेहमान के रूप में अपरिचितों के शरीर में पहुँचकर अपना प्रभाव दिखा सकता है।

सामान्यतः नशे की शुरुआत शराब या तम्बाकू के सेवन से ही होती है। कम मात्रा में शराब शरीर पर उत्तेजक प्रभाव डालती है। मुँह, कण्ठनलिका और आमाशय आदि में इसके कारण गरमाहट का अहसास पैदा होता है, मुँह में लार व आमाशय में जठर रस का स्त्राव भी बढ़ता है और रोगी को भूख की अनुभूति होने लग जाती है। यह हृदय पर भी प्रभाव डालकर हार्दिकी धमनी को चौड़ा कर हृदय को रक्त की आपूर्ति में भी सहायक बनती है, किन्तु अधिक मात्रा में यह अवसादक प्रभाव पैदा करती है। उस समय व्यक्ति की सोचने की शक्ति घट जाती है तथा उसका स्वभाव बदल जाता है। परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए व्यक्ति अपनी चिन्ताओं, गमों, दुःखदर्द को भूलकर काल्पनिक आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। शराब के विपरीत तम्बाकू मस्तिष्क पर शामक प्रभाव डालता है, अर्थात् यह व्यक्ति के सोचने को तो प्रभावित नहीं करता उत्तेजित स्नायुओं पर प्रतिक्रिया कर उन्हें शांत करने में मदद करता है, फलस्वरूप व्यक्ति अपनी थकावट को भूलकर पुनः अपने आपको तरो-ताजा और चुस्त अनुभव करने लग जाता है। परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक जारी नहीं रहती। शीघ्र ही मस्तिष्कीय कोशिकाएं और स्नायु इनके लगातार सेवन से इनकी अभ्यस्त बनती चली जाती हैं और उनमें

इन मादक पदार्थों के प्रति एक प्रकार का प्रतिरोध पैदा होने लग जाता है, अर्थात् व्यक्ति को उसी स्तर की काल्पनिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने के लिए इन पदार्थों की अधिक मात्रा में जरूरत पड़ने लगती है। अतः उसे इनका सेवन बार-बार और अधिक मात्रा से दुगुनी, चौगुनी और अधिक गुनी मात्रा में इनका सेवन करना पड़ता है। जिसका खामियाजा सारे शरीर के सभी महत्वपूर्ण अंगों को भुगतना पड़ता है।

कम मात्रा में पूर्ण नशे की अनुभूति न मिल पाने के कारण व्यक्ति को इनकी मात्रा में वृद्धि करनी पड़ती है, किन्तु इनके अत्यधिक महंगे होने के कारण विशेषकर शराब के अधिकतर व्यक्ति इनके स्थान पर कम मात्रा में अधिक नशा पैदा करने वाले तथा सस्ते मादक पदार्थों की शरण में पहुँच जाते हैं। कई बार तो जब व्यक्ति को शराब या तम्बाकू के कम प्रभावशाली नशे से पूर्ण संतुष्टि नहीं मिल पाती तो वह सीधे ही तीक्ष्ण और प्रभावशाली नशों को अपनाता है। अफीम, कोकीन, मोरफीन, चरस, गांजा, ब्राउन शुगर, कई प्रकार की कोडीन युक्त औषधियाँ, दस्त रोकने वाली कुछ औषधियाँ, दर्द निवारक व शान्तिदायक कई प्रकार की औषधियाँ तथा मलहम आदि इसी श्रेणी में आती हैं। शरीर पर इन मादक पदार्थों का प्रभाव अतिशीघ्र होता है।

### मादक पदार्थों के कु-प्रभाव :

सभी प्रकार के मादक पदार्थों का शरीर के मस्तिष्क पर तो प्रभाव होता ही है पर अन्य महत्वपूर्ण अंग भी इनके पड़ने वाले कुप्रभावों से नहीं बच पाते हैं, जिनका परिणाम बाद में विभिन्न रोगों तथा इन अंगों की कार्य क्षमता घट जाने के रूप में सामने आता है। प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति सीधे ही इन मादक पदार्थों के कुप्रभाव से अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं।

इनके अतिरिक्त यातायात दुर्घटनाओं, लड़ाई-झगड़े, मार-पीट, हिंसा, लूट-पाट, बलात्कार आदि के अधिकांश मामलों के पीछे इन मादक पदार्थों की एक प्रमुख भूमिका होती है। शारीरिक शक्ति घटने से लोग परिश्रम कम कर पाते हैं अथवा अपने कार्य पर ध्यान केन्द्रित नहीं रख पाते, जिनका परिणाम निकलता है आमदनी का घट जाना। मादक पदार्थों की खरीद पर भी उसे अपनी आमदनी का एक बड़ा भाग लगातार खर्च करना पड़ता है, उससे भी उसमें परिवार की आय पर बोझ बढ़ता है। आमदनी कम तथा खर्च अधिक के परिणामस्वरूप परिवार की ठीक प्रकार से परिवरिश नहीं हो पाती और घर में नित-प्रति क्लेश रहने लग जाता है, जिसका परिणाम अनेकों बार बड़े भयानक रूप में निकलता है।

### मादक पदार्थों का शरीर पर कु-प्रभाव:

विभिन्न मादक पदार्थों का शरीर के विभिन्न अंगों पर अलग-अलग तरह से प्रभाव होता है, जैसे कि शराब, तम्बाकू, अफीम, कोडीन, कोकीन, चाय/कॉफी आदि को ही देखें -

**(१.) शराब का प्रभाव :** शराब, सर्वाधिक सेवन किया जाने वाला मादक पेय पदार्थ है। ब्रिटेन जैसे विकसित देश, स्कॉटलैंड, वेल्स में तो ६५ प्रतिशत पुरुष और ८६ प्रतिशत स्त्रियाँ शराब का आनन्द लेते हैं। शराब का सेवन वहाँ के लोगों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित तीसरी मुख्य समस्या है।

शराब को अक्सर मुँह के द्वारा ही सेवन किया जाता है, पर यह नाक के रास्ते फेफड़ों तक पहुँच कर अपना हल्का प्रभाव दिखा सकती है। शराब पीने के तुरंत पश्चात आमाशय, छोटी आँत्र में पहुँचते ही बिना किसी खास परिवर्तन के सीधे ही ( $C_2H_5O$  से ईथायल एल्कोहल कहा जाता है और शराब के नाम पर इसे ही विभिन्न सान्द्रता के रूप में सेवन किया जाता है।) तेजी से अवशोषित होकर रक्त में मिलने लग जाती है। २० प्रतिशत के लगभग शराब का अवशोषण तो आमाशय में ही सम्पन्न हो जाता है तथा शेष का मध्यांत्र (श्वसननदनड) तक ही अवशोषण हो जाता है। १० प्रतिशत शराब शरीर में ही आक्सीकृत होकर कार्बनडाई ऑक्साइड और पानी में बदल जाती है व कम मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन करती है, किन्तु शरीर में प्रति घंटे १० मि.ली. की दर से ही शराब का आक्सीकरण हो पाता है, इसी कारण यह ऊर्जा उत्पादन का कोई स्रोत नहीं है। शराब के आक्सीकरण की शुरुआत यकृत में इन्सुलिन की मदद से ही सम्पन्न हो पाती है। अतः इन्सुलिन की आवश्यकता इस समय बढ़ जाती है। शराब के आक्सीकरण के लिए इसके अतिरिक्त थायमिन और निकोटिनिक अम्ल की भी आवश्यकता रहती है।

शराब शरीर के लगभग समस्त ऊतकों, तथा केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र (मस्तिष्क) पर अवसादक प्रभाव डालकर उसकी अनुभूति व सोच को प्रभावित कर देती है। शराब का यह प्रभाव एक तरह से संज्ञाहीनता (दमेजीमजपब) के समान होता है। अन्य अंगों पर प्रभाव डालकर यह श्वसन गति को घटती है, जबकि नाड़ी की गति को बढ़ाती है। रक्त वाहिकाओं को फैलाकर रक्त संचार को बढ़ाती है, विशेषकर त्वचा, हृदय व जननेन्द्रियों के स्थान पर, जिससे शरीर अधिक मात्रा में ताप का नुकसान करने लग जाता है।

अत्यधिक मात्रा में शराब के सेवन से तंत्रिका सम्बन्धी एक और रोग हो जाता है, जिसमें आँखों की पुतलियों को गति देने वाली मांस पेशियों को लकवा मार जाता है, जिसे 'ओथैल्मोप्लेजिया' कहा जाता है। हाथ, पैर के स्नायु कमजोर पड़ सकते हैं जिससे चलने-फिरने में भी असुविधा होने लग जाती है।

**शराब का पाचन संस्थान पर प्रभाव :** अधिकांश शराब का अवशोषण आमाशय और मध्यांत्र तक ही सम्पन्न हो जाता है। यों इसके अवशोषण की गति इसकी सान्द्रता व कुछ खाद्य पदार्थों की उपस्थिति पर निर्भर करती है, जैसे कि वसीय पदार्थों के साथ इसके सेवन से इसकी अवशोषण की गति धीमी पड़ जाती है और शराब अधिक समय तक आमाशय व आँत में रुकी रहती है, इसी कारण खाली आमाशय की तुलना में भोजन के समय पिये जाने पर इसका प्रभाव धीमे होता है।

कम मात्रा में शराब गले व आमाशय में गर्माहट देती है तथा थूक और जठर रस के स्राव को बढ़ाती है। इस जठर रस के स्राव में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा अधिक तथा पेप्सिन नामक एन्जाइम की कमी होती है, जबकि अधिक सान्द्रता वाली शराब आमाशय की श्लेष्मिक झिल्ली को अधिक नुकसान पहुँच कर जठर रस स्राव को अवरुद्ध भी कर सकती है। शराब आमाशय की आँतरिक भित्ति पर प्रभाव डालकर इसके सामान्य क्रिया कलाप को प्रभावित करती है, जिससे जठर अम्ल भित्ति पर प्रभाव डालकर इसके सामान्य क्रिया कलाप को प्रभावित करती है, जिससे पठर अम्ल भित्ति पर क्षोभक प्रभाव डालकर उसमें शोथ (आमाशय शोथ) तक पैदा कर डालता है आमाशय शोथ की यह दशा अधिकतर शराब का सेवन करने वाले लोगों में देखने में आती है। अमेरिका में कंठ नलिका में कैंसर होने की संभावना भी बढ़ जाती है। अमेरिका में कंठ नलिका के कैंसर वाले ७५ प्रतिशत से अधिक रोगी अधिक शराब का सेवन करने वाले पाये गये हैं।

शराब का सेवन करने वाले १० प्रतिशत लोगों में यकृत सम्बन्धी एक विशेष रोग 'यकृत सिरोसिस' हो जाता है। यकृत सिरोसिस के कारण इन रोगियों को यकृतीय उच्च रक्तचाप और फिर अफारा, भूख की कमी, मितली, वमन, प्लीहा का आकार में बढ़ जाना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। सिरोसिस के ३ से ५ साल के भीतर घातक लक्षण सामने आने शुरू हो जाते हैं।

अत्यधिक मात्रा में लगातार शराब के सेवन से यकृत कोशिकाओं में शोथ (यकृत शोथ) उनकी कार्य क्षमता समाप्त व अन्य यकृत सम्बन्धी कई रोग हो जाते हैं, जिससे कभी-कभी यकृत आकार में बढ़ जाता है और वसा (चर्बी) से भरा हुआ प्रतीत होता है। यकृत रोगों के कारण रोगी की भूख समाप्त, जी मिचलाना और वमन जैसे लक्षण भी शुरू हो सकते हैं। रोगी को अपने शरीर में हल्का ज्वर और पेट में यकृत के स्थान पर दर्द प्रतीत हो सकता है। जैसे-जैसे शराब के कुप्रभाव से यकृत का रोग बढ़ता जाता है, रोगी के पैरों, चेहरे और सारे शरीर पर सूजन आने लग जाती है। पेट में पानी भरने लग जाता है। पेट में रक्त स्राव भी हो सकता है और वह खून की उल्टी कर सकता है या उसके मल के साथ रक्त आ सकता है। रोग के अन्तिम पड़ाव के रूप में पीलिया के लक्षण पैदा हो सकते हैं व रोगी बेहोश हो सकता है।

यकृत में ही शरीर के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार की प्रोटीन व अन्य पदार्थों का निर्माण होता है। ये पदार्थ रक्त को जमाने, मांस पेशियों व ऊतकों का निर्माण करने तथा शरीर की सुरक्षा प्रणाली के लिए आवश्यक होते हैं, पर जब स्वयं यकृत ही बीमार पड़ जाता है तो यह पदार्थ और प्रोटीन आदि तैयार नहीं हो पाते। इससे रोगी अपने शरीर में थकावट महसूस करने लग जाता है, उसका वजन घटने लगता है, जरा सी चोट लगने या दाढ़ी बनाते समय कट जाने पर रक्त का बहना नहीं रूक पाता तथा शरीर पर विभिन्न प्रकार के संक्रमित रोगों को पनपने का अवसर मिला जाता है।

शराबियों में अग्न्याशय सम्बन्धी रोग जैसे कि अग्न्याशय की शोथ सामान्य लोगों की तुलना में अधिक व जटिल रूप में देखने को मिलते हैं।

शराबियों में एक आदत और भी होती है कि ये पीते (शराब) अधिक हैं, खाते (खाद्य पदार्थ) कम है, जिससे शरीर में विभिन्न प्रकार की विटामिन्स, खनिजों तथा प्रोटीन की कमी उत्पन्न हो जाती है, जिनके कारण रक्ताल्पता व दूसरे अनेक रंग पैदा हो जाते हैं।

स्त्रियों के गर्भावस्था के दौरान शराब पीते रहने से उनके पेट में पल रहे बच्चों को जन्म से ही कई प्रकार के रोग, विशेषकर मंदबुद्धि और शारीरिक अपंगता हो सकती है। ऐसे बच्चों का जन्म से समय वजन भी सामान्य की तुलना में काफी कम होता है। गर्भपात के अवसर भी शराब के सेवन से बढ़ जाते हैं।

**(२) तम्बाकू का प्रभाव :** तम्बाकू के प्राचीन काल से ही कई रूपों और कई तरह से सेवन किया जाता रहा है, यथा धूम्रपान के रूप में, नसवार के रूप में एवं चबाने के रूप में। तम्बाकू में निकोटिन नामक एक रसायन रहता है, यही तम्बाकू के मादक प्रभाव का मुख्य कारण है। निकोटिन की मात्रा तम्बाकू पौधे के विभिन्न भागों और विभिन्न प्रजातियों में अलग-अलग रहती है। अधिकतर तम्बाकू का प्रयोग धूम्रपान के रूप में ही करते हैं। धुएं में मौजूद ६० प्रतिशत से अधिक निकोटिन का अवशोषण श्वास द्वारा हो जाता है, जो मस्तिष्क के कुछ केन्द्रों और स्नायुओं पर प्रभाव डालकर शरीर में उत्साह या आनन्द का सा अनुभव कराते हैं।

**तम्बाकू का पाचन तंत्र पर प्रभाव :** तम्बाकू (निकोटिन) का प्रभाव समस्त ऊतकों पर ही होता है। यह सूक्ष्म रक्त शिराओं में संकुचने पैदा करके रक्तचाप में वृद्धि करता है व हृदय की रक्त की आपूर्ति घटाकर हृदय शूल तक पैदा कर सकता है। धूम्रपान का सेवन करने वाले लोग अक्सर नेत्र ज्योति में कमी का वर्णान्धता (ब्सवनत ठसपदकदमे) की भी शिकायत करते देखे गये हैं, यहाँ तक कि इससे पूर्ण अन्धापन तक हो सकता है।

पाचन संस्थान पर निकोटिन के प्रभाव से वमन और मितली आ सकती है, क्योंकि निकोटिन आमाशय में संकुचन पैदा कर देता है। जब यह संकुचन आमाशय के अतिरिक्त सम्पूर्ण पाचन तंत्र में शुरू हो जाता है तब व्यक्ति को कई बार मल त्याग के लिए जाना पड़ सकता है। वमन या मल की आवृत्ति से रोगी में पानी, खनिज लवण और विटामिन आदि की कमी उत्पन्न हो सकती है।

तम्बाकू में निकोटिन के अतिरिक्त ४००० से अधिक और रसायन भी मौजूद रहते हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं, हाइड्रोजन साइनाइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड, नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड, विजापायरेन के पदार्थ तथा पेलिनियम जैसे रेडियोधर्मी तत्व । तम्बाकू के जलने के पश्चात जो धुआं पैदा होता है, उसमें ५ प्रतिशत के लगभग तो अकेली कार्बन मोनो ऑक्साइड गैस ही होती है, जो मनुष्य के लिए विषाक्त गैस है। हमारे रक्त में मौजूद एक लाल रसायन हीमोग्लोबिन से कार्बन मोनो ऑक्साइड की शक्ति ऑक्सीजन की तुलना में २०० गुना ज्यादा होती है। यही कारण है कि धूम्रपान करने वालों के रक्त की ऑक्सीजन ले जाने की सामर्थ्य बहुत घट जाती है, और व्यक्ति थोड़े से चलने फिरने या श्रम करने पर ही हांफने लग जाता है।

धूम्रपान रक्त में एपीनेफ्रिन और नोरएपीनेफ्रिन की मात्रा में वृद्धि करके व्यक्ति के रक्तचाप में वृद्धि करता है। तम्बाकू के धुएं में निकोटिन और कार्बन मोनो ऑक्साइड दोनों ही मौजूद होते हैं जो हृदय की मांस पेशियों के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता बढ़ाते हैं, जबकि कार्बन मोनो ऑक्साइड रक्त की आक्सीजन ले जाने की क्षमता घटाती है। निकोटिन रक्त प्लाज्मा के लिपिड और प्लेटलिट कोशिकाओं को भी प्रभावित करके रक्त के थक्का बनने की गति में वृद्धि करता है, जिससे हृदय वाहिनी रोगों की संभावना बढ़ती है। एक अनुमान के अनुसार तम्बाकू का सेवन करने वाले लोगों में तम्बाकू का सेवन न करने वालों से ७० प्रतिशत से अधिक हृदय सम्बन्धी रोग होते हैं। तम्बाकू सेवन से ४० और ५४ वर्ष के मध्य के लोगों में मृत्यु दर तम्बाकू का सेवन न करने वालों से ३०० प्रतिशत अधिक है।

**(३) अफीम के प्रभाव :** अफीम भी एक चिर परिचित और प्राचीन समय से ही सेवन किया जाने वाला मादक पदार्थ है। यह शरीर पर अवसादक प्रभाव डालता है, जिससे व्यक्ति को न तो दर्द की अनुभूति होती है और न थकावट की। व्यक्ति की सोचने-विचारने की शक्ति भी नशे के दौरान अपने तक ही सिकुड़ कर रह जाती है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने आप को चिन्ताओं से मुक्त अवस्था में पाता है।

अफीम के सेवन से कुछ लोगों में मितली, जी मिचलाना और वमन के लक्षण प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि अफीम का मस्तिष्क के एक अंग मेडुलरी केन्द्र पर उत्तेजित तथा वेस्टीवूलर अप्रेटस पर अवसादक औषधि की तरह होता है। अफीम के सेवन से जठरांत्र (लैजतव पदजमेजपदंस) में भी कुछ परिवर्तन देखने को मिलते हैं और ग्रहणी में इसके कारण मरोड़ तक पैदा हो सकते हैं। यह कुछ विशेष तंत्रिकाओं को प्रभावित करके आँत की गति तीव्र कर सकती है, थूक आमाशय स्त्राव तथा अग्न्याशय स्त्राव की मात्रा को घटा या अवरूद्ध कर सकती है।

अफीम आमाशय की गति को कम करके तथा जठर निर्गम की गति को बढ़ाकर आमाशय के खाली होने के समय को बढ़ाती है, अर्थात् अफीम के कारण आमाशय को रिक्त होने के समय को बढ़ाती है, अर्थात् अफीम के कारण आमाशय को रिक्त होने में अधिक समय लगता है। इसी तरह यह छोटी और बड़ी आँत में पुरःसरण गति को धीमा करके मलाशय के भरने के समय को बढ़ाती है तथा मल विसर्जन की गति को रोकती है, जिसके कारण अफीमचिओं को अक्सर कब्ज की शिकायत रहने लगती है। अफीम का औषधीय रूप में दस्तों के लिए इसी गुण के कारण उपयोग किया जाता है।

अधिक मात्रा में अफीम केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र पर तीव्र अवसादक प्रभाव डालकर श्वसन गति, रक्तचाप, नाड़ी की गति को कम करती है तथा रोगी की श्वसन क्रिया बंद हो जाने के कारण मृत्यु तक हो सकती है।

अफीम का सेवन करने वाले लोगों को अल्पपोषणता की शिकायत भी हो सकती है, जिससे कई अन्य रोग भी व्यक्ति में जन्म ले सकते हैं।

अफीम का एक रसायन है “मोर्फिन” जिसका प्रभाव भी शरीर पर अफीम की तरह ही होता है किन्तु अत्यधिक तीव्रता के साथ। इसीलिए इसके प्रयोग से उत्पन्न होने वाले कुप्रभाव भी अधिक भयानक और तीव्र रूप में पैदा होते हैं।

**(४) कोकीन के प्रभाव :** कोकीन भी एक तीव्र मादक पदार्थ है, जो कोको नामक एक पौधे से प्राप्त किया जाता है। कोकीन के अभ्यस्त अधिक लोग यूरोप और अमेरिका में ही हैं, किन्तु भारत में भी कुछ लोगों को कोकीन का सेवन करते पाया गया है।

कोकीन अपने प्रभाव से स्थानीय रूप में संवेदनासूचक स्नायुओं को कुछ समय के लिए लकवा ग्रस्त बना देती है। इसके अतिरिक्त यह श्वसन गति, नाड़ी की गति और रक्तचाप बढ़ाती है। स्थानीय रूप में आँख की पुतलियों को फैला देती है। शरीर के तापमान में वृद्धि करती है तथा रक्त ग्लूकोज के स्तर को भी बढ़ाती है।

मस्तिष्क के एक केन्द्र सेरीब्रम पर उत्तेजक प्रभाव डालकर यह माँस पेशियों की क्षमता बढ़ाती है तथा थकावट से छुटकारा दिलाती है। इसी कारण बहुत से मजदूर, किसान, खिलाड़ी आदि अपनी शारीरिक सामर्थ्य में वृद्धि करने के उद्देश्य से इसके अभ्यस्त बन जाते हैं।

चूँकि कोकीन का प्रयोग नसवार के रूप में नाक द्वारा किया जाता है, अतः इसके अभ्यस्त लोगों के नाक के अंदर जखम बन जाते हैं। कोकीन पाचन संस्थान को प्रभावित करके पाचन प्रक्रिया को कमजोर बनाती है, भूख घटाती है और थूक (लार) के बनने तथा उसके स्त्राव को रोकती है। आहार में थूक के भली प्रकार से न मिल पाने के कारण पाचन आमाशय आदि समुचित रूप से ही नहीं हो पाता है।

**(५) चाय और कॉफी का प्रभाव :** चाय और कॉफी ताजगी और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए सामान्य रूप से पिये जाने वाले पेय पदार्थ हैं, परन्तु ये भी शरीर पर कुप्रभाव डालने से मुक्त नहीं हैं। इनमें 90 से अधिक ऐसे रसायन

मौजूद रहते हैं जो शरीर पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख रसायन हैं कषाय अम्ल, टैनिन अम्ल (१८ प्रतिशत) कैफीन (२.७५ प्रतिशत), धीन (३ प्रतिशत), पैमीन, वोलेटाडल, ऐरोमौलिक, कारबोलिक अम्ल, साइनोजेन, आक्जेलिक अम्ल तथा स्टिनायल आदि ।

टैनिक अम्ल शरीर की रक्त नलिकाओं को कठोर बनाता है तथा उनमें रक्त संचार की गति को कम करता है। पेट में यह घाव व गैस पैदा करता है, जबकि कैफीन से एसिड अधिक मात्रा में पैदा होने लग जाता है, साथ ही यह गुर्दों को कमजोर करता है। कारबोलिक अम्ल भी आमाशय में पहुँच कर अति अम्लता के लक्षण उत्पन्न करता है। इसके कारण बुढ़ापा भी शीघ्र आता है। पैमीन भी व्यक्ति की पाचन शक्ति को घटाता है। यही कारण है कि अधिक मात्रा में व बार-बार चाय, कॉफी पीने वाले व्यक्तियों को अक्सर भूख की कमी तथा पेट में अम्ल-पित्त की शिकायत रहने लगती है। इसके अतिरिक्त कैफीन सिर दर्द, अनिद्रा तथा गठिया जैसे रोग के लक्षण भी पैदा कर देता है। ऐरोमौलिक अन्तड़ियों में खुश्की पैदा करता है। साइनोजेन की अधिक मात्रा से अनिद्रा रोग या लकवा तक हो सकता है जबकि स्टिनायल रक्त विकार तथा नपुंसकता के लिए जिम्मेदार हो सकता है। वोलेटाडल नामक रसायन आँखों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

इन रसायनों की मात्रा चाय की बड़ी पत्ती की अपेक्षा बारीक चूर्ण, जिसे क्वेज कहा जाता है और जो ज्यादा स्फूर्ति प्रदान करता है, में अधिक होती है। सामान्यतः इन दोनों पेय पदार्थों को उबाल करके पिया जाता है, जिससे इन रसायनों की मात्रा इन पेयों में बढ़ जाती है। इसीलिए इन पेय पदार्थों के सेवन से पाचन सम्बन्धी विकारों के अतिरिक्त, हृदय की धड़कन बढ़ जाना, स्नायु सम्बन्धी तनाव तथा अनिद्रा जैसे लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

### निष्कर्ष :

उपरोक्त मादक पदार्थों के संक्षिप्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सभी मादक पदार्थ शरीर के समस्त ऊतकों व पाचन संस्थान को सीधे-सीधे रूप में कुप्रभावित तो करते ही हैं, दूसरे रूप में भी इनकी कार्य क्षमता और सामर्थ्य को प्रभावित करते हैं और व्यक्ति क्षणिक आनन्द की भूल में धीरे-धीरे अपने को रोगों के भयंकर जाल में फंसा लेता है।

मादक पदार्थों के सेवन से जब व्यक्ति का पाचन संस्थान पूरी तरह गड़बड़ा जाता है तो उसके पेट में आहार का पाचन भली प्रकार से नहीं हो पाता है। उस समय व्यक्ति की भूख भी समाप्त हो जाती है। आहार बिना पची अवस्था में ही आमाशय और अन्तड़ियों में रुका पड़ा रहता है, इससे एक तो कुछ पाचक रसों का स्राव अधिक मात्रा में होने लग जाता है, जैसे कि आमाशय के पाचक रस में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल । परिणामस्वरूप पेट में जलन होने लग जाती है, जहाँ तक कि आमाशय या पक्वांशय में घाव तक इनके कारण उत्पन्न हो सकते हैं, तो दूसरी तरफ पेट में सड़ रहे आहार व उस पर कई प्रकार के जीवाणुओं के आक्रमण से गैस उत्पन्न होने लग जाती है। जब वह पेट में ही रुक कर भरने लग जाती है तो व्यक्ति को अपारा जैसी स्थिति का सामना करना पड़ जाता है। कब्ज के कारण भी व्यक्ति की स्थिति दयनीय हो जाती है। समय पर मल त्याग न होने से मल मलाशय और पश्च अन्तड़ियों में ही भरता चला जाता है, जिससे पेट तनने लग जाता है तथा उसमें असहनीय पीड़ा व कष्ट शुरू हो जाता है।

इनके विपरीत कुछ मादक पदार्थों के सेवन से व्यक्ति को मितली, वमन आने लग जाती है अथवा दिन भर में कई बार मल त्याग के लिए जाना पड़ता है। बार-बार के वमन या मल त्याग से व्यक्ति के शरीर में पानी व अन्य पोषक तत्वों जैसे विटामिन, खनिज, लवण, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट की कमी होने लग जाती है। परिणामस्वरूप शरीर थका-पका सा रहने लग जाता है। शरीर में रक्त की कमी होनी शुरू हो जाती है व अन्य कई रोग पैदा होने लग जाते हैं। शरीर के टूटने, थकावट और कमजोरी को दूर करने के लिए व्यक्ति को पुनः उस नशे का सेवन करना पड़ता है तब और अधिक विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। व्यक्ति को पेट में सख्त दर्द भी प्रतीत हो सकता है।

मादक पदार्थों के सेवन से शरीर के कई महत्वपूर्ण अंगों की कार्य क्षमता सामान्य से कम होने लग जाती है, जिससे इन मादक पदार्थों में मौजूद विषाक्त तत्व अधिक समय तक शरीर में मौजूद रहने लग जाते हैं। जैसे कि सामान्य स्वस्थ अवस्था में हमारा यकृत १५ सी.सी. के लगभग शराब का प्रति घंटे की दर से उप पाचन करके उसे अन्य रसायनों में



बदलता है, किन्तु नियमित रूप से अधिक मात्रा में शराब का सेवन करते रहने से यकृत का एक ही मुख्य कार्य रह जाता है, केवल शराब का ही उप पाचन करना। परिणामस्वरूप यकृत अपने अन्य कार्यों जैसे विषाक्त पदार्थों को शरीर से बाहर निकलना, शरीर के लिए आवश्यक कई पदार्थों का निर्माण करना आदि को बहुत कम मात्रा में कर पाता है या फिर उन्हें करना ही छोड़ देता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि शरीर में पैदा हुए या बाहर से आये हानिकारक और विषाक्त रसायन शरीर में अधिक समय तक टिकने लग जाते हैं अथवा शरीर में आवश्यक पदार्थों की कमी उत्पन्न होने लग जाती है। इन दोनों का परिणाम विभिन्न रोगों के रूप में सामने आता है।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मादक पदार्थों का सेवन किसी भी रूप में, किसी भी मात्रा में और किसी भी अवसर पर करना हमारे शरीर के स्वास्थ्य के लिए कतई अच्छा नहीं है। जितने भी प्रकार के मादक पदार्थ हैं उनका सीधा दुष्प्रभाव पेट की पाचन व्यवस्था पर पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति को पेट सम्बन्धी अनेक प्रकार की परेशानियों को भोगना पड़ सकता है। अतः प्रयास यही होना चाहिए कि किसी भी प्रकार के मादक पदार्थों से बचाकर ही रहा जाए ।

## रोगी व्यक्ति का आहार कैसा हो ?

स्वास्थ्य और आहार का गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए जब व्यक्ति किसी भी कारण से अस्वस्थ होता है तो उसकी आहार व्यवस्था भी एकदम बदल जाती है। इस विषय को लेकर विभिन्न पैथियों से उपचार करने वाले चिकित्सक विद्वानों में काफी समय से गहरा मतभेद चला आ रहा है कि आखिर रोग की अवस्था में रोगी व्यक्ति को किस प्रकार का आहार दिया जाये। जहाँ आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विद्वानों को मानना है कि रोग की अवस्था में रोगी की आहार व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसके सेवन से रोग के दौरान हुई क्षति व ऊतकों के पुनःनिर्माण व मरम्मत का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सके एवं रोगी के शरीर में रोग के विरुद्ध लड़ने की पर्याप्त सामर्थ्य उत्पन्न हो सके, जबकि इस सिद्धांत के बिल्कुल विपरीत आयुर्वेदिक प्राकृतिक और अन्य परम्परागत चिकित्सा प्रणाली के विद्वानों का विश्वास है कि रोग के दौरान रोगी को उपवास रखने के लिए प्रेरित किया जाये अथवा अल्पतम मात्रा में सुपाच्य व हल्का आहार ही लेने की अनुमति दी जाये। उनका विश्वास है कि अधिकांश रोगों की जड़ में उदर सम्बन्धी विकार ही प्रमुख रूप से जिम्मेदार होते हैं। अतः शरीर उसकी (उदर की) कार्य प्रणाली को पुनः शीघ्र सामान्य कर सके तथा अनियमित व अनुचित आहार-विहार के कारण शरीर में उत्पन्न व संचित हुये विषाक्त व्यर्थ पदार्थ शरीर से बाहर निकल सकें। इसके लिए अस्थायी तौर पर आहार का सेवन बंद करके, पाचन संस्थान पर दबाव कम किया जाये व उसे थोड़ा विश्राम का समय दिया जाये। इस विषय पर थोड़ा आगे बढ़ने से पूर्व यदि यह देख लिया जाये कि आखिर यह 'आहार' है क्या व शरीर को इसकी आवश्यकता क्यों रहती है, तो विषय को समझना थोड़ा आसान होगा।

## आहार क्या है ?

समस्त जीवन धारियों को जीवन के प्रारंभ से लेकर मृत्यु तक सतत् विकास अर्थात् शारीरिक अंगों (ऊतकों व कोशिकाओं) के निर्माण, रख-रखाव व जीर्ण एवं दृढी कोशिकाओं की मरम्मत, समस्त आन्तरिक व बाहरी अंगों और शरीर की क्रियाओं को सुचारू रूप से चलने तथा नये जीवन के सृजन के लिए जीवन भर विभिन्न पोषक तत्वों की आवश्यकता रहती है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि चलने, फिरने, सुनने, बोलने, हसने, रक्त के निर्माण, हृदय के धड़कने, सांस लेने, मन-मूत्र त्यागने और शिशु को जन्म देने आदि समस्त शारीरिक कार्यों के लिए इसकी आवश्यकता रहती है। इन्हीं समस्त आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व 'आहार' पर होता है। लेकिन शरीर के लिए समस्त पोषक तत्वों की आपूर्ति किसी विशेष आहार से नहीं हो पाती है। अतः पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार वही हो सकता है जो प्राणियों के शरीर के लिए समस्त पोषक तत्वों की पूर्ति कर सके व समस्त शारीरिक क्रियाओं को सुचारू रूप से चला सके।

शरीर में उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रासायनिक परिवर्तनों को चयापचय (मेटाबोलिज्म) क्रिया कहा जाता है। इनके परिणामस्वरूप या तो किसी नए पदार्थ का संश्लेषण या सृजन होता है, जिसे उपचय (एनाबोलिज्म) क्रिया कहते हैं या फिर किसी पदार्थ का विघटन या अपघटन होता है। इन्हें कैटेबोलिज्म क्रिया कहा जाता है। जैसे कि उपचय के अन्तर्गत आँतों से अवशोषण उपरांत एमीनो अम्लों का यकृत के अंदर शरीर के लिए आवश्यक विभिन्न जटिल एमीनो अम्लों में रूपान्तरण या संश्लेषण होता है, जिनसे बाद में रक्त, मांस, मज्जा, हड्डियों आदि का निर्माण हो पाता है। कैटेबोलिज्म क्रिया के अन्तर्गत प्लीहा में लाल रक्त कणिकाओं का विघटन या यकृत में हीमोग्लोबिन के विघटन से पित्त का निर्माण अथवा ऐसी ही अन्य विघटन क्रियाएं आती हैं।

शरीर में इस प्रकार की समस्त रासायनिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए एक तो ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है और दूसरे उन पदार्थों की जिनके उपयोग से क्रियाओं में शरीर के लिए परम आवश्यक पदार्थों का निर्माण होता है। ऊर्जा के उपयोग से उष्मा उत्पन्न होती है, जिसे मापा जा सकता है। इसे चयापचय दर (बेसल मेटाबोलिक रेट) कहा जाता है। इसकी इकाई (यूनिट) को किलो कैलोरी नाम दिया गया है। इसका अभिप्राय होता है कि जितनी ऊर्जा की खपत से एक लीटर पानी का तापमान 95°ब से बढ़कर 96°ब हो जाये, उसे एक किलो कैलोरी उष्मा कहा जाता है।

आहार में मौजूद विभिन्न पोषक तत्वों का शरीर में पहुँच कर ऊर्जा उत्पादन के लिए दहन होता है, जिसकी सहायता से चयापचय क्रियायें सम्पन्न होती हैं। प्रत्येक पोषक पदार्थ के दहन से भिन्न-भिन्न मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है,

जैसे कि एक ग्राम कार्बोहाइड्रेट से ४.९ कैलोरी, एक ग्राम प्रोटीन से ४.९ कैलोरी तथा एक ग्राम वसा से दहन से ९.४ कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न होती है।

सामान्य तौर पर हमारे आहार के छः घटक होते हैं- कार्बोहाइड्रेट (शर्करा), प्रोटीन, चिकनाई (वसा), विटामिन, खनिज तत्व और पानी। इनमें से प्रथम तीन घटक विभिन्न क्रियाओं के क्रियान्वय, शारीरिक विकास, ऊतकों के निर्माण व रख-रखाव के लिए ऊर्जा उत्पादन व आवश्यक पदार्थों तथा अन्तिम तीन घटक विभिन्न रासायनिक क्रियाओं में ऊर्जा के उपयोग व चयापचय क्रियाओं के फलस्वरूप निर्मित होने वाले आवश्यक पदार्थों (हारमोन्स, एन्जाइम) व कोशिकीय निर्माण में सहयोग करते हैं।

### आहार की मात्रा :

एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति को पूर्ण विश्राम की अवस्था में अपनी सामान्य चयापचय दर बनाये रखने के लिए करीब ४० कैलोरी ऊर्जा अपने प्रति वर्ग मीटर क्षेत्रफल प्रति घंटे की आवश्यकता रहती है अर्थात् १७२८ से १७४० कैलोरी की आवश्यकता रहती है। इसके अलावा मानसिक परिश्रम के लिए १० से २५ प्रतिशत (४०० कैलोरी), हल्के शारीरिक श्रम के लिए ३०-४० प्रतिशत (७०० कैलोरी) मध्यम प्रकार के शारीरिक श्रम के लिए ५०-६० प्रतिशत (१००० कैलोरी) एवं भारी मेहनत करने वालों को अपने सामान्य चयापचय दर से १०० प्रतिशत या उससे अधिक (१७४० से २००० कैलोरी) की अतिरिक्त आवश्यकता रहती है। अर्थात् एक सामान्य वयस्क व्यक्ति को  $१७२८ + ४०० + ७०० = २८२८$  कैलोरी की कम से कम आवश्यकता रहती है। छोटे शिशुओं, बढ़ते बच्चों, गर्भवती स्त्रियों, स्तनपान के दौरान, खिलाड़ियों और विभिन्न रोगों के दौरान उपरोक्त आवश्यकता से भी कुछ अधिक कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता रहती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने १९७४ के अपने एक घोषणा पत्र में वयस्क पुरुष (७० किलो वजन वाले) के लिए ३००० किलो कैलोरी व स्त्रियों के लिए २२०० कैलोरी ऊर्जा की मात्रा प्रतिदिन के लिए निर्धारित की है।

शरीर के लिए आवश्यक कुल ऊर्जा का ६०-७० प्रतिशत (४०० से ४५० ग्राम) कार्बोहाइड्रेट द्वारा, २०-३० प्रतिशत (५०-७० ग्राम) वसा द्वारा तथा शेष ५ से १० प्रतिशत (५०-७० ग्राम) प्रोटीन द्वारा प्रतिदिन के हिसाब से किया जाना चाहिए। छोटे शिशुओं और बढ़ते बच्चों को ३-४ ग्राम प्रति किलो भार तथा गर्भवती स्त्रियों एवं स्तनपान कराने की अवधि में २-३ ग्राम प्रति किलो भार प्रोटीन की आवश्यकता रहती है।

इनके अतिरिक्त व्यक्ति को प्रतिदिन के हिसाब से ५००० यूनिट विटामिन 'ए' (स्त्रियों को ४००० यूनिट, लेकिन गर्भावस्था व स्तनपान की अवधि में ५००० से ६००० यूनिट प्रतिदिन), १.२ से १.४ मि.ग्रा. प्रतिदिन विटामिन 'बी-१' (गर्भावस्था व स्तनपान कराने की अवधि में १.५ मि.ग्रा. प्रतिदिन), १.१ से १.८ मि.ग्रा. प्रतिदिन विटामिन 'बी-२' (गर्भावस्था व स्तनपान कराने की अवधि में १.५ से १.६ मि.ग्रा. प्रतिदिन), १३-२० मि.ग्रा. प्रतिदिन नायसिन, २ मि.ग्रा. प्रतिदिन विटामिन 'बी-६' (गर्भावस्था व स्तनपान कराने की अवधि में २.५ मि.ग्रा. प्रतिदिन), ३ माइक्रो ग्राम प्रतिदिन विटामिन 'बी-१२' (गर्भावस्था व स्तनपान कराने की अवधि में ८०० माइक्रो ग्राम प्रतिदिन), ४५ मि.ग्रा. प्रतिदिन विटामिन 'सी' (गर्भावस्था व स्तनपान कराने की अवधि में ६० मि.ग्रा. प्रतिदिन) ४०० यूनिअ प्रतिदिन विटामिन 'डी', १२-१५ यूनिट प्रतिदिन विटामिन 'ई' की आवश्यकता रहती है। इनके अलावा एक सामान्य स्वस्थ वयस्क स्त्री को ०.८ ग्राम प्रतिदिन कैल्शियम (गर्भावस्था व स्तनपान कराने की अवधि १.२ ग्राम प्रतिदिन व ११ से १८ वर्ष की उम्र तक ०.६ ग्राम प्रतिदिन), ०.८ ग्राम प्रतिदिन फास्फोरस (गर्भावस्था व स्तनपान की अवधि में १.२ ग्राम व ११-१८ वर्ष की आयु तक १.१ ग्राम प्रतिदिन), १० मि.ग्रा. प्रतिदिन लोहा (स्त्रियों को १८ मि.ग्रा. प्रतिदिन), २.५ से ७ ग्राम प्रतिदिन सोडियम, २-६ ग्राम प्रतिदिन पोटेशियम, १.२ मि.ग्रा. प्रतिदिन तांबा, ३०० से ४५० मि.ग्रा. प्रतिदिन मैग्नीशियम, १००-१५० माइक्रो ग्राम प्रतिदिन आयोडीन, ०.५ ग्राम प्रति किलोरीन, १५ मि.ग्रा. प्रतिदिन जिंक व अल्प मात्रा में सल्फर, कोबाल्ट, सैलेनियम आदि खनिज तत्वों की जरूरत रहती है।

शरीर के लिए आवश्यक इन समस्त पोषक तत्वों की आपूर्ति किसी एक विशेष प्रकार के आहार से नहीं हो पाती है। जैसे कि कुछ कार्बोहाइड्रेट का अच्छा स्रोत होने के कारण ऊर्जा के तो प्रमुख भण्डार होते हैं पर प्रोटीन या वसा अथवा

विटामिन एवं खनिजों के मामले में निम्न स्तर के होते हैं। इसके विपरीत कुछ प्रोटीन के तो अच्छे भण्डार होते हैं पर विभिन्न विटामिन, खनिजों अथवा कार्बोहाइड्रेट की मात्रा उनमें नगण्य ही रहती है। इसीलिए एक सन्तुलित व पौष्टिक आहार के लिए समस्त पोषक तत्वों की पूर्ति कर सकने वाले अनेक खाद्य पदार्थों को सम्मिलित करके ग्रहण किया जाता है।

एक सामान्य भारतीय समाज का आहार प्रमुख रूप से सात प्रकार के खाद्य पदार्थों से तैयार होता है। ये सात अंश इस प्रकार हैं-

१. अनाज (गेहूँ, चावल, मक्का, बाजरा व जौ)
२. दूध और दूध से निर्मित पदार्थ (दही, लस्सी, पनीर, मिठाई)
३. माँस, मछली, अण्डे।
४. मक्खन, तेल, घी।
५. हरी सब्जियाँ (पालक, पत्तागोभी, टिंडा, भिंडी, लौकी, तोरई, मेथी, बथुआ आदि), पिली सब्जियाँ (फूल गोभी, टमाटर, कद्दू, परवल, जिमीकंद, कटहल, गाजर व पके फल आम, अमरुद, सेव, केला आदि)
६. आलू व अन्य सब्जियाँ
७. खटटे फल (आवला, सन्तरा, नींबू, अनार, अंगूर आदि)

मछली, माँस, दूध, अण्डा को प्रोटीन का प्रमुख स्रोत माना जाता है। साथ ही इनसे प्राप्त प्रोटीन को उत्तम दर्जे का माना जाता है। दालें भी प्रोटीन की अच्छी स्रोत हैं। लेकिन इन्हें पोषक की दृष्टि से दूसरे दर्जे का माना गया है। ताजा मछली में उसके कुल भार का लगभग २० प्रतिशत प्रोटीन व १.५ प्रतिशत वसा, माँस में २५ प्रतिशत के करीब प्रोटीन व १५ प्रतिशत के लगभग वसा, दालों में १५-२० प्रतिशत के आसपास प्रोटीन, अण्डे में १२ से १४ प्रतिशत प्रोटीन व ११ से ३० प्रतिशत वसा होती है, जबकि चावल में ७-८ प्रतिशत तथा गेहूँ में १० से ११ प्रतिशत के लगभग प्रोटीन मौजूद रहती है पर चावल की प्रोटीन गुणों के आधार पर गेहूँ की प्रोटीन से उत्तम होती है।

वसा की आपूर्ति के लिए वानस्पतिक तेल, मक्खन, घी का उपयोग किया जाता है। दूध में भी ४ प्रतिशत के लगभग वसा मौजूद रहती है। कार्बोहाइड्रेट के प्रमुख स्रोत हैं- चावल, गेहूँ, मक्का, कन्द (आलू, शकरकंद, शलजम आदि)। इनमें ७०-८० प्रतिशत के लगभग कार्बोहाइड्रेट तथा ६-१० प्रतिशत के लगभग प्रोटीन मौजूद रहती है।

एक सामान्य वयस्क व स्वस्थ भारतीय व्यक्ति के लिए भारतीय आहार के आधार पर निम्न प्रकार से खाद्य का निर्धारण किया गया है (देखें टेबल नं.१)। इसमें स्त्रियों के लिए ऊर्जा वाले आहार में १२ से १८ प्रतिशत की कमी कर देनी चाहिए ।

#### तालिका नं. १

क्र.	खाद्य पदार्थ	सामान्य क्रियाकलाप		मध्य परिश्रम		कड़ी मेहनत	
		शाकाहार	माँसाहार	शाकाहार	माँसाहार	शाकाहार	माँसाहार
		(ग्राम)	(ग्राम)	(ग्राम)	(ग्राम)	(ग्राम)	(ग्राम)
१	अनाज (चावल, गेहूँ व अन्य)	४००	४००	४७५	४७५	६५०	६५०
२	दालें	७०	५५	८०	६५	८०	६५
३	हरी पत्तेदार सब्जियाँ	१००	१००	१२५	१२५	१२५	१२५

४	अन्य सब्जियां	७५	७५	७५	७५	१००	१००
५	आलू, गाजर, मूली, ७५ शलजम, शकरकंद आदि	७५		१००	१००	१००	१००
६	दूध, दही, पनीर	३००	१००	३००	१००	३००	१००
७	फल	३०	३०	३०	३०	३०	३०
८	तेल व घी	४०	३५	४५	४०	५०	५५
९	माँस, मछली	-	३०	-	५०	-	६०
१०	अण्डा	-	३०	-	४०	-	५५
११	चीनी	३०	३०	४०	४०	५५	५५

भारत में इस कुल आहार को प्रायः तीन मुख्य आहारों में सुबह का नाश्ता, दोपहर व सायंकालीन के भोजन तथा कम से कम दो उप आहारों दोपहर बार ४-५ बजे के मध्य लिया जाने वाला जलपान व रात्रि सोते समय लिया जाने वाला दूध आदि तरल के रूप में विभक्त किया जाता है। चूंकि रात्रि का समय विश्राम के लिए तथा दिन का समय परिश्रम के काम आता है। अतः रात्रि के समय आहार की आवश्यकता कम तथा दिन के समय अधिक रहती है। इसलिए नाश्ता व रात्रि के समय लिया जाने वाला आहार कम मात्रा में, शीघ्र पचने वाले, सुपाच्य होने चाहिए। रात्रि के समय भारी, गरिष्ठ भोजन अधिक मात्रा में कर लेने से एक तो उसका पाचन अधिक समय में हो पाता है तथा दूसरा, आहार में मौजूद आवश्यकता से अधिक पोषक तत्व शरीर में संचित होते चले जाते हैं। इससे रोगी का वजन बढ़ने लग जाता है। जबकि नाश्ता, जो कि रात्रि भोजन के कम से कम १०-१२ घंटे उपरांत किया जाता है, आहार में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसीलिए नाश्ते का आहार भी शीघ्र पचने वाला सुपाच्य होना चाहिए, जिससे वह शीघ्र पच सके, शीघ्र ऊर्जा आदि की पूर्ति कर सके तथा दोपहर की भूख भी सही समय पर लग सके।

दिन का समय परिश्रम के लिए निर्धारित है। अतः दिन के १०-१४ घंटों के मध्य ५ से ६ बार आहार का सेवन किया जाता है जिससे परिश्रम के क्षणों में ऊर्जा की पूर्ति सतत् होती है। इस आधार पर दिन भर के सम्पूर्ण आहार को निम्न प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है- दिन भर में खाये जाने वाले कुछ आहार में से एक तिहाई की आपूर्ति दोपहर के भोजन द्वारा, एक तिहाई की आपूर्ति रात्रि खाने के रूप में, शेष एक तिहाई में से २५ प्रतिशत सुबह के नाश्ते में तथा शेष को दोपहर बाद के चायकाल व रात्रि के समय लिए जाने वाले पेय पदार्थ के द्वारा की जानी चाहिए।

आहार विज्ञानियों ने विभिन्न खाद्य पदार्थों में पाये जाने वाले विभिन्न पोषक तत्व और उनकी अनुमानित प्रतिदिन की मात्रा एक वयस्क पुरुष के लिए निश्चिन्त की है। इसके लिए तालिका संख्या २ ध्यानपूर्वक देखें।

तालिका नं.२

क्र.	खाद्य का नाम	मुख्य पोषक तत्व	अनुमानित प्रतिदिन की मात्रा
१	अनाज (चौकर सहित), चावल, (बिना पालिस)	कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, विटामिन बी-१ बी-२, नायसिन, बी-६, फास्फोरस, लोहा, पोटेशियम, मैग्नीशियम।	३२५ - ४२५ ग्राम
२	फल और सब्जियां कार्बोहाइड्रेट , प्रोटीन, विटामिन 'ए', 'बी'		२००-३५० ग्राम

समूह, विटामिन 'सी', लोह, कैल्शियम,  
फास्फोरस, पोटेशियम, सोडियम और अन्य  
आवश्यक खनिज

३	माँस, मछली, अण्डा	प्रोटीन, वसा, लोहा, विटामिन 'बी'	४०-५५ ग्राम
		विटामिन 'डी' और विटामिन 'ए' अल्प	
		मात्रा में खनिज तथा कैल्शियम	
४	दूध, पनीर, दही	प्रोटीन, वसा, कैल्शियम, कार्बोहाइड्रेट,	३०० ग्राम
		रिबोफ्लेविन, विटामिन 'ए'	
५	तेल, घी, मक्खन	वसा, विटामिन 'ए', 'डी' और 'ई'	४० ग्राम
६	चीनी/शहद	कार्बोहाइड्रेट	३० ग्राम

इस प्रकार आहार को कुछ इस तरह से व्यवस्थित करना चाहिए जिससे उसमें समस्त आवश्यक पोषक तत्वों की न्यूनतम मात्रा अवश्य बनी रहे। जैसे कि कार्बोहाइड्रेट की न्यूनतम मात्रा (मधुमेह रोग में) का निर्धारण करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि इसकी अल्पता के कारण कहीं 'किटोसिस' जैसी समस्या उत्पन्न न हो जाये। डायबिटीक किटोसिस अर्थात् डायबिटीक किटो एसिडोसिस में शरीर की रस प्रक्रिया और जैव रासायनिक प्रक्रिया पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो जाती है। यद्यपि इस रोग में रोगी के रक्त में शर्करा का स्तर तो अधिक ही रहता है परन्तु आहार में कार्बोहाइड्रेट अंश की कमी अथवा इन्सुलिन के पूर्ण अभाव से शरीर की कोशिकाएं अपने लिए आवश्यक ग्लूकोज जुटाने के प्रयास में जुट जाती है। इसके लिए वे अपने अंदर संचित प्रोटीन, ग्लाइकोजन और वसा भण्डारों का उपयोग करने लग जाती है। इससे ग्लूकोज, नाइट्रोज, पानी और इलेक्ट्रोलाइट (खनिज पदार्थ) कोशिकाओं से बाहर आ जाते हैं।

मूत्र की अधिक मात्रा में पोटेशियम, मैग्नीशियम और फास्फोरस आदि खनिज व्यर्थ बहने लग जाते हैं। संचित वसा के उपयोग से काफी मात्रा में एसिटोन पैदा होकर रक्त में ही इकट्ठा होता चला जाता है। इससे रक्त की अम्लता (एसिडिटी) तथा कार्बन डाई ऑक्साइड गैस की मात्रा बढ़ने लगती है। इसे शरीर से बाहर निकालने के लिए रोगी के फेफड़े तेज-तेज सांस लेने व छोड़ने लग जाते हैं। तेजी से सांस चलने व अधिक मात्रा में मूत्र त्याग के कारण रोगी के शरीर में पानी की काफी कमी हो जाती है तथा सांस की हवा में एसिटोन की उपस्थिति के कारण पके हुए फलों जैसी दुर्गन्ध आने लग जाती है। रोगी की जबान सूख जाती है तथा अत्यधिक पानी व खनिजों की कमी से रक्तचाप निम्न, नाड़ी कमजोर व रोगी की आँखें अंदर धंस जाती हैं तथा अंत में रोगी बेहोशी (कोमा) की स्थिति में चला जाता है। रोगी में कीटो- एसिडोसिस की स्थिति उत्पन्न न हो, इसलिए अल्पतम आवश्यक मात्रा में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा आहार में अवश्य मौजूद रहनी चाहिए।

आहार में प्रोटीन की निम्नतम आवश्यक मात्रा भी अवश्य मौजूद रहनी चाहिए। विभिन्न प्रकार की प्रोटीनों का निर्माण २३ के लगभग अलग-अलग प्रकार के एमीनो अम्लों के संयुक्त मेल से होता है। इनमें से १० एमीनो एसिड तो ऐसे होते हैं जिनका निर्माण शरीर में किसी भी रूप में नहीं हो पाता है इसीलिए इन्हें अति आवश्यक एमीनो अम्ल कहा जाता है। इन सभी अति आवश्यक एमीनो अम्लों की आपूर्ति आहार के माध्यम से ज्यों के त्यों रूप में की जाती है। आहार में इन एमीनो अम्लों के अभाव से शरीर का नाइट्रोजन सन्तुलन बिगड़ जाता है तथा शरीर की विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाएं एवं सामान्य स्वास्थ्य तक प्रभावित हो जाता है। शरीर में विभिन्न आवश्यक पदार्थों व ऊर्जा कोशिकाओं का निर्माण, मरम्मत का कार्य तक अवरूद्ध हो जाता है, जिससे शरीर का विकास रुक जाता है एवं शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली भी कमजोर पड़ कर शरीर पर विभिन्न रोगों का आक्रमण शुरू हो जाता है। शरीर के सामने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न न हों, इसके लिए आहार में प्रोटीन का समावेश आवश्यक मात्रा में अवश्य होना चाहिए।

वसा (चिकनाई वाले पदार्थ ) से सर्वाधिक मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन तो होता ही है साथ ही यह विटामिन ए, डी और ओमेगा ३ का वाहक भी है। इसमें कई अति महत्वपूर्ण वसा अम्ल भी मौजूद रहते हैं, जैसे कि लिनोलिक एसिड, लिनोलिनिक एसिड और आराकिडीन एसिड आदि। आहार में वसा के अभाव के साथ ही इन विटामिनों और वसा अम्लों का अभाव शुरू हो जाता है जिससे अनेक रासायनिक क्रियाएं प्रभावित होने लगती हैं तथा कई रोगों का जन्म होने लग जाता है।

इनके अतिरिक्त आहार में विटामिन और खनिज लवणों वाले आहार यथा विभिन्न प्रकार की सब्जियां, फल, अंकुरित अनाज, दूध, दही आदि भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहना चाहिए, जिससे इन आवश्यक पोषक पदार्थों की भी पूर्ति सुचारु रूप से जारी रहे।

आहार के विभिन्न घटकों में मौजूद विभिन्न पोषक तत्वों की मात्रा तथा उनसे उत्पन्न होने वाली ऊर्जा की जानकारी के लिए तालिका नं. ३ का अध्ययन किया जा सकता है। आहार से सम्बन्धित अन्य विसृत जानकारी के लिए आप सीधे लेखक से पत्र सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

तालिका नं.३

क्रं.	खाद्य पदार्थ	मात्रा ग्राम	पानी मिली.	प्रोटीन ग्राम	वसा ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	ऊर्जा कैलोरी
१	अनाज- गेहूँ (चोकर सहित)	१००	११.५	११	१	७५	३६२
२	अंकुरित अनाज	३५	१०.७	२	१	१०-१२	५६
३	आटे की रोटी	३०	४.६	२.६	१.२	१८-१९	९५
४	चावल (आधा कप) ७५	३७	३	१	२०	१०३	
५	पत्तेदार हरी सब्जियां टिण्डा, लौकी, तोरई	२००	१७६	४	०.७	१६.२	८०
६	पत्तागोभी आदि	५०	४२	०.३	०	१	५
७	आलू	५०	३५	१.१	०	६.३	३६
८	चने सूखे/दाल	५०	५.८	१०.७	०.३	२४	१४४
९	सलाद	२००	१८०	१	०	१८-१९	८०
१०	दूध	३००	२७०	८	१०	१२	१७०
११	दही	१००	७६	३	३.६	४	६०
१२	पनीर	७६	४६	१०	५	१०	१३०
१३	मक्खन, घी, तेल	१ग्राम	०	२	४	०	४५
१४	माँस	२५	१२.४	७	५	६	७३

१५	मछली	२५	१४-१६	७	२-६	०	५०-७५
१६	अण्डा	१ नग	७२	६	६	०	७८
१७	केला	१००	७५.१	१.२	०.६	२२	१०१
१८	सेब	१००	८४.२	०.४	०.४	१४.२	६३
१९	अंगूर	१५०	१३९	०.९	०	८.५	३८
२०	सन्तरा	१५०	१२९	१.२	०.३	१६.३	७२
२१	चेरी	१००	८०.९	१.०	०.८	१६.७	८०

### विभिन्न रोगों की अवस्था में रोगी का आहार :

हमारे आहार में शरीर के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के पोषक तत्वों एवं शक्तिवर्द्धक पदार्थों के अतिरिक्त कितने ही प्रकार के जीवाणुनाशक, ज्वर को कम करने वाले, पाचक अर्थात् भूख बढ़ाने वाले, मल विरेचक, मूत्रल एवं पीड़नाशक आदि नाना प्रकार के औषध गुणों युक्त तत्व भी पाये जाते हैं तो दूसरी तरफ़ देर से पचने वाले व पाचन संस्थान पर दबाव बढ़ाने वाले तथा अनेक हानिकारक व्यर्थ पदार्थों को जन्म देने वाले तत्व भी पाये जाते हैं। पाचन संस्थान में देर से आहार के अंशों के पड़े रहने से जहाँ अनेक प्रकार के रोग फैलाने वाले कीटाणुओं को फलने-फूलने व अपनी जनसंख्या बढ़ाने का अवसर मिलता है, वहाँ अधिक मात्रा में विषाक्त व व्यर्थ पदार्थों के पैदा होते रहने एवं उन्हें शरीर से बाहर निकाल फेंकने के लिए यकृत, गुर्दा, फेफड़ों आदि अति महत्वपूर्ण अंगों पर अतिरिक्त दबाव बनता है तथा अधिक समय तक इस सफाई अभियान से जूझना पड़ता है, जिससे इन अंगों की कोशिकाओं को अधिक समय तक क्रियाशील रहना पड़ता है। उनकी संचित ऊर्जा का व्यय अधिक मात्रा में होने लगता है व उनके अंदर ऊर्जा के स्रोत एवं आवश्यक पोषक तत्वों का अभाव उत्पन्न होने लगता है, विश्राम का समय भी नहीं मिल पाता और वे अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को छोड़ कर केवल इस एक कार्य तक सीमित रह जाती है। इन सब का परिणाम या तो विभिन्न रोगों के रूप में सामने आता है अथवा सामान्य रोग को भी जटिल रोग में परिवर्तित होने में ।

अतः विभिन्न रोगों से सुरक्षित रहने तथा रोग से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए रोगी व्यक्ति को अपने आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए । विभिन्न रोगों की स्थिति में रोगी को अपने आहार को कुछ इस प्रकार से व्यवस्थित कर लेना चाहिए कि उससे (आहार से ) उसके शरीर की समस्त पोषक सम्बन्धी आवश्यकताएं भी पूरी होती रहे और उसके आन्तरिक महत्वपूर्ण अंगों पर अतिरिक्त दबाव भी न बन पाये। विभिन्न रोगों की स्थिति में रोगी व्यक्ति के खाद्य को इस तरह से व्यवस्थित कर लेना चाहिए ।

### पाचन संस्थान से सम्बन्धित रोगों में:

**अजीर्ण और पेट की गैस में :** अजीर्ण और पेट में गैस बनना, दोनों ही रोग बार-बार, अधिक मात्रा में भारी, गरिष्ठ और तले-भुने आहार का सेवन करते रहने तथा पाचन संस्थान पर उत्पन्न हुए अतिरिक्त दबाव का परिणाम होते हैं। ऐसे रोगियों को २-३ दिन के लिए अस्थायी रूप से देर से पचने वाले गरिष्ठ भोजन के स्थान पर तरल पेय पदार्थ तथा शीघ्र पचने वाले आहार का सेवन करना चाहिए ।

ऐसे रोगी प्रातःकाल खाली पेट कुछ समय अन्तराल से ३-४ गिलास पानी ले सकते हैं। नाश्ते में दूध आदि की जगह व्यक्ति बिना मक्खन की लस्सी थोड़ा काला नमक और भुना जीरा डालकर ले सकता है। इनके अतिरिक्त दिन भर में २-३ मात्रा में बांटकर फलों व हरी सब्जियों के रस, उन्हें उबाल कर बिना घी डाले तैयार किया सूप तथा अंकुरित किये अनाज व दालें ले सकते हैं। फलों और सब्जियों से जहाँ रोगी को विटामिन ए, बी-१, बी-३, बी-६, सी तथा खनिज लवणों की काफी मात्रा मिल जाती है वहीं दही की लस्सी एवं अंकुरित अनाज शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा (कार्बोहाइड्रेट) तथा



एमीनो अम्ल का प्रबंध कर देते हैं। इनके अतिरिक्त अंकुरित अनाज में डायस्टेज नामक एक पाचक एन्जाइम तथा दही में ऑत्र के लैक्टो एसिडोफिलस नामक कीटाणुओं को बढ़ाने वाले तत्व भी होते हैं जो पाचन में सहयोग कर रोगी की स्थिति में शीघ्र सुधार कर देते हैं।

जैसे ही रोगी की स्थिति में सुधार होने लगे वह अपने आहार में अर्द्ध ठोस आहार जैसे कि दलिया, मूंग की दाल की खिचड़ी, छिलका रहित फल, पालक, बथुआ युक्त मूंग, मसूर की दाल, हरी साग सब्जियां आदि लेना शुरू कर सकता है तथा रोग में सुधार के अनुसार अपने सामान्य आहार पर धीरे-धीरे लौट सकता है।

**कब्ज में :** कब्ज पाचन सम्बन्धी विकार न होकर निम्न ऑत्र सम्बन्धी विकार है अर्थात् इस रोग में रोगी द्वारा लिए जाने वाले आहार का पाचन तो ठीक प्रकार से होता रहता है, उसकी भूख भी सामान्य रहती है, किन्तु वृहत् ऑत्र से मल आगे तीव्र गति से धकेलता हुआ मलाशय तक नहीं पहुँच पाता तथा अन्तड़ियों में फंसा हुआ ही शुष्क, सख्त व कठोर हो जाता है वास्तव में यह रेशेदार भोजन के अभाव, भारी, गरिष्ठ भोजन का अधिक मात्रा में सेवन तथा पेय पदार्थ के अभाव से ही उत्पन्न होता है।

कब्ज से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति को ठोस व परिष्कृत आहार की बजाय तरल एवं प्राकृतिक रेशेदार भोजन पर अधिक ध्यान देना चाहिए। ऐसे रोगियों को भी दिन भर में पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थ (चाय, कॉफी, शराब छोड़कर) का सेवन करना चाहिए, विशेषकर प्रातःकाल खाली पेट ३-४ गिलास पानी में एक नींबू और १-२ चम्मच शहद मिलाकर पीने से काफी लाभ होता है। रोगी इसके साथ एक चम्मच आँवला चूर्ण भी ले सकता है।

रोगी को दिन भर के अपने आहार में फलों का रस, सब्जियों का रस, छिलका सहित फल, सलाद, अंकुरित अनाज, पानी में ४-५ घंटे पूर्व भिगोये २५-३० ग्राम मुनक्का, हरी सब्जियों का सूप, साग आदि का ही सेवन करना चाहिए। इस आहार से उसकी समस्त आवश्यकता तो पूरी हो जाती है। इसके अतिरिक्त आहार में अतिरिक्त मात्रा में तरल तथा रेशे युक्त पदार्थ होने के कारण मल ढीला, नर्म और आकार में बढ़ता है। अन्तड़ियों पर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कब्ज की आदत सुधरने लगती है। रोग की स्थिति में जैसे-जैसे सुधार होता जाये, रोगी को पहले अर्द्ध ठोस और फिर सामान्य ठोस आहार की धीरे-धीरे मात्रा बढ़ा लेनी चाहिए।

**अतिसार/दस्त:** अतिसार के अधिकांश मामलों के पीछे पेय एवं खाद्य पदार्थों के साथ पाचन संस्थान में प्रवेश कर गये विभिन्न प्रकार के रोगाणुओं की प्रमुख भूमिका होती है। ये जीवणु ऑत्र में पहुँच कर अपनी सामान्य चयापचय क्रिया द्वारा विषाक्त रसायनों अर्थात् जीव विषों (टोक्सिन) का निर्माण शुरू कर देते हैं। ये जीव विष अपनी प्रतिक्रिया द्वारा ऑत्र की दीवारों में चलने वाली झूलन गति अर्थात् पुरः गति को तीव्र कर देते हैं जिससे अन्तड़ियों में मल बिना अवशोषित हुए ही शीघ्रता से अवशोषित होने लगता है, जिसका परिणाम पतले और पानी जैसे मलों के रूप में सामने आता है। रोगी के शरीर में पानी, खनिज तत्वों तथा पोषक पदार्थों की कमी होने लगती है।

ऐसे रोगियों के लिए तले, भारी, गरिष्ठ जैसे देर से पचने वाले आहार का परित्याग तो स्वाभाविक है ही, इनके साथ ही दूध, खिचड़ी जैसे आहार का सेवन भी २-४ दिनों के लिए छोड़ देना चाहिए, क्योंकि दूध का पाचन उदर में काफी देर से ही सम्पन्न हो पाता है। इनकी बजाय रोगी को ऐसे आहार को प्रमुखता देनी चाहिए, जिनका पाचन शीघ्र एवं आमाशय तक ही सम्पन्न हो जाये या फिर वे अल्प पाचन के बाद ही ऑत्र में अवशोषित हो जाये।

अधिकांश अतिसार के रोगी खाना तो छोड़ ही देते हैं, तरल पेय पदार्थ का सेवन भी यह सोचकर छोड़ देते हैं कि एक तो इनसे मलों की आवृत्ति व मात्रा बढ़ेगी तो दूसरा जब इसे व्यर्थ ही निकलना है तो क्यों लें, जब दस्त में आराम आ जायेगा तब ही शुरू करेंगे। ऐसे समस्त रोगियों को दो बातें अवश्य ध्यान में रख लेनी चाहिए। पहली यह है कि जब तक ऑत्र से जीव विषों का निष्कासन पूर्णतः न हो जाये तब तक दस्तों को रोकने की कोशिश बिल्कुल न करें अन्यथा दस्तों के रुकने पर मल वमन के रूप में निकलना शुरू हो सकता है तथा ऑत्र में मौजूद जीव विष अन्तड़ियों की दीवारों तथा अन्य महत्वपूर्ण अंगों पर विषाक्त प्रभाव डालकर अन्य जटिलताओं को जन्म दे सकता है।

दूसरा, आवश्यक तरलका सेवन बिल्कुल बंद न करें क्योंकि शरीर ने तो विषाक्त मल को बाहर निकालने का कार्य जारी रखना ही है किन्तु जब रोगी तरल तक का सेवन बंद कर देता है तो आंत्र के कार्य में सहयोग करने के लिए रक्त व ऊतकों में मौजूद पानी (तरल) आंत्र में वापिस आने लग जाता है, इसके साथ ही कई प्रकार के आवश्यक खनिज तत्व पोटेशियम, सोडियम, क्लोरीन, कैल्शियम आदि भी आने लग जाते हैं, जिससे शरीर में बहुत तेजी से पानी व खनिज तत्वों की कमी होती चली जाती है और रोगी की स्थिति जटिल होती जाती है। छोटे शिशुओं में तो एक दिन में ही २-४ ग्राम तक पोटेशियम का नाश हो जाता है जिसके कारण हृदय विकलता हो जाने से उसकी मृत्यु तक हो सकती है। यह जटिलताएं उत्पन्न न हो इसलिए रोगी को निम्न प्रकार से तरल का सेवन दस्तों तथा वमन की परिस्थितियों में भी जारी रखना चाहिए।

रोगी ठोर आहार बिल्कुल न ले, बल्कि प्रथम २-३ दिन तक तरल पर ही निर्भर रहे। शुरू में रोगी पानी को उबाल कर ठंडा करके (१ लीटर में) उसमें १-२ नींबू निचोड़ ले। उसमें आवश्यकतानुसार नमक, ५-६ चम्मच शहद या ३-४ चम्मच चीनी मिलाकर आधे से एक घंटे के अंतराल से आधे कप की मात्रा में पीता रहे। इसके अतिरिक्त सेव, सन्तरा, अनार, आलू बुखारा, पानी में उबाल कर वह पानी, उबली सब्जियों का पानी, नारियल पानी, दाल या चावल का पानी, पतली दही की लस्सी आदि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कुछ समयान्तराल से ले। इससे पानी व खनिज तत्वों की आपूर्ति सहजता से होती रहती है। इसके अतिरिक्त इनमें कई प्रकार के ऐसे एन्जाइम भी होते हैं जो अतिसार के कीटाणुओं को नष्ट करते हैं। स्थिति में सुधार आने पर अर्द्ध ठोस आहार जैसे पुराने चावल, मूंग की खिचड़ी, दलिया, छिलका रहित फल, उबली सब्जियां और फिर चोकर सहित मोटे आटे की १-२ रोटियां लेना शुरू कर सकता है।

**पीलिया:** पीलिया रोग तीन प्रमुख कारणों से होता है, यकृत कोशिकाओं पर विषाणुओं का संक्रमण, शराब, औषधियों व अन्य अनावश्यक औषधियों के सेवन और पित्त प्रणाली में अवरोध आदि उत्पन्न हो जाने के कारण। अतः पीलिया रोग के उपचार का पहला सूत्र यही होता है कि यकृत कोशिकाओं को कुछ समय के लिए कार्य मुक्त करके विश्राम का अवसर दिया जाये जिससे वह अपनी व्यय ऊर्जा तथा पोषक तत्वों की पूर्ति कर सके।

रोग की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को नींबू- पानी की शिकंजी, संतरा, अंगूर, अनार, अन्ननास आदि फलों का रस तथा मूली, पत्ता गोभी, गाजर, टमाटर, पालक चुकन्दर आदि का निकाला हुआ रस, गन्ने का रस, मक्खन रहित ताजा दही की पतली लस्सी का सेवन दिन में ५-६ बार तक अर्थात् डेढ़ दो लीटर की मात्रा तक में कराना चाहिए। रोगी को आँवला का रस भी १०० ग्राम की मात्रा में या दिन भर में ७-८ ताजा आँवला अथवा १०-१२ ग्राम आँवला चूर्ण का सेवन भी करना चाहिए। इस प्रकार पहले केवल तरल आहार पर रखने से शरीर के लिए पर्याप्त मात्रा में ग्लूकोज, फ्रक्टोज, विटामिन, खनिज लवण व एन्जाइम आदि मिल जाते हैं जिससे यकृत की कार्य प्रणाली में सुधार होता है तथा शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति में वृद्धि होती है। रक्त में मिला बिलीरुबिन नामक पित्त रंजक पदार्थ भी मूत्र के साथ बह कर बाहर निकल जाता है।

रोग की स्थिति में थोड़ा सुधार होते ही अर्थात् रोगी को पुनः भूख लगनी शुरू होने पर फल, उबली सब्जियां, सलाद, अंकुरित गेहूँ, पतली मूंग की दाल, पतली लस्सी आदि शुरू की जा सकती है। भूख बढ़ने पर रोगी इनके अतिरिक्त पतली खिचड़ी, दलिया, चोकर सहित आटे से निर्मित १-२ रोटियां भी लेनी शुरू कर सकता है। प्रारंभ में तो रोगी को वसा वाले आहार, घी, तेल, मक्खन का सेवन पूर्णतः बंद करा दिया जाता है किन्तु रोगी १२-१५ दिन के बाद अर्थात् भूख सामान्य होने पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में तिल, मूंगफली, सरसों का तेल लेना शुरू कर सकता है और फिर अपना सामान्य आहार।

**उपापचय सम्बन्धित रोगों में :**

**गठिया, जोड़ दर्द में :** गठिया आदि रोगों में व्यक्ति को ऐसे आहार का सेवन करना चाहिए जिनसे यूरिक एसिड की अधिक मात्रा में उत्पत्ति न हो, क्योंकि यह यूरिक एसिड सन्धियों में इकट्ठा होकर सूजन व शोथ का कारण बनता है। यूरिक एसिड पैदा करने वाले आहार हैं- प्रोटीन वाले खाद्य यथा माँस, मछली, अण्डे, दूध, अधिक मात्रा में दालें आदि। अतः आहार में इनकी मात्रा तो अवश्य रखें जिससे शरीर में नाइट्रोजन का सन्तुलन नकारात्मक न हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में शरीर आवश्यक एमीनो एसिडों की तलाश में अपने ऊतकों में मौजूद प्रोटीन कणों का उपयोग शुरू कर देता है।

तरल की मात्रा भी पर्याप्त रखनी चाहिए , जिससे यूरिक एसिड आदि मूत्र के साथ निकलते रहें। इसके लिए व्यक्ति ३ लीटर गरम पानी ३-४ नींबू निचोड़ कर दिन भर में पी सकता है। रोगी फलों का रस, लौह की आपूर्ति कर रक्त का निर्माण करने वाले आहार, विटामिन-डी, कैल्शियम, फास्फोरस और बी-समूह वाले खाद्यों का सेवन अधिक मात्रा में करें। इनसे हड्डियों मजबूत बनती हैं तथा उनके क्षय होने की गति धीमी पड़ती है।

**मधुमेह :** मधुमेह सीधे रूप में कार्बोहाइड्रेट सम्बन्धी उप पाचन सम्बन्धी विकार है, अतः इसके उपचार में आहार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्यतः हमारे आहार में शर्करा की मात्रा अधिक व वसा की मात्रा कम होती है परन्तु मधुमेह रोगी के लिए इसमें थोड़ी भिन्न प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है। मधुमेह रोगी के लिए उसकी अवस्था अनुसार कुछ पेय और भोज्य पदार्थ तो पूर्णतः निषिद्ध हैं, जैसे चीनी, गुड़, बूरा, शहद, मिठाइयां, चॉकलेट, आइसक्रीम, शराब और सूखे मेवे, मिट्टी के अंदर पैदा होने वाले कंद जैसे आलू, शकरकंद, कचालू, रतालू, अरबी आदि। रोगी को अपने आहार की कार्बोहाइड्रेट की आपूर्ति चोकरदार गेहूँ, चना, जौ आदि के मिश्रण से तैयार रोटी, हाथकूटा चावल, हरी सब्जियों के रस, सलाद व साग, दूध, दही, अंकुरित अनाज, दालों तथा कुछ फलों में बांट कर करनी चाहिए । इनके अतिरिक्त मधुमेह रोगी नारियल पानी, दूध, सब्जियों का रस, गाजर, टमाटर , पपीता, तरबूज आदि भी उपयोग में ला सकता है।

मधुमेह रोगी के आहार में पर्याप्त मात्रा में हरी सब्जियां , अंकुरित अनाज, दालें आदि और रेशेदार फल, फलियां, करेले आदि का रस होने से शरीर को पर्याप्त मात्रा में सभी पोषक तत्व भी मिलते रहते हैं तथा ग्लूकोज भी नियंत्रण में रहता है। रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा भी नहीं बढ़ती और कब्ज की शिकायत भी नहीं रहती। इस प्रकार के नियंत्रित आहार से तथा थोड़ा शारीरिक श्रम बढ़ा देने से अनेक मधुमेह रोगियों में रक्त ग्लूकोज का स्तर सामान्य ही रहना शुरू हो जाता है।

**पथरी आदि में :** पित्ताशय से सम्बन्धित पथरी का सम्बन्ध आहार में मौजूद वसा वाले खाद्यों, भारी, गरिष्ठ, तले-भुने, अधिक मिर्च-मसालेदार खाद्य पदार्थों से काफी हद तक सीधा ही होता है। अतः इस प्रकार के खाद्यों से बचकर तथा शीघ्र पचने वाले सुपाच्य आहार को अपना कर इन पथरियों की समस्या से काफी हद तक बचा जा सकता है।

मूत्र संस्थान में पथरियों के बनने की संभावना उन लोगों को अधिक रहती है, जो पानी कम मात्रा में पीते हैं, पसीना अधिक आता है तथा जिनमें मूत्र की मात्रा कम रहती है। मूत्र की मात्रा कम रहने से संस्थान में कहीं भी यूरेट्स, ऑक्सजेलेट्स, फास्फोरस आदि रसायन पदार्थों के रुकने तथा कण के रूप में जमने की संभावना अधिक रहती है। इसके साथ ही उन लोगों में जिनमें विटामिन ए,बी,सी कैरोटीन और साइट्रिक एसिड आदि की कमी रहती है उनमें भी पथरी बनने की संभावना अधिक रहती है।

अतः पथरियों की संभावना न रहे अथवा जो इसके लिए एक बार शल्य चिकित्सा करा चुके हैं उनमें दुबारा पथरी न बने, उन्हें अपने आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए । इसके लिए एक तो रोगी दिन भर में, विशेषक, प्रातःकाल खाली पेट पर्याप्त मात्रा में पानी व अन्य तरल लेता रहे। दूध, दूध की मिठाई, पनीर, माँस, अण्डे आदि में कैल्शियम अधिक रहता है जिससे कैल्शियम ऑक्जलेट की पथरी बनने की संभावना रहती है इसलिए इनकी आवश्यक न्यूनतम मात्रा का ही सेवन करें। इसके अतिरिक्त नींबू, संतरा, ककड़ी, तरबूज, खीरा, नारियल पानी में साइट्रिक एसिड, पोटेसियम साल्ट आदि पाये जाते हैं जो पथरी को घोलते हैं। यह मूत्रल भी है तथा मूत्र की मात्रा में वृद्धि करते हैं। पथरी के रोगियों को इमली वाले खाद्यों का सेवन करना चाहिए । इसमें टाइट्रिक एसिड तथा पोटेसियम बाई टाइट्रिक एसिड आदि पाये जाते हैं जो पथरी के निर्माण में अवरोध करते हैं।

इनके अलावा अंकुरित अनाज, कुलथ की दाल, दही आदि में ऐसे रासायनिक तत्व रहते हैं जो पथरी बनने की क्रिया में बाधा डालते हैं तथा मूत्र की मात्रा बढ़ाते हैं।

**विशेष रोगों में :**

**ज्वरों में :** ज्वरों को उत्पन्न करने वाले विभिन्न प्रकार के जीवाणु शरीर में पहुँच कर ऊतकों और कोशिकाओं को बड़ी संख्या में क्षति पहुँचाती हैं, तो दूसरी तरफ शरीर ज्वर को सामान्य करने के लिए रक्त संचरण को बाह्य त्वचा की

बढ़ाकर पसीने की मात्रा बढ़ा देते हैं। इस कारण शरीर की पोषक तत्वों तथा तरल (पानी) पदार्थों की आवश्यकता बढ़ जाती है। अतः रोगी को ऐसे आहार दिये जायें जिनका पाचन शीघ्र हो और पर्याप्त आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति भी हो सके। रोगी की पाचन प्रक्रिया भी ज्वरों की दशा में शिथिल पड़ जाती है।

दूध, दही, दालें और अंकुरित अनाज प्रोटीन की पूर्ति करने वाले अच्छे आहार सिद्ध हो सकते हैं। रोगी को फलों का रस, नींबू शिकंजी, चने की तरी, केला छोड़कर शेष फल, भिगोकर दूध में उबाले मुनक्का, अंजीर आदि मेवे प्रारम्भिक अवस्था में देने चाहिए। रोग की स्थिति में थोड़ा सुधार होने पर दलिया, खिचड़ी, साबूदाना, हरी सब्जियों से निर्मित साग तथा चोकर सहित मोटे आटे की १-२ रोटियां भी शुरू कर देनी चाहिए। मलेरिया ग्रस्त ज्वर के रोगी को रक्त उत्पादक पदार्थ जैसे सेव, गाजर, अंगूर, संतरा, सोयाबीन, बथुआ वाले आहार भी साथ में देने चाहिए, जिससे अन्य पोषक तत्वों के साथ लौह की आपूर्ति भी होती रहे, क्योंकि मलेरिया परजीवी लाल रक्त कणिकाओं को ही नष्ट करके ज्वर का कारण सिद्ध होते हैं। आन्त्र ज्वर (टाइफायड) में कीटाणुओं का प्रभाव आंत्र श्लेष्मिक झिल्ली पर पड़ता है। अतः इस ज्वर में रोगी को सभी प्रकार के ठोस व अर्द्ध ठोस आहार तथा दूध तक का सेवन प्रथम ५-६ दिन के लिए पूरी तरह बंद करा दिया जाये और रोगी को केवल तरल पदार्थों यथा नींबू शिकंजी, पेठा का पानी, फलों और सब्जियों का रस, अंकुरित अनाज को पीस कर निकाला हुआ रस, दाल का पानी, चने की तरी आदि ही खाने को देनी चाहिए। जैसे-जैसे रोग में सुधार होता जाये रोगी को अर्द्ध ठोस आहार, बिना दूध का पतला दलिया, पतली खिचड़ी, दाल, फल आदि दिये जा सकते हैं और फिर अन्य सामान्य आहार का सेवन शुरू कराया जा सकता है।

**गुर्दों के रोग में :** गुर्दों का प्रमुख कार्य है शरीर में पैदा हुए हानिकारक व व्यर्थ पदार्थों को मूत्र के माध्यम से शरीर से बाहर निकालना। इसी कारण गुर्दों के रोग में मूत्र की मात्रा घट जाने से ये विषाक्त पदार्थ शरीर में ही संचित होते चले जाते हैं तथा शरीर के अन्य अंगों, मस्तिष्क आदि को क्षतिग्रस्त कर सकते हैं। रोगी में रक्त यूरिया तथा क्रीटीनिन का स्तर बढ़ना गुर्दों की असफलता का प्रमुख लक्षण माना जाता है।

गुर्दों के रोगियों को मांस, मछली, अण्डे, चॉकलेट, शराब, चाय, कॉफी और अन्य अधिक मिर्च-मसालेदार, तले भूने भोजन से तो पूर्ण परहेज करना ही चाहिए, बल्कि फलों, सब्जियों के रस, नमक, दूध, सूखे मेवे आदि के सेवन में भी संयम बरतना चाहिए। पानी की भी आवश्यक अल्पतम मात्रा ही रखी जाये क्योंकि अधिक पानी पीने से अधिक मूत्र का निर्माण तो होगा किन्तु उसे गुर्दे शरीर से बाहर नहीं निकाल पायेंगे। लेकिन जैसे ही मूत्र की मात्रा में वृद्धि होने लगे पानी, पानी में उबाले फलों का रस, सब्जियों का रस, अंकुरित अनाज का रस शुरू कराया जा सकता है, पर अब भी दूध, दालों का सेवन अल्पतम मात्रा में ही किया जाना चाहिए। दलिया, खिचड़ी आदि भी सेवन कराये जा सकते हैं।

**हृदय रोग :** हृदय रोगियों को नमक तथा वसायुक्त आहार का सेवन अल्पतम मात्रा में ही करना चाहिए। वसा के सेवन से रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा में वृद्धि होती है तथा मोटापा आदि जटिलताएं उत्पन्न होने लग जाती हैं। कोलेस्ट्रॉल के रक्त धमनियों, विशेषकर हार्दिकी धमनी की दीवारों में जाने से धमनियों का आन्तरिक व्यास घट जाता है तथा रक्त संचरण में बाधा आती है, जिससे हृदय विफलता, हृदय शूल, उच्च रक्तचाप जैसे रोग जन्म लेते हैं। अधिक मात्रा में नमक, तांबा का सेवन भी रक्तचाप में वृद्धि करता है।

वनस्पति तेलों, घी, मक्खन और वनस्पतियों से प्राप्त वसा 'दृश्य वसा' (विजिबिल फैट) तथा अनाज, दूध और उसके पदार्थ, दालें, सूखे मेवे, मांस, अण्डा, मछली आदि से प्राप्त वसा 'अदृश्य वसा' कहलाती है। दृश्य वसा में घी, वनस्पति तेल, मक्खन, नारियल का तेल को संतृप्त वसा कहा जाता है। आहार में इनकी उपस्थिति से रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ती है और हृदय रोगों की आंशका में वृद्धि होती है, जबकि सरसों, मूंगफली और धान की भूसी से प्राप्त तेलों को मोनो अन सेचुरेटेड फैटी एसिड कहा जाता है। यह कोलेस्ट्रॉल की मात्रा को घटाने में मद्दगार सिद्ध होते हैं।

अतः हृदय रोगियों को कम वसा तथा पर्याप्त कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, विटामिन, खनिज तत्वों और तरल वाले आहार का सेवन करना चाहिए। प्रातः खाली पेट ३-४ गिलास पानी में १-२ नींबू निचोड़ कर पीने से उच्च रक्तचाप को घटाने में मदद मिलती है। फलों के रस तथा ताजा सब्जियों के रस, अंकुरित अनाज में मूत्र की मात्रा बढ़ाने वाले तथा कोलेस्ट्रॉल घटाने वाले तत्व होते हैं जो हृदय रोगों के खतर को घटाते हैं। इनके अतिरिक्त हृदय रोगी चोकर सहित मोटे आटे की

रोटियां, दलिया, खिचड़ी, दही, दूध, सलाद, फल आदि को पर्याप्त मात्रा में अपने आहार में शामिल कर सकता है तथा हृदय रोग के दुष्प्रभाव से काफी हद तक अपने आप को बचा सकता है।

हृदय रोगियों को सिगरेट, तम्बाकू, पान-मसाला, शराब, मॉस, मछली, अण्डे आदि का सेवन त्याग देना चाहिए। ये सभी हृदय के लिए रिस्क फैक्टर का कार्य करते हैं।

## नियमित दिनचर्या एवं ऋतुचर्या से-

### पेट के रोगों से सहज मुक्ति

आधुनिक जीवनयापन की गति में जितनी तीव्रता आई है, उतनी ही तीव्रता से लोगों ने औषधियों को अपने दैनिक जीवन का अंग बना लिया है। यही कारण है कि अन्न, जल और वायु की भांति औषधीय सेवन करना भी उनके जीवन की अनिवार्यता बनती जा रही है।

रोग मनुष्य में दुःख या कष्ट का एक ऐसा कारण है जो उसके शरीर, मन और मस्तिष्क तीनों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। शरीर मन या मस्तिष्क का अस्तस्थ होना, विकारग्रस्त होना या रोगी होना प्रकृति के विपरीत अप्राकृतिक अवस्था का द्योतक है क्योंकि मनुष्य के शरीर में रोगों का उत्पन्न होना शरीर की प्रकृति का असंतुलन का परिणाम है। यानि शरीर में रोग तभी जन्म लेते हैं जब शरीर या मन की प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है। शरीर की इस प्राकृतिक अवस्था को बिगाड़ने में काफी हद तक मनुष्य स्वयं जिम्मेदार होता है। वह स्वयं ही जाने-अनजाने में शरीर, आहार और प्रकृति (ऋतु) के आपसी सामंजस्य को गड़बड़ा देता है। मनुष्य निरोगी जीवन जी सकता है, यदि वह अपने आहार-विहार को दैनिक दिनचर्या और ऋतु परिवर्तन के अनुसार व्यवस्थित कर ले।

ऐसा देखा गया है कि एक ही आहार विभिन्न ऋतुओं और यहाँ तक कि एक ही दिन में समय के विभिन्न चरणों में शरीर पर अपना अलग-अलग प्रभाव प्रकट करता है। विभिन्न ऋतुओं के अनुसार उनके गुणधर्मों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार शरीर की कार्य प्रणाली में भी ऋतु अनुसार बदलाव आते रहते हैं। जैसे कि पाचन प्रणाली को ही लें। शीत ऋतु में जठराग्नि में प्रबलता रहने से पाचन क्रिया तीव्र रहती है व उन दिनों पौष्टिक, भारी तथा चिकनाई युक्त आहारों का आसानी से पाचन हो जाता है। इसके विपरीत ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों की तेजी के कारण वस्तुओं और प्राणियों के जलीय तत्व शुष्क हो जाते हैं, जिससे मनुष्य की प्यास बढ़ जाने, बार-बार पानी पीने से जठराग्नि मंद पड़ जाती है व भूख भी घट जाती है। इसी प्रकार बसंत ऋतु में कफर्द्धक आहार शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। वर्षा ऋतु में कीट-पतंगों और संक्रामक रोगों के रोगाणुओं से अन्न, जल, वायु, दूध, सब्जियाँ, फल आदि सब विकार युक्त हो जाते हैं और आहार या दिनचर्या में थोड़ी सी लापरवाही से ही शरीर संक्रामक रोगों की चपेट में आ जाता है। इसलिए इन दिनों न केवल शरीर, आहार और पानी आदि की शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए, बल्कि अपनी त्वचा तक को स्वच्छ व शुष्क रखना चाहिए अन्यथा दाद, खाज, खुजली आदि त्वचा रोगों की संभावना रहती है। इस ऋतु में वात कुपित करने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, जैसे कि श्रावण मास में दूध, भाद्रपद में छाछ (दही) आदि का सेवन नहीं किया जाता है।

### ऋतुचर्या और मनुष्य का भोजन :

मानव शरीर की रचना छोटी-छोटी कोशिकाओं से मिलकर हुई है। इन कोशिकाओं में जो कुछ भी परिवर्तन गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक होते रहते हैं उन सबका एक मुख्य आधार आहार ही है, अर्थात् शरीर में जो कुछ भी घटता-बढ़ता है, वह सब आहार में मौजूद विभिन्न तत्वों पर निर्भर करता है। शरीर के विकसीत होने, पुरानी कोशिकाओं की मरम्मत, नई कोशिकाओं के निर्माण, रक्तादि उत्पादन, ऊर्जा आदि के लिए विभिन्न पोषक तत्वों जैसे शर्करा (कार्बोहाइड्रेट), प्रोटीन, वसा, लवण, विटामिन्स आदि विभिन्न पोषक तत्वों की जरूरत होती है इन सबकी पूर्ति व्यक्ति अपने आहार द्वारा करता है। लेकिन इन सभी पोषक तत्वों की पूर्ति किसी एक आहार से नहीं हो पाती, क्योंकि विभिन्न खाद्य पदार्थों में तो इन पोषक तत्वों की मात्रा पृथक-पृथक, कम या पर्याप्त होती है। कई पोषक तत्व बिलकुल भी नहीं होते या फिर बहुत कम मात्रा में होते हैं। इसी कारण मनुष्य अपने आहार में विभिन्न खाद्य पदार्थों का मिश्रण यथा पानी, दूध या दूध से बने पदार्थ, अनाज, सब्जियाँ, फल, माँस, मछली, अण्डे आदि लेता है जिससे कि इन समस्त पोषक तत्वों की पूर्ति शरीर को हो सके। मनुष्य द्वारा अपने आहार में लिए जाने वाले कुछ खाद्य पदार्थ इस प्रकार हैं-

### पानी

आहार का सबसे पहला और प्रमुख घटक है “पानी”। इसे संस्कृत में “जीवन” नाम दिया गया है। सामान्यतः दैनिक उपयोग के लिए यह पानी मनुष्य द्वारा विभिन्न स्रोतों जैसे सरोवर, झरना, नदी, सागर, कुंआ या जमीन आदि से प्राप्त किया जाता है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किये जाने वाले इस पानी के गुण धर्म पृथक-पृथक होते हैं, क्योंकि इनमें घुले विभिन्न रासायनिक लवणों की मात्रा तथा मौजूद जीवाणुओं की संख्या अलग-अलग होती है। इसी तरह इसका शरीर पर प्रभाव भी अलग-अलग होता है।

सामान्यतः हम सब भोजन के बाद पानी पीते हैं, परन्तु आयुर्वेद के आचार्यों के अनुसार भोजन के तुरंत बाद बहुत कम मात्रा में पानी पीना चाहिए। जबकि भोजन के 9-9<sup>1/2</sup> घंटे के बाद आवश्यकतानुसार पानी पिया जा सकता है। भोजन के तुरन्त बाद पानी पीने से स्थूलतत्व, आमाशय या शरीर के ऊपरी अंगों (सिर, नाक, कान, आँख) में कफ से सम्बन्धित व्याधियां होने की संभावना रहती है। आमाशय में अम्ल की सान्द्रता घटने से भोजन के पाचन में भी समस्या आ जाती है। और भोजन अधिक समय तक आमाशय में ही पड़ा रहता है।

भोजन से पहले पानी पीने से आमाशय के पाचक रसों की सान्द्रता कमजोर पड़ जाने से भूख अपने आप कम हो जाती है। इसी कारण मोटे व्यक्तियों की स्थूलता और वजन भोजन से पूर्व पानी पीने से घटने लगती है। जबकि भोजन के बीच में थोड़ा पानी पीने से आमाशय में भोजन पाचक रसों के साथ अच्छी तरह घुल मिल जाता है, जिससे आँत्र की पाचन क्रिया आसान हो जाती है।

ग्रीष्म ऋतु में खीरा, ककड़ी, खरबूजा, टमाटर आदि के ऊपर ज्यादा पानी पी लेने से जटिल समस्या उत्पन्न हो सकती है क्योंकि इन सभी में सैल्यूलोज की मात्रा अधिक रहती है, जिसका पाचन आमाशय में अम्ल की सहायता से जठर रस करते हैं पर इनक खाते ही पानी पी लेने से जठर रसों और अम्ल की सक्रियता घटने से इनका पाचन नहीं हो पाता। जैसे ही यह आगे आँत्र में अधपची अवस्था में प्रवेश करते हैं, जहाँ इनका पाचन संभव नहीं होता, इससे आँत्र इन्हें आगे या पीछे धकेलने का प्रयास शुरू कर देती है जिससे या तो दस्त लग जाते हैं या लगातार उल्टियां आनी शुरू हो जाती है और कई अन्य समस्याएं उठ खड़ी होती है।

रात्रि को सोने से पूर्व पानी पीने से न तो भोजन का ही और न पानी का ही पाचन ठीक प्रकार से हो पाता है जिससे शरीर में आर्द्रता बढ़ने लगती है। वैसे भी रात्रि को विश्राम की अवस्था में वृक्कों का मूत्र निर्माण का कार्य मन्द पड़ जाता है। इसी कारण जो लोग रात्रि में सोने से पूर्व पानी पीने की आदत रखते हैं उन्हें कमर दर्द या घुटनों का दर्द और सर्दी-जुकाम की शिकायत अक्सर बनी रहती है। एक साथ अधिक मात्रा में पानी पीने से सिर में तथा नाक के आसपास आर्द्रता में वृद्धि होने लगती है। दमे से ग्रस्त रोगियों को तो इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए, खास कर वर्षा ऋतु के मौसम में।

रात्रि के समय आवश्यकता के अनुसार पानी लिया जा सकता है लेकिन जबरदस्ती बिलकुल नहीं। सुबह उठकर पानी पीना स्वास्थ्य के लिए अच्छा रहता है। एक तो इससे मल त्याग ठीक प्रकार से हो जाता है, तो दूसरे आमाशय, आँत्र, गुर्दे, जनन तंत्र आदि की सफाई भी हो जाती है। लेकिन जब भी पानी पियें, एक बात का विशेष ध्यान रखें कि वह स्वच्छ और कीटाणु रहित हो क्योंकि भारत में पेयजल की बहुत बड़ी समस्या है, कम से कम वर्षा ऋतु में, जब इसमें सैकड़ों प्रकार के जीवाणुओं की संभावना रहती है। ऐसी स्थिति में सदैव पानी को उबाल कर ठंडा करके, छान कर पीना चाहिए।

## दूध

दूध को सुपाच्य और पूर्ण आहार की संज्ञा दी गई है लेकिन यह सभी उम्र के लोगों या सभी मनुष्यों के लिए कतई पूर्ण आहार सिद्ध नहीं होता। आयुर्वेद में उम्र के हिसाब से तीन हिस्से किये गये हैं। क्षीराद (इस उम्र में केवल दूध पीने का उपदेश है, जैसे छोटे शिशुओं को), क्षीरान्नाद (दूध के साथ अन्न देने का उपदेश है, जैसे बच्चों को) और तीसरा अन्नोद (इसमें दूध की निर्भरता नहीं रह अन्न के साथ दूध लिया जा सकता है, जैसे वयस्कों को) कुछ लोगों को दूध से एलर्जी होती

है या जिन्हें दूध बिलकुल हजम नहीं होता उनके लिए दूध निषेद्ध है। इस प्रकार के व्यक्ति दक्षिण भारत में काफी संख्या में हैं।

दूध छोटे शिशुओं के लिए तो कैल्शियम और प्रोटीन का एक प्रमुख स्रोत है। कैल्शियम की जरूरत मुख्यतः हड्डियों की वृद्धि और मजबूती के लिए आवश्यक होती है। जिन छोटे बच्चों की पाचन क्रिया ठीक नहीं रहती या जिन्हें आहार से पर्याप्त मात्रा में कैल्शियम नहीं मिल पाता उनकी वृद्धि रुक जाती है, हड्डियां कमजोर पड़ कर टेढ़ी हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त कैल्शियम की आवश्यकता हृदय कार्य को सामान्य रखने तथा तन्त्रिका संवेदन के लिए रहती है।

दूध में उपस्थिति प्रोटीन, कैसीन, लेक्ट एलब्यूमिन, कई एमीनो एसिड, लेम्पेज शर्करा आदि मस्तिष्कीय विकास में सहायता करते हैं। इनके अतिरिक्त दूध में मौजूद २१ अति सक्रिय एन्जाइम, जिनमें कुछ प्रमुख हैं- कार्बोनिक एनहाइड्रेज , एसिड फोस्फेटेज, एल्का अमाइलेज, एल्केलाइन फास्फेटेज आदि अनेक कार्बनिक-अकार्बनिक यौगिकों को खण्डित करने की क्षमता रखते हैं। जबकि इसका एक विशेष प्रोटीन अंश संक्रामक रोगों से बच्चों की रक्षा करता है। दूध का बाइफिडस फेक्टर लेप्टो पेसिलियस नामक बच्चों के पेट में मौजूद जीवाणु को नष्ट करने की क्षमता रखता है।

इसके विपरीत आयुर्वेदिक आचार्यों ने दूध सेवन के लिए कुछ नियम निर्धारित किये हैं। उनका मानना है कि नियमित रूप से दूध का सेवन करते रहने से जख्मों को भरने में अधिक समय लगता है व कफ की वृद्धि होती है। वर्षा ऋतु में घास आदि के साथ विभिन्न जीवाणु पशुओं के पेट में पहुँच कर दूध को संक्रमित कर सकते हैं। इसलिए इस ऋतु में दूध का सेवन भी कम मात्रा में कभी-कभी ही करना चाहिए , क्योंकि ये सेवन से भारी और पाचन क्रिया के लिए कठिन होती है।

यों तो दूध से निर्मित दही में दूध की अपेक्षा अधिक पौष्टिक गुण होते हैं परन्तु आयुर्वेदिक विद्वानों का मानना है कि दही की तासीर ठंडी नहीं उष्ण (गर्म) है। इसी कारण ग्रीष्म ऋतु में दही का सेवन कम मात्रा में करना चाहिए । अन्यथा इस ऋतु में अधिक दही खाने वालों को प्रायः उष्णजन्य विकार जैसे - फोड़े, फुन्सी, जुकाम आदि होने लगते हैं। पाचन क्रिया भी अस्त-व्यस्त हो सकती है। रात्रि को भोजन में (गर्मियों के मौसम में) उष्ण पदार्थों के साथ दही नहीं खाना चाहिए अथवा जब भी दही खाना हो साथ में मूंग की दाल, शहद, घी, चीनी, आँवला आदि खाना चाहिए ।

### **अन्न, फल और सब्जियाँ :**

आहार का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण घटक है - अन्न (गेहूँ, जौ, चना, बाजरा, दालें आदि), फल और सब्जियाँ । आहार के रूप में ये मनुष्य शरीर के लिए आवश्यक लगभग समस्त पोषक तत्वों की पूर्ति करते हैं। बहुत सारे लोग इन्हीं पोषक तत्वों की पूर्ति के लिए माँसाहार (माँस, मछली, अण्डे आदि) का सेवन करते हैं, परन्तु माँसाहार की तुलना में शाकाहार ज्यादा प्राकृतिक, शरीर के अनुकूल तथा श्रेष्ठ है। माँसाहार के सेवन से अनेक व्याधियों के अलावा मनुष्य का स्वभाव क्रोधी हो जाता है, पाचन प्रक्रिया भी गड़बड़ा जाती है। शरीर में सुस्ती बनी रहती है तथा ऐसे लोग जल्दी ही कई संक्रामक व दूसरे रोगों के शिकार बन जाते हैं।

अनाज (गेहूँ, जौ, चना आदि) के ये पोषक तत्व बने रहें इसलिए अनाजों को न तो छिलका रहित बनाना चाहिए और न ही अत्यंत बारीक पीसना चाहिए । आटे को छान कर चोकर को भी नहीं फैंकना चाहिए क्योंकि इस चोकर में बहुत सारे पोषक तत्व मौजूद रहते हैं। साथ ही यह भोजन को पचाने में पाचक रसों की सहायता भी करता है। अनेक वैज्ञानिक विश्लेषणों से ज्ञात हुआ है कि अन्य पोषक तत्वों के अतिरिक्त आधा किलो चोकर में सिर्फ पोटेशियम की मात्रा ही ११८ ग्रेन के लगभग होती है जबकि छने हुये आटे में पोटेशियम की मात्रा ३७ ग्रेन तथा उनके मैदे में केवल १० ग्रेन ही रह जाती है। यह पोटेशियम हृदय गति को ठीक करके समस्त शारीरिक अवयवों को पुष्ट बनाता है जबकि इसकी कमी से नासूर, दाँतों में खोखलापन अथवा उनका शीघ्र मिट जाना, पाचन प्रक्रिया का बिगड़ जाना आदि समस्याएं हो सकती हैं। पोटेशियम के साथ ही चोकर में नाइट्रोजन, कैल्शियम, सेलेनियम और कई विटामिन्स तथा एमीनो एसिड काफी मात्रा में पाये जाते हैं और यह शरीर के लिए बहुत आवश्यक है। अगर किसी में पोटेशियम की कमी हो तो उसके आटे में ७ वां हिस्सा चोकर और मिला



देने से उसकी पूर्ति हो जाती है। कब्ज व अन्य रोगों में आराम आ जाता है। अब तो कई चिकित्सक चोकर की चाय बनाकर पीने की सलाह भी जुकाम, खांसी आदि रोग में देते हैं। इससे आश्चर्यजनक लाभ होता देखा गया है।

यह अनाज शर्करा, प्रोटीन, खनिज लवणों के अतिरिक्त विटामिन्स के भी अच्छे भण्डार होते हैं। अगर अनाजों (गेहूँ, चना, ज्वार, मूँग आदि) को अंकुरित करके खाया जाए, विशेषकर प्रातःकाल नाश्ते के समय, तो उनके पोषक गुणों में और वृद्धि हो जाती है जैसे कि विटामिन 'सी' और 'ई' सूखे अनाजों में बहुत अल्प मात्रा में होते हैं किन्तु अंकुरित किये जाने पर इनकी मात्रा २०-२० गुना बढ़ जाती है।

यह विटामिन भी शरीर के लिए अत्यंत आवश्यक सारभूत तत्व है। विटामिनों का एक बहुत बड़ा समूह है परन्तु उनमें से कुछ मुख्य हैं - विटामिन 'ए', 'बी' समूह, 'सी', 'डी', 'ई' आदि। शरीर को इन विटामिनों की पूर्ति फलों, हरी सब्जियों आदि से भी प्रचुर मात्रा में होती है।

विटामिन 'ए' आँखों, शरीर के जीर्णोद्धार, त्वचा के संक्रमण रोगों से बचाव के लिए आवश्यक है। आहार में इसकी कमी से व्यक्ति को छूत के रोगों यथा निमोनिया, आँव, पेचिश, क्षय आदि की संभावना अक्सर बनी रहती है। शरीर का विकास भी रुक जाता है। आँखों की ज्योति नष्ट होने लगती है। इस विटामिन के मुख्य स्रोत हैं- दूध, दही, मक्खन, घी, हरी साग-सब्जियाँ, मेथी, मूली आदि। विटामिन 'बी' समूह के घटक मस्तिष्क, वात तन्तु, हृदय, यकृत, पाचन ग्रन्थियों, आँत्र, मॉसपेशियों, गुर्दे आदि को निरोगी बनाए रखने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। इनकी कमी से अनिद्रा, रक्ताल्पता, मस्तिष्क व हृदय आदि की कमजोरी, मंदाग्नि, अजीर्ण आदि रोग होने की संभावना रहती है। भोजन का पाचन भी भलीभाँति नहीं हो पाता है, दस्त लगे रहते हैं तथा गुर्दे में भी विकार हो सकते हैं। विटामिन 'बी' समूह के प्रमुख स्रोत हैं- छिलके युक्त अनाज, उड़द, मूँग, मसूर, मटर, चना, सोयाबीन आदि।

विटामिन 'सी' भी शरीर के लिए बहुत आवश्यक है। यह रक्त को बढ़ाने वाला तथा नसों में रक्त को रिसने नहीं देता। हड्डियों और दाँतों को बनाने में भी मदद करता है। शरीर की रोगों से रक्षा करता है। आँतों को स्वस्थ व बलवान बनाता है। इसकी कमी से उत्पन्न स्क्र्वी रोग के कारण मसूढ़ें फूल जाते हैं, दाँत खराब होकर गिर जाते हैं। रक्त की कमी, मन्दाग्नि आदि रोग भी हो जाते हैं। इस विटामिन के प्रमुख स्रोत हैं- आँवला, संतरा, अनार, नींबू, नाशपाती, गाजर, शलजम, धनिया, पालक, सलाद आदि। इसी तरह अन्य विटामिन्स की शरीर के लिए उपयोगिता को समझा जा सकता है।

### उदर रोगों से बचाव के प्रमुख उपाय

निम्नलिखित कुछ साधारण से नियमों का पालन करते हुए प्रायः पेट सम्बन्धी अधिकांश रोगों से बचा सकता है-

- रात्रि को समय पर सोयें और प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में उठ जायें।
- प्रातःकाल खाली पेट २-३ गिलास पानी पीने की आदत डालें। इससे मल खुलकर आता है, आँतों की सफाई हो जाती है व शरीर के समस्त दूषित पदार्थ मल-मूत्र के साथ बाहर निकल जाते हैं।
- प्रातः काल नियमित रूप से खुले तथा स्वच्छ वातावरण में टहलें। इससे फेफड़ों को शुद्ध हवा और शरीर को स्फूर्ति प्राप्त होती है।
- आहार से पूर्व विशेषकर नाश्ते से पहले यदि संभव हो तो सैन्धव नमक तथा अदरक की बनी चटनी खायी जाए तो इससे अग्नि प्रदीप्त होती है।
- आहार में रेशेदार हरी सब्जियों को ज्यादा शामिल करें क्योंकि इनसे एक तो पाचन क्रिया सुगम होती है, तो दूसरा कब्ज की शिकायत नहीं रहती, तीसरे शरीर को अनेक आवश्यक पोषक तत्व भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं जैसे पालक से लौह, पत्ता गोभी से केरोटिन, भिण्डी से मैग्नीशियम, केले से सेरोटिन नामक तत्व, टमाटर, गाजर, चुकन्दर तरबूज आदि लाल फलों से रक्त निर्माण के लिए आवश्यक तत्व। हरी साग - सब्जियाँ क्षारवर्द्धक पदार्थ हैं। अतः इनकी मात्रा जितनी अधिक होगी, शरीर का क्षारत्व उतनी ही तेजी से बढ़ेगा अर्थात् शरीर की निरोग रहने की सामर्थ्य उतनी ही अधिक बढ़ेगी। कारण हमारे रक्त का गुण भी क्षारत्व प्रधान है और जैसे-जैसे रक्त में क्षारतत्व घटता है, शरीर विभिन्न रोगों का शिकार बनता जाता है।

- प्रातःकाल नाश्ते में यदि संभव हो तो अंकुरित चने, गेहूँ, दालों का प्रयोग किया जाये या फिर पहले मौसम के एक-दो फल खाकर एक गिलास ठंडा किया दूध पिया जाये क्योंकि ये सभी बलवर्द्धक, रक्तवर्द्धक, अजीर्ण व कब्ज को नष्ट करने वाले तथा शरीर के लिए आवश्यक लगभग सभी तत्वों की पूर्ति करने वाले हैं।
- आहार सुपाच्य, सात्विक, ताजा व स्वच्छ हो जिससे पाचन में सुगमता बनी रहे तथा आहार में मौजूद सभी पोषक तत्व भी शरीर में शोषित होकर उपयोग में आ सकें।
- जितनी भूख हो उससे थोड़ा कम ही भोजन करें जिससे पाचन तंत्र पर अतिरिक्त दबाव न बने। यथासंभव दिन में तीन बार (प्रातःकाल, दोपहर व सांयकाल) भोजन करें। सांयकालीन भोजन रात्रि में सोने से कम से कम एक घंटे पहले कर लेना चाहिए। प्रत्येक भोजन के मध्य एक निश्चित समय अन्तराल (लगभग ५ से ६ घंटे) अवश्य बनाये रखें जिससे पाचक अंगों, विशेषकर पाचक रसों का निर्माण करने वाली ग्रन्थियों को थोड़ा विश्राम करने का अवसर मिल सके ताकि वे अपनी क्षतिपूर्ति और व्यय ऊर्जा की पूर्ति कर सकें। हो सके तो सप्ताह में एक दिन उपवास का निश्चित कर लें, जिससे पाचक अंगों को पूर्ण विश्वास करने का समय मिल सकें और वे अपनी नष्ट व क्षतिग्रस्त कोशिकाओं की मरम्मत कर सकें। उपवास के दिन यदि आवश्यक हो तो पानी, नमक, नींबू युक्त रस या फलों का रस एक-दो बार लिया जा सकता है।
- मिर्च-मसाले तथा अधिक वसायुक्त आहार का परित्याग कर दें अथवा कम कर दें। साथ ही भोजन को मन लगाकर और अच्छी तरह चबा-चबा कर खायें, जिससे आमाशय में पाचक रसों का स्त्राव पर्याप्त मात्रा में हो सके और वे आहार के साथ अच्छी तरह मिल सकें। आहार के रूप में माँसाहार का त्याग श्रेयस्कृत है। जो ऐसा पूर्ण रूप से नहीं कर सकते वे माँसाहार का सेवन कभी-कभी कर सकते हैं। यद्यपि तली-भुनी चीजें, माँस, मछली, अंडे आदि सभी अम्लवर्द्धक खाद्य हैं। इनसे रोगों की वृद्धि होती है जबकि मिर्च-मसाले प्रदाह काकर हैं।
- आहार काल के मध्य में चाय, कॉफी, चॉकलेट आदि का जहाँ तक संभव हो सेवन न करें।
- दोपहर के भोजन के बाद थोड़ा आराम करने तथा सांयकालीन भोजन के बाद थोड़ा टहलने से उनके पाचन में मदद मिलती है।
- शरीर की सामर्थ्य अनुसार थोड़ा शारीरिक परिश्रम व योगाभ्यास भी नियमित रूप से अवश्य करना चाहिए इससे आन्तरिक अंगों में रक्त संचार की गति तीव्र होती है और उनकी कार्य प्रणाली सुधरती है।
- जहाँ तक संभव हो शराब, सिगरेट आदि नशीले पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए।
- पीने में सदैव स्वच्छ और कीटाणुरहित पानी ही प्रयोग में लाना चाहिए। यदि पानी को लेकर कोई सन्देह हो तो पहले उसे उबाल कर ठंडा करके निथार लें और फिर छान कर उपयोग में लायें।
- रात्रि के समय एक गिलास मीठे दूध में १/२ अंजीर के टुकड़े-टुकड़े करके डालकर उबाल लें और सोने से पूर्व उन्हें चबा-चबा कर खा लें तथा ऊपर से उस गुनगुने दूध को पी लें। इससे पेट सम्बन्धी समस्त रोग ठीक हो जाते हैं। ज्यादा नहीं तो सप्ताह में दो दिन इसे अवश्य प्रयोग करें। जबकि सर्दियों के मौसम में दूध में २-३ छुहारे खाकर ऊपर से गुनगुने दूध को पी लें। चाहें तो दूध में १-२ चम्मच शुद्ध शहद भी डाल लें। यह भी पेट व पाचन तंत्र को ठीक रखने के साथ-साथ अत्यंत बलवर्द्धक है।

## कब्ज

### (CONSTIPATION)

आयुर्वेद और अन्य प्राकृतिक चिकित्सा प्रणालियों की अति प्राचीन काल से ही यह मान्यता रही है कि शरीर में जितने भी रोग उत्पन्न होते हैं उन सब की जड़ में यह 'कब्ज' ही रहती है। वैसे भी पुराने कब्ज के रोगियों में सामान्यतः बवासीर, फिशर, रक्ताल्पता, कमर दर्द, वृषणों में दर्द, सन्धि शोथ आदि लक्षण पाये ही जाते हैं। अब तो आयुर्वेद की इस मान्यता को आधुनिक चिकित्सा के वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं। आस्ट्रेलिया के कुछ वैज्ञानिकों ने अपने शोध निष्कर्षों में यह बात स्वीकार की है कि कब्ज की स्थिति में जब मल अन्तड़ियों में फंसा हुआ आँत्र में मौजूद कुछ विशेष प्रकार के जीवाणुओं द्वारा विघटित किया जाता है तब उससे कई प्रकार के हानिकारक टॉक्सिक पदार्थ पैदा होने लग जाते हैं जो आँत्र की दीवारों में छाले उत्पन्न कर देते हैं, जो धीरे-धीरे कैंसर का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

### कब्ज है क्या ?

अधिकतर लोग दिन भर में (२४ घंटे में) केवल एक बार मल त्याग के लिए जाते हैं, कुछ लोग दिन में २ या ३ बार भी शौच के लिए जाते हैं। इनके विपरीत कुछ ऐसे लोग भी हैं जो ४८ घंटे अथवा दो दिन बाद या फिर पूरे सप्ताह में केवल २ या ३ बार ही मल त्याग करते हैं और इस सबके बावजूद पूर्णतः स्वस्थ रहते हैं। यद्यपि भारत में अधिकांश लोग ऐसे हैं जो २४ घंटे में एक बार शौच न आने पर परेशान हो उठते हैं, अतः सभी लोगों को एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि 'कब्ज' का तात्पर्य मल त्याग की आवृत्ति से न होकर मल की प्रवृत्ति से है।

यदि मल अत्यंत शुष्क, कठोर और कठिनाई के साथ कम मात्रा में आये, पेट का निचला भाग सख्त व भारी प्रतीत हो, पेट में धीमा-धीमा दर्द रहने लगे, मल त्याग के लिए बार-बार किसी न किसी विरेचक औषधि का सहारा लेना पड़े मल फीते के समान चपटा या सख्त-गांठों के रूप में आये तथा गुदा द्वार से गैस तक निकलने में कठिनाई महसूस हो, तब ही इन्हें 'कब्ज' रोग का लक्षण माना जाये मल की मात्रा आहार के प्रकार तथा उसकी मात्रा के अनुसार कम या अधिक होती रहती है। वैसे सामान्यतः २४ घंटे में आने वाले एक या दोनों समय के मल की मात्रा ६० से १२० ग्राम के लगभग रहती है किन्तु यदि व्यक्ति के पाचन संस्थान में भोजन पूरी तरह पचा न हो अथवा आहार में रेशे का अंश अधिक हो तब मल की मात्रा में थोड़ी वृद्धि हो जाती है। इसी तरह अग्न्याशय के कई रोगों के कारण आहार का पूरी तरह से पाचन न हो पाने पर भी मल की मात्रा बढ़ जाती है। इसके विपरीत माँसाहारी , परिष्कृत, परिशोधित तथा डिब्बा बंद आहार का अधिक सेवन करने वाले व्यक्तियों में मल की मात्रा घट जाती है।

एक स्वस्थ मनुष्य के मल में थोड़ी बहुत गंध ही पायी जाती है, किन्तु कब्ज की अवस्था में प्रोटीन वाले आहार के अन्तड़ियों में सड़ने से मल में तीव्र गंध उत्पन्न हो जाती है। निशास्ता वाले आहार का अधिक सेवन करने व उसके सड़ने से खट्टी सी गंध आने लग जाती है। वैसे जो लोग माँस, मछली, अण्डे आदि का अधिक सेवन करते हैं, उनके मल से भी तीव्र प्रकार की गंध आने लगती है। यदि मन से तीव्र प्रकार की दुर्गन्ध आने लग जाय तो यह पाचन दोष व कब्ज रोग का एक प्रमुख कारण है।

चूँकि अधिकतर भारतीयों के सामान्य आहार में सब्जियों, दालों, अनाजों आदि का हिस्सा अधिक रहता है तथा दूध, माँस, मछली, अण्डे आदि का कम (पश्चिमी लोगों की तरह), अतः इस प्रकार के आहार में रेशे तथा न पचने योग्य पदार्थों की मात्रा अधिक रहती है जिससे पाचन के उपरांत आहार का काफी अंश बिना पचे मल रूप में शेष रह जाता है। इसलिए अधिकांश लोगों को दिन में कम से कम एक या दो बार तो अवश्य ही मल त्याग के लिए जाना पड़ता है। इसके विपरीत ऐसे लोग जिनके आहारों में रेशे युक्त आहार की मात्रा कम तथा रेशेहीन माँस, मछली, शराब, अण्डे, दूध आदि की मात्रा अधिक रहती है, उनमें पाचन के पश्चात मल के रूप में शेष भाग बहुत ही अल्प मात्रा में बचता है, जिससे उन्हें २४ से ४८ घंटों में केवल एक बार ही मल त्याग की आवश्यकता रहती है।

वास्तव में देखा जाये तो 'कब्ज' आधुनिक उच्च वैज्ञानिक सभ्यता की देन है, क्योंकि इसके पीछे प्रमुख कारण है परिष्कृत व रेशे रहित आहार, विकृत विहार एवं दमित तथा विकृत चिन्तन। इन्हीं कारणों से आज कुल जनसंख्या में से ६०

प्रतिशत लोग कम या अधिक रूप में इस रोग के शिकार हैं तथा प्रतिदिन ही किसी न किसी विरेचक औषधि का सहारा मल त्याग के लिए लेने के अभ्यस्त बन चुके हैं। जिस प्रकार अजीर्ण, अपच आदि रोग अपर पाचन संस्थान (आमाशय, ग्रहणी, मध्यांत्र) में पाचक रसों के कम मात्रा में उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न होते हैं, उसी तरह कब्ज, निम्न आंत्र संस्थान (वृहद आंत्र) से सम्बन्धित रोग है, जो वृहद आंत्र की निष्क्रियता कम मात्रा में मल का निर्माण या आहार में तरह के अभाव आदि के कारण उत्पन्न होती है। अतः यदि-

१. निश्चिन्त समय पर मल का त्याग न होना अपितु शौच क्रिया में देरी होना,
२. मल की मात्रा सामान्य से कम, वह अत्यंत शुष्क व कठोर हो, इसके साथ पेट में भारीपन महसूस हो,
३. यदि मल कठिनाई के साथ निकले तथा मल त्याग के लिए जोर लगाना पड़े।

उपरोक्त तीन अवस्थाओं में से कोई अवस्था रोगी में मौजूद हो तो उसे कब्ज मलबन्ध, कोष्ठबद्धता या कोन्स्टीपेशन मान जाये।

### कब्ज के प्रमुख कारण

आहार में रेशेयुक्त खाद्य पदार्थों का अभाव जैसे हरी साग-सब्जियाँ, फल आदि परष्कृत, परिशोधित, संश्लिष्ट फास्टफूड तथा डिब्बा बंद आहार का अधिक सेवन जैसे ब्रेड, बिस्कुट, केक, चॉकलेट, जेम आदि, चाय, कॉफी, माँस, मछली अण्डे, दूध, शराब का अधिक मात्रा में बार-बार सेवन, चोकर रहित, अत्यंत बारीक पिसे आटे की रोटियाँ, मैदा, बेसन का अधिक सेवन, पालिश वाले चावलों का सेवन, आहार में मिर्च-मसाले तथा वसा का अधिक मिश्रण तथा आहार में तरल (पानी) का अभाव आदि ऐसे प्रमुख कारण हैं, जो कब्ज रोग को जन्म देते हैं। इनके अतिरिक्त आँतों में पुरःसरण गति का कमजोर पड़ जाना, आमाशय व यकृत से सम्बन्धित रोग, स्नायु दुर्बलता, संक्रामक ज्वर आदि, रक्ताल्पता, वृद्धावस्था में आँतों तथा मलाशय की माँसपेशियों का कमजोर पड़ जाना, शोथ या सूजन के कारण वृहद आंत्र में ऐंठन उत्पन्न हो जाना, अत्यधिक तनाव भरा जीवन जीना, बार-बार मृदु विरेचक औषधियों का सेवन करते रहना, कम परिश्रम व एक ही स्थान पर अधिक समय तक बैठे रहना आदि कुछ अन्य कब्ज के कारण हैं। थॉयरायड और पिट्यूटरी ग्रन्थि के विकार, मधुमेह, उच्चरक्तचाप व अन्य हृदय रोगी तथा अवसाद आदि में उपयोग की जाने वाली विभिन्न औषधियाँ, आँतों में पाचक रस का स्त्राव कम, पित्त की कम मात्रा, त्वचा, गुर्दों एवं वमन में अधिक मात्रा में पानी का निकल जाना, बार-बार अधिक मात्रा में खाते रहना, पाचक एन्जाइमों का अभाव, धूम्रपान, अफीम तथा अन्य मादक पदार्थों का सेवन करते रहना आदि अन्य ऐसे कारण हैं जो कब्ज का कारण सिद्ध होते हैं।

### आंत्र संस्थान की संरचना :

मनुष्य के सम्पूर्ण आहार नाल की लंबाई ६ मीटर के लगभग होती है। यह मुँह से प्रारंभ होकर गुदा द्वार पर समाप्त होती है। इसके मुँह, गला, ग्रासनलिका, अन्न नलिका, आमाशय, छोटी आंत्र, बड़ी आंत्र, मलाशय तथा गुदा आदि प्रमुख भाग होते हैं। इसमें आमाशय की लंबाई लगभग ३० से.मी., छोटी आंत्र की ६६० से.मी. (२२ फीट) के लगभग तथा बड़ी आंत्र १५० से.मी. (५ फीट) के लगभग रहती है।

आमाशय का आकार अन्न नलिका (इसोफेगस) के अंत से लेकर छोटी आंत्र के आरंभ, ड्यूडेनल (ग्रहणी) तक फैला रहता है, इसलिए इसके दो मुँह होते हैं, एक ऊपर वाला जो अन्न नलिका में खुलता है और दूसरा, जो नीचे ग्रहणी में खुलता है। इस द्वार पर एक कपाट होता है जिसे जठर निर्गम कहते हैं। यह केवल अधपचे तरल आहार को ही आमाशय से छोटी आंत्र में प्रवेश करने देता है। आमाशय में आहार का पाचन सामान्यतः ३ से ५ घंटे के मध्य सम्पन्न हो जाता है।

छोटी आंत्र तीन भागों में विभाजित रहती है, ग्रहणी (ड्यूडेनम), मध्यांत्र (जेजुनम) और शेषांत्र (इलियम)। ग्रहणी छोटी आंत्र का सबसे चौड़ा भाग है, जिसकी लंबाई २२.५ से.मी. के लगभग रहती है। छोटी आंत्र के इस प्रथम भाग में ही पित्त प्रणाली तथा अग्न्याशय प्रणाली आकर खुलती है जिनके द्वारा पित्त और अग्न्याशय का तरल आकर भोजन में मिलता रहता है। आहार के पाचन का अधिकांश कार्य ग्रहणी में ही सम्पन्न होता है।

मध्यांत्र नामक भाग ग्रहणी से शुरू होकर शेषांत्र तक फैला रहता है। इसकी लंबाई २२५ से २७५ से.मी. के लगभग रहती है। यह ग्रहणी से पतला तथा शेषांत्र से मोटा भाग है जो अधिकांशतः नाभि के चारों ओर ही स्थित रहता है। वास्तव में मध्यांत्र और शेषांत्र के मिलने का स्थान निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता, इसलिए इन दोनों की लंबाई २/५ भाग मध्यांत्र एवं ३/५ भाग शेषांत्र के रूप में मान लिया जाता है। यह मध्यांत्रावरण (मेसेन्टरी) से पेट की पिछली दीवार के साथ चिपकी रहती है जिसके कारण यह स्वतंत्रता से गति कर सकती है। छोटी आंत्र में, विशेषकर मध्यांत्र तथा शेषांत्र में विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियां और मलमल के तन्तुओं की भांति उभार के अंकुल (विली) सदृश संरचनाएँ पायी जाती हैं जिनमें से प्रत्येक तन्तु में एक छोटी शोषक नली रहती है, जिसके द्वारा शोषक आहार थोरेसिक डक्ट में पहुँचता रहता है। छोटी आंत्र अपनी विस्तृत लंबाई के कारण आहार के पाचन तथा अवशोषण के लिए पर्याप्त समय तथा क्षेत्रफल उपलब्ध कराती है। छोटी आंत्र में आहार के पाचन तथा अवशोषण का कार्य लगभग ११ से १३ घंटों के मध्य सम्पन्न हो जाता है।

शेषांत्र से लेकर गुदा नलिका तक का भाग वृहद या बड़ी आंत्र कहलाता है। यह छोटी आंत्र की तुलना में मोटी तथा झालर की तरह की होती है। इसकी चौड़ाई २-३ से.मी. व्यास के लगभग तक रहती है। बड़ी आंत्र में अंकुरिकाओं (विली) आदि का पूर्ण अभाव रहता है, इसलिए यह केवल मल के जलीय अंश का शोषण तथा थोड़ी बहुत मात्रा में खनिज तत्वों का अवशोषण ही कर पाती है जबकि इसका मुख्य कार्य है मल को मलाशय की तरफ धकेल कर वहाँ उसका संचय करना। बड़ी आंत्र के छः प्रमुख भाग होते हैं- उण्डुक (सीकम), अवरोही वृहदांत्र (एसेण्डिस कोलन), अनुप्रस्थ वृहदांत्र (ट्रांसवर्स कोलन), आरोही वृहदांत्र (डिसेण्डिंग कोलन), कुण्डलिका (सिगम्बाइड फ्लेक्सर) और गुदा नलिका (रेक्टम)।

बड़ी आंत्र का प्रारम्भिक भाग है उण्डुक, जो ५ से.मी. चौड़ी थैली के आकार की रचना है। इसका प्रवेश द्वार संदेश कपाटिकाओं (इलिया-कोकल वाल्व) से संयुक्त रहता है। ये कपाटिकाएँ मल को विपरीत दिशा में जाने से रोकती हैं। उण्डुक के नीचे में शरनलिका के आकार वाली ५ से.मी. लंबी एक पतली नलिका जुड़ी रहती है जिसे उण्डुक पुच्छ या आंत्रपुच्छ (एपेण्डिक्स) कहा जाता है। यह गर्भस्थ शिशु की आंत्र के बनने से बचा हुआ निष्क्रिय भाग है।

उण्डुक से प्रारंभ होकर सबसे मोटी बड़ी आंत्र का यह भाग ऊपर की ओर चढ़ता है, इसलिए आरोही वृहदांत्र कहलाता है। यह यकृत के नीचे तल तक पहुँच कर, फिर टेढ़ी होकर आड़ी हो जाती है और वृहदांत्र के अनुप्रस्थ भाग से संयुक्त होकर प्लीहा की ओर बढ़ती है। जब वृहदांत्र का यह भाग प्लीहा के नीचे तल से होता हुआ नाभि के ऊपर आमाशय के नीचे तल के साथ-साथ धनुष के समान कुछ टेढ़ा सा हो जाता है तब अनुप्रस्थ वृहदांत्र कहलाता है। अवरोही वृहदांत्र का नीचे उतरने वाला अंश अनुप्रस्थ वृहदांत्र के प्लीहा के तलस्थ भाग से आरंभ होकर नाभि से गुजरकर झुककर नीचे की ओर बायें कटिपार्श्विक क्षेत्र में उतरता है। का शेष भाग जो कुण्डल के आकार का सा होता है, कुण्डलिका कहलाता है। यह नीचे गुदा नलिका से जुड़ा रहता है।

मलाशय का गुदा नलिका, आंत्र का अन्तिम भाग है जो २२ से.मी. के लगभग लंबा होता है। इसके सामने पुरुषों में मूत्राशय एवं स्त्रियों में गर्भाशय और योनि स्थित होते हैं। मलाशय के अंदर अनुप्रस्थ रूप में स्थित झिल्लियों से आच्छादित माँस तन्तुओं से निर्मित लगभग चक्राकार ३-४ वलियाँ होती हैं जो गुदा के संकुचित होने पर मल को रोकने में सहायता करती हैं। ये गुदा द्वार के विस्फारण से रास्ते के खुल जाने पर मल को त्यागती हैं। कूथन (प्रवहन) की क्रिया उदरीय पेशियों और उत्तर मलाशय के संकोचन से तथा पायुधारिणी पेशी के शिथिल हो जाने से सम्पादित होती है। मल विसर्जन का कार्य मलाशय के क्रमशः नीचे, नीचे संकुचित होने से होती है। गुदा द्वार का संवरण गुदा संकोचनी नामक दो पेशियों के संकुचन तथा पायुधारिणी द्वारा गुदा, द्वार के खिंचाव से होता है। गुद भ्रंश रोग में यह संकुचन शक्ति शिथिल पड़ जाने से गुदा द्वार कूथन के बाद पर्याप्त मल विसर्जन के पश्चात् बाहर ही निकला रह जाता है और बड़ी मुश्किल से अंदर जा पाता है।

इसके विपरीत जब मलाशय के चारों ओर रहने वाले शिराचक्र के अधिक मात्रा में रक्त से भर जाने पर नीचे स्थित शिरामुख फैल जाते हैं जिसके कारण पहले तेज दर्द और फिर शिराओं के फट जाने पर रक्तस्राव शुरू हो जाता है। ये शिरामुख ही खूनी बवासीर के उद्भव स्रोत हैं, लेकिन गुदा द्वार के चारों ओर स्थित त्वचा और श्लेष्मिक कला से निर्मित बारीक वलियों के शिथिल पड़ जाने से बादी बवासीर के लक्षण प्रकट होते हैं।

## मल का निर्माण:

जब मल शेषाँत्र से वृहदाँत्र के कपाट (इलियो कोलिक वाल्व) से होकर उण्डुक में प्रवेश करता है, उस समय वह जल का अंश अधिक होने से पतला होता है। यद्यपि उस समय तक उसका काफी पानी छोटी आँत्र में अवशोषित हो चुका होता है। वृहदाँत्र में भी जल के अवशोषण का कार्य तब तक चलता रहता है जब तक कि वह अर्द्ध ठोस रूप नहीं ले लेता। वृहदाँत्र की दीवारों में मौजूद रक्त कोशिकाएं जल के अतिरिक्त कुछ खनिज तत्वों तथा कुछ औषधियों का भी कुछ हद तक अवशोषण कर लेती हैं। बड़ी आँत्र का आरोही भाग, एक खड़ी बोतल के समान रचना होती है, इसीलिए इसमें जल की काफी समय तक भरा पड़ा रहता है, यही कारण है कि जल का काफी अंश इस भाग में अवशोषित हो जाता है।

पोषक नाल के अन्य भागों के समान वृहदाँत्र में पुरःसरण गति नहीं होती किन्तु पर्याप्त लंबे समयान्तराल के बाद अनुप्रस्थ वृहदाँत्र में पुरःसरण की एक तीव्र तरंग सी आती है, जो अनुप्रस्थ वृहदाँत्र में मौजूद मल को अवरोही तथा श्रोणि वृहदाँत्र की तरफ धकेल देती है। इस क्रिया को सामूहिक गति कहा जाता है। प्रायः इस प्रकार की सामूहिक गति आमाशय में भोजन के प्रवेश करने के उपरांत, जठर वृहदाँत्र प्रतिवर्त (गेस्ट्रो-कोलिक रिफ्लेक्स) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। सामान्यतः मलाशय खाली पड़ा रहता है। किन्तु यह सामूहिक गति कुण्डलिका (श्रोणि) वृहदाँत्र के मल को मलाशय में धकेल देती है। मल के मलाशय में प्रवेश करते ही मलाशय की तंत्रिका तंत्र उद्दीप्त हो उठते हैं जिससे मल त्याग की इच्छा उत्पन्न होती है। बच्चों में मल त्याग करने की क्रिया तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित नहीं होती, क्योंकि उस समय तक उनकी गुदा की तंत्रिकाओं का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता है। बच्चों की मल विसर्जन की क्रिया, प्रतिवर्त क्रिया के अधीन रहती है। इसी कारण बच्चों को प्रवाहिका रोग में अफीम के योग नहीं खिलाने चाहिए वरना उन्हें मलावरोध या विबन्ध हो सकता है। अफीम के योगों से उत्पन्न कब्ज में ग्लिसरीन बत्ती का ही गुदा नलिका में प्रवेश कराना चाहिए।

अन्तड़ियों में किसी कारण से रुकावट आ जाने के से यथा अनुचित, शुष्क, देर से पचले वाले आहार के सेवन करने से, व्यायाम न करने अथवा कम चलने-फिरने से व शारीरिक श्रम के अभाव एवं अन्य कारणों से जब मल बड़ी अंतड़ियों में आगे नहीं बढ़ पाता है, तो वृहदाँत्र की दीवारें मल से जल को अधिक मात्रा में चूस लेती हैं, जिससे मल बहुत शुष्क हो जाता है तथा उसके सुदृढ़ से बन जाते हैं। इसी प्रकार आहार में रेशे की कम मात्रा रहने से पाचन के पश्चात मल का बहुत कम भाग शेष बचता है जो बड़ी आँत्र में बड़ी धीमी गति से आगे बढ़ पाता है और यह भी अत्यंत शुष्क हो जाता है। साथ ही यह मलाशय को भी पूरी तरह मल त्याग के लिए उद्दीप्त नहीं कर पाता है। इस स्थिति में मल त्याग की तीव्र इच्छा न होने से कई लोग लापरवाही करके समय पर मल विसर्जन के लिए नहीं जाते, जिससे मलाशय में पड़ा मल शुष्क होता चला जाता है। मलाशय की दीवारें भी समय पर मल विसर्जन के लिए नहीं जाते, जिससे मलाशय में पड़ा मल शुष्क होता चला जाता है। मलाशय की दीवारें भी समय पर मल त्याग न करने के कारण धीरे-धीरे गति करना छोड़ देती हैं। उससे भी मल और शुष्क होता चला जाता है। परिणामस्वरूप मल त्याग के समय अत्यधिक कष्ट होता है, क्योंकि जब यह मल गुदाद्वार से बाहर निकलता है तो गुदा द्वार की दीवारों को चीर कर जख्म (फिशर) बना देता है। कुछ लोग बवासीर, फिशर आदि के कारण मल त्याग के समय होने वाले कष्ट से बचने के लिए भी समय पर शौच के लिए नहीं जाते। इससे भी कब्ज की समस्या गम्भीर रूप धारण कर लेती है।

आँतों की पुरःसरण गति की खराबी, रक्ताल्पता तथा रक्त में कैल्शियम की अधिकता के कारण आँतों में उत्पन्न हुयी शिथिलता, थायरॉइड ग्रंथि के स्त्राव में कमी के कारण भी मल शुष्क और कठोर होने लग जाता है। यद्यपि इस प्रकार के रोगी बहुत कम ही देखने में आते हैं। कुछ रोगियों में कब्ज की समस्या, आँत्र के किसी भाग के संकीर्ण हो जाने अथवा कैंसर की गांठ बन जाने, आँतों की पुरानी शोथ (कोलीसाइट्स), जो प्रायः अमीबा परजीवी या बैसीलस जीवाणु के संक्रमण के कारण पैदा होती है तथा आँत्र के एक अन्य रोग स्पेस्टिक कोलॉन, जिसके कारण आँत्र के किसी भाग में ऐंठन उत्पन्न हो जाने से आँत्र की मल को आगे धकलने की क्रिया गड़बड़ा जाती है, के कारण उत्पन्न हो जाती है। यकृत विकार के कारण जब पित्त का निर्माण पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाता है या वह ग्रहणी तक नहीं पहुँच कर मल में मिल पाता है तो भी कब्ज की शिकायत उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि पित्त मृदु विरेचक की भूमिका भी निभाता है।

बहुत सी औषधियाँ जो विभिन्न रोगों के उपचार में प्रयोग की जाती हैं उनका प्रथम कुप्रभाव भी कब्ज के रूप में दिखाई पड़ता है, जैसे कि पेट दर्द निवारक औषधियाँ, अम्लनाशक औषधियाँ, उच्च रक्तचाप निवारक, अवसाद नाशक, नींद व शांतिप्रदायक, कैल्शियम व लौहयुक्त शक्तिवर्द्धक औषधियाँ, मूत्र लाने वाली औषधियाँ आदि। सभी प्रकार की तीव्र

कब्जनाशक औषधियों के प्रयोग से एक बात तो आँतें पूरी तरह से खाली हो जाती हैं पर जब अगले २-३ दिनों तक उनमें मल इकट्ठा नहीं हो पाता, जिससे रोगी यही समझता है कि उसे पुनः कब्ज हो गई है। अतः वह एक बार पुनः कब्जनाशक औषधि ले लेता है। इस प्रकार यह क्रम लगातार चलता रहता है और अंत में कब्ज नाशक औषधि ही कब्ज का कारण बन जाती है।

रक्ताल्पता के कारण जब आँत्र की भित्तियों को पोषक तत्वों की पूर्ति सामान्य रूप से नहीं हो पाती है तो उनमें शिथिलता आने लग जाती है और वह मल को आगे धकेलने में समर्थ नहीं रह जाती है।

### कब्ज के प्रमुख लक्षण

समय पर त्याग न होने से मल मलाशय तथा बड़ी आँत्र में ही एकत्र होता चला जाता है। प्रारंभ में रोगी को भूख सामान्य रूप से लग सकती है, किन्तु पेट में भारीपन, मंद-मंद दर्द तथा कठोरता आने लगती है और भूख भी धीरे-धीरे घटने लगती है। अधिक समय तक मलबन्ध की शिकायत रहने पर रोगी को जी मिचलाने अथवा वमन की शिकायत भी हो सकती है। चिरकालीन कब्ज की स्थिति में रोगी को बवासीर एवं गुदा व्रण का कष्ट भी हो सकता है।

### कब्ज का उपचार

मल की उत्पत्ति के लिए इस प्रकार के आहार की आवश्यकता रहती है जिसमें रेशे की मात्रा अधिक हो, जैसे हरी साग-सब्जियाँ, छिलका सहित फल, चोकर सहित अनाज, बिना पालिश वाला चावल, छिलके वाली दालें इत्यादि। सब्जियों में जो हरा रंग होता है वह सेल्यूलोज नामक एक जटिल शर्करा का रूप है, किन्तु इस सेल्यूलोज का पाचन केवल पशुओं की आँतों में मौजूद रहने वाले एक विशेष एन्जाइम की मदद से ही हो पाता है न कि मानव के पेट में। अतः यह मनुष्य में मल की मात्रा बढ़ाने तथा मलाशय पर मल विसर्जन के लिए पर्याप्त दबाव बनाने का कार्य सुगमता से कर देता है। इनके साथ ही मल को नरम रखने के लिए दिन भर में पर्याप्त मात्रा में पानी तथा अन्य तरल पदार्थों का सेवन भी करना चाहिए, क्योंकि मल का अधिकतर भाग पानी ही होता है जो उसे नरम बनाये रखता है।

मल त्याग के लिए पूरा समय दिया जाये तथा सम्पूर्ण एकान्त (प्राइवसी) का ध्यान रखा जाये। क्योंकि समय पर मल त्याग न करने से गुदा के कार्य में बाधा पड़ती है तथा उसकी मल त्याग की गति गड़बड़ा जाती है। मल त्याग के लिए भारतीय शौचालय पद्धति पश्चिमी शौचालयों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होती है, क्योंकि इसमें पैरों के बल बैठना पड़ता है जिससे अपनी जंघाओं का दबाव पेट पर पड़ता है तथा मल त्याग में सहायता होती है।

पेट की मॉसपेशियों का व्यायाम भी कब्ज के लिए बहुत आवश्यक है। बहुत सी स्त्रियाँ, विशेषकर अधिक बच्चों को जन्म देने वाली स्त्रियों में कब्ज की शिकायत इसी कारण रहती है कि उनके पेट की मॉसपेशियाँ आवश्यक दबाव आँतों पर नहीं डाल पाती है, जिससे आँतों की क्षमता कम हो जाती है। पेट के व्यायाम के लिए प्रातःकाल फर्श पर सीधे लेट कर अपने दोनों हाथ से पेट की मालिश इस प्रकार करें कि नाभि पर दोनों हाथों की अंगुलियाँ रखकर ऊपर की ओर पसलियों के पास तक गोलाई में लायें तथा हाथों को बिना हटाये नीचे मूत्राशय तक ले जायें। इस क्रिया को १२ से १५ बार कम से कम दोहरायें। इनके अतिरिक्त जानूशीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन, वज्रासन, धनुरासन आदि का भी अभ्यास करें। प्रातःकाल खाली पेट किसी वृक्ष आदि की टहनी या किसी अन्य जगह पर हाथों के बल इस प्रकार से लटक जायें कि पैरों को तानते हुए जमीन की तरफ खींचें। इससे आँतड़ियों को सामान्य आकार ग्रहण करने में मदद मिलती है।

प्रातःकाल बिस्तर छोड़ने के बाद १-२ गिलास ठंडा या गुनगुना पानी पी लें। चाहें तो उसमें १-२ नींबू निचोड़ सकते हैं। यह गैस्ट्रो कोलिक रिफ्लेक्स पैदा करता है जिससे व्यक्ति में तुरंत मल त्याग की इच्छा जाग्रत होती है। इस प्रतिवर्त (रिफ्लेक्स) को पैदा करने के लिए कुछ लोग प्रातःकाल १-२ कप चाय या कॉफी के पीते हैं अथवा बीड़ी, सिगरेट का सहारा लेते हैं। अतः चाय या अन्य कुछ लेने की बजाय यदि केवल पानी के प्रयोग की आदत डाली जाये तो उससे कोई हानि नहीं होती, जबकि चाय, कॉफी, बीड़ी, सिगरेट की आदत हानिकारक सिद्ध हो सकती है। कुछ लोग प्रातःकाल नाश्ता करने के बाद अथवा दिन में जब भी कुछ खाते-पीते हैं तो उसके तुरंत बाद शौचालय चले जाते हैं, यह भी गैस्ट्रिक प्रतिवर्त पैदा होने के कारण ही होता है। पर इसमें ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि जो कुछ अभी-अभी खाया है वही निकल गया

है, परंतु इसके विपरीत अपनी मल त्याग की आदत को सुधारना चाहिए। रात्रि के समय एक चम्मच देशी घी या बादाम का तेल दूध में मिलाकर लेने से आँतें मुलायम बनती हैं तथा कब्ज की आदत सुधरती है।

गर्भावस्था के दौरान भी स्त्रियों को प्रायः कब्ज की शिकायत हो जाती है, क्योंकि उस दौरान उनके रक्त में स्टीरॉयड सेक्स हार्मोन का स्तर बढ़ जाता है जो स्मूथ मॉसपेशियों की गति को धीमा कर देता है। इसके अतिरिक्त शिशु की वृद्धि के कारण गर्भाशय का आकार भी फैलने लगता है जो आँत्र पर दबाव डालकर उसे अपने स्थान से थोड़ा हटा देता है। गर्भावस्था की इस कब्ज का शीघ्र निवारण करना चाहिए अन्यथा यह शीघ्र ही बवसीर का कारण बन जाती है।

### आयुर्वेदिक चिकित्सा

- रात्रि के समय गिलास दूध में १ से २ चम्मच (७-१५ मि.ली.) एरण्डी का शुद्ध तेल मिलाकर पीने से ६-८ घंटे बाद १-२ मल खुलकर आ जाते हैं। एरण्डी का तेल बड़ी आँत्र में पहुँच कर उसकी परःसरण गति को तीव्र करता है जिससे आँत्र में मल के आगे बढ़ने की गति सुधरती है, जबकि दूध का अंश पित्त की मात्रा बढ़ाने तथा मल को नरम रखने में मदद करता है। इस तरह प्रातःकाल १-२ मल खुलकर आ जाने से पेट हल्का हो जाता है, किन्तु एरण्डी तेल का सेवन वर्षा के मौसम में न किया जाये।
- सनाय पत्र का चूर्ण भी आधी से दो चम्मच की मात्रा में रात्रि के समय पानी के साथ कुछ दिनों तक सेवन करते रहने से कब्ज के कष्ट से मुक्ति मिल जाती है। सनाय में 'सिनोसाइड' नामक ग्लाइकोसाइड रसायनों का एक समूह होता है जो वृहदांत्र की दीवारों पर उद्दीपक प्रभाव डालकर उनकी परिःसरण गति को सुधारते हैं तथा मल को आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं जिससे मल मलाशय में सुगमता से पहुँचता है तथा शौच की निवृत्ति आसान बनती है।
- रात्रि को सोने से पूर्व एक-एक चम्मच आँवला व मेथी का चूर्ण गुनगुने दूध या पानी के साथ सेवन करने से भी कब्ज की आदत सुधरती है।
- रात्रि के समय १५० मि.ली. दूध में २-३ अंजीर डाल कर दूध को कुछ देर तक उबाल लें और फिर नीचे उतार लें। जब दूध पीने योग्य हो जाये तो पहले अंजी के टुकड़ों को धीरे-धीरे चबाकर खा लें और ऊपर से उस दूध को पी लें। इससे भी प्रातःकाल मल खुल कर आ जाता है।
- रात्रि के समय ईसबगोल की भूसी १-२ चम्मच या त्रिफला चूर्ण एक-डेढ़ चम्मच दूध से कुछ दिनों तक सेवन करते रहने से भी कब्ज में आराम आ जाता है। ईसबगोल में पेक्टिन म्यूसिलेज नामक एक कोलायडल रसायन होता है जो आँत्र में पहुँच कर व पानी को सोख कर अपने आकार से सात गुने आकार में फैल जाता है जिससे आँत्र भित्तियों पर अतिरिक्त दबाव बनता है तथा मल विसर्जन का कार्य सुगमता से होने लग जाता है।
- सौंठ २० ग्राम, छोटी हरड़ ४० ग्राम, सौंफ २० ग्राम, सनाय पत्र ४ ग्राम, एरण्ड तेल १० मि.ली., सेंधा नमक १० ग्राम। सबसे पहले सौंठ और हरड़ को मोटा कूट लें तथा एरण्ड तेल में सौंफ के साथ मिला कर धीमी आग पर अच्छी तरह सेक लें। जब हरड़ फूल जाये तो उन्हें नीचे उतार कर ठण्डा कर लें तथा सनाय पत्र मिलाकर पीस लें। इस बारीक चूर्ण में पिसा हुआ सेंधा नमक भी मिला लें। इस चूर्ण को रात्रि को सोने के समय ६-८ ग्राम की मात्रा में गुनगुने पानी के साथ सेवन करने से प्रातःकाल १-२ मल खुलकर आ जाते हैं। पेट से हवा भी निकल जाती है तथा रोगी को भूख लगने लगती है।
- छोटी हरड़ २ नग, मुनक्का (बीज रहित) ५ नग, सनाय पत्र ७ ग्राम, गुलाब फुल की पंखुड़िया ७ ग्राम को रात के समय मिट्टी या कांच के बर्तन में २०० मि.ली. पानी या गुलाब जल में भिगो दें तथा प्रातःकाल धीमी आग पर चढ़ाकर उसका काढ़ा बना लें। प्रातःकाल २०-२५ ग्राम गुलकन्द खाकर ऊपर से इस काढ़े को पी लें। इससे २-३ मल खुलकर आ जाते हैं तथा पेट अत्यंत मुलायम और नरम हो जाता है। इसके सेवन से पेट में मल के जमने से बने सुदंद् भी निकल जाते हैं तथा रोगी की भूख बढ़ जाती है।

### प्राकृतिक चिकित्सा



समस्त रोगों में कब्ज सर्वाधिक परेशान करने वाला रोग है। कब्ज लगातार रहने से अनेक महारोग जैसे- बवासीर, गठिया, कमरदर्द इत्यादि पैदा हो जाते हैं। स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है कि कब्ज जैसे रोग से बचा जाये वर्तमान युग में कब्ज को दूर करने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा सर्वोत्तम उपचार है।

कब्ज होने पर सर्वप्रथम प्रातःकाल खाली पेट पर गरम तौलिए या गरम पानी की थैली से ५-७ मिनट तक सेक करें एवं मिट्टी की पट्टी बनाकर (विधि-१ सेर मिट्टी को अच्छी तरह छानकर ठंडे पानी में मिलाकर पेस्ट बना लें एवं १२ से १५ इंच लंबी व ६ से ८ इंच चौड़ी पतले कपड़े में मिट्टी की तह बना लें) पेट आधा घंटा तक रखें। आधे घंटे के बाद पेट व कमर की हल्की मालिश करें। तत्पश्चात् १ लीटर गुनगुने पानी में १ बड़ा नींबू निचोड़ कर आधा चम्मच सैंधा नमक मिलाकर एनीमा दें। रोगी की अवस्था को ध्यान में रखते हुए ठंडा कटि स्नान, कटि स्नान, सौम्य कटि स्नान, १५ से २० मिनट तक दें। तत्पश्चात् पेट पर लपेट या गीली चादर लपेट १५-२० मिनट तक देना चाहिए। अपरान्ह काल (भोजन के ३ घंटे बाद) में फिर से उपर्युक्त वर्णित मिट्टी की पट्टी पेड़ू पर आधा घंटा तक रखें। इसके बाद पेट एवं कमर पर स्थानीय वाष्प अथवा गरम ठण्ड तौलिये से कम्प्रेस देकर पेट व कमर की लपेट या कटि स्नान आधा घंटे तक दें एक-एक दिन के अंतराल से रोगी की अवस्थानुसार चिकित्सा क्रम में परिवर्तन कर सकते हैं। सप्ताह में एक दिन सम्पूर्ण वाष्प स्नान देना भी लाभदायक रहता है। कब्ज की जीर्णवस्था में रात्रि को भी मिट्टी की पट्टी तथा पेट पर लपेट देना उचित रहता है। कभी-कभी प्रातःकाल ५ से १० मिनट ठंडा कटि स्नान लेकर तेज गति से सैर करें तो अत्यंत लाभ होता है।

### आहार चिकित्सा

प्रातः काल उठते ही ताम्रपात्र में रखा हुआ जल कम से कम ३-४ गिलास पीना चाहिए। पुराने कब्ज में गुनगुने पानी के दो गिलास एवं २ नींबू का रस, २ चम्मच शहद तथा १ चम्मच अदरक का रस मिलाकर पियें तथा पेट को फुलाते पिचकाते हुए तेजी से टहलना चाहिए।

शुरुआत में ३ से ७ दिन तक रोगी की स्थिति व अवस्था को ध्यान में रखकर नींबू-पानी-शहद, फल, रस, उबली सब्जी, छाछ पर आंशिक उपवास करायें अथवा केवल जल पर उपवास करायें। उपवास करने से आंतों को आराम मिलता है और वे पुनः शक्तिशाली हो जाती हैं। तत्पश्चात् धीरे-धीरे क्रमशः पूर्व आहार पर रोगी को लाना चाहिए। नाश्ते में आर्थिक स्थिति व मौसम के अनुसार फल लें। फलों में नाशपाती, पपीता, अंगूर, गाजर, टमाटर, अमरुद, सेव, चीकू, अनार, भीगे हुए किशमिश, मुनक्का, अंजीर तथा दूध लेना चाहिए। कभी भी खट्टे व मीठे फल एक साथ सेवन नहीं करें दोपहर के भोजन में व शाम के भोजन में मोटे आटे की रोटी २ या ३, उबली सब्जी २५० ग्राम, टमाटर, पत्तागोभी, गाजर, मूली, प्याज आदि का सलाद २५० ग्राम, दही २०० ग्राम, आंवला या नारियल की चटनी ३० से ५० ग्राम लें। सब्जियां छिलका समेत ही बनावें। अपरान्ह काल में सब्जियों का सूप, आंवला, गाजर, पालक, टमाटर आदि का रस लेना चाहिए।

कब्ज दूर करने के लिए ईसबगोल का अनुभूत प्रयोग अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसका उपयोग इस प्रकार किया जा सकता है- सोने से पहले चाय के २ छोटे चम्मच ईसबगोल की भूसी लें। एक गिलास में २५० मि.ली. पानी लेकर इसमें ईसबगोल की भूसी डाल दें। तीन-चार छोटी इलायची के दाने निकाल कर उन्हें बारीक पीस लें, इसे भी गिलास में डाल दें। ईसबगोल को चम्मच से पानी में मिला लें। इसे आधे घंटे तक यूं ही पड़ा रहने दें। बाद में आवश्यकतानुसार मिश्री अथवा चीनी मिला लें। यह जैली जैसा घोल बन जायेगा। इसे पीकर ऊपर से २५० मि.ली. हल्का गरम दूध पी लें। इससे मल से भरी हुई आंते भीतर की तरफ से मुलायम हो जाती है और मल निष्कासन में सुविधा रहेगी। इससे कब्ज की समस्या से आसानी से मुक्ति पायी जा सकती है। यह अनेक रोगियों पर आजमाया हुआ एक प्रभावशाली अनुभूत योग है।

कभी-कभी अमलतास का गूदा पानी में उबालकर छानकर पियें। त्रिफला चूर्ण १ से डेढ़ चम्मच गरम पानी से रात्रि में सेवन करें। पूरे दिन में ३ से ४ लीटर जल अवश्य पीना चाहिए, इससे मल खुश्क नहीं हो पाता और आंते सक्रिय रहती हैं।

## पेट में गैस बनना - अफ़ारा

### (FLATULENT DYSPEPSIA)

पेट में गैस बनने की समस्या से अधिकांश व्यक्ति पीड़ित रहते हैं। प्रतिदिन ही बहुत सारे लोग अपने पेट में अधिक गैस बनने की शिकायत लेकर चिकित्सकों के पास आते हैं। वे बताते हैं कि पेट की गैस के कारण उन्हें कभी छाती में दर्द होता है, कभी पेट के एक तरफ तो कभी दूसर तरफ, कभी दर्द सिर में तो अगले पल पेट में। उसे वह वायु का दर्द नाम देते हैं। वे कहते हैं कि जब उनकी गैसा गुदा द्वार से निकल जाती है तो उन्हें कुछ राहत मिलती है। यद्यपि आयुर्वेदिक विद्वानों ने तो अति प्राचीन काल से ही पेट में गैस बनने को एक प्रमुख रोग व अन्य कई रोगों का लक्षण माना है, किन्तु इसके विपरीत आधुनिक चिकित्सा पैथी में पेट में गैस बनने को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता और न ही इसे कोई रोग माना जाता है। आधुनिक पैथी में गैस बनने के दोष को मन का बहम मानकर रोगी के कष्ट पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता लेकिन यथार्थ में इस रोग (पेट में गैस का बनना) के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं को नकारा नहीं जा सकता ।

इस रोग से पेट में आहार के सड़ने के कारण अधिक मात्रा में गैसों बनने लग जाती हैं। ये गैसों पेट में ही भरती चली जाती है, जिससे रोगी का पेट फूल जाता है। रोगी को इसके कारण अत्यधिक घबराहट, बेचैनी होने लग जाती है। कभी-कभी उसे गैस के कारण श्वास लेने में भी असुविधा होने लग जाती है। पेट में गैस के घूमने से गुड़गुड़ाहट होने लग जाती है, जिसे चिकित्सकीय भाषा में गरगलिस (ऊनतहसपह) ध्वनि कह देते हैं। पेट को हल्के हाथ से ठोकने पर उसमें ढोल की सी आवाज पैदा होने लगती है। डकारों के आने पर या गुदा मार्ग से गैस के निकल जाने पर रोगी को थोड़ा बहुत आराम मिल जाता है। मल त्याग के समय भी गुड़गुड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है।

हमारे पाचन तंत्र की लंबाई लगभग 9 मीटर के असा-पास होती है, जो मुख गुहा से लेकर गुदा द्वार तक फैला होता है। वास्तव में यह एक बंद नलिका की तरह है जो कहीं पर पतली और कहीं मोटी व फैली हुई सी होती है। इस पाचन नलिका के दो मुंह होते हैं। एक, ऊपर मुंह में खुलता है तो दूसरा नलिका के अंत में गुदा द्वार के द्वार के रूप में होता है। अक्सर पाचन तंत्र के ये दोनों द्वार भोजन कर लेने व मल त्याग के उपरांत बंद ही होता रहता है पर गुदा द्वार केवल मल त्याग के लिए ही दिन में एक या दो बार और गैस को बहार निकालते समय ही खुलता है।

हम जो आहार प्रतिदिन भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं उसमें कई प्रकार के जीवाणु और रासायनिक पदार्थ मौजूद रहते हैं, जो आहार के साथ ही हमारे पेट में प्रवेश कर जाते हैं। जीवाणु पेट में पहुँचकर अपनी जीवन लीला पुनः शुरू कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप गैस भी उत्पन्न होने लगती है। हमारे पाचन तंत्र में पहले से ही बहुत से द्रव पदार्थ और रसायन मौजूद होते हैं तथा पेट के अंदर भोजन के साथ भी कई प्रकार के रसायन जैसे फलों, सब्जियों, अनाज आदि पर छिड़के गये उर्वरक और इनके कीटाणुओं से सुरक्षा के लिए मिलाये गये कीटाणु नाशक विभिन्न तरह के रसायन फूड प्रेजिर्वेटिव भी पेट में पहुँच जाते हैं। हमारे खाद्य पदार्थ भी कभी गरम और कभी अत्यधिक ठंडे होते हैं। ये सभी मिलकर विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के माध्यम से गैस बनाते हैं। इस गैस में से हाइड्रोजन सल्फाइड (H<sub>2</sub>S) जैसी दुर्गन्ध आती है।

सामान्य अवस्था में भी हम अपने आहार, पेय पदार्थों तथा थूक को निगलने के साथ थोड़ी-बहुत मात्रा में हवा भी निगल जाते हैं। अत्यधिक मानसिक तनावों के क्षणों में तो इस प्रकार बहुत अधिक मात्रा में हवा अंदर प्रवेश कर जाती है। इसमें से कुछ हवा तो वापिस डकार के रूप में मुँह से निकल जाती है, शेष हवा आमाशय से आँत्र में प्रवेश कर जाती है जहाँ पर हवा में मौजूद नाइट्रोजन नामक गैस का कुछ भाग अवशोषित हो जाता है तथा बाकी बचा हवा गुदा मार्ग से मल त्याग की प्रवृत्ति की तरह निकल जाती है।

आहार में मौजूद कई पदार्थों के पाचन तंत्र में भली प्रकार से न पच पाने, देर से पचने वाले, ठंडी खाद्य वस्तुओं, गैस पैदा करने वाले खाद्य पदार्थों व पेय जैसे कोको कोला, पेप्सी, लेमन, थम्सअप आदि का अधिक मात्रा में बार-बार सेवन करना, अन्तर्द्वियों की पाचन क्षमता का कम हो जाना या उनकी रचनाओं का कमजोर हो जाना, पाचन संस्थान, आमाशय, यकृत, अग्न्याशय और गर्भाशय आदि से सम्बन्धित रोग, गठिया और छोटे जोड़ों के रोग, आंत्रिक ज्वर (टाइफाइड फीवर), स्नायविक सम्बन्धित हिस्टीरिया, मानसिक तनाव रोग इत्यादि कारणों से भी पेट में गैसा पैदा होने लग जाती है।

आँत्र में पाचक रसों का स्राव कम मात्रा में होना या पाचन संस्थान की कमी अथवा देर से पचने वाले पदार्थों का बार-बार अधिक मात्रा में सेवन करते रहने से आमाशय और आँत्र आदि में भोजन अधिक समय तक पड़ा रहता है। आहार के साथ आये या पेट में ही मौजूद कई तरह के जीवाणु इस आहार पर हमला करके उसे सड़ाने लग जाते हैं, जिसके कारण कई प्रकार के उपयोगी और व्यर्थ पदार्थ तथा विभिन्न प्रकार की गैसों उत्पन्न होने लग जाती हैं व पेट में ही इकट्ठी होती चली जाती है। चूंकि इस समय पाचनलिका के दोनों द्वार बंद रहते हैं, अतः यह गैस बाहर न निकल कर शरीर में ही एकत्र होती रहती है।

हमारे पीने के पानी और अन्य कई पेय तरल पदार्थों में कई प्रकार के खनिज लवण जैसे सोडियम कार्बोनेट व सोडियम बाई कार्बोनेट और कैल्शियम कार्बोनेट आदि घुले रहते हैं जो आमाशय में पहुँच कर आमाशय के पाचक रस में उपस्थित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के सम्पर्क में आते हैं और उसके साथ सीधी रासायनिक क्रिया करने अन्य स्थायी लक्षण तथा कार्बन डाई आक्साइड आदि गैस बनाते हैं। इसका रक्त और फैफड़ों की तरह आँत्र में अवशोषण न हो पाने के कारण रोगी को गैस की समस्या का सामना करना पड़ता है।

कई लोगों में पेट में गैस बनने की यह समस्या कुछ विशेष परिस्थितियों में भी उत्पन्न होने लग जाती है। जैसे कि कभी-कभी मानसिक तनाव के क्षणों में जब रोगी अपने आमाशय में भारीपन का अनुभव करने पर डकार लेने के लिए अपना मुँह खोलता है तो कुछ हवा मुँह द्वारा आमाशय में प्रवेश कर जाती है। रोगी को बार-बार ऐसा करने की आदत पड़ जाती है तो यह हवा आमाशय में अधिक मात्रा में एकत्र होकर भारीपन की आदत को 'वायुभक्षण' (मतवर्चीहल) कहा जाता है। कई रोगियों को तो वायु निगलने की आदत सी ही पड़ जाती है। अतः ऐसे रोगी कुछ-कुछ देर के बाद ही ऊंची आवाज के साथ डकारों लेते रहते हैं। अधिक वायु निगलने से न केवल रोगी को डकारें ही आती हैं, बल्कि इससे कभी-कभी रोगी को सिर दर्द, चेहरे का सूजकर फैल जाना, शरीर का एकाएक गर्म हो जाना आदि लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं। कई बार मुँह से निगली हुई हवा आमाशय से गुजरकर बड़ी आँत्र में इकट्ठी होती चली जाती है, जिससे रोगी के पेट में गुड़गुड़ाहट होनी शुरू हो जाती है। उस स्थिति में रोगी के पेट के फूल जाने व मल की गति में अवरोध आ जाने से कब्जा तक हो जाती है।

हमारी बड़ी आँत्र विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवों-जीवाणुओं आदि के फलने-फूलने का एक प्रमुख स्थान है। इसी कारण कितने ही प्रकार के जीवाणु हमारी आँत्र में पाये जाते हैं। वैसे अभी तक पूरी तरह यह पता नहीं चल पाया है कि ये जीवाणु हमारे शरीर के लिए लाभकारी हैं या फिर हानिकारक, लेकिन इनके कई ऐसे कार्यों का अवश्य पता चल चुका है जो शरीर के लिए इनके महत्व को दर्शाते हैं। जैसे कि बड़ी आँत्र में रहने वाले कई प्रकार के जीवाणु विटामिन 'के' फॉलिक एसिड और विटामिन बी-१२ का निर्माण भी करते हैं, चाहे किन्हीं कारणों से इसका केवल अल्प मात्रा में ही अवशोषण हो पाता है।

परन्तु इन्हीं के साथ ये जीवाणु आँत्र में गैस पैदा करने के कारण भी हैं। जैसे बिना अवशोषित पचा हुआ आहार छोटी आँत्र से बड़ी आँत्र में प्रवेश करता है, ये जीवाणु उपर हमला बोलकर उसका विघटन कर डालते हैं और निम्न पदार्थों का निर्माण करते हैं, जैसे-

१. **कार्बोहाइड्रेट:** ये जीवाणु कार्बोहाइड्रेट को कार्बनडाईआक्साइड ( $\text{CO}_2$ ), ओर्गेनिक अम्ल आदि में, सेल्यूलोज नामक जटिल कार्बोहाइड्रेट को कार्बोनिन अम्ल और मीथेन गैस में बदल देते हैं।
२. **वसा :** ये वसा को निम्न वसीय अम्ल तथा ग्लायसीरोल में बदल देते हैं। पर कोलीन (बेवसपदम) को ये विषाक्त न्यूरिन (छमनतपदम) नामक पदार्थ में बदलते हैं।
३. **प्रोटीन :** ये जीवाणु प्रोटीन आणुओं पर आक्रमण करके उन्हें एमीनो अम्लों, अमोनिया और गैसों में बदल देते हैं। ये ट्रिप्टोफेन नामक प्रोटीन को इन्डोल सकटोल में बदलते हैं। यह दोनों ही मल में दुर्गन्ध पैदा करने के लिए जिम्मेदार हैं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जो गैस हमारे पेट में पैदा होती है और समय-समय पर या मल त्याग के समय गुदा मार्ग से बाहर निकलती है, वह कई प्रकार की गैसों का मिश्रण होती है। इनमें से कुछ गैसों इस प्रकार हैं- हाइड्रोजन

सल्फाइड गैस, कार्बनडाई ऑक्साइड गैस, मीथेन गैस, अमोनिया, नाइट्रोजन और आक्सीजन आदि। इन गैसों में से अधिकतर हमारे पेट में ही पैदा होती हैं और कुछ हवा से इनमें मिल जाती है।

## रोग के लक्षण

इस रोग का सबसे प्रमुख लक्षण तो यही है कि रोगी को दिनभर और रात्रि को भी थोड़ी-थोड़ी देर बाद गुदा मार्ग से जोर की आवाज के साथ अथवा बिना आवाज के ही गैस निकलती रहती है। गैस दिन में तो बार-बार नहीं निकलती किन्तु मल के समय अवश्य ही 'पट्-पट्' की आवाज के साथ काफी मात्रा में निकलती है और जैसे ही थोड़ी बहुत गैस गुदा मार्ग से निकलती है, रोगी अपने पेट को हल्का व तनाव रहित महसूस करने लग जाता है। कुछ रोगियों में गैस गुदा मार्ग से न निकलकर मुँह के रास्ते डकारों के रूप में निकलती है। इस प्रकार भी रोगी को अपने पेट के कष्ट में कुछ राहत मिल जाती है। यदि गैस के साथ दुर्गन्ध भी आये तो इसे पाचन सम्बन्धी विकार समझा जाये और उसे मामूली सा गैस रोग न मानकर पाचन सम्बन्धी विकार पर समुचित ध्यान केन्द्रित किया जाये तथा यथा आवश्यक उपचार किया जाए। यद्यपि आधुनिक चिकित्सा पद्धति में पेट गैस सम्बन्धी कोई विशेष रोग नहीं माना गया है पर हमारे आयुर्वेद मतानुसार इसे एक गम्भीर रोग माना गया है।

पेट की गैस से सम्बन्धित रोगियों को प्रायः पाचन शक्ति की कमजोरी भी होती है, जिसके कारण कई बार भोजन करने के तुरंत बाद ही इनका पेट फूल जाता है और रोगी को बेचैनी सी शुरू हो जाती है। लेकिन रोगी को कुछ डकारों आ जाने या गुदा मार्ग से दो-तीन बार थोड़ी बहुत हवा निकल जाने पर शीघ्र ही थोड़ा बहुत आराम आ जाता है। यदि रोगी में गैस पैदा होने का अम्ल-पित्त (अति अम्लता) है तो रोगी को डकारों के साथ खट्टा सा चिरपरा तरल भी मुँह में आता है तथा रोगी गले व छाती में जलन की भी शिकायत करता है।

वैसे अधिकतर मामलों में गैस दोष के कारण अधिक कष्टप्रद लक्षण प्रकट नहीं होते, फिर भी कई रोगियों में गैस के कारण आपातकालीन जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस समय रोगी पेट दर्द और घबराहट के कारण बहुत अधिक कष्ट के दौर से गुजरता है। ऐसी जटिल स्थिति रोगी में उस समय पैदा होती है जब अत्यधिक मात्रा में गैस पेट में उत्पन्न होने लग जाए, पर उसका निकास मुँह या गुदा मार्ग से न हो पा रहा हो, उस समय यह गैस आँत्र में ही रुक कर इकट्ठी होती चली जाती है। इससे आँतों में तनाव सा आ जाता है जो अपने सम्बन्धित अंग पर प्रभाव डालती है और फिर वहाँ से आँतों से जुड़े स्नायु तंत्र (नर्वस सिस्टम) द्वारा मस्तिष्क पर भी प्रभाव डालती है तथा शरीर के अनेक महत्वपूर्ण अंगों को प्रभावित करती है।

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे पेट में नाभि के आस-पास स्नायुओं का सम्बन्ध अनुकंपी नाड़ी मण्डल (लउचंजीमजपब छमतअमे) तथा परिस्वतंत्र नाड़ी मण्डल (चेंलउचंजीमजपब छमतअमे) के द्वारा मस्तिष्क तथा शरीर के समस्त महत्वपूर्ण अंगों के साथ जुड़ा होता है। यह दोनों मण्डल शरीर के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करते हैं, किन्तु पेट में अत्यधिक मात्रा में गैस भर जाने के कारण वहाँ सम्बन्धित अंगों में कई प्रकार के प्रतिवर्त (रिफ्लेक्स) पैदा होते हैं, जिनकी प्रतिक्रिया स्वरूप रोगी को घबराहट, बेचैनी, पेट दर्द, तथा कभी-कभी वमन, हृदय की धड़कनों का बढ़ जाना, हाथ-पैरों का ठंडा पड़ जाना, मूत्र में रूकावट या जलन का कष्ट, शरीर में गर्मी का अभाव, मुँह द्वारा गैस का निकलना (ठमजबीपदह) इत्यादि के लक्षण एक सिण्ड्रोम या एक साथ कई लक्षणों के संयुक्त रूप में (कम्लेक्स सिण्ड्रोम) प्रकट होने लग जाते हैं जिससे रोगी की चिन्ता और परेशानी असहनीय स्तर तक पहुँच जाती है। अनेकों बार तो कई रोगियों में गैस के कारण अजीर्ण, कब्ज तथा आँतों की गतिव क्षमता का बिगड़ जाना आदि कष्ट भी हो जाते हैं।

कई बार गैस के कारण रोगी में ऐसी दयनीय हालत उत्पन्न हो जाती है, कि उसके पेट में गैस तो भरी होती है उसके साथ आमाशय भी भरा होता है। अन्तर्द्वियां और मलाशय भी भरे होते हैं। रोगी पेट के तनाव व कष्ट से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए वमन करना चाहता है, मल त्याग करना चाहता है पर न उसे वमन होता है न मल त्याग। मितली आती है पर वमन नहीं होती। आमाशय में भी वमन की थोड़ी गति होती है और रोगी भी बार-बार प्रयास करता है पर लगता है कि गैस ने पाचन तंत्र के दोनों रास्तों को एकदम सील कर दिया हो। रोगी कष्ट के कारण छटपटाता है, पर सारे प्रयास व्यर्थ जाते हैं। लेकिन जैसा-तैसा रोगी को एक-दो डकारें आ जाये या थोड़ी बहुत वमन (उल्टी) हो जाये अथवा थोड़ा

बहुत मल निकल जाये या थोड़ी बहुत गैस गुदा मार्ग से निकल जाए तो रोगी को चैन आ जाता है। यह गैस के रोगी की सबसे दुश्कर और आपातकालीन स्थिति है।

## रोग का उपचार

जब कभी रोगी में गैस के कारण अत्यंत तीव्र वेदना व कब्ज होने के लक्षण उत्पन्न होने लग जाये उस समय रोगी की आपातकालीन स्थिति की भांति चिकित्सा की जानी चाहिए और ऐसे सभी प्रयास किये जाने चाहिए कि शीघ्र ही उसे अपने कब्जों से छुटकारा मिल जाए। बाद में रोगी को ऐसे निर्देश देने चाहिए कि वह पुनः इस कष्ट में न फंसे। रोगी को उन सभी खाद्य पदार्थों को छोड़ देने के लिए कह देना चाहिए जिससे पेट में गैस पैदा होने की संभावना लगती हो। साथ ही रोगी को अपने आहार की आदत सुधारने अर्थात् उसमें अनुकूल परिवर्तन लाने यानि समय पर आवश्यकता से थोड़ा कम मात्रा में ही भोजन करने, भोजन को मुँह में अच्छी तरह धीरे-धीरे चबाने की आदत डालनी चाहिए। साफ-सुथरा, संक्रमित रहित तथा गैस रहित खाना खाने को प्राथमिकता दी जाए। अर्जीण, कब्ज अर्थात् पेट सम्बन्धी रोगों की भी सैद्धान्तिक चिकित्सा की जाए।

## आधुनिक उपचार

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में यों तो गैस दोष के उपचार के लिए कोई विशेष औषधियां उपलब्ध नहीं है और न ही इस प्रकार की चिकित्सा का कोई विशेष मान्यता प्राप्त है, फिर भी लक्षणों के अनुसार कष्टों की रोकथाम के लिए कुछ पाचन एन्जाइम युक्त औषधियां के साथ कारमीनेटिव औषधियों का सेवन कराया जाता है। यह कारमीनेटिव औषधियां कुछ विशेष प्रकार के शीघ्र वाष्पोत्सर्जित (ट्वसंजपसम व्पस) हो सकने वाले तेलों के मिश्रण ही हैं। जब यह शीघ्र वाष्पोत्सर्जित होने वाले तेले आमाशय से गुजरते हैं तो गले और आमाशय में गरमाहट का अहसास प्रदान करते हैं। साथ ही भूख में वृद्धि करते हैं व आहार के बाद जो तनाव आमाशय में उत्पन्न हो जाता है, उसे शांत करते हैं। यह पेट से गैस निष्कासन का कार्य भी काफी प्रभावशाली तरह से करते हैं। इसी कारण इनका उपयोग अफारा और पेट के फूलने में, पेट के तनाव व दर्द को दूर करने में मुख्यतः किया जाता है। इस प्रकार के कुछ शीघ्र वाष्पोत्सर्जित होने वाले तेल हैं। हमारे चिर-परिचित मसालों से प्राप्त तेल, जैसे छोटी इलायची (ब्लंकउंद वपस), पुदीना सत्व (च्यचमतउपदज) दालचीनी का तेल (ब्यददउंद वपस), कपूर तथा विन्टर ग्रीन का तेल आदि।

## आयुर्वेदिक उपचार

आयुर्वेद में प्रोटीन समय से ही पेट में गैस बनने को एक भयानक रोग माना जाता रहा है। इसी कारण आयुर्वेदिक विद्वानों ने इस पर बहुत कार्य किया और इससे सम्बन्धि अनेक योगों का उल्लेख किया है, इनमें से कुछ संक्षिप्त, परीक्षित और आसान योग इस प्रकार हैं-

- **गैस हर द्रव्य** : यह द्रव्य उदरशूल, पेट की गैस और अग्निमाँद्य जैसे रोगों के लिए बहुत ही उत्तम सिद्ध होती है।

**औषधीय घटक** : घृत कुमारी, अदरक, नींबू २-२ किलो ग्राम, पांचों प्रकार के नमक ३६० ग्राम की मात्रा में, नौसादर ६० ग्राम, जवाखार ६० ग्राम, शंख भस्म २४ ग्राम व भुनी हुई हींग १२ ग्राम की मात्रा में लें लें।

**निर्माण और सेवन विधि** : सबसे पहले घृत कुमारी को छीलकर उसका गुदा अलग निकाल लें तथा अदरक को भी कूट-पीसकर लुगदी जैसी बना लें। हींग को छोड़कर शेष सभी चीजों को कांच के बर्तन में भर दें तथा नींबुओं का रस निचोड़ कर उसमें ही भर दें। इस बर्तन को तीन दिन के लिए ऐसे ही खुला छोड़ दें। चौथे दिन थोड़ी देर इन द्रव्यों को मसल कर इस तरल को छानकर शीशियों में भर लें तथा भुनी हुई हींग भी इसमें मिला दें। इस तरह औषधी को आवश्यकतानुसार दिन में दो बार १५-२० ग्राम की मात्रा में पीने से सभी प्रकार के उदर सम्बन्धी विकार तथा पेट की गैस समाप्त हो जाती है। यह परीक्षित और लाभकारी योग है।

- **गैस कुठार चूर्ण** : यह पेट गैस में उपयोगी है ही, इसके अतिरिक्त यह चूर्ण मक्कलशूल, श्रतुशूल, अर्जीण और आँत्र कृमि के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है।

**औषधिय घटक** : करंज की गिरी २५० ग्राम, सोंठ, सेंधा नमक और काला नमक प्रत्येक १८०-१८० ग्राम, सुहागा भस्म ६० ग्राम, यवक्षार, १२० ग्राम, शुद्ध भुनी हींग १२० ग्राम, छोटी इलायची दाना २५ ग्राम, मीठा सोड़ा ३०० ग्राम की मात्रा में लें और शुद्ध गाय का घी ३६ ग्राम।

**निर्माण और सेवन विधि** : सबसे पहले करंज की गिरी को ३६ ग्राम गाय के घी में भून लें। इसके उपरांत सभी दिव्य औषधियों को अच्छी तरह कूट-पीसकर चूर्ण बना लें तथा दो बार कपड़ छान करके आपस में भली भांति मिलाकर साफ शीशी में भरकर रख लें। इस चूर्ण का जरूरत के समय १ से २ ग्राम की मात्रा में गर्म पानी के साथ सेवन करने पर शीघ्र पेट की गैस में आराम आ जाता है।

- छोटी इलायची का चूर्ण ५०० मि.ग्रा. भुनी हुई हींग १५० मि.ग्रा. तथा एक नींबू का रस सेवन करने से अफारा और पेट की गैस में तुरंत राहत मिल जाती है।
- एक विशेष आयुर्वेदिक चिकित्सा उपक्रम इस प्रकार है, जिसमें अफारा और पेट गैस के रोगी अपना सकते हैं- दिन में चार बार अर्थात् प्रत्येक तीन-तीन घंटे बाद हिंगुगन्धादि चूर्ण ३ ग्राम और हरीतक्यादि चूर्ण २ ग्राम आपस में मिलाकर गर्म पानी के साथ सेवन करते रहें। दिन में एक बार खाना खाने से पहले हिंग्वष्टक चूर्ण देशी घी के साथ चाट लें। दिन में दो या तीन बार खाना खाने के बाद द्राक्षासव २० मि.ली. समान मात्रा में पानी मिलाकर तथा इसके साथ एक गोली रसोनवटी लें। रात्रि का सोते समय नाराच चूर्ण १० ग्राम या फिर पंचसकार चूर्ण ५ ग्राम की मात्रा में गर्म पानी के साथ लें।

इस उपचार से रोगी को आहार का पाचन भली प्रकार से होने लग जाता है तथा मल विसर्जन भी आसानी से समय पर हो जाता है। आहार का समुचित रूप से पाचन होने से पेट में गैस बनना बंद हो जाता है।

- **रसोनैरण्ड योग** : यह भी पेट से गैस निकालने वाला एक चमत्कारिक योग है, इसे एक नाम वातानुलोमन योग के नाम से भी जाना जाता है।

**औषधिय द्रव्य और निर्माण विधि** : लहसुन की कलियों को छील लें और उन्हें कूट-पीसकर चटनी सी बना लें। इस लहसुन की चटनी को पतले कपड़े से निचोड़ कर उसका २५ ग्राम की मात्रा में स्वरस निकाल लें। इस प्रकार २५ ग्राम लहसुन स्वरस, १ ग्राम एरण्डी का शुद्ध तेल, ३ ग्राम सेंधा नमक और १ ग्राम शुद्ध भुनी हींग लेकर इन्हें आपस में अच्छी तरह मिला लें।

इस योग को थोड़ा गर्म करके सेवन करने से बहुत जल्दी ही रोगी का अफारा और पेट गैस से छुटकारा मिल जाता है। साथ ही रोगी का एक दो मल आकर पेट की शुद्धि भी हो जाती है।

### विशेष :

पेट के रोगों में जितना महत्व औषधियों का है, उससे अधिक महत्व उचित आहार-विहार और सुपाच्य भोजन का है। अतः उन सभी लोगों को जो अक्सर किसी न किसी पेट से सम्बन्धित रोग से पीड़ित रहते हैं, अपनी खान-पान की आदत में अनुकूल परिवर्तन कर लेना चाहिए। इन लोगों को अपना सुपाच्य और शीघ्र पचने वाला आहार निश्चित समय पर और भूख की आवश्यकता से थोड़ी कम मात्रा में कर लेना चाहिए, जिससे कि उसका पाचन तंत्र में समुचित पाचन हो सके। एक बात सदैव अपने मस्तिष्क में रखनी चाहिए कि महंगे से महंगे पौष्टिक आहार बेकार हैं यदि उनका पेट में समय पर आसानी से पाचन न हो पाए, इसके विपरीत सस्ते, सर्व सुलभ और मौसमी खाद्य, जो पेट में जाकर आसानी से पंच सकें और पोषक तत्वों की पूर्ति शरीर के लिए कर सकें, ज्यादा उत्तम और पौष्टिक हैं।

### प्राकृतिक चिकित्सा

भोजन ठीक तरह से चबा कर नहीं खाने से अधिक मात्रा में, रेशे वाली सब्जियां, मीठी वस्तुएं, दाल आदि प्रोटीनयुक्त पदार्थ सेवन करने से, कब्ज, आंत्रशोथ, मानसिक तनाव आदि से पेट में गैस बनती हैं दुर्गन्ध युक्त गैस आंतों में भोजन के सड़ने व अजीर्ण का लक्षण है। पेट में गैस का ६८.६ प्रतिशत ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, कार्बन डाईऑक्साइड तथा नाइट्रोजन गैस होती हैं। ये सभी गैसों गंध रहित हैं परन्तु १.१ प्रतिशत अमोनिया, मेथेन तथा हाइड्रोजन सल्फाइड से पेट की समस्त गैस दुर्गन्धित हो जाती है। आंत्र में स्थित जीवाणु आहार पर क्रिया करके हाइड्रोजन, मेथेन तथा कार्बन डाई सल्फाइड गंध युक्त गैस अधिक मात्रा में बनती है। जब ये बाहर नहीं निकल पाती है तो निर्यक गमन करके सभी आंतरिक अंगों को संपीड़ित करके दूषित करती हैं और कई तरह की वातव्याधियां पैदा करती हैं।

पेट में संचित विजातीय तत्वों को बाहर निकालने से ही इस रोग से मुक्ति मिल सकती है। इसके लिए प्रातःकाल खाली पेट पर गरम-ठंडा सेक करें तथा ३० मिनट तक मिट्टी की पट्टी रखें। फिर पेट व कमर की हल्की थपकीदार मालिश करके नीम के पत्तों का उबले पानी का एनीमा दें। रीढ़ तथा पेट को हल्का सा ५ मिनट तक सेक करके एकदम ठण्डे पानी से रीढ़स्नान १० से १५ मिनट तक दें। इससे सुषुम्ना नाड़ियों पर उद्दीपक प्रभाव होता है। ठंडा कटि स्नान भी बदल कर दे सकते हैं। इसके बाद पेट पर गीली लपेट बांधें। इन ठण्डे उपचारों से पेट पर संकोचक प्रभाव होता है। फलस्वरूप गैस निष्काशित होने लगती है। उचार यंत्र के अभाव में पेट पर ठण्डे पानी की धारा डालें या मोटे तौलिए को पानी में अच्छी तरह भिगोकर पेट पर रखना चाहिए। भोजन के ३ घंटे बाद में पेट पर मिट्टी की पट्टी अथवा सूती-ऊनी लपेट बांधें एवं क्रमशः ३ बार गरम-ठंडा कटि स्नान दें। स्थानीय वाष्प, पेट पर व कमर पर देकर लपेट बांधें। ३ से ५ दिन के बाद रोग नियंत्रित होने लगता है। इसके बाद वाष्प स्नान, धूपस्नान, वायुस्नान, सर्वांगमालिश, स्वांग मिट्टी लेप आदि बदल-बदल कर देने से शरीर विषाक्त हो जाने से वायु विकार दूर हो जाता है।

### आहार चिकित्सा

प्रातःकाल खाली पेट १ गिलास गुनगुने पानी में १० ग्राम अदरक का रस तथा १ नींबूरस निचोड़कर पियें। गैस बनने पर पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है। अतः गरिष्ठ भोजन नहीं करें। नाश्ते में नारंगी, मौसमी, अन्ननास या गाजर का रस दें। भोजन के साथ पपीता १०० से १५० ग्राम अवश्य खाएं। दोपहर व शाम के भोजन में रोटी २-३, परवल, टिण्डा, तरोई, लौकी, गाजर की सब्जी तथा दही दें। भोजन मुंह बंद रखकर अच्छी तरह चबा-चबाकर करें। पीते और खाते समय बोलने से पेट में काफी गैस पहुंच जाती है। गरम मिर्च-मसालेदार चीजें, दालें, परिशोधित व डिबाबंद आहार, चीनी, प्याज, आलू, उड़द, चना, बेसन, मैदा निर्मित आहार बिलकुल सेवन नहीं करें।

## अजीर्ण - अपच

### (DYSPEPSIA)

अजीर्ण पेट सम्बन्धी एक ऐसा रोग है जिसमें रोगी की न तो पूरी तरह भूख समाप्त होती है और न ही उसे अत्यधिक कब्ज की ही शिकायत रहती है, अर्थात् अजीर्ण के रोगी में आमाशय और अन्तड़ियों की पाचन क्रिया बिगड़ जाती है परन्तु उनकी रचना में कोई विकार या अन्तर नहीं आता। अर्थात् हम कह सकते हैं कि अजीर्ण पेट सम्बन्धी रोगों में से एक ऐसी अवस्था है जिसमें रोगी को कभी भूख ज्यादा लगती है और कभी कम अथवा कभी शौच खुलकर आता है और पेट पूरी तरह स्वच्छ हो जाता है तो कभी रोगी को कब्ज हो जाती है, पेट भरा हुआ रहता है, परन्तु भूख ठीक प्रकार से लगती रहती है।

पेट सम्बन्धी यह रोग ही सामान्यतः देखने में आता है तथा ६० प्रतिशत तक लोग इस रोग की किसी न किसी अवस्था से अवश्य ही पीड़ित रहते हैं। इस रोग के कष्ट से बचने के लिए वे कभी हाजमा करने वाले पाचक चूर्ण और गोलियां या पेट साफ करने के लिए कब्जनाशक चूर्ण या अन्य औषधियों का सेवन अदल-बदल कर करते रहते हैं। इस रोग के कारण आहार का पाचन भली प्रकार नहीं हो पाता है। प्रायः लोगों में अजीर्ण की दो अवस्थाएं देखने में आती हैं - नयी अजीर्ण की अवस्था और जीर्ण अजीर्ण की अवस्था

#### नयी अजीर्ण की अवस्था

इस अवस्था में रोगी द्वारा कोई भी आहार खाने के तुरंत बाद या १-२ घंटे के बाद उसका पेट (आमाशय) भारी सा हो जाता है अथवा तन सा जाता है। कई बार तनाव के कारण पेट में दर्द या अफारा भी पैदा हो जाता है। जीभ पर मैल की तह, मुंह शुष्क हो जाना, मितली सी आने लग जाना तथा खट्टी डकारें आना आदि इस रोग के कुछ अन्य लक्षण हैं। खट्टी डकारें आने का प्रमुख कारण है कि आहार का पाचन भली प्रकार से नहीं हो पा रहा है। आहार अधिक समय तक आमाशय में पड़ा रह कर अधिक मात्रा में जठर अम्ल रस (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) पैदा कर रहा है।

यदि इन लक्षणों और कष्टों के प्रकट होने के बाद भी रोगी अपनी दिनचर्या और आहार-विहार में परिवर्तन और सुधार नहीं करता है तो रोग के तीव्र हो जाने के लक्षण एवं कष्ट प्रकट होने लग जाते हैं। इनमें रोगी को उल्टी हो सकती है, जिनमें अधपचा, सड़ा हुआ और दुर्गन्ध युक्त भोजन आमाशय से वापिस आता है। इसके बाद कभी-कभी रोगी को दस्त भी आने लग जाते हैं। उल्टियों और दस्त से आमाशय और अन्तड़ियों के खाली हो जाने के कुछ बाद पेट हल्का लगने लगता है साथ ही कब्ज तथा दर्द में भी आराम आ जाता है। कई रोगियों को केवल उल्टियां ही आती हैं, दस्त नहीं लगते जबकी कुछ अन्य रोगियों को केवल दस्त ही लगते हैं, उल्टियां नहीं आती। फिर भी उनके कष्टों में आराम अवश्य आ जाता है।

#### नये अजीर्ण के कारण

अधिकांश मामलों में अजीर्ण का एक मात्र और प्रमुख कारण पाचन तंत्र की प्रक्रिया का अस्त-व्यस्त हो जाना ही होता है। जैसे कि बार-बार गरिष्ठ, बादी, तली-भुनी अधिक मिर्च, मसालेदार खाद्य और कच्चे भोजन का सेवन करते रहने से आमाशय कभी भी पूरी तरह खाली नहीं हो पाता है। हमारी गलत आदतों के कारण जैसे ही आमाशय ८-१० घंटे के अथक् परिश्रम करने के बाद खाली होने वाला होता है, उसे कुछ न कुछ खाते रहने से फिर भर दिया जाता है। इससे आमाशय और अन्य पाचन अंगों की क्रिया पर कु-प्रभाव पड़ता है तथा भोजन के प्रति इनकी संवेदनशीलता घटने लगती है।

सामान्य अवस्था में जैसे ही आहार मुंह में लार आदि से घुल-मिल कर ग्रासनलिका से होकर आहार नाल में प्रवेश करता है, आमाशय आदि पाचन तंत्रों में रक्त संचार तीव्र हो जाता है और उसकी रक्तवाहिनियां फैल जाती हैं, जिससे आवश्यक मात्रा में जठर पाचक रस (पेप्सिन, हाइड्रो क्लोरिक अम्ल, लाइपेज आदि) पैदा हो सके। एक स्वस्थ मनुष्य में २४ घंटे के समय में ४ से ८ लीटर के लगभग जठर रस उत्पन्न होता है। जठर रस स्त्राव न केवल आमाशय में आहार के पहुँचने पर ही होता है, बल्कि भोजन की स्वादिष्ट अनुभूति व महक से भी आमाशय में आमाशय अम्ल और पेप्सिन आदि



पाचक एन्जाइम्स का स्त्राव शुरू हो जाता है। इनके साथ ही आमाशय से एक 'गेस्ट्रिन' नामक अन्तःस्त्रावी रस का स्त्राव भी होने लगता है जो रक्त प्रवाह के द्वारा आमाशय की श्लेष्मिक ग्रन्थियों तक पहुँच कर जठर रसों के स्त्राव को और तीव्र कर देता है।

यह जठर पाचक रस आमाशय में प्रोटीन, वसा और सरल शर्करा कणों का पाचन तो कर सकते हैं, परन्तु जटिल शर्करा कणों (स्टार्च) का पाचन इनके वश की बात नहीं होती। जब आमाशय में आहार पूरी तरह से सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर अवशोषण योग्य बन जाता है तो आमाशय के निचले मुँह जो छोटी आँत में खुलता है और जिसे जठर निर्गम कहा जाता है, में एक कपाट सदृश संरचना होती है। यह कपाट आमाशय के मुँह को खोल कर पचे भोजन को आँत्र में चले जाने देती है किन्तु अधपचे भोजन को आमाशय में ही आवश्यक समय तक रोके रखती है। आमाशय में पानी, ग्लूकोज, लौह, शराब तथा कुछ औषधियों का अवशोषण भी सम्पन्न होता है।

जब आमाशय में आहार का पाचन सम्पन्न हो जाता है तो वह अन्य अन्तः स्त्रावी हार्मोन्स सेक्रीटिन और कोली सिस्टोकिनीन, पेन्क्रियोजाइमिन आदि की मदद से जठर रसों के स्त्राव को कम कर देता है। इन्हीं के साथ सेक्रीटिन अग्न्याशय से सोडा बाई कार्ब व अन्य पाचक रस तथा पित्ताशय के संकुचन से पित्त को निकालकर आँत्र में प्रवेश कराकर आहार के आगे के पाचन को सम्पन्न करता है। इस प्रकार आमाशय के पूरी तरह से रिक्त हो जाने पर जठर रसों का स्त्राव नहीं होता, उस समय केवल क्षारीय श्लेष्मिक स्त्राव होता है जो आमाशय की भीतरी सतह को तर रख कर जठर अम्ल से उसकी रक्षा करता है।

जैसे ही आमाशय में पचा हुआ आहार छोटी आन्त्र में प्रवेश करता है, छोटी आन्त्र की श्लेष्मिक कला से एन्ट्रोक्रिनीन नामक हार्मोन उत्पन्न होने लगता है, जिसके उद्दीपन से आँतों की ग्रन्थियों से आँत्र पाचक रस का उत्सर्जन होने लगता है। भोजन में पोषक तत्वों की प्रेरणा से भी आँत्र से आन्त्र स्त्राव उत्पन्न होता है, परन्तु भोजन में पोषक तत्वों की कमी के कारण आन्त्र रस पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं हो पाता। छोटी आन्त्र में ही 'शर्करा, प्रोटीन तथा वसा का पूरा पाचन सम्पन्न होता है। छोटी आन्त्र में ही पानी, ग्लूकोज, एमीनो एसिड्स, वसा अम्लों, ग्लिसराल, विटामिन्स, खनिज लवणों आदि का अवशोषण भी सम्पन्न होता है। छोटी आन्त्र की पुरःसरण खण्डोशीय तथा झूलन गति के सहयोग से मल आगे की तरफ बढ़ता हुआ बड़ी आन्त्र में पहुँच जाता है।

बड़ी आन्त्र में पोषक तत्वों का सम्पूर्ण अवशोषण सम्पन्न होता है। पोषण नाल के अन्य भागों के समान, बड़ी आन्त्र में पुनःसरण गति नहीं होती है। पर्याप्त लंबे अन्तराल से, अनुप्रस्थ बड़ी आन्त्र में पुरःसरण की एक तीव्र तरंग सी आती है, जो अनुप्रस्थ बड़ी आन्त्र के मल को अवरोही तथा श्रोणि बड़ी आन्त्र की तरफ धकेल देती है। इस क्रिया को सामूहिक गति कहते हैं। प्रायः आमाशय में आहार के प्रवेश करने के बाद, जठर बड़ी आन्त्र प्रतिवर्त के परिणामस्वरूप इस प्रकार की यह सामूहिक गति उत्पन्न होती है। सामान्यतः मलाशय खाली रहता है, मल की इस प्रकार की सामूहिक गति में श्रोणि बड़ी आन्त्र से मल को मलाशय में धकेल दिया जाता है और उससे मलाशय के तन्त्रिका अन्तः उद्दीप्त हो उठते हैं। गुदा का बाह्य द्वार ऐच्छिक पेशियों के नियन्त्रण में रहता है। मल त्याग करते समय मलाशय की पेशियों का अनैच्छिक संकुचन, गुदा के भीतरी द्वार पर शिथिलन तथा गुदा द्वार का ऐच्छिक शिथिलन एक साथ कार्य करते हैं। उदर की भित्तियों का संकुचन तथा डायफ्राम के नीचे की तरफ आने से, उदरगत दबाव में वृद्धि हो जाती है, जो मल त्याग करने की क्रिया में सहायता प्रदान करती है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी कारणवश आमाशय में पाचक रसों का स्त्राव न होना, उसकी मात्रा कम हो जाना या उनकी पाचन क्षमता कु-प्रभावित हो जाना आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनसे भोजन का पाचन आमाशय में भली प्रकार से नहीं हो पाता है और न ही आहार आमाशय से निकल कर आन्त्र में प्रवेश कर पाता है। इस प्रकार पाचन विकार से अजीर्ण रोग की उत्पत्ति होती है।

भोजन के समय या बाद में अधिक ठंडा या अधिक गर्म पानी अधिक मात्रा में पी लेने से आमाशय के पाचक रसों की क्षमता घटती है। भोजन करने के तुरन्त बाद अधिक परिश्रम करने या सम्भोग आदि कर्म करने से रक्त का संचार पाचन अंगों की बजाए उन सक्रिय अंगों की तरफ अधिक मात्रा में होने लगता है जो परिश्रम या सम्भोग के क्षणों में कार्य

करते हैं जैसे उदर के नीचे के अंग । आमाशय आदि में रक्त की कमी से पाचक रसों की स्राव की मात्रा घटती है तथा आन्त्र गतियों के लिए भी ऊर्जा की खपत कम हो जाती है। परिणामस्वरूप आहार का पाचन समय से व ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। इसीलिए ऐसा माना जाता है कि सामान्य पाचन समय से व ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। इसीलिए ऐसा माना जाता है कि सामान्य देना है।

मानसिक उत्तेजना, चिन्ता, डर, उदासीनता, खिन्नता आदि क्षणों में भी या तो व्यक्ति की भूख ही समाप्त हो जाती है या उसकी भोजन करने की इच्छा नहीं रहती । यदि वह ऐसी स्थिति में भी थोड़ा बहुत खा-पी लेता है तो वह आहार जठर पाचक रसों के अभाव में यों ही आमाशय में पड़ा रहता है। क्योंकि इन सब मानसिक दशाओं में आमाशय में पाचक रसों का स्राव अल्प मात्रा में ही हो पाता है या उसमें पाचक एन्जाइम और आमाशय अम्ल की उपस्थिति बहुत कम रह जाती है। आमाशय में भोजन का ठीक प्रकार से पाचन न हो पाने से व्यक्ति में अजीर्ण की दशा उत्पन्न हो जाती है। इन तनाव, बेचैनी, अवसाद आदि के मानसिक क्षणों में व्यक्ति के मस्तिष्क में माओ की सक्रियता बढ़ती है एवं न्यूरोट्रांसमीटर्स का स्राव घटता जाता है।

### पुरानी अजीर्ण की अवस्था

जब रोगी अजीर्ण की पहली अवस्था के लक्षणों की अनदेखी करते हुए अपने आहार-विहार में सुधार नहीं लाता तब अजीर्ण की यह अवस्था जीर्ण रूप धारण कर लेती है और रोगी के कष्टों में और वृद्धि हो जाती है। इस अवस्था में रोगी के पेट में असहनीय दर्द उठ सकता है और मित्ती भी आ सकती है। बहुधा रोगी को वमन हो जाया करता है। कब्ज की शिकायत भी रोगी को कभी-कभी महसूस होती है या फिर कभी-कभी दस्त आने लग जाते हैं। रोगी के मुंह का स्वाद बदलता रहता है। स्वाद कभी खराब, मंह कभी फीका, कभी कसैला, कभी कड़वा और कभी खट्टा सा हो सकता है। जीभ मैली, सिर भारी या कभी-कभी सिर दर्द भी हो सकता है। हाथ-पैरों में जलन महसूस हो सकती है। रोगी सुस्त और उदास रहने लगता है। उसकी शारीरिक शक्ति घट जाती है, भूख कम हो जाती है। साथ ही छाती तथा आमाशय में जलन भी महसूस हो सकती है। मुंह में खट्टा पानी भरना या अम्लीय अजीर्ण के खट्टे डकार आते हैं। रोगी अपने शरीर में गर्मी और जलन का अनुभव करता है। मूत्र अधिक मात्रा में पानी के समान आता है।

आहार के साथ विभिन्न प्रकार के जीवाणु तथा रसायन (जैसे फलों, सब्जियों, अनाज पर उपस्थित उर्वरक, सुरक्षा हेतु मिलाये जाने वाले कीटाणुनाशक, फूड प्रीजर्वेटिव्स आदि) आमाशय में पड़े-पड़े गैस की उत्पन्न करते हैं जिससे रोगी के मुंह से दुर्गन्ध आने लग जाती है और कभी-कभी उससे पेट भी फूल जाता है।

अजीर्ण की एक अन्य अवस्था स्नायुविक अजीर्ण के नाम से पहचानी जाती है। इसमें व्यक्ति बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के भोजन करने के बाद बहुत बेचैनी, अफारा और पेट में गैस सी अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में रोगी को घबराहट होती है, नींद कम आती है तथा रोगी का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। उसका स्वभाव शंकालु सा भी बनता जाता है जिससे वह बिना वजह दूसरों पर सन्देह करने लगता है । रोगी में पाचन क्रिया की गड़बड़ी का कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता।

अजीर्ण की एक और किस्म है जो एलर्जी करने वाले पदार्थों के पेट में पहुँच जाने पर उत्पन्न होती है। इस प्रकार के अजीर्ण को 'अनुर्जता अजीर्ण' या 'एलर्जिक डिसेपेप्सिया' कहा जाता है। इसमें जब भी व्यक्ति कोई एलर्जी करने वाला भोजन कर लेता है तो तुरन्त अपच की शिकायत उसे हो जाती है बाकी सभी खाद्य उसे भली प्रकार से पच जाते हैं।

### पुरानी अजीर्ण पैदा करने वाले कारण

पुरानी अजीर्ण रोग के लिए बहुत सारे कारण तो वे ही हैं जो नयी अजीर्ण के लिए जिम्मेदार होते हैं और जब व्यक्ति नयी अजीर्ण से पैदा होने वाली चेतावनियों पर ध्यान नहीं देता तो वे ही कारण धीरे-धीरे जीर्ण रूप लेकर पुरानी अजीर्ण का कारण सिद्ध होने लगते हैं। जैसे कि आहार में लापरवाही, आहार में गरिष्ठ, वातकारी, घी-तेल युक्त और अधिक मिर्च-मसालेदार भोजनों का अधिक प्रयोग, माँस, मछली, अण्डे का अधिक सेवन, बार-बार चाय , कॉफी पीना,

नशीले पदार्थों का अधिक सेवन, आहार में रेशेदार सब्जियों और फलों का अभाव, रोगी का सदैव तनावग्रस्त एवं चिन्तित रहना, आमाशय में खट्टे पदार्थों का अधिक मात्रा में पैदा होना आदि।

इनके अतिरिक्त पुरानी अजीर्ण के कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं- रक्ताल्पता, आन्त्र कृमि, आमाशय का ढीला पड़ जाना, अन्तड़ियों के रोग, गठिया (गायुट) और छोटे जोड़ों की शोथ, यकृत, वृक्क तथा गर्भाशय से सम्बन्धित रोग, संक्रमण रोगों से उत्पन्न ज्वर आदि।

यदि अजीर्ण रोग का समय पर उपचार न किया जाये और यह धीरे-धीरे जीर्ण रूप धारण करता जाये तो उसके कारण कई अन्य जटिल रोग उत्पन्न होने लगते हैं। जैसे मानसिक कमजोरी, बहम, चिड़चिड़ापन, यकृत शोथ, बवासीर, यकृत का सिकुड़ जाना, पेट में गैस का बनने लगना, सुस्ती, काम करने को जी न करना और वजन का कम होते चले जाना आदि ।

### अजीर्ण रोग की चिकित्सा

जैसा कि अजीर्ण रोग के कारणों से ही स्पष्ट है कि अधिकांश मामलों में अजीर्ण की समस्या अधिक तले-भुने मिर्च-मसालेदार आहार, माँस, मछली, शराब आदि का अति सेवन, आहार में हरी-ताजा पत्तेदार सब्जियाँ, रेशेदार खाद्य पदार्थों का अभाव तथा आहार का सही प्रकार से न पच पाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। यदि आहार में थोड़ी सावधानी बरती जाये तो अजीर्ण की समस्या से बचा जा सकता है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में इसलिए आमाशय, अन्तड़ियों और अग्न्याशय के पाचक एन्जाइम्स वाली औषधियों का प्रयोग विटामिन 'बी' समूह के साथ कराया जाता है। इनसे एक तो भोजन पचकर शरीरांश बनने लग जाता है। साथ ही रोगी का वजन भी बढ़ने लगता है। इन औषधियों से पेट का भारीपन, अधिक समय तक आमाशय में पड़े रहना, भोजन का भली-भाँति न पचना, शारीरिक कमजोरी, बेचैनी आदि दूर हो जाती है।

यदि अजीर्ण रोग के लिए अन्य शारीरिक रोग जिम्मेदार है तो सर्वप्रथम उनकी समुचित चिकित्सा की जानी चाहिए । वैसे अजीर्ण रोग के लिए कुछ विशेष प्रकार के खाद्य पदार्थ भी सीधे रूप में जिम्मेदार होते हैं। उनकी समुचित चिकित्सा की जानी चाहिए । जैसे- यदि अजीर्ण रोग कटहल आदि खाने से हुआ हो तो केला खाने से लाभ आ जाता है। केले के पाचन के लिए छोटी इलायची या धी का सेवन करना चाहिए। नारियल तथा ताल के फलों का पाचन चावल से शीघ्र हो जाता है। चावलों के अजीर्ण के लिए बासी पानी जो रात्रि को ताँबे के बर्तन में रखा गया हो, पीने से लाभ हो जाता है। चीवड़े के कारण उत्पन्न अजीर्ण में पीपरि खानी उत्तम है। सांटी चावल खाने से पेट में भारीपन महसूस होने लगे तो दही की छाछ से आराम आ जाता है।

गेहूँ, माँस, मछली, चना, मटर आदि के शीघ्र पाचन के लिए नागरमोथा का प्रयोग किया जाये। स्नेह पान से अजीर्ण हुआ हो तो हरण, भुनी हींग, इलायची, लौंग, धनिया, जीरा, सौंफ के चूर्ण का सेवन करना अत्यंत लाभकारी सिद्ध होता है। अधिक मछली खाने से अजीर्ण हुआ हो तो आरनाल का सेवन करना या आम की गुठली का चूर्ण देना उत्तम सिद्ध होता है। इसी प्रकार माँस का पाचन तिल के पौधे के नाल के क्षीरपाक से, घीका काली मिर्च से और आलू का तंडुलोदक से शीघ्र हो जाता है।

इनके अतिरिक्त दालचीनी, पुदीना, अदरक, लोंग, मेथी, अनारदाना, जीरा, अजवायन, काली मिर्च, हींग, सौंफ, हल्दी आदि में कई प्रकार के पाचक रस तथा अन्य रसायन उपस्थिति रहते हैं जो पाचन के साथ-साथ व्यक्ति की भूख बढ़ाने तथा पेट में गैस बनने से रोकते हैं। अंजीर, कच्चा पपीता आदि में तो पेप्सिन नामक पाचक एन्जाइम सीधे ही मौजूद रहता है। इसी प्रकार अंकुरित अनाज में डायस्टेज नामक एन्जाइम की उपस्थिति होती है जो स्टार्च का पाचन करता है।

इनके अतिरिक्त अजीर्ण रोग के उपचार के लिए निम्नलिखित सरल आयुर्वेदिक योग तैयार करके उपयोग में लाये जा सकते हैं-

१. जीरा, त्रिकुट एवं यवक्षार समान मात्रा में लेकर इनका महीन चूर्ण तैयार कर लें। इसे भोजन से पहले एवं पश्चात् देने से अजीर्ण, अग्निमौघ आदि में लाभ आ जाता है।
२. अनार दाना ७२ ग्राम, सोंठ १२ ग्राम, काली मिर्च ३६ ग्राम, पोदीना ७२ ग्राम, काला और सफेद जीरा २४-२४ ग्राम, छोटी पीपल २४ ग्राम, इलायची बीज २४ ग्राम, नींबू सत्व ३६ ग्राम, काला नमक १६२ ग्राम, पिपरमेंट ६ ग्राम, चीनी ६०० ग्राम। इन सभी को एकत्र कर अत्यंत बारीक पीसकर आपस में मिला लें। ६ ग्राम चूर्ण भोजन के बाद ताजा पानी के साथ सेवन करें। इससे अजीर्ण, अरुचि तथा अन्य पेट सम्बन्धी रोग पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं।
३. जीरा भुना, काली मिर्च, सोंठ, काला नमक, नौसादर और नींबू सत्व प्रत्येक २४-२४ ग्राम की मात्रा में लेकर और मिश्री १४४ ग्राम का महीन कपड़छान चूर्ण करके आपस में मिला लें। दिन में ३-४ बार गर्म पानी या ताजा पानी के साथ सेवन करने से अजीर्ण, अफारा, अरुचि व अन्य उदर सम्बन्धी विकारों को नष्ट करता है। पाचन क्रिया को सबल बनाता है, जिससे गरिष्ठ और भारी भोजन भी शीघ्र पचने लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह चूर्ण भूख जगाने, शौच क्रिया को ठीक करने, पेट की गुड़गुड़ाहट, पीड़ा और तनाव में भी लाभप्रद है।
४. अच्छी तरह साफ और शुष्क की हुई गुलाब के पुष्प की पंखुडियां १८० ग्राम, सारिवा, दालचीनी, वंशलोचन, गिलोय सत्व, नागरमोथा, सफेद चन्दन, रूमी मस्तंगी, आंवला प्रत्येक १२-१२ ग्राम की मात्रा में, मिश्री ३६० ग्राम, सभी को बारीक पीस कर और छान कर स्वच्छ कांच की शीशी में भर कर रख लें। दिन में तीन बार ३ ग्राम की मात्रा में दूध या पानी के साथ सेवन करें। इसके सेवन से अजीर्ण, पेट दर्द, कब्ज के अतिरिक्त पेट कि जलन, मितली, अम्लपित्त आदि में भी लाभ आ जाता है।
५. अनारदाना एक किलोग्राम महीन पीसकर, पांचों नमक, पीपल, अकरकरा सभी २४-२४ ग्राम की मात्रा में लेकर महीन चूर्ण कर लें, धनियां, जीरा, काली मिर्च ६०-६० ग्राम, जावित्री १२ ग्राम को भी बारीक पीस लें तथा मुनक्का और मिश्री २५०-२५० ग्राम लेकर सभी को आपस में मिलाकर पीस लें तथा छोटी-छोटी गोलियां बना लें। १-१ गोली मुंह में रख कर चूसने से जठराग्नि प्रदीप्त होकर अजीर्ण रोग नष्ट हो जाता है।
६. बेल का सूखा गूदा १०० ग्राम, सौंफ मोटी १०० ग्राम, ईसबगोल की भूसी १०० ग्राम, इलायची छोटी छिलका सहित २० ग्राम, काबली हरड़ १०० ग्राम, अनारदाना १०० ग्राम और देशी चीनी ३५० ग्राम। सभी वस्तुओं को अच्छी तरह पीस कर छान लें और उसमें चीनी मिलाकर मिश्रण तैयार कर लें। इस चूर्ण में से १२ ग्राम चूर्ण पानी के साथ सुबह नाश्ता करने से पहले खाली पेट और शाम को खाना खाने के बाद १२ ग्राम की मात्रा में गुनगुने पानी या दूध के साथ सेवन करें। इस चूर्ण के सेवन से लगभग एक सप्ताह बाद उदर रोगों में आराम आने लगता है तथा लगभग डेढ़-दो माह के बाद समस्त प्रकार के उदर रोग ठीक हो जाते हैं।
७. अजीर्ण की एक अन्य आयुर्वेदिक चिकित्सा इस प्रकार है- दिन में दो बार, सुबह-शाम क्षुधासागर रस १२५ मि.ग्रा., ४ लौंग शहद में मिलाकर चार्टे, दिन में दो बार ही सुबह नाश्ते के एक घंटे बार गर्म पानी के साथ । भोजन के तुरंत बाद दिन में दो बार ३-३ चम्मच झण्डू पंचारिष्ट समान मात्रा में पानी मिलाकर लें और रात्रि को सोते समय एक ग्राम हिंक्वष्टक चूर्ण थोड़े से पानी के साथ।

## प्राकृतिक चिकित्सा

अजीर्ण का अर्थ है अपचन अर्थात् भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं होना। परिणामस्वरूप जठराग्नि मंद हो जाती है और धीरे-धीरे कम होती हुई एकदम खत्म हो जाती है। फिर भी रोगी भोजन करता रहता है और मंदाग्नि के कारण अजीर्ण बढ़ता जाता है। यह रोग अनेक रोगों को जन्म देता है। सिर दर्द, चिड़चिड़ापन, अम्लपित्त (हाइपर एसिडिटी), गैस बनना, पेट में भारीपन आदि लक्षण दिखाई देते हैं। इस रोग से पूर्ण मुक्ति के लिए प्राकृतिक चिकित्सा सर्वोत्तम है।

सबसे पहले पेट पर गरम-ठंडे तैलिये से सेक करना उत्तम है। इसके लिए रोयेंदार तैलिये के दोनों किनारों को पकड़ कर बीच का भाग गर्म पानी में भिगो-निचोड़ कर धीरे-धीरे पेट का सेक करें। इसी प्रकार बाद में ठण्डे पानी का भी सेक करें। बाद में मिट्टी की पट्टी पेट पर ३० मिनट तक रखें। तत्पश्चात् रोगी की स्थिति के अनुसार नीम के पत्तों का उबला पानी या छाछ या गुनगुने पानी में १ नींबू निचोड़कर एनीमा लगायें। एनीमा के तरल की मात्रा १ से डेढ़ लीटर तक रखनी चाहिए। एनीमा के बाद में ठंडा कमर स्नान दें और पेट पर लपेट बांधें। रोज रात्रि में पेट पर गरम-ठंडा सेक देकर लपेट बांधें। पेट की लपेट रात भर बंधी रहने दें। इससे आंतों में संचित विष अपने आप निष्कासित होने लगता है। दस दिन

के बाद प्रातःकाल पेट को थोड़ा गरम करके १०-१५ मिनट तक ठंडा कटि स्नान दें। रोजाना रात्रि में पेट पर लपेट बांधें। । आवश्यकतानुसार गरम-ठंडा कटि स्नान व मेहन स्नान दे सकते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में विजातीय तत्वों (संचित विषों) को बाहर निकाला जाता है। हमारे शरीर में निष्कासन की प्रक्रिया में त्वचा, फुफ्फुस, गुर्दे, आंत्र आदि अंग विशेष भाग लेते हैं। इनकी क्रियाओं को सामान्य व प्रभावी बनाने के लिए धूप स्नान, वाष्प स्नान, गीली चादर लपेट, घर्षण स्नान आदि रोगी की परिस्थिति के अनुसार दे सकते हैं।

## आहार चिकित्सा

प्रातःकाल उठते ही २-३ गिलास जल पीकर अपनी दिनचर्या प्रारंभ करें।

- रोगी की शरीर के अनुसार फलों के रस नींबू, शहद अथवा सिर्फ पानी पर २ से ४ दिन तक पूर्ण अथवा आधे दिन का उपवास करायें। उपवास से दूषित पदार्थ भली प्रकार शरीर से बाहर निकल जाते हैं और आम विष का पाचन हो जाता है। उपवास के बाद मौसम के अनुसार फल जैसे- संतरा, अनार, मौसम्मी, नारियल पानी, छाछ या रात्रि में भीगे हुए किशमिश, मुनक्का आदि देना चाहिए।
- ५० ग्राम गेंहू को २०० मि.ली. पानी में २४ घंटे तक भिगोएं। बाद में पानी को छानकर पी जाएं।
- छाछ, मट्ठा, व दही का भरपूर प्रयोग करें। इससे आंतें सबल व स्वस्थ बनती हैं।
- मोटे आटे की मोटी रोटी, उबली सब्जी, सलाद इत्यादि एवं सूप तथा फलों का रस लेना चाहिए।
- रात्रि का भोजन सूर्यास्त से पूर्व ही कर लेना चाहिए।

गरिष्ठ भोजन, तले-भुने, मैदा युक्त पदार्थ, अम्लता बढ़ाने वाले पदार्थ, गरम मिर्च-मासले, मांस, मदिरा इत्यादि का सेवन एकदम नहीं करना चाहिए।

## अरुचि-अरोचक

### (ANOREXIA)

अरुचि का तात्पर्य है भोजन में रुचि का न रहना या भोजन करने को मन न करना अर्थात् भूख का कम हो जाना जबकि अरोचक का अभिप्राय है भोजन की इच्छा का समाप्त हो जाना यानि कि भूख का ही न लगना। यथार्थ में तो ये दोनों अवस्थाएं एक ही रोग के लक्षण हैं क्योंकि यदि शरीर में रोग का कारण प्रारम्भिक अवस्था में, हल्के और कम हैं तो भूख कम लगती है और यदि ये कारण तीव्र, अधिक और जीर्ण अवस्था के हैं तो रोगी की भूख बिलकुल ही समाप्त हो जाती है।

लेकिन यहाँ एक बात का ज्ञान होना भी जरूरी है कि भूख का न लगना और किसी कष्ट के डर से भोजन न करना, इन दोनों बातों में अंतर है। अनेक बार रोगी आमाशय में घाव, मुँह का पक जाना, अन्न प्रणाली की शोथ और दर्द तथा जीभ पर छाले हो जाने आदि के कष्ट से डर कर भी खाना खाने से डरता है। एक-दो समय न खाने या कष्टों में कमी आ जाने से रोगी को भूख लगने लग जाती है। परन्तु जब स्थायी रूप से रोगी कम खाने लग जाये या फिर खाना बिलकुल ही छोड़ दे तो यह चिन्ता का विषय बन जाता है। ऐसा शरीर में किसी भयानक रोग की उपस्थिति के कारण भी हो सकता है क्योंकि आमाशय में शोथ, आमाशय व्रण या कैंसर और अन्य पाचन तंत्र के कैंसरों में भी रोगी की भूख घट जाती है। शरीर को अन्दर से खोखला कर देने वाले क्षय रोग, शरीर में रक्त की अत्यधिक कमी में भी रोगी की भूख घट जाती है। कई स्नायु और मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों में भी भूख घट जाती है जबकि इनके विपरीत कई व्यक्तियों को कई विशेष खाद्य पदार्थों से घृणा हो जाती है और जब वे उन्हें अपने आहार में देखते हैं तो उन्हें खाने में रुचि ही नहीं रह जाती है। यकृत, पित्ताशय आदि के रोग ग्रस्त हो जाने पर तो वैसे ही घी, तेल आदि से निर्मित खाद्यों को देखते ही मितली सी आने लग जाती है।

### रोग के लक्षण

इस रोग में रोगी को या तो भूख कम लगती है या बिलकुल नहीं लगती या फिर भूख लगने पर भी खाने-पीने की इच्छा नहीं रहती। कभी-कभी तो भोजन खाने से घृणा सी हो जाती है और भोजन को देखते ही मितली सी आने लग जाती है। घी, तेल और अधिक मिर्च-मसालेदार तले-भुने खाद्य पदार्थों और गरिष्ठ भोजनों को तो देखने को भी मन नहीं करता या फिर इन्हें देखने मात्र से ही रोगी की भूख उड़ी जाती है।

रोगी को पेट में भारीपन लगता है। पेट सदैव भरा-भरा सा प्रतीत होता है। मुँह का स्वाद भी कड़वा या फीका सा और जीभ पर सफेद मैल की परत जमी मिलती है। कभी-कभी रोगी के पेट में दर्द और कब्ज की शिकायत भी देखने को मिलती है। रोगी को अपने पेट में जलन सी भी महसूस हो सकती है। रोगी का मुँह सूखता है पर कुछ भी खाने पीने को मन नहीं करता। जीभ रूखी और होठों पर पपड़ी सी जमी मिल सकती है। शारीरिक रूप में भी रोगी सुस्त और कमजोर प्रतीत होता है। रोगी का मन कोई काम करने अथवा बिस्तर से उठने तक को नहीं चाहता। वह आलस्य और सुस्ती के कारण जहाँ का तहाँ पड़ा रहना चाहता है। रोगी का स्वभाव भी चिड़चिड़ा सा होने लगता है। रोग के जीर्ण रूप धारण करने पर रोगी में रक्ताल्पता और कुपोषण के लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं।

कभी-कभी कुछ रोगियों में इस रोग के कारण ऐसी दशा हो जाती है कि उनकी इच्छा कुछ अजीब चीजें खाने को करती है। जैसे- मुलतानी मिट्टी, चौक, खड़िया, कोयला, कंकड़, मिट्टी और उससे बने बर्तनों के टुकड़े और सफेदी-चूना आदि। संभव है ऐसा इसलिए होता है कि आहार में और उससे शरीर में उपजी कैल्शियम आदि तत्वों की अल्पता हो सकती है।

### रोग के कारण

खाना खाने की इच्छा का जाग्रत होना एक बेहद जटिल प्रक्रिया है जो हमारे मस्तिष्क सहित कई अंगों, रक्त में ग्लूकोज के स्तर आदि पर निर्भर कर सकती है। भूख उत्पन्न होने का सीधा सा सम्बन्ध आमाशय की कार्य प्रणाली से है।

इसलिए जब भी आमाशय में कोई विकार उत्पन्न होता है तो व्यक्ति की भूख पर उसका असर अवश्य पड़ता है। जब भी आमाशय पूर्णतः रिक्त हो जाता है तब उत्पन्न हुए तीव्र पुनःसंरक्षण संकुचन के कारण व्यक्ति को अपने पेट में भूख के चूहे से दौड़ते अनुभव होते हैं और उसे तीव्र भूख की अनुभूति होने लगती है। व्यक्ति को भूख लगने की यह अनुभूति उस अवस्था में भी संभव है जबकि उसकी आंत्र अभी भोजन से भरी हुई हो। इसी कारण आमाशय को किसी भी ऐसे पदार्थ से भर देने से, चाहे उस पदार्थ से भरी हुई हो। इसी कारण आमाशय को किसी भी ऐसे पदार्थ से भर देने से, चाहे उस पदार्थ में शरीर के लिए आवश्यक पोषक तत्व बिल्कुल न भी हो, व्यक्ति की भूख शांत हो जाती है। अतः भूख की जागृति के लिए आमाशय का रिक्त होना आवश्यक है अथवा आमाशय के अधिक समय तक भरे रहने या रिक्त न होने पर अरुचि रोग की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि भूख एक उदरीय अनुभूति है।

चूंकि अरुचि रोग की उत्पत्ति आमाशय या आन्त्र विकार अर्थात् पाचन दोष के कारण उत्पन्न हो सकती है, अतः इस रोग के पीछे वे सब कारण हो सकते हैं जिनसे आमाशय की स्वाभाविक प्रक्रिया में व्यवधान पैदा होता हो। इस आधार पर अरुचि रोग के प्रमुख कारण इस प्रकार हो सकते हैं- अधिक गर्म, भारी, गरिष्ठ, तले-भूने और देर से पचने वाले अन्य खाद्य पदार्थों का नियमित रूप में सेवन, आमाशय और आन्त्र की पाचन क्रिया के विकार, आमाशय में श्लेष्मिक तरल का इकट्ठा हो जाना, आन्त्र कृमि, यकृत (पीलिया) और प्लीहा आदि के रोग, तीव्र और पुरानी आमाशय शोथ, पाचन अंगों का कैंसर, क्षय रोग, हृदय और वृक्क सम्बन्धी रोग, रक्ताल्पता, संक्रमण रोगजन्य ज्वर, स्नायुविक और मानसिक दोष, विटामिन बी-१ की कमी इत्यादि। इन रोगों के विस्तार में जाने से पूर्व थोड़ा आमाशय आदि अंगों की संरचना को देख लें।

हमारा आमाशय पोषण नाल का सबसे चौड़ा भाग है जो अन्न नलिका (इसोफेगस) के अन्न तथा छोटी आन्त्र के मध्य स्थित रहता है। आमाशय के आकार में इसके रिक्त होने और भोजन आदि से भर जाने पर परिवर्तन होता रहता है। सामान्यतः आमाशय की आड़ी लंबाई ३० सेमी. और खड़ी चौड़ाई ५ सेमी के लगभग रहती है तथा पूर्णतः खाली होने पर आमाशय का वजन १३० से १४० ग्राम के लगभग रहता है। यों कुछ लोगों के अधिक मात्रा में भोजन करते रहने से आमाशय का आकार स्थायी रूप में ही बढ़ जाता है और उनका पेट बाहर की ओर निकल आता है। जैसे कि मथुरा के पेड़े या बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र के कुछ आदिवासियों का पेट बाहर को निकला होता है। आमाशय में दो मुंह होते हैं- एक ऊपर बाईं ओर जो आमाशय को अन्न नलिका से जोड़ता है और दूसरा मुंह नीचे दाईं ओर, जहाँ से छोटी आन्त्र प्रारंभ होती है, जिसे 'जठर निर्गम' कहते हैं। इस मुंह पर एक कपाट लगा रहता है जो केवल पचे भोजन को ही धीरे-धीरे आमाशय से छोटी आन्त्र में जाने देता है।

आमाशय चार कलाओं वाली दीवारों से बना होता है। सबसे ऊपर बाहरी भाग में पर्युदर्या कलामय वृत्ति जो एक तरह पदार्थ से भरी रहती है। उसके नीचे अन्दर की ओर माँसपेशीमयी वृत्ति जो लंबाई में अनुप्रस्थ रूप में तथा तिरछे रूप में लगे हुए तीन प्रकार के स्वतंत्र पेशी तन्तुओं से बनी होती है। उसके नीचे और अन्दर संयोजक तन्तुमयी वृत्ति जो आभ्यन्तर कला के सम्यक् प्रबन्धन के लिए खानदार पर्त के रूप में मकड़ी के जाले की भाँति सूक्ष्म स्नायु सूत्रों से निर्मित स्तर है। इसमें पाचक रसों को स्रावित करने वाली ग्रन्थियाँ, शिराएँ, धमनियाँ, रसायनों के जालक उपस्थित रहते हैं। सबसे नीचे अन्दर की ओर स्थूल कलामयी (म्यूकस मेम्ब्रेन से बनी) आभ्यन्तरिक वृत्ति। आमाशय की खाली अवस्था में इसमें जठर अम्ल का स्राव करने वाली ग्रन्थियों के मुंह खुलते हैं जो पाचन के लिए आवश्यक अम्ल रस का क्षरण करती हैं।

अधिक तले-भूने, भारी भोजन करने अथवा पाचन क्रिया के विकार से खाया हुआ आहार लंबे समय तक आमाशय में ही बिना पचा पड़ा रहता है जिससे आमाशय में पुनःसंरक्षण संकुचन की गति बहुत मध्यम पड़ जाती है, साथ ही भूख भी दबी पड़ी रहती है। इसी तरह जब आमाशय में कैंसर या साधारण प्रकार की रसौली बन जाती है तो, एक तो इससे आमाशय का निचली तरफ का मुंह सिकुड़ कर बंद हो जाता है तथा खाया हुआ आहार आन्त्र में नहीं पहुँच पाता तो दूसरी तरफ रसौली स्वयं ही आमाशय के बहुत बड़े भाग को भर लेती है, जिससे आमाशय सदा भरा-भरा सा रहता है। इससे भी व्यक्ति को भूख नहीं लगती और कुछ भी खाने-पीने की इच्छा नहीं होती।

आमाशय शोथ की अवस्था में आमाशय की भीतरी श्लेष्मिक झिल्ली में शोथ उत्पन्न हो जाती है। यह शोथ गरिष्ठ भोजन करने, अधिक मात्रा में खाली पेट लंबे समय तक शराब का सेवन करते रहने, आमाशय में संक्रमण रोगों के कारण

और श्लेष्मा पर उत्तेजना पैदा करने वाली प्रतिजीवी, दर्द निवारक व अन्य औषधियों का अधिक समय तक सेवन करते रहने से उत्पन्न हो सकती है।

नयी आमाशय शोथ की अवस्था में आमाशय की भीतरी झिल्ली से सफेद और गाढ़ा सा तरल अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगता है, जिससे पाचक रसों के स्त्राव की मात्रा घट जाती है। परिणामस्वरूप खाये हुए आहार का पाचन शीघ्र और सुगमता से नहीं हो पाता व व्यक्ति का आमाशय अधपचे आहार से ही भरा पड़ा रहात है। इसी प्रकार जीर्ण आमाशय शोथ की अवस्था में आमाशय की श्लेष्मिक कला मोटी, सख्त और मटियाली रंग की हो जाती है। आमाशय फैलकर बड़ा हो जाता है, आमाशय से पाचक रसों के स्थान पर एक अन्य लेसदार पदार्थ निकलने लग जाता है, इससे भी आमाशय की पाचन क्रिया प्रभावित होती है और रोगी की भूख घट जाती है।

कुछ लोग शराब को भूख बढ़ाने वाला मानते हैं। काफी हद तक यह बात ठीक भी है। शराब के एक-दो पैग आमाशय में जाकर गर्मी का अहसास प्रदान करते हैं व आमाशय की परिःसरण गति को बढ़ा कर भूख की प्रकृति पैदा करती है, परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। जब खाली पेट अधिक दिनों तक अधिक मात्रा में शराब का सेवन किया जाता है तो उससे आमाशय की आन्तरिक श्लेष्मिक कला में शोथ उत्पन्न होने लगती है या फिर यकृत की कार्यक्षमता प्रभावित होने लगती है, जिनका परिणाम भी भूख की कमी के रूप में ही सामने आता है।

यकृत से सम्बन्धित सभी रोगों जैसे यकृत शोथ (पीलिया), यकृत में फोड़ा बन जाना या यकृत के आकार में वृद्धि हो जाना आदि में भी रोगी की भोजन की इच्छा समाप्त हो जाती है। यकृत के यह रोग अधिक शराब व कुछ औषधियों का अधिक मात्रा में सेवन करने, यकृत पर विशेष प्रकार के विषाणुओं का संक्रमण, जो बाद में पीलिया रोग का कारण सिद्ध होते हैं, अमाबिक जीवाणुओं द्वारा यकृत में उत्पन्न फोड़ा आदि के कारण पैदा होते हैं। इन समस्त रोगों से यकृत की कार्य क्षमता तथा पित्त का स्त्राव घटता है।

आमाशय में घाव आदि बन जाने से भी रोगी को भोजन से अरुचि उत्पन्न हो जाती है। आमाशय के पुराने घाव से पाचन क्रिया कमजोर पड़ जाती है। आमाशय में जलन और दर्द रहने लगता है। रोग बढ़ने से धीरे-धीरे आमाशय के दर्द में वृद्धि होने लगती है। पाचन क्रिया सदैव खराब रहने से भूख घट जाती है, पेट में गैस बनने लगती है। प्रायः रोगी को कब्ज की शिकायत भी रहती है। धीरे-धीरे रोगी कमजोर होता जाता है जिससे उसके शरीर में रक्त की कमी भी हो जाती है। रक्त की कमी से पाचन प्रक्रिया बिगड़कर भूख और घट जाती है।

पेट में कई प्रकार के कृमियों की उपस्थिति से भी रोगी की भूख समाप्त हो सकती है। वैसे तो सामान्य अवस्था में पेट में कीड़ों की मौजूदगी से भूख घटने की बजाए बढ़ती है, परन्तु सदैव और सभी रोगियों में ऐसा नहीं होता। सामान्यतः पेट में चुरने (ऑक्सीरियसिस), केंचुए (ऐसकारियसिस) आदि कृमि अधिकांश देखने में आते हैं। यह कृमि आमाशय के रिक्त होने पर उसकी ओर सरकने लगते हैं जिससे रोगी को मितली और उबकाई की अनुभूति सी महसूस होने लगती है और भोजन की इच्छा समाप्त हो जाती है। एक अन्य प्रकार के आन्त्र कृमि, जिन्हें अंकुश कृमि (हुक वर्म) कहते हैं, ये छोटी आन्त्र के ऊपरी हिस्से की श्लेष्मिक कला में पलते हैं और आन्त्रों की रक्तवाहिनियों से रक्त चूसते रहते हैं। इससे कुछ समय उपरांत रोगी में भयंकर प्रकार की रक्त की कमी उत्पन्न हो जाती है। रक्त की कमी के कारण सारा शरीर व चेहरा पीला पड़ जाता है। पाचन क्रिया भी मंद पड़ जाती है और अंत में रोगी की भूख समाप्त हो जाती है। रोगी में रक्त की यह कमी किसी अन्य कारण से भी पैदा हो सकती है, लेकिन यह बात बिल्कुल सही है कि रक्त की कमी चाहे किसी भी कारण से हो, रोगी की भूख अवश्य प्रभावित होगी।

विटामिन 'बी' समूह का महत्वपूर्ण घटक है 'विटामिन बी-9- यह शरीर में रक्त उत्पादन के लिए अत्यंत आवश्यक घटक है। शरीर में इसके अभाव या आहार द्वारा इसकी पूर्ति न हो पाने पर रोगी में भयंकर प्रकार की रक्त की कमी उत्पन्न हो जाती है और परिणामस्वरूप भूख की कमी थी।



क्षय रोग के कारण या अन्य संक्रामित रोगों से उत्पन्न ज्वरों में भी रोगी की भूख मर जाती है। कारण, इन जीवाणुओं के शरीर पर आक्रमण के फलस्वरूप विशेष प्रकार के जीव विषों की उत्पत्ति होती है, जो सीधे ही आमाशय अथवा मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर रोगी की भोजन में इच्छा समाप्त कर देते हैं।

कई बार व्यक्ति द्वारा भोजन पूर्व पानी पी लेने या फिर बार-बार अधिक मात्रा में पानी पीते रहने से भी भूख घट जाती है। पानी आमाशय में पहुँच कर दो प्रकार से प्रभाव डालता है एक तो इसमें आमाशय के पाचक रसों की सक्रियता घट जाने से पाचन प्रक्रिया मंद पड़ जाती है और काफी समय तक भोजन आमाशय में ही रुका रहता है, तो दूसरी तरफ पानी द्वारा ही आमाशय पूरी तरह भर जाता है जिससे व्यक्ति की भूख स्वतः ही शांत हो जाती है।

अरुचि रोग की एक और किस्म है जिसमें स्नायुविक या मानसिक कमजोरी, उत्तेजना, चिन्ता, डर आदि कारणों से रोगी को भूख नहीं लगती है। इस प्रकार की अरुचि को 'विक्षिप्तज अरुचि' (एनोरेक्सिया नरवोसा) नाम दिया गया है। स्नायुविक अरुचि की यह किस्म सामान्यतः जवानी में विशेषकर नौजवान स्त्रियों, कुंवारी लड़कियों आदि को उनके विवाह आदि के आसपास अधिक हुआ करती है। इस दशा में रोगी वैसे तो हर प्रकार से स्वस्थ होता है, उसके आमाशय और यकृत आदि की क्रिया भी ठीक होती है, प्रत्यक्ष रूप में कोई रोग दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु रोगी में खाने की इच्छा समाप्त हो जाती है।

### अरुचि की चिकित्सा

सर्वप्रथम रोगी को उन सभी कारणों का परित्याग देना चाहिए जो प्रथम दृष्टि में अरुचि रोग का कारण प्रतीत होते हों जैसे-भारी, गरिष्ठ, तले-भुने भोजन, माँस, मछली, अण्डे, शराब आदि। साथ ही रोग के वास्तविक कारणों का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए और सबसे पहले उन रोगों का उपचार शुरू करना चाहिए जो रोग का कारण सिद्ध हुए हों, जैसे कि क्षय रोग, आन्त्र कृमि, आमाशय शोथ आदि।

यदि पाचन क्रिया में कोई दोष प्रतीत हो, तो सर्वप्रथम उसी की चिकित्सा शुरू करें। यों भी आयुर्वेद चिकित्सा विधान में सामान्य अरुचि रोग के लिए रुचि उत्पादक, दीपक और पाचक औषधियों का विधान बतलाया गया है जिनसे रोगी की पाचन प्रक्रिया सुधरती है और उसकी रुचि भोजन में उत्पन्न होने लगती है।

भोजन को नियमानुसार, निश्चित समय अंतराल से खूब चबा-चबा कर धीरे-धीरे करना चाहिए और जितनी भूख हो उससे थोड़ी कम मात्रा में ही करना चाहिए। ऐसा करते रहने से पहले तो पाचन तंत्र की समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी और यदि किन्हीं कारणों से उत्पन्न हो भी जाये तो आमाशय में भोजन ठंसने से पूर्व उसकी पाचन प्रक्रिया को सुधार कर उसे रिक्त कर लिया जाये। इसके लिए व्यक्ति एक नींबू के दो टुकड़े करके उन पर पिसा हुआ काला नमक, पिसी सोंठ और भुनी हींग का चूर्ण करके बुरक कर, थोड़ा गरम करके चूसे। इससे रोगी को पुनः भोजन की प्रति रुचि उत्पन्न होने लगती है। इसी तरह अग्नि तुण्डी वटी की दो गोलियाँ दिन में दो बार गर्म पानी से लेने या फिर पिप्पली, सेन्धा नमक, बड़ी हरड़ या छिलका और सोंठ आदि लेकर इनका चूर्ण बना लें तथा जल के साथ लें। इससे अपक्व आहार का पाचन तथा शोधन होता है तथा अग्नि का दीपन होने लगता है।

अजीर्ण, अरुचि, अग्निमाँद्य आदि तमाम उदर सम्बन्धी रोगों पर आयुर्वेदिक आचार्यों ने बहुत अधिक कार्य किया है और सैकड़ों अदभुत योगों की रचना की है। नीचे अरुचि रोग के उपचार में सहायक कुछ सरल, आसान एवं हानि रहित आयुर्वेदिक योगों का वर्णन कर रहा हूँ-

9. सफेद जीरा, काला जीरा, हरड़ छिलका, अजवाइन, वायबिंडग, अदरक, चित्रक, पोदीना, धनिया, सेन्धा नमक, सांभर नमक, समुद्र नमक, काला नमक, विड नमक, अम्बवेल, शुद्ध सुहागा सभी समान-समान मात्रा में लेकर इन्हें अच्छी तरह पीस कर महीन चूर्ण कर लें तथा नींबू के रस में घोंट कर गोलियाँ बना कर छाया में सुखा कर स्वच्छ बर्तन में रख लें। 9-2 गोलियों का सेवन करते रहने से अरुचि एवं अजीर्ण आदि रोगों का शमन होने लगता है और रोगी को भोजन के प्रति रुचि होने लगती है।

२. जीरा २४० ग्राम, सेंधा नमक ६० ग्राम, काला नमक ३० ग्राम , छोटी हरड़ का चूर्ण ६० ग्राम इन सभी को पीसकर और छान कर एक कांच के बर्तन में डालकर तथा नींबू के रस में तर करने के बाद शीशी का मुंह बंद करके धूप में सूखने के लिए रख दें। नींबू का रस सूख जाने पर इस चूर्ण को शीशी में से निकाल कर धूप में फैला कर शुष्क कर लें और पुनः पीस कर छान लें। भोजन के बाद या जब आवश्यकता हो तब यह चूर्ण १ से ३ ग्राम की मात्रा में पानी के साथ सेवन करें। इस चूर्ण से जी मिचलाना, भूख न लगना, अपचन, अजीर्ण, उदर कृमिजन्य शूल, अरुचि आदि में शीघ्र लाभ आ जाता है।
३. छोटी इलायची दाने, काला जीरा, सफेद जीरा, धनिया, सौंफ, कुलिंगन सभी ५-६ ग्राम की मात्रा में, अनारदाना, छोटी हरड़ का चूर्ण, सेंधा नमक प्रत्येक १०-१० ग्राम की मात्रा में, डासरिया १० ग्राम, इन सभी का कपड़छान चूर्ण तैयार कर लें। यह चूर्ण अरुचि, अजीर्ण और विबन्ध (कब्ज) का नाश करता है।
४. तालीस पत्र, काकड़ासिंगी, पिप्पली, काली मिर्च, सौंठ, हरण का छिलका, मुनक्का, लौंग, छुहारा, अनारदाना, दालचीनी, काला जीरा, इलायची, नेत्रवाला, वंशलोचन, कचूर, नागरमोथा सभी समान मात्रा में लेकर इनका बारीक चूर्ण तैयार कर लें तथा इसमें सभी के समान वजन के बराबर मिश्री का चूर्ण मिला लें। इस चूर्ण का ३ से ५ ग्राम की मात्रा में सेवन करने से अरुचि, अजीर्ण, उदर रोग पीलिया, उदयावरण शोथ, भग्नदर, बवासीर आदि के कष्ट दूर होते हैं।
५. अनार, नींबू, अदरक, पोदीना आदि के स्वरस बराबर मात्रा में लेकर उसमें चार गुनी चीनी डाल कर चाशनी बना लें। गर्म चाशनी को आग से उतारते ही उसमें भुना जीरा, छोटी इलायची बीज और काली मिर्च का बारीक चूर्ण यथावश्यक मिला कर अवलेह सा बना लें। इस अवलेह को दिन में ३-४ बार २४-२४ ग्राम की मात्रा में चाटें, इससे अरुचि, अजीर्ण और पेट कृमि आदि समस्त पेट सम्बन्धी विकार नष्ट हो जाते हैं।
६. आक के सफेद फूल १०० ग्राम, सोडियम बाई कार्बोनेट (खाने का सोडा) ५० ग्राम, काला नमक ५० ग्राम, नौशादर २५ ग्राम, हींग २५ ग्राम, फिटकरी फूला १० ग्राम और सौंठ २५ ग्राम । सबसे पहले आक के फूलों को छाया में सुखाकर बारीक पीस लें। फिर बाकी की सभी चीजों को महीन पीसकर आपस में मिलाकर छान लें। सुबह-शाम ६-६ ग्राम या रोगावस्थानुसार कम या ज्यादा मात्रा में यह चूर्ण गुनगुने पानी के साथ सेवन करें। इस चूर्ण से खाने में अरुचि, भूख कम लगना, पेट में गैस बनना, पेट फूल जाना, पेट भरा-भरा सा लगना, दस्त साफ न आना, किसी काम में मन न लगना, रोगी को पेट के कारण बेचैनी एवं घबराहट सी रहना, मानसिक व शारीरिक थकावट सी बनी रहना इत्यादि समस्त पेट सम्बन्धी रोग इससे समूल नष्ट हो जाते हैं।
७. अरुचि रोग का एक आयुर्वेदिक चिकित्सा उपक्रम इस प्रकार है- दिन में चार बार ३-३ घंटे के समयान्तराल से यवानी खांडव चूर्ण ४-४ ग्राम मात्रा में मुंह में रख कर चूसें। दिन में दो बार खाना खाने से पहले दाढ़िमाष्ट ३-३ ग्राम की मात्रा में तथा खाना खाने के तुरंत बाद द्राक्षासव २५ मिली. इतना ही पानी मिला कर पियें। दिन में ५-६ बार हिंग्वादि वटी की १-१ गोली मुंह में रख कर चूसें। रात को सोने के समय अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम की मात्रा में गुनगुने पानी के साथ लें।

### प्राकृतिक चिकित्सा

अरुचि से तात्पर्य यह है कि प्रिय से प्रिय भोजन या आहार को भी देखकर उसकी गंध, रूप आदि से ही उबकाई आना या भोजन के प्रति बिलकुल भी इच्छा नहीं होना अरुचि कहलाती है। इसका मुख्य कारण शरीर में विजातीय दूषित पदार्थों का एकत्रीकरण होना है। अतः इस रोग में सारे शरीर का प्राकृतिक उपचार करायें। सबसे पहले उदर पर ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा क्रमशः ४ बार सेक करके पेट पर ३० मिनट के लिए मिट्टी की पट्टी रखें। इसके बाद पेट पर हल्की वैज्ञानिक मालिश देकर नीम के पत्ते उबले पानी का एनीमा लगायें। पेट साफ होने के बाद ठंडा कटि स्नान ८ से १२ मिनट तक दें। कटिस्नान के बाद पेट पर सूती-ऊनी लपेट बांध दें। रोगी की शारीरिक स्थिति के अनुसार वाष्प स्नान, सोना बाथ, धूप स्नान, सम्पूर्ण मालिश, सम्पूर्ण मिट्टी का लेप, गरम ठंडा कटिस्नान, पेट पर स्थानीय वाष्पस्नान, पेट पर लपेट इत्यादि उपचार देने से आंतरिक अंगों में संचित दोष (विजातीय तत्व) बाहर आने लगते हैं और अरुचि की हालत दूर होने लगती है।

### आहार चिकित्सा

अरुचि की स्थिति में बलपूर्वक भोजन नहीं करायेँ अन्यथा अरुचि और बढ़कर जठराग्नि मंद हो जाती है। सर्वप्रथम रोगी को ३-४ दिन तक नींबू, संतरा, मौसम्मी, अन्ननास के रस पर रखें। रस इच्छानुसार देना चाहिए। धीरे-धीरे भूख जागृत होने पर सब्जियों का सूप, छाछ, दही, दलिया, खिचड़ी, सलाद, उबली सब्जी, नारियल पानी इत्यादि इच्छानुसार भूख से भी कम मात्रा में धीरे-धीरे सेवन करायेँ। भोजन चबा-चबाकर किया जाए। इसके अलावा निम्न उपाय भी किये जा सकते हैं-

- ५ ग्राम अजवायन में चुटकी भर काला नमक मिलाकर किंचित गरम पानी से लें।
- पुदीना का रस में चुटकी भर नमक व नींबू रस डालकर पियें।
- सौंफ+सौंठ+अजवायन+जीरा+छोटी इलायची बराबर मात्रा में पीसकर चूर्ण बनावें। १० ग्राम की मात्रा में गरम पानी से लें

#### पथ्य-अपथ्य

- भूख से थोड़ा कम भोजन करें।
- गरिष्ठ, अप्रिय, तले-भुने, मांसाहार, उत्तेजक पदार्थों का सेवन नहीं करें।
- निश्चित समय पर ही भोजन करें।

## अग्नि माँघ - अग्नि मंदता

आयुर्वेदिक मनीषियों ने वात, पित्त और कफ को त्रिदोष की संज्ञा दी है। उनका मानना है कि ये तीनों दोष सदैव ही प्रत्येक जीव के शरीर में एक निश्चित और संतुलित मात्रा में रहते हैं और इसी कारण शरीर स्वस्थ रहता है। किन्तु जब यही कुपित हो जाते हैं, तब इन्हें दोष कहा जाता है। उस समय इन दोषों के शरीर में संचित होते रहने से रोगी की उत्पत्ति होने लगती है। आयुर्वेद प्रणाली में वात, पित्त और कफ को क्रमशः आहार, रक्त और रस धातु का मूल माना गया है।

शरीर में वात, पित्त और कफ की साम्यावस्था को बिगाड़ने के पीछे अग्नियों की मन्दता को जिम्मेदार माना गया है। शरीर में जठराग्नि, रसाग्नि, तथा रक्ताग्नि आदि के रूप में विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ उपस्थित रहती हैं। शरीर में इन अग्नियों के प्रमुख कार्य हैं- आहार का समुचित रूप से पाचन करना, पाचन के फलस्वरूप पैदा होने वाले रस (पदार्थों) का शरीर के उपयोग में आने वाले पदार्थों में परिवर्तित करना तथा उन उपयोगी पदार्थों के द्वारा शारीरिक अंगों (ऊतकों, नई कोशिकाओं आदि) का निर्माण, मरम्मत करके शरीर का विकास करते रहना। अतः यह कहा जा सकता है कि जब तक यह अग्नियाँ सामान्य रूप में हैं, अथवा इनमें से किसी एक दो में भी विकार आने लगते हैं, तब शरीर में न तो आहार का पाचन ही भली प्रकार से हो पाता है और न उसके पचे हुए अंश (पोषक तत्वों) का शरीर में उपयोग हो पाता है। दूसरी तरफ इनकी मंदता के कारण शरीर में दोष उत्पन्न होने लग जाते हैं। शरीर से बाहर नहीं निकल पाते। तब ये कुपित दोष रक्त के साथ मिलकर शरीर में रक्त वाहिनियों और रस वाहिनियों द्वारा चक्कर लगाने लग जाते हैं। जहाँ कभी भी इनके मार्ग में कोई रुकावट आ जाती है वहीं पर ये इकट्ठे होकर रोग को उत्पन्न करने लग जाते हैं।

जब व्यक्ति की आमशय और आँत्र सम्बन्धी पाचक कार्य को करने वाली अग्नियाँ मंद पड़ जाती हैं तब उन्हें उदर सम्बन्धी 'अग्नि मंदता' का नाम दिया जाता है। इस रोग में रोगी को भूख बहुत कम लगने लगती, पेट सदैव ही भरा-भरा सा लगने लगता है। जो कुछ भी रोगी अपने आहार के रूप में खा लेता है, उसका पेट में भली प्रकार से पाचन नहीं हो पाता है। उसकी जीभ पर भी मूल जमा होता है। रोगी आलस्य का मारा सुस्त सा पड़ा रहता है। उसे कई बार भोजन से अरुचि होने लग जाती है। मितली और वमन के लक्षण भी रोगी में देखने को मिलते हैं।

## अग्निमाँघता के कारण

अग्नि माँघ के पीछे अधिकतर वे ही कारण होते हैं जो अजीर्ण रोग के लिए जिम्मेदार होते हैं, जैसे कि देर से पचने वाले, भारी, गरिष्ठ, चिकनाई और अधिक मिर्च-मसालेदार भोजन का बार-बार अधिक मात्रा में सेवन करते रहना, भोजन को भली-भाँति चबा-चबाकर न खाना, भोजन से पहले अधिक मात्रा में ठंडा पानी आदि पीते रहना, आमाशय और आँत्र में पाचक रसों का कम मात्रा में उत्पन्न होना, रक्ताल्पता, यकृत, वृक्क और किसी अन्तःस्त्राव सम्बन्धी ग्रन्थी का विकार, शराब व अन्य मादक पदार्थों का सेवन करना तथा कुछ मानसिक रोग यथा अत्यधिक मानसिक तनाव, बेचैनी, चिन्ता आदि। इन सभी कारणों से रोगी के पेट में आहार का संचुचित रूप में पाचन नहीं हो पाता है और वह पेट में ही पड़ा-पड़ा सड़ता रहता है।

## पाचन में जठराग्नि की भूमिका

आहार का पाचन एक लम्बी प्रक्रिया है, जिसकी शुरुआत तो मुँह में ही हो जाती है, परन्तु समाप्ति बड़ी आँत्र के मध्य भाग तक ही हो पाती है। अर्थात् हम ऐसा कह सकते हैं कि आहार के पाचन का पूरा कार्य मुँह, आमाशय, छोटी आँत्र, बड़ी आँत्र, यकृत, अग्न्याशय आदि सभी मिलकर करते हैं, किन्तु इन अंगों की कार्य प्रणाली का नियंत्रण मस्तिष्क और उसका केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र एवं अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के हाथ में रहती है। अतः इन अंगों में पाचन की जो भूमिका विभिन्न पाचक एन्जाइम्स निभाते हैं उन्हें हम अग्नि की संज्ञा देकर इस सारे तंत्र को जठराग्नि की संज्ञा दे सकते हैं।

आहार का पाचन मुँह में लाला स्त्राव (शूक) से शुरू होता है। मुँह के लाला स्त्राव में टायलीन या एमिलेन, कार्बोनिक एनहाइड्रेज और लायसोजाइम नामक एन्जाइम, खनिज लवण, मुख की ग्रन्थियों से उत्सर्जित श्लेष्मा, पानी आदि पाये जाते हैं। यह लाला स्त्राव मुँह के दायीं ओर तीन तथा बायीं ओर तीन ग्रन्थियों से स्त्रावित होता है। इस स्त्राव का

उत्सर्जन मस्तिष्क के मेडूला में स्थित लाला केन्द्र पर निर्भर करता है। यह केन्द्र दो प्रकार से उद्दीप्त होता है ' एक, आहार की गंध, स्वाद, देखने मात्र से और दूसरा, आहार के मुँह एवं गले की श्लेष्मिक कला को स्पर्श करने से।

दाँतों द्वारा आहार को चबाने से एक तो वह सूक्ष्म कणों में टूट जाता है, दूसरी तरफ उसमें लाला स्राव अच्छी तरह मिल जाता है, जिससे वह पतला और चिकना होकर कंठ द्वार से निकलने योग्य हो जाता है। जब इस पतले लुगदी सदृश आहार में आमाशय का पाचक रस भी मिल जाता है तो यह और पतला हो जाता है तथा आमाशय के जठर निर्गम द्वार से आसानी से निकल कर ग्रहणी में पाचन के अगले पड़ाव के लिए पहुँच जाता है।

जब आहार में लाला स्राव मिश्रित हो जाता है तो स्राव का टायलीन नामक एन्जाइम आहार के कार्बोहाइड्रेट भाग (स्टार्च पौलीसैकराइड) का पाचन करके उसे मानोसैकराइड अर्थात् माल्टोज में रूपान्तरित कर देता है। आहार मुँह मसे निकल कर आमाशय में परतों के रूप में संचित होता रहता है। अतः वहाँ भी लाला का टायलीन एन्जाइम अपने पाचन के कार्य को जारी रखता है, परन्तु जब आहार में आमाशय का पाचक रस (अम्ल) मिल जाता है, तो टायलीन निष्क्रिय हो जाता है। आमाशय में उसकी भित्तियों की माँस पेशियों के संकुचन से आहार का मंथन होता रहता है और उसमें आमाशय स्राव भी अच्छी तरह मिलता रहता है।

**लाल स्राव के विकार :** लाला स्राव आहार को पतला और चिकना करके निगलने योग्य तो बनाता ही है, साथ ही कार्बोहाइड्रेट का पाचन भी करता है। इनके अतिरिक्त यह गर्म पदार्थों को शरीर के तापमान के बराबर, क्षोभक रसायनों को पतला व कम हानिकारक सम्पूर्ण आहार तंत्र की श्लेष्मिक कला की रक्षा करता है। लाला स्राव के लगातार स्राव से मुँह और आहार नाल में जीवाणुओं को पनपने का अवसर नहीं मिला पाता है। वैसे भी इसका लाइसोजाइम एन्जाइम जीवाणु भक्षण का कार्य करता है। लाल स्राव मुँह, दाँत, जीभ और गले को स्वच्छ व तर अवस्था में रखता है।

जब कुछ परिस्थितियों में लाला स्राव घट जाता है, जैसे कि तीव्र ज्वरों, तो वह मुँह को स्वच्छ नहीं रख पाता एवं आहार के बचे अंश दाँतों के बीच फँसकर जीवाणुओं को पनपने का अवसर प्रदान करते हैं। आहार भी लुगदी की तरह निगलने योग्य नहीं बन पाता। अतः इस अवस्था में पाचन का कार्य आमाशय आदि को ही संभालना पड़ता है, परन्तु जब वह भी विकार ग्रस्त होते हैं तब आहार का पाचन ठीक प्रकार से सम्पन्न नहीं हो पाता।

**आमाशय स्राव के विकार :** आमाशय के पाचन रस में पेप्सिन, रेनिन, आमाशय का लाइपेज नामक एन्जाइम, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (लवण अम्ल), खनिज लवण, श्लेष्मा पानी और अंतस्थ घटक होते हैं। आमाशय का स्राव उसकी विशिष्ट ग्रन्थियों से उत्सर्जित होता है। इस आमाशय रस का स्राव तीन अवस्थाओं में पूरा होता है। पहली अवस्था में आहार की गंध तथा परिदर्शन अथवा इच्छा मात्र में मस्तिष्क की वेगस तंत्रिका उद्दीप्त हो उठती है, जिससे आमाशय में पाचक रस का स्राव शुरू हो जाता है। दूसरी अवस्था में जैसे ही आहार मुँह से आमाशय में प्रवेश करता है वैसे ही आमाशय की भित्तियाँ ग्रेस्ट्रीन नामक हारमोन का स्राव शुरू कर देती हैं, जो आमाशय की ग्रन्थियों को उद्दीप्त करके पाचक स्राव का उत्सर्जन शुरू कर देता है। इनके बाद तीसरी अवस्था शुरू होती है। इसमें जैसे ही आंशिक रूप से पचित आहार जैसे पानी, पेप्टोन, माँस की तरी आदि ग्रहणी में पहुँच जाते हैं, वैसे ही आमाशय में पाचक रस का स्राव होने लगता है। यह स्राव २-३ घंटे की अवधि से लेकर ८-१० घंटे तक हो सकता है, किन्तु, यदि उस आहार में वसा की मात्रा अधिक है तो उसमें 'एन्ट्रोगेस्ट्रोन' नामक एक अन्य हारमोन का स्राव होने लग जाता है जो आमाशय के पाचक रस के उत्सर्जन को मंद कर देता है।

आमाशय का पाचक रस आहार को और पतला करके ग्रहणी में प्रवेश करने योग्य बनाता है। इसका पेप्सिन एन्जाइम लवण अम्ल की सहायता से प्रोटीन को पेप्टोन में दबल कर उसका पाचन करता है जबकि रेनिन नामक एन्जाइम दूध को दही में बदल देता है, क्योंकि इसकी सहायता से दूध का घुलनशील कसीनोजन, अघुलनशील पदार्थ में रूपान्तरित हो जाता है। रेनिन केवल बच्चों के आमाशय में ही पाया जाता है, वयस्कों के आमाशय में नहीं। इसके विपरीत ३ वर्ष तक के बच्चों में लवण अम्ल बहुत कम मात्रा में उत्पन्न होता है। यह लवण आहार के पाचन के साथ ही भोजन, पेय पदार्थों, दूध, पानी आदि के साथ आये सूक्ष्म जीवणुओं को नष्ट कर देता है, किन्तु बच्चों में इसके अभाव के कारण उन्हें पानी, दूध आदि उबालकर ही पिलाना चाहिए तथा मक्खियों, मच्छरों आदि से प्रदूषित खाद्य पदार्थ कतई नहीं देना चाहिए। बासी

रोटियां, दाल-साग भी नहीं खिलाना चाहिए। आमाशय में लवण अम्ल की सक्रियता के कारण टायलीन एन्जाइम निष्क्रिय हो जाता है और स्टार्च का पाचन बंद हो जाता है। इसलिये कम खाने और मुँह में अधिक चबाने से मुँह में भोजन में टायलीन पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है और कार्बोहाइड्रेट का अच्छी तरह पाचन हो जाता है। भोजन करते समय अधिक मात्रा में पानी न पीने से टायलीन अधिक समय तक आमाशय में सक्रिय रहकर अपना पाचन का कार्य जारी रखता है।

आमाशय रस में एक अंतःस्थ घटक (पूज्यतपदेपब ध्वजवत) होता है जो विटामिन बी-१२ का अवशोषण करता है। यह अल्परक्ततावरोधी पदार्थ है जो हरी साग-सब्जियों, दूध-फलों, सूखे मेवों, मूंगफली, माँस, यकृत और अण्डों आदि में पाया जाता है। विटामिन बी-१२ का अवशोषण शेषांत्र में सम्पन्न होता है किन्तु इसका संग्रह यकृत में होता है। विटामिन 'बी-१२' रक्त की लाल कोशिकाओं के निर्माण के लिए जरूरी होता है।

**आँत्र रस के विकार :** जैसे ही आहार काइम के रूप में आमाशय के जठर निर्गम से निकलकर ग्रहणी में प्रवेश करता है, उसमें सबसे पहले अग्न्याशय का रस, फिर यकृत (पित्ताशय से निकल कर) का पित्त और अंत में छोटी आँत्र का पाचक मिश्रित होते चले जाते हैं। आँत्र के पाचक रस जिसे सक्कस इन्टेरीकस कहा जाता है, ये एन्ट्रोकाइनेस, पेप्टीडेसिस, डाई पेप्टीडेसिस, लाइपेज, सरकेज आदि एन्जाइम, खनिज लवण और पानी आदि मौजूद होते हैं। यह एक क्षारीय रस है जिसका च्— ८.०० होता है। इस आँत्र रस का स्त्राव ग्रहणी, मध्यांत्र और शेषांत्र की श्लेष्मिक कला की अंकुरों के मध्य स्थित विशेष ग्रन्थियों द्वारा होता है। इस आँत्र रस का स्त्राव काइम के आँत्र में प्रवेश करते ही उसके भित्ति स्पर्श से तथा पाचन में उत्पन्न हुए कुछ रसायनों जैसे प्रोटीन कण, इन्टेरोक्रीनिन और ड्यूक्रीनिन की प्रेरणा से होता है। डाई पेप्टीडेसिस और पेप्टीडेसिस एन्जाइम पैप्टाइड्स और पौलीपैप्टाइड्स को एमीनो अम्ल में बदल कर प्रोटीन का पाचन सम्पूर्ण करते हैं। लाइपेज एन्जाइम वसा को वसा अम्लों तथा ग्लिसराल में बदलकर, वसा का पाचन पूरा करते हैं और सूकरेज एन्जाइम माल्टोज तथा लैक्टोज, शर्करा को ग्लूकोज आदि में रूपान्तरित करके कार्बोहाइड्रेज का पाचन सम्पन्न करता है।

**अग्न्याशय रस विकार :** जब अर्द्धपचित आहार आमाशय से ग्रहणी में प्रवेश करता है तो वह अम्लीय होता है। आँत्र के पाचक रस क्षारीय वातावरण में ही सक्रिय रहते हैं, अतः अग्न्याशय रस का प्रथम कार्य ग्रहणी में पहुँचे आहार को पहले क्षारीय बनाना होता है। इसी कारण अग्न्याशय रस में ट्रिप्सीनोजन तथा काइमोट्रिप्सीनोजन, न्यूक्लियोटाइडोज, लाइपेज, एमाइलेज आदि एन्जाइम के अतिरिक्त सोडियम और पोटेसियम के कार्बोनेट तथा अन्य खनिज लवण और पानी मौजूद रहता है। अग्न्याशय रस का यह स्त्राव छोटी आँत्र की भित्तियों से स्त्रावित सेक्रीटीन और पैन्क्रियोजाइमिन नामक दो हार्मोनों की प्रेरणा से होता है। आमाशय से जैसे ही आम्लिक काइम छोटी आँत्र में प्रवेश करता है, इन हार्मोनों का उत्सर्जन शुरू हो जाता है।

अग्न्याशय के ट्रिप्सीनोजन तथा काइमोट्रिप्सीनोजन नामक एन्जाइम जब तक आँत्र के इन्ट्रोकाइनेज नामक एन्जाइम के सम्पर्क में नहीं आते तब तक सक्रिय नहीं होते। ये आँत्र रस के सम्पर्क में आकर ट्रिप्सीन और काइमोट्रिप्सीन नामक एन्जाइम में रूपान्तरित हो जाते हैं। बाद में ये एन्जाइम पेप्टोनों पैप्टाइडों तथा पौलीपैप्टाइडों में बदल देते हैं। इसी तरह कार्बोहाइड्रेट के जो अंश टायलीन द्वारा नहीं पच पाये उन्हें एमाइलेज डाइसैकेराइड में बदल देता है। लाइपेज, पित्त की सहायता से वसा को सूक्ष्म कणों में विघटित करके उसका इमल्शन बना देता है, जिससे कि वसा अम्लों का अवशोषण हो सके।

**पित्त विकार :** पित्त का निर्माण यकृत में होता है जो यकृत से निकलकर यकृत और पित्त वाहिनी के द्वारा पित्ताशय में जाकर संचित होता रहता है। जब आहार आमाशय से निकलकर ग्रहणी में प्रवेश करता है, ग्रहणी की भित्तियों से कोलेस्टोकीनिन नामक हार्मोन उत्सर्जित होने लग जाता है, जिसकी प्रेरणा से पित्ताशय की भित्तियां संकुचित होने लग जाती हैं और पित्ताशय से पित्त निकलकर ग्रहणी में प्रवेश करके आहार में मिलने लग जाता है। पित्त में सोडियम टोरीकोलेट तथा सोडियम ग्लाइकोलेट नामक दो पित्त रंजक, कोलेस्ट्रॉल, लेसिथिन, खनिज लवण जैसे सोडियम, पोटेसियम और कैल्शियम के क्लोराइड कार्बोनेट फॉस्फेट और पानी आदि मौजूद रहते हैं।

पित्त वसा के अवशोषण के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह वसा में घुलनशील विटामिन्स (ए.डी.ई.के) के अवशोषण के लिए आवश्यक है। इनके अलावा यह कुछ सीमा तक लौह और कैल्शियम के अवशोषण और कुछ भारी तत्वों,

पारा, जिंक, तांबा एवं जीवाणु व उनके जीव विषों के उत्सर्जन में भी मदद करता है। पित्त एक मृदु विरेचक की भूमिका भी निभाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाचन प्रक्रिया में भाग लेने वाले सभी अंग मुँह से लेकर शेषांत्र तक एक दूसरे के साथ इस प्रकार से जुड़े अथवा निर्भर हैं कि एक की क्रिया में आया थोड़ा सा विकार दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रहता और उसी प्रकार दूसरा तीसरे को प्रभावित कर देता है और अंत में इन सब का प्रभाव आहार के पाचन पर पड़ता है। आहार का ठीक से पाचन न होने पर एक तरफ तो शरीर को अवशोषण के रूप में प्राप्त होने वाले पोषक तत्वों की पूर्ति सामान्य मात्रा में नहीं रहती तो दूसरी तरफ आहार पेट में ही पड़ा-पड़ा सड़ता हुआ गैस आदि को जन्म देने लग जाता है अथवा बड़ी आँत्र पर क्षोभक और उद्दीपक प्रभाव डालकर पुरःसरण गति को बढ़ाकर मल विसर्जन की आवृत्ति को बढ़ा देता है, जिससे व्यक्ति को अधिक संख्या में मल त्याग करना पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पाचन संस्थान के किसी भी अंग के किसी भी एन्जाइम के विकार से एक तरह से पाचन संस्थान प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसे हम पाचन संस्थान का विकार या जठराग्नि मंदता का नाम भी दे सकते हैं।

### उप-पाचन (Metabolism) में रसाग्नि की भूमिका

पेट में आहार के पाचन के उपरांत ग्लूकोज, एमीनो अम्ल, वसा अम्ल, ग्लिसराल, विटामिन, खनिज लवण तथा जल आदि जो पोषक तत्व पैदा होते हैं उन्हें आँत्र भित्तियाँ विभिन्न एन्जाइम्स और रसायनों की मदद से अपने अंकुरों द्वारा अवशोषित करके लसिका तथा रक्त वाहिनियों के द्वारा यकृत की प्रति हारिणी शिरा में उड़ेल देते हैं। इसके उपरांत शरीर के समस्त ऊत्तकों में इन रसायनों को उपयोग में लाने के लिए विभिन्न रासायनिक क्रियाएँ होने लग जाती हैं। इन रासायनिक क्रियाओं को ही उप-पाचन अर्थात् चयापचय क्रिया कहा जाता है। यह भी दो प्रकार की होती है। इन क्रियाओं के द्वारा जब किसी पदार्थ का विघटन या अपघटन होता है तो वह कैटेबोलिज्म कहलाता है, जैसे कि प्लीहा में लाल रक्त कणों का नाश होता है। इसके विपरीत जब सूक्ष्म पोषक तत्वों से इन क्रियाओं द्वारा किसी नये पदार्थ का सृजन या संश्लेषण होता है तो उसे उपचय क्रिया कहते हैं, जैसे कि यकृत के अन्तर्गत एमीनो अम्लों को शरीर के उपयोगार्थ बनाने के लिए उन्हें जटिल एमीनो अम्लों (विभिन्न प्रोटीनों) में बदल दिया जाता है। शरीर में विभिन्न पोषक तत्वों के चयापचय क्रिया का अपना अलग-अलग महत्व होता है, और उनमें शरीर के विभिन्न एन्जाइम्स और रसायन इनकी सहायता करते हैं।

**कार्बोहाइड्रेट का चयापचय :** कार्बोहाइड्रेट (ग्लूकोज) का सबसे प्रमुख कार्य शरीर के समस्त ऊत्तकों (कोशिकाओं) को ऊर्जा प्रदान करता है। इसी कारण यह सदैव रक्त परिसंचरण में एक निश्चित स्तर में मौजूद रहकर सभी अंगों को अपनी आपूर्ति लगातार जारी रखता है। किन्तु ग्लूकोज के साथ एक मुश्किल यह रहती है कि यह स्वयं अपनी इच्छानुसार कोशिकाओं में प्रवेश नहीं कर पाता, परन्तु इस नैया को पार लगाने में इसकी सहायता अग्न्याशय ग्रन्थि का एक रस, इन्सूलिन करता है। इसी कारण इन्सूलिन के अभाव या निष्क्रियता के समय ग्लूकोज कोशिकाओं में प्रवेश नहीं कर पाता, जिससे व्यक्ति के रक्त में इसका स्तर सामान्य से अधिक रहने लगता है तो (मधुमेह रोग) कोशिकाएँ इसके अभाव में धीरे-धीरे अपनी सामान्य क्रिया छोड़कर दम तोड़ने लगती हैं।

सामान्य अवस्था में जब रक्त में ग्लूकोज का स्तर आवश्यकता से अधिक बढ़ने लगता है जैसे कि आहार के पाचन के उपरांत तो इन्सूलिन की मदद से ही यकृत तथा माँस पेशियाँ ग्लूकोज को अधुलनशील जटिल शर्करा कण ग्लाइकोजन में बदलकर अपने अंदर संचित कर लेती हैं। कुछ ग्लूकोज वसा में भी रूपान्तरित हो जाता है। ग्लूकोज का यह भण्डार उस समय के लिए होता है जब रक्त में ग्लूकोज का स्तर सामान्य से कम होने लगता है, जैसे कि दो आहारों के मध्य अधिक समय, उपवास और अधिक शारीरिक श्रम करते समय। उस समय यह ग्लाइकोजन पुनः ग्लूकोज में बदलकर रक्त के स्तर को सामान्य बानये रखता है। इस कार्य में एड्रेनलीन (अधिवृक्क ग्रन्थि से), थाइराक्सीन (अवटुग्रन्थि से) और ग्लूकेगान (अग्न्याशय ग्रन्थि से) नामक तीन हारमोन्स इसकी सहायता करते हैं।

नई कोशिकाओं के निर्माण के लिए शरीर को ऊर्जा उत्पादन की आवश्यकता रहती है जैसे कि रक्त कोशिकाएँ, माँसपेशियाँ, हड्डियाँ, वीर्य आदि। इसके अलावा पेशियों और शारीरिक अंगों की गतिविधियों जैसे हृदय, संकुचन, यकृत का पदार्थ निर्माण तथा ग्रन्थियों से उनके स्राव के निर्माण व उत्सर्जन के लिए भी ऊर्जा की आवश्यकता रहती है। शरीर में ग्लूकोज से ऊर्जा का उत्पादन दो तरह से होता है, एक प्रक्रिया में आक्सीजन की आवश्यकता रहती है और अन्य ऑक्सीजन रहित प्रक्रिया होती है।

ऑक्सीजन रहित ग्लूकोज की ऊर्जा उत्पादन प्रक्रिया एक मंही प्रक्रिया है, क्योंकि एक तो इसमें बहुत कम ऊर्जा उत्पन्न होती है तो दूसरे इस प्रक्रिया के अंत में लैक्टिक अम्ल उत्पन्न होता है जो पेशियों में ही एकत्र होकर वहाँ वेदना और उन अंगों में थकावट उत्पन्न कर देता है। वास्तव में इस प्रक्रिया की आवश्यकता आकस्मिक क्षणों और अल्पकालीन उद्देश्य के लिए ही होती है। ग्लूकोज के पूर्ण उपचयन के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रक्रिया में धीरे-धीरे ग्लूकोज से अधिकतम मात्रा में ऊर्जा की प्राप्ति होती है तथा प्रक्रिया के अंत में पानी व कार्बनडाई आक्साइड गैस उत्पन्न होती है, जो श्वसन प्रक्रिया के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है। अतः इस प्रक्रिया के अन्त में किसी प्रकार के हानिकारक पदार्थ का शरीर में संचय नहीं होता।

**प्रोटीन का चयापचय :** आहार के जिस प्रोटीन का सेवन किया जाता है वह २३ एमीनो अम्लों से मिलकर बना होता है। उनमें से १० एमीनो अम्ल ऐसे होते हैं जिनकी शरीर को आवश्यकता रहती है व जिनका संश्लेषण शरीर के उत्तक नहीं कर सकते। पाचन के उपरांत ये एमीनो अम्ल आँत्र के अंकुरों द्वारा शोषित होकर यकृत तक पहुँच जाते हैं। बाद में यकृत इन एमीनो अम्लों को रक्त के माध्यम से समस्त उत्तकों तथा कोशिकाओं तक पहुँचा देता है। कोशिकाएं तथा उत्तक, अपनी आवश्यकतानुसार, कोशिकाओं और उत्तकों के पुनःनिर्माण हेतु विभिन्न आवश्यक एमीनो अम्लों को इनमें से ग्रहण करते रहते हैं, जबकि ऐसे अनावश्यक कार्य में प्रयोग अम्लों को जो शरीर के उत्तकों व कोशिकाओं के निर्माण तथा मरम्मत के कार्य में प्रयोग नहीं आ सकते, वे पुनः यकृत में लौट आते हैं, जहाँ उनका दो भागों में विघटन हो जाता है। इसके एक भाग से ऊर्जा उत्पन्न होती है तो दूसरा भाग यूरिया के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। हमारा शरीर एमीनो अम्लों को नाइट्रोजनी पदार्थों के रूप में संग्रह नहीं कर सकता।

**वसा का चयापचय :** आहार की पचित वसा भी वसा अम्लों तथा ग्लिसरॉल के रूप में आँत्र की अंकुरों की वसा लसिका वाहिनियों द्वारा अवशोषित होकर वक्ष वाहिनी में पहुँच जाती है। वक्ष वाहिनी बायीं अवजत्रुक शिरा के द्वारा इसे यकृत में पहुँचा देती है। यकृत में पहुँचकर वसा अम्लों और ग्लिसरॉल का पुनःमानव वसा के रूप में रूपान्तरण हो जाता है, जो शरीर की विभिन्न ग्रन्थियों और त्वचा के नीचे संचित होती रहती है। उपवास आदि संकट काल के समय जब शरीर को ऊर्जा के उत्पादन के लिए ग्लूकोज का अभाव महसूस होने लग जाता है, तब यह संचित ग्लूकोज रक्त के माध्यम से पुनः यकृत में पहुँच जाती है। जहाँ इसका पुनः निसृतृप्तीकरण किया जाता है, ताकि यह शरीर की समस्त कोशिकाओं में प्रवेश करके ऊर्जा का उत्पादन कर सके। वसा से ग्लूकोज और प्रोटीन की तुलना में दुगुनी से भी अधिक मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन होता है।

किन्तु वसा के उपचयन में एक समस्या है कि इसके चयापचय के उपरांत कीटोन पिण्ड उत्पन्न होने लग जाते हैं जो कुछ मात्रा में तो एसीटोन के रूप में श्वास और मूत्र के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं तथा कुछ मात्रा में शरीर के रक्त में ही संचित होने लग जाते हैं। जब शरीर में कार्बोहाइड्रेट का अभाव अधिक समय तक चलता है, जैसे मधुमेह की जटिल अवस्था में, तो उस समय कीटोन पिण्ड मात्रा में उत्पन्न होते हैं। इसके कारण कीटोनयमता की अवस्था उत्पन्न होने लग जाती है। इसके कारण अम्लाधारित संतुलन में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है और रक्त में अति अम्लता (बपकवेपे) की स्थिति उत्पन्न होने लग जाती है।

### अग्नि मंदता के लक्षण

पेट में आहार का पाचन समुचित रूप से न हो पाने के कारण वह पेट में ही अधिक समय तक पड़ा रहता है। इससे रोगी की भूख धीरे-धीरे कम होती चली जाती है, तो दूसरी तरफ बिना आहार किये उसे अपना पेट भरा-भरा सा प्रतीत होने लग जाता है। रोगी का आहार में अरुचि उत्पन्न होने लग जाती है तथा कई बार जी मिचलाना और उसके बाद वमन तक आने लग जाती है। वमन में खाये हुये आहार के अधपचे अंश, म्यूकस और आमाशय स्राव मिले होते हैं। रोगी की जीभ पर मैल की परत जैसी तह जमने लग जाती है। अन्तड़ियों में ही मल के संचित होते जाने अथवा वहाँ पड़े-पड़े आहार के सड़ने से उत्पन्न हुई गैस आँत्र भित्तियों पर तनाव डालकर आमाशय व आँत्र क्षेत्र में दर्द व असुविधा की स्थिति उत्पन्न कर देता है।



आहार का पाचन अग्नियों की मन्दता के कारण समुचित रूप से नहीं हो पाता, परिणामस्वरूप शरीर को पोषक तत्वों की आपूर्ति पर्याप्त मात्रा में जारी नहीं रह पाती और शरीर के संचित भण्डार समाप्त होने लग जाते हैं, जिससे रोगी शरीर में कमजोरी महसूस करने लग जाता है। उसका शरीर सुस्त व आलस्य युक्त हो जाता है। किसी काम को करने की इच्छा नहीं रह जाती है। रोगी में कुछ समय उपरांत रक्ताल्पता के लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं। क्योंकि आमाशय रस में अम्ल के अभाव में आँत्र द्वारा लौह और कैल्शियम का पर्याप्त रूप में अवशोषण नहीं हो पाता है। रक्ताल्पता के कारण रोगी की स्थिति धीरे-धीरे और जटिल बनने लग जाती है।

### अग्नि मौँद्य का उपचार :

जब तक रोगी के पाचन संस्थान में आहार का पाचन सामान्य रूप से न होने लग जाए, तब तक रोगी को अधिकतम मात्रा में तरल खाद्य पदार्थों, शीघ्र पचने वाले आहार, फलों और सब्जियों के रस, आँवला, विल्व, हरड़ और सेव आदि के मुरब्बे का ही सेवन करना चाहिए। इससे आहार का पाचन आसानी से होता रहता है और शरीर को आवश्यकता पोषक तत्वों की आपूर्ति भी होती रहती है। जैसे-जैसे रोगी के पाचन संस्थान की क्रियाशीलता में सुधार आता जाये वैसे-वैसे रोगी अपने आहार में अर्द्धठोस पदार्थों, जैसे पतली मूँग की दाल की खिचड़ी, दलिया, दालें, पालक, बथुआ का साग, छिलका रहित फल आदि। रोगी की स्थिति सुधरते ही रोगी अपने सामान्य आहार पर आ सकता है।

आहार को मुँह में दाँतों से अच्छी तरह चबा-चबा कर धीरे-धीरे रखने से एक तो वह सूक्ष्म कणों में विभाजित हो जाता है साथ ही उसमें मुँह का लाला स्राव भी अच्छी तरह मिल जाता है, जिससे इसको निगलना और आमाशय में पाचन सुगम हो जाता है। लाला स्राव का एन्जाइम टायलीन भी इसमें अच्छी तरह मिलकर कार्बोहाइड्रेट के जटिल कणों को सूक्ष्म कणों में तोड़ देता है। कार्बोहाइड्रेट का पाचन आमाशय रस से बिलकुल भी नहीं हो पाता है। यदि आहार में लाला स्राव (टायलीन) कम मात्रा में मिश्रित होगा तो वहाँ कार्बोहाइड्रेट का पाचन नहीं हो पायेगा और फिर उसके पाचन का कार्य केवल आँत्र के पाचक रस पर ही निर्भर होकर रह जायेगा। परिणामस्वरूप आँत्र के पाचक रस पर अतिरिक्त दबाव बनेगा व आहार के पाचन में भी अधिक समय लगेगा, संभव है कि कार्बोहाइड्रेट का काफी अंश बिना पचे या अर्द्ध पचित रूप में ही रह जाएं।

नियमित व्यायाम करने, योगासनो का अभ्यास, खेलने-कूदने और शारीरिक श्रम करने से आमाशय ग्रन्थियों से पाचक रस और लवण अम्ल (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) का स्राव अधिक मात्रा में होता है। आहार के प्रोटीन अंश का पाचन आमाशय में ही प्रारंभ हो पाता है, जो अपर्याप्त मात्रा में आमाशय के पाचक का स्राव होने से प्रभावित होता है। आहार में वसा का अंश मात्रा में होने से आँत्र भित्तियों से इन्ट्रोगेस्ट्रोन नामक हार्मोन का स्राव अधिक मात्रा में होने लग जाता है, जो अपने प्रभाव से आमाशय के पाचक रस स्राव के उत्सर्जन को मंद कर देता है। साथ ही आमाशय की गति को भी कम कर देता है। आमाशय की स्खलन दर कम पड़ने से लाभ यह होता है कि ग्रहणी में पहुँच गये आहार के साथ पित्त तथा अग्न्याशय रस अच्छी तरह से मिल जाते हैं। किन्तु आमाशय का अपना आहार अर्द्ध पचित अवस्था में रह जाता है। ध्यान रहे कि आँत्र में प्रोटीन का पाचन शुरू नहीं होता बल्कि प्रोटीन का अर्द्धपाचन से उत्पन्न पेप्टाइड्स तथा पौलीपैप्टाइड्स का ही सम्पूर्ण पाचन होता है। अतः प्रोटीन के जो अंश आमाशय से बिना पचे ही आगे निकल जाते हैं, उनका आँत्र में भी पाचन न हो पाने के कारण यह मल के रूप में व्यर्थ निकल जाते हैं।

आँत्र में सक्कस इन्टेरीकस, अग्न्याशय रस और पित्त की सहायता से आहार के लगभग सभी अंशों का पाचन का कार्य सम्पन्न होता है। किन्तु आहार में पोषक तत्वों के अभाव के कारण पर्याप्त मात्रा में आँत्र के पाचक रस का उत्सर्जन नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप ग्रहणी से प्राप्त किये अर्द्ध पचित आहार का काफी भाग बिना सम्पूर्ण पाचन के ही रह जाता है। साथ ही यदि अग्न्याशय या यकृत में कोई विकार है, जिसके कारण इनसे अग्न्याशय का रस और पित्त का उत्सर्जन पर्याप्त मात्रा में न हो पा रहा हो तो भी आँत्र की पाचन प्रक्रिया मंद पड़ जाती है।

इस प्रकार विभिन्न एन्जाइमों (अग्नियों की मंदता) के कम स्राव से पाचन की प्रक्रिया किसी भी चरण में प्रभावित होकर आहार आहार के सम्पूर्ण पाचन में अवरोध उत्पन्न कर सकती है।

अग्नि मंदता की चिकित्सा अजीर्ण या अपच रोग की तरह ही की जाती है। अतः इस रोग की चिकित्सा के सम्बंध में सम्बन्धित अध्याय में विस्तृत रूप से देखा जा सकता है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

अग्निमांघ के रोगी को सौ फीसदी कब्ज की व्याधि भी रहती है। ठूस-ठूस कर खाना, व्यायाम नहीं करना, आलसी की तरह पड़े रहना, धूम्रपान , तम्बाकू का सेवन इत्यादि गलत आदतों से पाचन तंत्र में पाचक रसों में न्यूनता होकर जठराग्नि मंद हो जाती है। इसके उपचार में सर्वप्रथम शरीर की शुद्धि करना अत्यावश्यक है। सबसे पहले पेट गरम-ठंडा सेक देकर हल्की मालिश करके नींबू पानी (गुनगुना) 9- डेढ़ लीटर लेकर एनीमा लगायें । एनीमा के बाद पेट पर ठण्डी मिट्टी पट्टी रखें। ३० मिनट बाद धूप में लिटाकर सम्पूर्ण शरीर की मालिश करें। मालिश के बाद वाष्प स्नान या गरम पाद स्नान देकर पेट पर लपेट बांध दें। दोपहर में ३० मिनट मिट्टी पट्टी रखें। बाद में पेट पर ३ मिनट गरम, 9 मिनट ठंडा सेक क्रमशः 9५ मिनट तक करें अथवा गरम-ठंडा कटि स्नान देकर स्पंज बाथ करायें। रात्रि में उदर पर गरम थैली से सेक करके पेट पर लपेट बांधें। यह उपचार ७ से 9० दिन तक दें। बाद में अन्य उपचार रोगी की मनः स्थिति के अनुसार दें। जैसे सोना बाथ, सर्वांग मिट्टी लेप, व्यायाम, योगासन इत्यादि नियमित करायें।

### आहार चिकित्सा :

३ से ५ दिन तक उपवास करायें या रसाहार पर रखें। फलों में संतरा, मौसम्मी, अनार, अंगूर, नाशपाती, गाजर, अन्ननास इत्यादि का रस देना चाहिए। ५ दिन बार तरल आहार जैसे सब्जियों का सूप, छाछ, पतला दलिया, उबली सब्जी इत्यादि दें। धीरे-धीरे ठोस आहार पर लाएं। ठोस आहार में चावल, उबली सब्जी, सूप, सलाद इत्यादि देना चाहिए। रेशेदार सब्जियों का भरपूर सेवन करें ताकि कब्ज न हो। अन्य आहार कब्ज रोग में वर्णित आहार की तरह लें।

### आहार चिकित्सा में इन बातों पर विशेष ध्यान दें-

१. भरपेट भोजन नहीं करें
२. हमेशा भोजन के बाद चहलकदमी जरूर करें।
३. प्रातः सायं सैर पर जाएं।
४. व्यायाम, योगासन, प्राणायाम जरूर करें।
५. सप्ताह में 9 -२ बार उपवास करें।
६. तले-भुने, गरिष्ठ पदार्थ, चाय, कॉफी, मदिरा, मांसाहार, तम्बाकू, पान-मासालाका सेवन नहीं करें।

## अतिसार, दस्त या डायरिया

### (DIARRHOEA)

जब मल सामान्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में, बार-बार और अधिक तरल के रूप में आने लगता है तो उसे दस्त आना या अतिसार कहा जाता है। दस्तों की संख्या बढ़ने के प्रमुख कारण होते हैं- आँतों की पुरःसरण गति का तीव्र हो जाना, आँतों में भोजन का पर्याप्त रूप में शोषण न हो पाना या आँतों में अवशोषण शक्ति का न रहना और अन्तड़ियों में अधिक मात्रा में तरल उत्पन्न होकर एकत्र होते जाना ।

### अतिसार के कारण

अतिसार रोग के प्रमुख कारण हैं आमाशय, आँत्र या पाचन क्रिया की कमजोरी, तले-भुने, वसायुक्त, देर से पचने वाले आहार का अधिक मात्रा में सेवन, दूषित पानी या खाद्य पदार्थों और कच्चे फल या सब्जियों का अधिक मात्रा में सेवन, आँत में खराश का उत्पन्न हो जाना, बार-बार विरेचक औषधियों का सेवन करते रहना, पित्त का अधिक मात्रा में उत्पन्न होकर आँत्र में प्रवेश कर जाना, आँत्रों में शोथ और अधिक मात्रा में तरल या श्लेष्मा का उत्पन्न होने लग जाना, बच्चों में दाँतों का निकलना, आमाशय या अन्तड़ियों के घाव, आमाशय, यकृत व आँतों के रोग, अग्न्याशय की पुरानी शोथ, आँत्रपुच्छ शोथ, वृहदाँत्र की शोथ, संग्रहणी (स्पृ)। तांबे, पीतल या एल्युमिनियम के पात्र में अधिक समय तक भोजन को रख छोड़ने, कई प्रकार के विषों का सेवन कर जाने, पेट में ठंड लग जाने अथवा ऋतु परिवर्तन के समय कई प्रकार के जीवाणुओं-विषाणुओं से संक्रमित पानी अथवा खाद्य पदार्थों के सेवन कर जाने से तथा स्नायविक व मानसिक विकारों यथा सदमा, चिन्ता, डर, शोक, हिस्टीरिया आदि, अतिसार, दस्त या डायरिया के कारण हो सकते हैं।

जब उपरोक्त किसी भी कारण से आमाशय या आँत्र की भित्तियाँ अपना सामान्य कार्य करना छोड़ देती हैं तो आँत्र में मल की मात्रा संचित होती चली जाती है। परिणामस्वरूप आँत्र की पुरःसरण गति तीव्र होकर बार-बार मल निकालने का प्रयास करने लग जाती है। इससे व्यक्ति की मल त्याग की आवृत्ति और मात्रा बढ़ जाती है।

इनके अतिरिक्त अतिसार के लक्षणों, कारणों और दशा आदि के अनुसार बहुत से भेद हैं, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

१. **नर्वस (वाति) अतिसार :** इस प्रकार के अतिसार में न तो रोगी को मल त्याग के समय किसी प्रकार के दर्द की अनुभूति पेट में अनुभव होती है और न ही मल की मात्रा या प्रकृति असामान्य होती है किन्तु भय, डर, चिन्ता, शौक, हिस्टीरिया तथा लोकोमोटर एटैक्सिया की स्थिति में बार-बार दस्त आने लग जाते हैं। कई बार शारीरिक परिश्रम या भोजन कर लेने के पश्चात भी रोगी को मल त्याग की आदत पड़ जाती है। इसे लिण्डेरेक प्रकार का अतिसार कहते हैं।
२. **आँत्र संक्रमणजन्य अतिसार :** इस प्रकार के अतिसार विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं यथा सालमोनेला, शगिला, हैजा के कीटाणु, जियार्डिया, अमीबा, स्टेफाइलोकोकल आदि के अन्तड़ियों में संक्रमण तथा एस्क, कोलई, क्लोस्ट्रीडियम परफ्रीन्जेस और विषाणुजन्य आँत्र शोथ के कारण हो सकती है।

संक्रमणजन्य अतिसार के लक्षण पेचिश के समान ही हो सकते हैं पेचिश में दस्तों के अतिरिक्त आँतों में मरोड़ और ऐंड़न भी होने लगती है। मल के साथ सफेद सी आंव या रक्त मिश्रित आंव थोड़ी-बहुत मात्रा में आने लगती है। इस प्रकार के अतिसार में दर्द तथा मरोड़ के साथ पानी की कमी से मुँह सूखने, मूत्र की मात्रा घटने तथा शरीर का तापमान घटने के लक्षण भी मिल सकते हैं। रोगी की जीभ पर सफेद पीली सी परत जमी मिलती है और उसकी प्यास बढ़ जाती है। यह अतिसार की तीव्र स्थिति होती है।

३. **आहार दोषजन्य अतिसार (क्रेपुलस डायरिया) :** इस प्रकार के अतिसार में अजीर्ण के लक्षण भी पाये जाते हैं। इसमें मल कभी पतला, कभी झागयुक्त, कभी पतले या मटमैलें रंग का सा होता है तथा मल के साथ बिना पचे भोजन के अंश निकलते हैं। इस प्रकार के अतिसार बदपरहेजी, आवश्यकता से अधिक तले-भुने और गरिष्ठ भोजन कर लेने , आहार में

फलों और कच्ची सब्जियों का अंश अधिक होने अथवा हरे फलों व सलाद खाने के तुरंत पश्चात अधिक मात्रा में पानी पी लेने से होता है। इनके अतिरिक्त आहारजन्य अतिसार की एक और किस्म है “एलर्जीमन्य अतिसार” । इसमें किसी विशेष खाद्य पदार्थ के प्रति शरीर में एलर्जी उत्पन्न हो जाने से अतिसार आने लग जाते हैं।

४. **आमाशय की कमजोरीजन्य अतिसार (लिपेनटेरिक डायरिया):** आमाशय की कमजोरी या उसमें जठर रस (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) कम उत्पन्न होने के कारण उसमें (आमाशय) में भोजन के पहुँचते ही व्यक्ति को मल त्याग के लिए जाना पड़ता है । ऐसे व्यक्तियों को एक प्रकार की रक्ताल्पता (परनीशस एनीमिया) भी हो सकती है।

५. **पित्त युक्त अतिसार (बिलियस डायरिया) :** पित्त के अधिक मात्रा में बनने के कारण जब पित्त अधिक मात्रा में अन्तड़ियों में पहुँचने लग जाता है तब इस प्रकार का अतिसार पैदा होता है। इसमें मल का रंग पीला या हरियालीयुक्त पीला होता है। रोगी की प्यास बढ़ जाती है तथा गुदा पर मल त्याग के समय या बाद में जलन महसूस होती है।

६. **प्रसेकजन्य अतिसार (केटैरल डायरिया) :** इस प्रकार के अतिसार आँतों की श्लेष्मिक कला (म्यूकस मेम्ब्रेन) में सूजन उत्पन्न हो जाने से अन्तड़ियों में अधिक मात्रा में तरल या म्यूकस का पैदा होने के कारण आते हैं। ये दस्त व्यक्ति को सोकर उठने के बाद आते हैं और झाग युक्त होते हैं।

७. **आँत्र कृमिजन्य अतिसार (वर्मिनोसा डायरिया) :** कई बार अन्तड़ियों में विशेष प्रकार के कीड़ों की उपस्थिति के कारण भी अतिसार आने लग जाते हैं। इनमें रोगी को भूख अधिक लगती है किन्तु रोगी का वजन सामान्य से कम तथा रक्ताल्पता के लक्षण भी कभी-कभी मिलते हैं।

८. **अन्य आँत्र विकारजन्य अतिसार :** ताँबा, पीतल, एल्युमीनियम के बर्तन में भोजन को अधिक समय तक रखना, खनिज विषों यथा आर्सेनिक (संखिया), एण्टिमनी तथा अन्य विषाक्त पदार्थों का सेवन कर लेना, कई प्रतिजीवी (एण्टी बायोटिक्स) औषधियों का लगातार सेवन, आमाशय या आँत्र का व्रण अथवा उनमें छेद हो जाना या भगन्दर आदि बन जाना, जठरांत्र के किसी भाग का कैंसर तथा अन्तड़ियों में किसी अन्य कारण से खराश उत्पन्न होने लग जाने से भी अतिसार आने लग जाते हैं। इनमें रोगी को प्रायः नाभि के स्थान पर दर्द होने लगता है जो दबाने पर बढ़ जाता है। आँतों में कष्ट का अनुभव हो सकता है। आँत्र में गैस भर कर कभी-कभी अफारा जैसी स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है।

९. **दाखन अतिसार (क्रीटिकल डायरिया) :** इस प्रकार के अतिसार की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब शरीर किसी रोग के दूषित पदार्थों को मलों के रूप में बाहर निकालने लगता है। जैसे कि क्षय रोग की दशा में, घातक तीसरे दिन के मलेरिया में, कालाजार रोग में तथा कुछ अन्य संक्रमणजन्य रोगों में।

१०. **अल्प शोषणजन्य अतिसार (मेल एक्सोप्शन डायरिया) :** कुछ विशेष परिस्थितियों में जब अन्तड़ियों में भोजन के अंशों का अवचूषण समुचित रूप में नहीं हो पाता है तब व्यक्ति को बार-बार या अधिक बार दस्त आने लग जाते हैं। जैसे आँत्र की शल्य चिकित्सा में उसका भाग निकाल देने से (वेगोटोमी) और संग्रहणी (स्प्लू) आदि दशाओं में ।

इस प्रकार की संग्रहणी जन्य अतिसार की दशा में रोगी को पहले दो चार दिन मल खुल कर नहीं आता या बिल्कुल नहीं आता । फिर दो चार दिन के बाद दस्त आने लग जाते हैं। दस्त झागयुक्त, दुर्गन्ध युक्त, मटमैले रंग के फूले हुए होते हैं। रोगी में इस प्रकार का कब्ज और अतिसार का क्रम लगातार काफी समय तक चलता रहता है। रोगी को कब्ज की अवस्था में प्रायः मुँह और जीभ में छाले पड़ जाते हैं या जीभ लाल हो जाती है परन्तु जब अतिसार का रूप प्रकट होने लगता है तो छाले और जीभ की लाली स्वतः दूर हो जाती है। रोगी में रक्ताल्पता के लक्षण भी मिल सकते हैं। अतिसार की यह अवस्था रोगी में आमाशय, अन्तड़ियों और यकृत के विकार तथा विटामिन बी-१२ की कमी के कारण भी उत्पन्न हो सकती है।

इस प्रकार के अतिसार की अवस्था कुछ ऐसे व्यक्तियों या बच्चों में भी देखने में आती हैं जो लंबे समय तक प्रोटीन पदार्थों और वसायुक्त पदार्थों के अभाव में कुपोषण में जीते रहे हैं।

११. **यकृत या अग्न्याशय दोषजन्य अतिसार :** यकृत में विकार उत्पन्न हो जाने के कारण भी अतिसार आने लग जाते हैं। इसमें यकृत के स्थान पर प्रायः धीमा दर्द रहने लगता है तथा दुर्गन्ध युक्त मल आते हैं। मूत्र का रंग भी मलों के साथ बदल जाता है। इस रोग में मरोड़ नहीं होते पर रोगी दिनों दिन कजरोर होता चला जाता है।

अग्न्याशय के विकारों यथा अग्न्याशय शोथ या अग्न्याशय में ट्यूमर के बन जाने से भी व्यक्ति को अधिक बार मल आने लग जाते हैं।

**१२. वृद्धावस्थाजन्य अतिसार :** उम्र के साथ व्यक्ति की पाचन व अवशोषण क्षमता घटने लगती है। अतः इस अवस्था में थोड़ा सा भी अधिक या भारी-गरिष्ठ भोजन कर लेने से अतिसार का रोग हो जाता है। यह रोग प्रायः ५५ वर्ष से अधिक आयु के लोगों को होता है, किन्तु मलों की आवृत्ति बढ़ जाने के बावजूद रोगी को कोई विशेष कमजोरी महसूस नहीं होती है।

**१३. बच्चों में अतिसार :** छोटे बच्चों में विभिन्न कारणों से अतिसार के कई रूप देखने में आते हैं। जैसे कि बच्चों को कई बार यकृत की खराबी या दाँत निकलते समय अथवा सूखा रोग में हरे रंग के अतिसार (ग्रीन डायरिया) हो जाता है। बच्चों को अक्सर सफेद-दूधिया रंग के दस्त आने लग जाते हैं। इनका कारण विशेष प्रकार के कीटाणु होते हैं। इस प्रकार के अतिसार को सफेद अतिसार (एल्वा डायरिया) कहा जाता है। अधिक गर्मी के मौसम में भी दूध पीते बच्चों को अतिसार का रोग हो जाता है। इसे गर्मी के दस्त (समर डायरिया) कहा जाता है।

बच्चों को अतिसार की समस्या कुछ अन्य कारणों यथा अधिक दूध पिलाने या गाय और भैंस का दूध पिलाने या संक्रमित दूध पिला देने या खाद्य पदार्थों के खिला देने से होता है। क्योंकि दूध की बोतल को भली प्रकार से साफ न करने, बच्चों द्वारा मिट्टी आदि को चाट लेने, मक्खी-मच्छरों से संक्रमित आहार के खा लेने से कई प्रकार के जीवाणु (वैसीलस एस्ट्रीक, वैसीलस एण्टेरीटोइड्स, अमीबा आदि) उनके पेट में प्रवेश कर जाते हैं।

**१४. रक्त की अधिकताजन्य अतिसार (कन्जेस्टिव डायरिया) :**

इस प्रकार के दस्त छोटी आँत्र की श्लेष्मिक कला में रक्त के अधिक मात्रा में इकट्ठे हो जाने से आया करते हैं। रक्त के एकत्र हो जाने से अन्तड़ियों की श्लेष्मा में शोथ उत्पन्न हो जाती है। कई बार अन्तड़ियों की श्लेष्मा में ठंड लग जाने से भी अतिसार आने लग जाते हैं। अत्यधिक ठंड के कारण आँत्र की श्लेष्मा में रक्त संचार बढ़ कर वहाँ इकट्ठा होने लग जाता है। कई बार शरीर में किसी तरल के रुक जाने जैसे पसीना के रुक जाने से भी अतिसार आने लग जाते हैं। इस प्रकार के अतिसार को अस्थानिक अतिसार कहा जाता है।

श्लेष्मिक कला में रक्त की अधिकता के कारण दस्त प्रायः पानी जैसे पतले प्रातःकाल आते हैं और पेट में मरोड़ तथा दर्द भी होता है। भूख कम लगती है, मितली आती है, नाड़ी की गति तेज हो जाती है तथा थोड़ा-थोड़ा ज्वर भी रहने लगता है। इसमें कभी-कभी कम मात्रा में सफेद रंग के कफ युक्त मल भी आते हैं।

**१५. अन्य कारणों जन्य अतिसार :**

थायराइड ग्रन्थि की अति सक्रियता, पुराने वृक्क सम्बन्धी रोग, डायबिटिक न्यूरोपैथी, तम्बाकू के अधिक सेवन, बस आदि में यात्रा करने से, जीर्ण अल्सरेटिव कोलाइटिस, पेट में पानी पड़ जाना आदि से भी अतिसार हो जाता है। इनके अतिरिक्त स्ट्रेप्टोकोकल, स्ट्रेप्टोकोकस ओरिन आदि से दूषित माँस, ट्रिचिनोसिस से दूषित माँस (सूअर) का खाने से भी अतिसार के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं।

**रोगों के संयुक्त लक्षण**

अतिसार में दस्तों की संख्या, दस्तों की मात्रा एवं तीव्रता पेचिश की तुलना में कुछ सौम्य होती है। किन्तु अतिसार की अधिकांश अवस्थाओं में मल के साथ न तो पस (आंव) मिश्रित होकर आती है और न ही रक्त। दर्द और मरोड़ की तीव्रता भी अपेक्षाकृत धीमी रहती है।

जब पाचन संस्थान में आहार भली प्रकार से नहीं पच पाता और न ही समुचित रूप में आँत्र में अवशोषित हो पाता है तो वह आँतों में ही संचित होता चला जाता है। अतः शरीर (पाचन संस्थान) इससे मुक्ति पाने के प्रयास में जुट जाता है जिससे आँत्र की पुरःसरण गति तीव्र हो जाती है तथा रोगी को बार-बार दर्द सहित पीले रंग के पतले व अधिक

मात्रा में दस्त आने लग जाते हैं। मल में कई बार बिना पचे भोजन के अंश भी मौजूद रहते हैं। कई बार जब व्यक्ति को घी, तेल (वसा युक्त) वाले आहार भली प्रकार नहीं पचते तो भी दिन में ३-४ बार दुर्गन्धयुक्त दस्त आने लग जाते हैं।

अनेक बार अतिसार की अवस्था में रोगी को मलों के साथ वमन भी आने लग जाते हैं। ऐसा अक्सर आमाशयजन्य अतिसार या संक्रमणजन्य अतिसार में ही होता है। जब जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न किये जीव विष (टॉक्सिन्स) रक्त के द्वारा वमन सम्बन्धी स्नायविक केन्द्र को उद्दीप्त करने लग जाते हैं।

मल और वमन की तीव्रता के अनुसार रोगी में पानी, खनिज लवणों और विभिन्न पौषक तत्वों की कमी होती चली जाती है। रोगी की जीभ गंदी और उस पर सफेद रंग की परत सी जम जाती है। भूख समाप्त किन्तु प्रारंभ में मुँह सूखना और प्यास तीव्र, किन्तु बाद में पानी की इच्छा भी समाप्त होने लगती है और रोगी में पानी व खनिज लवणों की कमी के कारण धीरे-धीरे मूर्च्छा जैसी स्थिति या अत्यधिक कमजोरी आने लगती है। नाड़ी की गति भी मंद और क्षीण होती जाती है। रोग के प्रारंभ में रोगी का तापमान थोड़ा बढ़ सकता है किन्तु बाद में सामान्य से कम रहने लगता है। रोगी के मल के अतिरिक्त सांस में भी दुर्गन्ध आने लग जाती है।

पुराने अतिसार की स्थिति में रोगी अत्यंत कमजोर, उसमें रक्ताल्पता के लक्षण, आँखें अदर धंसी हुई, जीभ लाल, हृदय की धड़कन तेज आदि लक्षण मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रोगी में यकृत वृद्धि, श्वसन कष्ट, प्लीहा वृद्धि आदि के लक्षण भी मिल सकते हैं।

## उपचार

अतिसार का उपचार करने से पूर्व यदि संभव हो तो सबसे पहले रोगी के मल की प्रयोगशलीय जाँच करवा कर रोग कारक जीवाणु या परजीवी के विषय में जान लेना चाहिए, जिससे रोग विशेष के अनुसार रोगी की समुचित चिकित्सा की जा सके। अतिसार की चिकित्सा में सबसे महत्वपूर्ण तीन बिन्दु होते हैं-

(अ) रोगी की दशा को अधिक जटिल बनने से रोकना। इसके लिए निम्न उपाय किये जाते हैं।

१. शरीर में अम्ल-क्षार के असंतुलन को साम्यावस्था में लाना और निर्जलीकरण को रोकना।
२. खनिज लवणों (सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम) की कमी को शीघ्र पूरा करना।

(ब) रोगी के शरीर के लिए आवश्यक पौषक तत्वों की पूर्ति को जारी रखना। इसके लिए रोग की अवस्थानुसार रोगी के आहार में परिवर्तन करके उसे निम्न प्रकार से व्यवस्थित करना पड़ता है-

१. तीव्र अतिसार की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को सभी प्रकार के फल (पका केला छोड़कर) और कच्ची सब्जियों का सेवन, अनाज, कॉफी, शराब, आचार, माँस, मछली और अन्य गरिष्ठ भोजनों का सेवन पूर्णतः बंद करा दिया जाता है। रोगी को दही को छोड़कर दूध व दूध से निर्मित अन्य सारे पदार्थ बंद करा दिये जाते हैं।
२. जीर्ण अतिसार की अवस्था में रोगी के आहार में विशेष परिवर्तन करके उसे ग्लूटिन युक्त आहार तथा अग्न्याशय विकारजन्य अतिसार में अग्न्याशय एन्जाइमों की पूर्ति भी आहार के साथ की जाती है तथा रोगी को वसा में घुलनशील विटामिनों यथा विटामिन ए. ई. के. डी आदि की पूर्ति भी की जाती है।

(स) रोग के औषधिय उपचार के लिए निम्न उपाय किये जाते हैं-

१. आधुनिक चिकित्सा पैथी के अनुसार संक्रमणजन्य अतिसार रोग में उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग कराया जाता है, जैसे कि मेट्रोनिडाजोल, टिनिडाजोल, सिप्रो फ्लोक्सासिन, नोर फ्लोक्सासिन इत्यादि का ७ से १६ दिन का एक पूरा कोर्स कराया जाता है। इनके अतिरिक्त कभी-कभी ट्रेटासाइक्लिन समूह, एम्पीसिलिन समूह तथा निक्सिलिक एसिड भी दिये जाते हैं।

२. आँत्र की पुरःसरण गति को धीमा करने के लिए लोपरामाइड, एट्रोपिन युक्त कुछ विशेष औषधियों का सेवन कराया जाता है, जिनसे आँत्र की मल को आगे धकेलने की गति धीमी पड़ सके और मल पर्याप्त समय तक वृहदाँत्र में रुककर शुष्क हो सके एवं मल त्याग की आवृत्ति घट सके।

## आयुर्वेदिक उपचार

आयुर्वेदिक उपचार के रूप में अतिसार के रोगी के लिए निम्न चिकित्सा उपक्रम अपनाए जा सकते हैं-

- २० ग्राम की मात्रा में उदुम्बर पत्रों को पीस कर २०० मि.ली. पानी में मिला कर उस पानी को छानकर पीने से अतिसार में आराम आ जाता है।
- बड़ी इलायची दानों के चूर्ण को कच्चे बेल फल के चूर्ण के साथ मिला कर दिन में २-३ बार सेवन करने से भी अतिसार में लाभ आ जाता है।
- कद्दू फल और कच्चे बेल फल का चूर्ण समान मात्रा में मिलाकर दिन में तीन बार अतिसार के रोगी को दिया जाता है।
- कट्फल, अतीस, नागरमोथा, कुड़ा की छाल और सौंठ समान मात्रा में लेकर उन्हें मोटा कूट लें। इस चूर्ण में से तीन चम्मच चूर्ण एक गिलास पानी में मिला कर उसे धीमी आग पर उबाल कर उसका क्वाथ (काढ़ा) बना लें। इस क्वाथ को शहद के साथ मिला कर पीने से अतिसार रोग में दस्तों की आवृत्ति घट जाती है।
- जायफल और सौंठ समान मात्रा में लेकर उन्हें पानी में पीस लें और उन्हें पानी में घोल कर, छान कर, उस पानी का सेवन करायें। पानी सदैव उबाल कर ठंडा किया हुआ प्रयोग में लायें।
- भुना जीरा, सौंफ, सौंठ, अनारदाना, सैधा नमक, बराबर मात्राओं में लेकर उनका चूर्ण बना लें। इस चूर्ण की ३ ग्राम की मात्रा रहित दही की लस्सी (छाछ) के साथ सेवन करने से अतिसार में आराम आता है।
- भुना जीरा, सौंठ, कच्चे बेल फल का चूर्ण, सौंफ और अजवायन की बारबर मात्रा का बारीक चूर्ण बना कर रख लें। इस चूर्ण की एक-एक चम्मच की मात्रा दिन में तीन बार ताजा पानी के साथ लेने से अतिसार रोग ठीक होता है।

## अतिसार में रोगी का आहार :

अतिसार के प्रारंभ में कोई भी ठोस और देर से पचने वाला आहार न दें, क्योंकि अतिसार में पाचक एन्जाइमों की कार्य क्षमता घट जाती है, आँतों में अवशोषण का कार्य रुक जाता है तथा उनकी पुरःसरण गति तीव्र हो जाती है। रोगी की भूख भी समाप्त हो जाती है और उसे खाने की इच्छा भी नहीं रहती है। परन्तु रोगी में जल और खनिज लवणों की आपूर्ति तथा अम्ल-क्षार सन्तुलन को सामान्य बनाये रखने के लिए तरल पेय पदार्थ देने अवश्य जारी रखने चाहिए। इसके लिए नींबू की शहद मिला कर बनायी शिकंजी, ग्लूकोज का पानी, दाल का पानी, जौ का पानी, बिना मक्खन ताजा दही की पतली लस्सी पीने को देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त बाजार में एक ओरल रिहाइड्रेशन साल्ट (ओ.आर.एस.) के नाम से एक पाउडर मिलता है, उसे पानी में घोल कर, उसे रोगी को पीने के लिए दिया जाता है। इस तरल से पानी के साथ-साथ सोडियम, पोटेशियम, क्लोराइड, ग्लूकोज आदि की भी तुरंत पूर्ति हो जाती है। यह पाउडर शुगर, नमक, पोटेशियम क्लोराइड और खाने का सोडा (सोडियम कार्बोनेट) का मिश्रण है। यदि रोगी को ओ.आर.एस. का घोल न दिया जा सके तो साधारण नमक, चीनी से बनी नींबू की शिकंजी के अतिरिक्त उसे सब्जियाँ, केला, सेव, कच्चा पपीता, गाजर आदि पानी में उबाल कर उनका सूप दिया जाये। क्योंकि अतिसार के रोग में दस्तों के साथ रोगी के शरीर से काफी मात्रा में सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम आदि खनिज तत्व व्यर्थ बह जाते हैं, जिसके कारण रोगी की स्थिति जटिल बन सकती है। उसमें मूत्र की मात्रा घट सकती है या मूत्र बनना बंद हो सकता है, पेट एकाएक फूल सकता है तथा हृदय की विफलता जैसी जटिलता भी जन्म ले सकती है। छोटे बच्चों और शिशुओं में तो इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि उनमें शीघ्र ही अर्थात् एक-दो दिन के अतिसार में ही ऐसे लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं, यदि उनके उपचार पर समय से पर्याप्त ध्यान न दिया जाये।

रोगी की स्थिति में थोड़ा सुधार होने लग जाये तो उसे पतली मूंग की दाल, दही में १-२ पके केले मथकर, उबरी हुई सब्जियाँ, नारियल का पानी, दही आदि दिये जा सकते हैं। जैसे-जैसे रोगी की स्थिति में सुधार आता जाये वह अपने सामान्य आहार पर लौट सकता है। किन्तु सावधानी के तौर पर १०-१२ दिन तक तले-भुने, गरिष्ठ और मिर्च-मसालेदार भोजन से परहेज ही रखा जाये।

अतिसार के रोग में सामान्यतः दूध का सेवन रोगी को बंद करा दिया जाता है, परन्तु दूध पर निर्भर शिशुओं को माताएं अपना दूध पिला सकती हैं। वेसे भी माँ के दूध में इम्यूनोग्लोबिन नामक एक विषाणुनाशक एण्टीबोडीज तथा लैक्टोफेटिन नामक एक कीटाणुनाशक एन्जाइम पाया जाता है जो अतिसार के दौरान शिशुओं में प्रतिजीवी औषधियों जैसा कार्य करते हैं।

### प्राकृतिक चिकित्सा

अतिसार (दस्त) के रूप में प्रकृति हमारे शरीर में एकत्र हो गये विजातीय विषों को बाहर निकालने की कोशिश करती है। अतः प्रकृति के इस कोमल प्रयास को दवाइयों के द्वारा दबाना नहीं चाहिए। निम्नलिखित उपचार क्रम अपनाकर अतिसार पर प्राकृतिक उपचार से नियंत्रण पाया जा सकता है। जैसे ही १-२ दस्त लगें और रोग के लक्षणों में वृद्धि हो तुरंत पेट पर ठण्डी मिट्टी की पट्टी रखनी चाहिए। अगर मिट्टी की पट्टी सुलभ नहीं हो तो चार तह बनाकर रोंयेदार कपड़े या तौलिए को ठण्डे पानी में भिगोकर पेट पर रखें। ठण्डी पट्टी रखने से आंतों में संकुचन होता है और आंत्र की पुरःसरण गति की तीव्रता में एकदम कमी आती है। रोगी को आराम मिलता है। १५-२० मिनट के अंतराल से मिट्टी की पट्टी बदलते रहनी चाहिए। जब तक कि पेट ठंडा नहीं हो जाये। कुछ विषम परिस्थितियों में जब अतिसार की तीव्रता होती है तब पेट एवं पैर एकदम ठण्डे हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में पेट पर २ मिनट का गरम सेक एवं १ मिनट का ठंडा सेक करना उचित रहता है। पैरों पर गर्म सेक करने के बाद पेट एवं पैर, दोनों पर सूती व ऊनी लपेट बांध देनी चाहिए। शरीर ज्यादा ठंडा प्रतीत हो तो ऊपर से गर्म थैली का सेक करना चाहिए। इसके बाद रोगी की अवस्था, वातावरण, बल इत्यादि को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त उपचार के पूर्व या पश्चात नीम के पत्ते डालकर उबाले गये पानी से एनीमा देना चाहिए। एनीमा देते वक्त यह ध्यान में रखें कि अगर पेट गरम हो तो नीम पानी ठंडा लें एवं पेट ठंडा हो तो नीम पानी किंचित गरम लें। एनीमा से एकदम लाभ होता है। क्योंकि अतिसार उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म जीवाणु नीम के पानी से नष्ट होकर बाहर निकल जाते हैं और उनकी वृद्धि की तीव्रता में कमी आती है। कई बार दस्त में एनीमा देते ही दस्त रुक जाते हैं। ऐसा अनुभवजन्य है।

रोगी के पैर और पेट ज्यादा गरम हों तथा अतिसार हो रहा हो तो ठंडा कटि स्नान बहुत लाभदायक है। कटि स्नान देते समय दुर्बल रोगियों के पैरों को गरम पानी के पात्र में रखना चाहिए तथा गर्दन तक कम्बल से ढक देना चाहिए। यदि पेट ठंडा हो तो पेट व कमर के चारों ओर १०-१५ मिनट तक गरम पानी की थैली से सेक करने के बाद ८-१० मिनट के लिए ठंडा कटि स्नान देना उपयुक्त रहता है। इस दौरान भी पैर गरम पानी के पात्र में रखने चाहिए। कटिस्नान के बाद भीगे हुए स्थानीय अंग को सूखे तौलिए से भलीभांति रगड़कर ऊष्मा दें एवं पूर्ण विश्राम करायें। रोगी की स्थिति को देखते हुए कटिस्नान की पुनरावृत्ति की जा सकती है।

अतिसार के साथ उल्टी भी हो रही हो तो साफ बर्फ का टुकड़ा चूसने के लिए दें। पेट पर गीला कपड़ा रखकर ऊपर से बर्फ का बुरादा रखें। इससे तुरंत लाभ मिलता है। उपयुक्त उपचारों से प्राकृतिक ढंगसे दस्त रुक जाता है। यदि शरीर ठंडा है और रोगी दुर्बल नहीं है तो शक्ति अनुसार गरम पाद स्नान या भापस्नान दें, या शरीर को कम्बल से ढककर पैरों पर थैली से सेक करायें। गरम उपचार देने से दूषित पदार्थ पसीने के रूप में बाहर निकल जाते हैं। फलतः रोगी के पेट पर दबाव कम हो जाता है और नींद आ जाती है। गरम उपचार के दौरान यह अवश्य ध्यान रखें कि रोगी को निर्जलीकरण (डीहाइड्रेशन) की संभावना तो नहीं है। ऐसा होने की स्थिति में गरम उपचार नहीं दें और उबले पानी को ठंडा करके ५ ग्राम नमक, ढाई चम्मच शहद (चीनी, गुड़ भी दे सकते हैं) तथा १-२ नींबू का रस मिलाकर जीवनरक्षक घोल बनाकर चम्मच से थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें। इसी घोल का एनीमा भी दे सकते हैं। रोगी को किसी भी प्रकार से नींद आ जाये तो शरीर के लिए सबसे बड़ा उपचार है। क्योंकि नींद आने से शारीरिक (पेट की) उत्तेजना शांत हो जाती है।



## आहार चिकित्सा

उत्तेजक आहार से बचें। ठोस आहार जैसे रोटी, दाल, चावल इत्यादि भी २-३ दिन नहीं दें क्योंकि अतिसार होने पर भूख खत्म हो जाती है एवं जठराग्नि मंद हो जाती है। रोगी की शक्ति के अनुसार नींबू-पानी-शहद या छाछ दें। उपवास रखने से भी रोग के शमन में मदद मिलती है। दस्त होने पर शरीर में पानी की कमी होने लगती है। अतः उपर्युक्त जीवनरक्षक घोल चम्मच से पिलाते रहें। सेव, कच्चा पपीता, केला, आलू बुखारा का सूप पिलाना भी लाभदायक है। रोगी को एक साथ बहुत मात्रा में ठंडा पानी नहीं पीना चाहिए इससे आंतों में उत्तेजना होकर दस्तों में तीव्रता हो जाती है और उल्टी भी हो सकती है। अतिसार में शरीर में पानी की कमी के साथ-साथ सोडियम, पोटेशियम, मैग्नीज आदि इलेक्ट्रोलाइट्स की भी कमी हो जाती है। फलस्वरूप रोगी में निर्जलीकरण (डीहाइड्रेशन) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। त्वचा में झुर्रियां पड़ने लगती हैं एवं संवेदना शक्ति का ह्रास होने लगता है। होठ व गला सूखने लगते हैं। यह घातक स्थिति हो सकती है। ऐसी हालत में रोगी को पके हुए १-२ केले छाछ में खूब मथकर थोड़ा सा चुटकी भर नमक एवं १-२ चम्मच शहद व आधा १ चम्मच ईसबगोल की भूसी मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए अथवा पूर्व में वर्णित जीवनरक्षक घोल चम्मच से थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहने से हालत में सुधार होने लगता है। रोगी की हालत कुछ संभलने पर मांड, छाछ, नारियल पानी, उबली सेव दें। अच्छी भूख लगने पर दही, भात, दलिया, खिचड़ी, लौकी, टिण्डा की उबली सब्जी कम मात्रा में खिलाएं। पानी, सब्जी, खाद्य आहार एवं फलों को उपयोग में लाने से पूर्व सुनिश्चित कर लें कि यह किसी प्रकार से प्रदूषित तो नहीं है। पानी उबालकर ठण्डा करके ही पीना चाहिए, फल तथा सब्जियों को अच्छी तरह से धोकर साफ कर लेना चाहिए ताकि उन पर जमे कीटाणु नष्ट हो जाएं। तले-भुने, गरिष्ठ आहार, मिर्च-मसालेदार पदार्थों, मैदा एवं बेसन की खाद्य वस्तुओं से परहेज रखें। औषधियों के प्रयोग से बचें और प्राकृतिक व आहार चिकित्सा को आजमायें।

## पेचिश

### (DYSENTRY)

जब शौच प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा बार-बार, पतला और अधिक मात्रा में आने लग जाये तो उसे अतिसार रोग कहा जाता है। दस्तों के बढ़ने का कारण आँतों की पुरःसरण गति की अधिकता रहती है और दस्तों की मात्रा बढ़ाने का कारण आँतों की पुरःसरण गति की अधिकता रहती है और दस्तों की मात्रा बढ़ाने का कारण आँतों में पचित भोजन का भली प्रकार से शोषण न हो पाना तथा अन्तड़ियों में अधिक तरल का उत्पन्न हो जाना होता है। भोजन में बद परहेजी करने, विषाक्त भोजन का सेवन करने, भोजन में आँत में खराश उत्पन्न करने वाले तत्वों के रहने से ऐसा हो जाता है।

किन्तु जब वृहत आन्त्र में विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं के संक्रमण के कारण तीव्र प्रकार की सूजन उत्पन्न हो जाती है तो आँत्र और मलाशय अपने कष्ट को दूर करने के लिए बार-बार ऐंठन पैदा करने लग जाते हैं जिससे शौच की आवृत्ति बढ़ जाती है तथा मल के साथ थोड़ी मात्रा में म्यूकस या आवं या रक्त मिश्रित आँव कूँधने और जोर लगाने पर जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी को दिन भर में (२४ घंटे के बीच) १५ से ४० या उसमें भी अधिक बार शौच के लिए जाना पड़ सकता है। इस रोग को पेचिश या डिसेन्ट्री के नाम से जाना जाता है।

### रोग के कारण

पेचिश का कारण प्रायः विभिन्न प्रकार के जीवाणु होते हैं जो दूषित खाद्य-पदार्थों या पानी आदि के माध्यम से पाचन संस्थान, आँतों तक प्रवेश पा जाते हैं। वहाँ ये आँत्र की श्लेष्मिक कला में अपना बसेरा डाल कर अपनी वंश वृद्धि करने लग जाते हैं। इन जीवाणुओं की गतिविधियों के कारण आँत्र की श्लेष्मिक कला में सूजन, घाव या फोड़ा तक उत्पन्न हो जाते हैं जिसका परिणाम गम्भीर पेचिश के रूप में सामने आता है। इस रोग को पैदा करने वाले जीवाणुओं की प्रवृत्ति के अनुसार 'पेचिश' रोग के दो रूप होते हैं-

१. कीटाणुजन्य पेचिश या बेसिलरी डिसेन्ट्री और
२. अमीबाजन्य पेचिश या अमीबिक डिसेन्ट्री ।

### बेसिलरी डिसेन्ट्री :

इस प्रकार की पेचिश शिगैला (Shigella) जाति (जीनस) के तीन पारिवारिक सदस्य शिगा (Shiga), फ्लेक्नर ¼ Flexner ½ तथा सोन (वददमप) नामक बेसिलस जीवाणुओं (बेक्टीरिया) द्वारा फैलता है। इन जीवाणुओं की भी कुछ उपजातियाँ हैं जो कभी-कभी पेचिश का कारण सिद्ध होते हैं।

वैसे तो बेसिलरी डिसेन्ट्री नामक पेचिश का यह रोग सारे संसार में ही फैला हुआ है किन्तु यह रोग उन देशों और स्थानों में जहाँ मानव जीवन के संसाधन निम्न स्तरीय हैं तथा धनी आबादी वाले क्षेत्रों में अक्सर महामारी के रूप में प्रकट होता रहता है। कुछ विकसित और यूरोपीय देशों में यह रोग सैनिकों की बैरेकों, कैदियों, पागलखानों तथा स्कूल आदि में फैलता है। क्योंकि पेचिश रोग से संक्रमित व्यक्ति के मन में रोग के जीवाणु मौजूद रहते हैं जो मल से अलग होकर पानी व अन्य खाद्य पदार्थों तक पहुँच कर उन्हें दूषित कर देते हैं। इन दूषित खाद्य पदार्थों के सेवन से यह जीवाणु आँत्र में पहुँच जाते हैं और वहाँ आँत्र की श्लेष्मिक कला में अपनी सक्रियता से सूजन व घाव बना डालते हैं। इन घावों से रोग की तीव्रता के अनुसार कम या अधिक मात्रा में रक्तस्राव होने लग जाता है।

### रोग के लक्षण

यों तो बेसिलरी पेचिश के इन तीनों प्रकार के जीवाणुओं का प्रभाव अलग-अलग प्रकार से कम या गम्भीर रूप में प्रकट होता है जैसे कि सोन जीवाणु का संक्रमण बहुत हल्के रूप में प्रकट होता है तथा रोगी को केवल हल्के मरोड़ व कुछ मल त्याग के उपरांत शीघ्र ही आराम आने लगता है। फ्लेक्नर जीवाणु का संक्रमण सोन की अपेक्षा तीव्र रूप में प्रकट होता

है, जबकि शिगैला जीवाणु का संक्रमण प्रायः गम्भीर रूप में प्रकट होता है। यदि इसके संक्रमण के दौरान रोगी की उचित देखभाल व उपचार पर ध्यान न दिया जाये तो रोगी की रोग संक्रमण के ४८ घंटों के अंदर मृत्यु तक हो सकती है।

बेसिलरी डिसेंट्री में रोग संक्रमण के एक से छः दिनों के अंदर रोगी में बार-बार अतिसार, ऐंठन और मरोड़ के साथ दस्त आने लग जाते हैं। रोगी के पेट में तीव्र चुभन वाला मल त्याग के बाद उसकी मात्रा बढ़ जाती है तथा मल के साथ रक्त व पस (आँव) भी मिलकर आने लग जाती है, किन्तु कुछ मल त्याग के बाद पुनः मल में मल का अंश घटने लगता है पर आँव और रक्त का अंश बढ़ने लगता है। कई बार तो रोगी के मल में आँव या रक्त ही रह जाते हैं। रोगी को इनके अतिरिक्त वमन, मितली के साथ ज्वर भी  $90^{\circ}$  ५ तक होने लग जाता है। बार-बार के मल त्याग के कारण शीघ्र ही शरीर में पानी तथा खनिज तत्वों की कमी के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी के शरीर में उत्पन्न हुए निर्जलीकरण (पानी की कमी) के कारण रोगी सुस्त, शरीर से निढाल, चेहरा पीला पड़ना, जीभ का शुष्क होना, आँखें अंदर धंसना तथा मानसिक बेचैनी की स्थिति के लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। रोगी को सिर दर्द, सम्पूर्ण शरीर में दर्द तथा कभी-कभी जोड़ों के दर्द (आर्थ्राइटिस) जैसे लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। छोटे बच्चों में तो पेचिश के संक्रमण से शीघ्र ही पानी व खनिज तत्वों की कमी के कारण भयानक निर्जलीकरण तथा निम्न रक्तचाप की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। छोटे बच्चों में तीव्र दस्तों की आवृत्ति के कारण एक दिन में ही १ से २ ग्राम तक पोटेसियम तत्व की हानि हो जाने से हृदय फेल होकर मृत्यु तक हो सकती है। इसलिए पेचिश रोग से ग्रस्त बच्चों पर शीघ्र ध्यान केन्द्रित करना चाहिए तथा इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उनके शरीर में पानी तथा खनिज तत्वों की कमी न होने पाये।

निर्जलीकरण की स्थिति के कारण शीघ्र ही गुर्दे की कोशिकाओं में सूजन (ग्लोमेरुलो नेफ्राइटिस) उत्पन्न हो जाने से मूत्र का बनना बंद हो जाता है जिससे शीघ्र ही शरीर में विष के फैल जाने से शरीर के अन्य महत्वपूर्ण अंगों की कार्य प्रणाली प्रभावित होने से मृत्यु तक हो जाती है।

बेसिलरी डिसेंट्री से पीड़ित को एक दिन में ही १५ से ४५ या अधिक बार मल त्याग के लिए जाना पड़ सकता है। इस रोग के गर्मियों, विशेष कर वर्षा के मौसम में फैलने की संभावना अधिक रहती है।

कुछ अन्य रोगाणुओं के संक्रमण के कारण भी बेसिलरी डिसेंट्री जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जैसे कि मलेरिया ज्वर उत्पन्न करने वाले प्लाज्मोडियम पैलसीफेरम परजीवी के संक्रमण, हैजा रोग के बीवियो कॉलरा के संक्रमण, कालाजार रोग के संक्रमण आदि में। इनके अतिरिक्त आँत्र में पाये जाने वाले कुछ विशेष जीवाणुओं की प्रजातियाँ जैसे कि मैनसोनाई, सीस्टोसीया, आँत्र कृमि जैसे नीमोटोड आदि के संक्रमण में भी पेचिश जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

पेचिश रोग के शीघ्र निदान के लिए रोगी के मल की प्रयोगशाला परीक्षण करवाने से जीवाणु विशेष की उपस्थिति को बड़ी सुगमता से सिद्ध किया जा सकता है तथा उसके अनुसार शीघ्र ही रोगी का उपचार किया जा सकता है।

### अमीबिक डिसेंट्री :

इस प्रकार की पेचिश का प्रमुख कारण है एण्टाइमिबा हिस्टो लाइटिका नामक अमीबा परजीवी की एक प्रजाति, जो दूषित खाद्य पदार्थों, पानी, सब्जियों, फलों, सलाद आदि के माध्यम से सिस्ट (अमीबा परजीवी की वयस्क बनने से पहले अवस्था) के रूप में आँत्र संस्थान में पहुँच जाता है तथा 'अमिबायासिस' नामक पेचिश को जन्म देता है। इस अमीबा की एक और किस्म है, एण्टाइमिबा हर्टमनी, जो ई कोलाई जीवाणु की तरह मानव की आँत्र में बिना कोई हानि या रोग उत्पन्न किये मौजूद रहता है। इनके अतिरिक्त अमीबा की दो अन्य प्रजातियाँ नाइग्लेरिया और अकेन्थामिबा जो प्रायः तालाब, पोखरों, नालों तथा तरण तालों के जल में मौजूद रहते हैं, सारे संसार में ही मस्तिष्कावरण शोथ का एक प्रमुख कारण सिद्ध होते हैं।

एण्टाइमिबा हिस्टोलाइटिका का सिस्ट संक्रमित व्यक्ति के मल के साथ शरीर से बाहर निकल कर काफी समय तक भली प्रकार जीवित रहता है तथा सीधे ही या मक्खी, मच्छर आदि कीटों के माध्यम से पीने के पानी, बिना पके आहार जैसे दूध, सब्जियाँ, फल, सलाद, आइसक्रीम तथा मिठाई आदि को संक्रमित करता रहता है। इन खाद्य और पेय पदार्थों के साथ यह स्वस्थ व्यक्ति के आहार तंत्र में प्रवेश करके आँत्र की श्लेष्मा में घाव और शोथ उत्पन्न करके 'अमीबिक डिसेंट्री'

के लक्षण उत्पन्न करता है। वैसे यह सिस्ट कुछ लोगों की आँत्र में बिना कोई हानि पहुंचाये या रोग के लक्षण उत्पन्न किया आराम से पड़ा रहता है, किन्तु उस व्यक्ति के मल के साथ बाहर निकल कर खाद्य पदार्थों व पानी आदि को संक्रमित बनाता रहता है। ध्यान रहे कि इस एण्टाइमिबा हिस्टो लाइटिका के संक्रमण से विश्व की कुल जनसंख्या का 99 प्रतिशत भाग संक्रमित है। भारत में भी इससे संक्रमित रोगियों की संख्या विभिन्न राज्यों व शहरों में ६ से ६० प्रतिशत के मध्य है। इससे पीड़ित सर्वाधिक रोगी मुम्बई में हैं जहाँ लगभग ६० प्रतिशत लोग इससे ग्रस्त हैं, जबकि कम पीड़ित लोग कलकत्ता में हैं जहाँ रोगियों का प्रतिशत ८.६ के लगभग है।

## रोग के लक्षण

रोग का आक्रमण संक्रमण होने से २ साल से कई साल बाद तक हो सकता है किन्तु सामान्यतः इस रोग के लक्षण कुछ माह में ही प्रकट होने लग जाते हैं। इसीलिए अमीबिक डिसेन्ट्री का यह रोग दीर्घकालीन रूप में चलता रहता है तथा रोग के लक्षण भी बेसिलरी डिसेन्ट्री की तुलना में कुछ सौम्य होते हैं। इस रोग में रोगी के पेट में धीमे ऐंठन जैसा दर्द तथा दिन में ३ से ६ बार मल त्याग के लिए जाना पड़ता है। कभी-कभी अतिसार के बाद रोगी में कब्ज के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं। प्रायः मल में म्यूकस (आँव) तथा कभी-कभी रक्त मिला हुआ तीव्र दुर्गन्ध युक्त मल आता है। पेट में मरोड़, ऐंठन के अतिरिक्त छूकर देखने पर बड़ी आँत्र के स्थान पर कठोरता तथा दबाने पर दुखन महसूस होता है। रोग की तीव्रता की अवस्था में अमीबा परजीवी आँत्र से रक्त संचार द्वारा फेफड़ों, अण्डकोष, प्लीहा तथा यकृत तक पहुँच जाता है तथा उनमें शोथ तक उत्पन्न कर देता है। यकृत में पहुँच कर यह सूजन, घाव व फोड़ा तक उत्पन्न कर देता है। इससे रोगी में अमीबिक डिसेन्ट्री के अतिरिक्त यकृत के स्थान पर दर्द, रक्त की कमी, भूख घट जाना तथा रोगी का वजन कम होते चले जाना, रोगी में ज्वर व खांसी (इसिनोफिलिया), प्लीहा वृद्धि, नाड़ी की गति तीव्र किन्तु मंद तथा हृदय की धड़कन तीव्र आदि लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं। रोगी में पीलिया के लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं।

बेसिलरी डिसेन्ट्री और अमीबिक डिसेन्ट्री में कुछ विशेषताओं के आधार पर निम्न अंतर स्पष्ट होते हैं, जिससे रोग का निदान सहज रूप से हो जाता है -

### बेसिलरी डिसेन्ट्री

### अमीबिक डिसेन्ट्री

- |  |  |
|--|--|
| १. रोग का प्रारंभ प्रायः अत्यंत तीव्रता से होता है।  | १. रोग का प्रारंभ प्रायः अत्यंत धीमे रूप में होता है।                                      |
| २. यह रोग प्रायः शीघ्र ही दुबारा नहीं होता, किन्तु २. इस रोग का भली प्रकार उपचार न होने पर पुराना हो जाने पर देर तक बना रहता है। | अक्सर रोग का आक्रमण बार-बार होता रहता है।  |
| ३. इस रोग के लक्षण संक्रमण से २५ घंटे से लेकर ७ दिन तक प्रकट हो सकते हैं।  | ३. इन रोग के लक्षण संक्रमण के बाद कुछ सप्ताह से लेकर कुछ वर्ष बाद तक भी प्रकट हो सकते हैं। |
| ४. इस रोग में शौचों की संख्या दिन भर में ४०-५० बार तक हो सकती है।  | ४. इन रोग के संक्रमण में शौचों की संख्या १०-१२ बार प्रतिदिन तक हो सकती है।                 |
| ५. यह रोग सात वर्ष से कम आयु के बच्चों को अधिक होता है।  | ५. इस रोग से वयस्क व्यक्ति ही ज्यादा प्रभावित रहता है।                                     |
| ६. इस रोग के कारण शरीर के अन्य अंग यथा यकृत, प्लीहा, मस्तिष्क आदि पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता ।                                | ६. इस रोग का आक्रमण प्रायः यकृत में फोड़ा या घाव तक उत्पन्न कर देता है।                    |

७. इस रोग में जीभ साफ और सारे पेट में दर्द रहता है।      ७. इस रोग में जीभ गन्दी रहती है तथा पेटके किसी विशेष भाग में ही दर्द रहता है।

### पेचिश के संयुक्त लक्षण

पेचिश के प्रायः तीव्र या नये तथा पुराने व मध्यम दोनों रूप ही देखने में आते हैं, जिनके संयुक्त लक्षण इस प्रकार हैं-

- तीव्र पेचिश की दशा में म्यूकस (आँव) व मरोड़ के साथ बार-बार मल त्याग के लिये जाना पड़ता है। रोगी की भूख समाप्त हो जाती है। शौचों की संख्या बढ़ जाती है किन्तु तब रोगी को मल त्याग करते समय कूथना और जोर लगाना पड़ता है तथा मरोड़ों की तीव्रता बढ़ जाती है। मल में मल का अंश कम, पर म्यूकस, रक्त और कभी-कभी अन्तड़ियों के तन्तुओं की संख्या व मात्रा बढ़ जाती है। रोगी को १०१ से १२० डिग्री फारनेहाइट तक ज्वर भी हो सकता है। प्यास बढ़ जाती है, शरीर में पानी की कमी, मुँह व जीभ सूखन लगते हैं, नाड़ी तेज व कठोर तथा हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। रोगी में मूत्र की मात्रा कम व रंग लाल होने लग जाता है। रोगी की स्थिति में सुधार होने पर लक्षणों में शीघ्रता से परिवर्तन आने लग जाते हैं। मल भी पीला आने लग जाता है एवं उसमें आंव व मल की मात्रा घटने लगती है और आवृत्ति व तीव्रता धीमी पड़ने लगती है।
- पुरानी पेचिश की अवस्था में तीव्र पेचिश की अपेक्षा शौचों की संख्या बहुत कम रहती है , किन्तु उसमें आंव व रक्त की उपस्थिति तीव्र पेचिश के समान ही होती है। मल में तीव्र दुर्गन्ध रहती है। मल त्याग के समय रोगी के पेट में प्रायः मरोड़ रहती है। कभी अतिसार के बाद रोगी को कब्ज की समस्या भी हो जाती है, तथा रोगी की भूख घट जाती है। रोगी दिनोंदिन कमजोर और दुर्बल होता चला जाता है एवं उसमें रक्ताल्पता के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं।
- इस रोग में रोगी की जीभ गन्दी, मैली व उस पर सफेद मैल सी जमी हो सकती है। रोगी की सांस से बदबू आने लगती है, सिर दर्द के साथ बेचैनी सी रहने लगती है। पेट में यकृत के स्थान पर भारीपन, यकृत वृद्धि , प्लीहा व हृदय की धड़कन तीव्र और कभी-कभी पीलिया रोग जैसे लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं।
- रोग पुराना हो जाने पर अन्तड़ियों में मल के सूख जाने पर उसके सुददे बन जाते हैं। तब अन्तड़ियां उन्हें निकालने का प्रयास करती हैं, इसलिए रोगी की आंते बार-बार कूथती व जोर लगाती हैं, जिससे रोगी को अपने पेट में मरोड़ों का सा अनुभव होने लगता है, पर इस प्रयास में भी मल के सुददे बाहर नहीं निकलते, केवल थोड़ा सा आंव युक्त मल ही बाहर आता है।
- संक्रमण के कारण जब आँत्र की झिल्ली, पेरीटोनियम में सूजन उत्पन्न हो जाती है जिससे आँत्र में शोथ के स्थान पर व गुदा में भारीपन तथा दर्द सा रहने लगता है तथा मरोड़ के साथ पेचिश जैसे लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। यदि आँत्र की यह शोथ बढ़कर मूत्राशय पर दबाव डालने लग जाये तो मूत्र त्याग में भी कठिनाई होने लग जाती है। इस अवस्था में रोगी को ज्वर भी हो सकता है। रोगी की इस अवस्था में मुँह का स्वाद कभी कड़वा और कभी फीका रहता है। रोगी की भूख घट जाती है एवं प्यास बढ़ जाती है।

### पेचिश का उपचार

पेचिश का आक्रमण प्रायः दूषित खाद्य पदार्थों, जल आदि के सेवन करने वाले, भारी, गरिष्ठ, तले-भुने और देर से पचने वाले आहार का सेवन करने वालों को ही होता है। क्योंकि दूषित खाद्य पदार्थों के माध्यम से पेचिश के जीवाणु आँत्र में प्रवेश पा जाते हैं, जबकि देर से पचने वाले आहार के सेवन से जीवाणुओं को आँत्र के पाचक रस व हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से अपनी रक्षा करने तथा अपनी वंश वृद्धि करने का सुअवसर मिल जाता है। अतः पेचिश रोग से बचने के लिए विशेषकर रोग फैलने की संभावना वाले दिनों व स्थानों में, गर्मी व वर्षा के मौसम तथा सभी गर्म व उष्ण कटिबन्धीय देशों में, सदैव शुद्ध व ताजा खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए। खाद्य पदार्थों को मक्खी, मच्छर आदि कीटों की पहुँच से दूर, ढक कर

रखना चाहिए तथा शीघ्र पचने वाले सुपाच्य भोजन का सेवन करना चाहिए। पीने के पानी को पहले उबाल कर व संक्रमण रहित बनाकर, ठंडा करके सेवन के कार्य में लाना चाहिए। सब्जियों और फलों को सेवन से पूर्व भली प्रकार धो-पोंछ कर साफ कर लेना चाहिए। स्वयं व्यक्तिगत रूप में हाथों, बर्तनों आदि की पूर्ण सफाई रखनी चाहिए।

## औषधीय उपचार

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में बेसिलरी डिसेन्ट्री के उपचार के लिए अनेक प्रकार की प्रतिजीवी (एण्टीबायोटिक्स) औषधियों का उपयोग किया जाता है जिनसे शीघ्र ही जीवाणुओं का नाश होकर रोग नियंत्रण में आ जाता है। अमीबिक प्रकार की पेचिश के लिए कुछ विशेष औषधियों यथा मेट्रोनिडाजोल, टिनिडाजोल, इमिटिन हाइड्रो क्लोराइड, फ्लूमाइड तथा मलेरिया रोग की क्लोरो क्वीन आदि औषधियों का उपयोग किया जाता है। इन औषधियों के निश्चित कोर्स से अमीबा परजीवी का नाश हो जाता है तथा अमीबिक पेचिश, यकृत वृद्धि, यकृत शोथ आदि में आराम आ सकता है।

तीव्र पेचिश के उपचार के समय एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि दस्तों की आवृत्ति को कुछ विशेष प्रचलित औषधियों के प्रयोग से एकदम कदापि बंद नहीं करना चाहिए ऐसा करने से पेट में जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न किया विष आँत्र, शरीर या रक्त में ही संचित होता चला जाता है, जिससे रोगी को भयंकर प्रकार के वमन शुरू हो सकते हैं व अन्य महत्वपूर्ण अंगों में जटिलताएं उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। इनके विपरीत रोगी को इस बात का प्रयास करना चाहिए कि उसके शरीर में जल, खनिज लवणों व अन्य पोषक तत्वों की कमी उत्पन्न न होने पाये, क्योंकि जब एक बार आँत्रों की पूरी तरह सफाई हो जाती है तो रोगी में तरल आहार व औषधियों का पाचन शीघ्र होने लग जाता है। रोगी की स्थिति में तेजी से सुधार आने लग जाता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली में पेचिश रोग के शमन के लिए निम्न वनोषधियों के विभिन्न योगों का प्रयोग किया जाता है। पेचिश के लिए आयुर्वेद के कुछ सफल, सरल और परीक्षित योग इस प्रकार हैं-

- कटुज की छाल, अतीस कडुई, कच्चे बेल फल का मज्जा, खसखस और नागरमोथा, सभी समान मात्रा में लेकर, इन्हें दरदरा कूट कर पाउडर बना लें तथा किसी पात्र में भर कर रख लें। रात्रि के समय इस चूर्ण में से १०-१२ ग्राम की मात्रा लेकर २०० मि.ली. पानी में भिगोकर किसी कांच या मिट्टी के बर्तन में भरकर रख दें। प्रातःकाल इस चूर्ण सहित पानी को धीमी आग पर रखकर उबाल लें। जब पानी का अंश ५० मि.ली. के बारबर रह जाये तो नीचे उतार कर, ठंडा करके छान लें।

इस क्वाथ का सुबह-सुबह खाली पेट रोगी को पिला दें। इसके सेवन से २-३ दिनों में ही दोनों प्रकार की पेचिश में आराम आ जाता है तथा १५-२० दिन में मल में अमीबा की अनुपस्थिति सिद्ध होने लग जाती है। ४० दिन के उपचार के बाद रोगी को स्थायी लाभ आ जाता है।

कटुज में “कोनेसीन” नामक एक एल्केलाइड पाया जाता है, यह अमीबा परजीवी के कुल पर तीव्र मारक प्रभाव डालता है।

- कच्चे बेल फल का मज्जा चूर्ण ४ से ६ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार गुड के साथ पकाकर या शहद में मिलाकर चाटने से साधारण पेचिश व रक्त मिश्रित पेचिश में शीघ्र ही लाभ आ जाता है।

बेल की मज्जा में ‘पेक्टिन’ नामक एक अति महत्वपूर्ण ग्राही पदार्थ पाया जाता है। यह पेक्टिन अपने से २० गुना पानी में कोलाइडल घोल के रूप में मिल जाता है तथा आँत्र पर अधिशोषक एवं रक्षक के समान कार्य करता है। यह बड़ी आँत्र में पाये जाने वाले विभिन्न हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट करने की भी अदभुत क्षमता रखता है। अतः यह पेचिश रोग में आशानुकूल परिणाम प्रदान करता है।

- कच्चे बेल फल के मज्जा का चूर्ण तथा धनिया चूर्ण समान मात्रा में लेकर उसमें समान मात्रा में मिश्री का चूर्ण मिला लें और किसी साफ सुथरी शीशी में भरकर रख लें। पेचिश के दौरान प्रत्येक २-३ घंटे के अंतराल से ५-७ ग्राम की मात्रा में यह चूर्ण मुंह में डाल कर चूसते रहे। इससे रोगी की अवस्था में शीघ्र ही आशानुकूल सुधार आने लग जाता है।

- अनार के ताजा, कोमल पत्ते तथा कुटज की छाल समान मात्रा में लेकर पीसकर लुगदी बना लें। इसमें से २० ग्राम की मात्रा में यह लुगदी लेकर पानी में मिला ले तथा छान कर सुबह-शाम दिन में दो बार पीते रहें। इससे पेचिश में अतिशीघ्र लाभ होता है।
- ६ ग्राम सूखा आँवले का छिलका, १५ ग्राम अनार का छिलका, ६ ग्राम काला नमक तथा २-३ लौंग लेकर उन्हें मोटा-मोटा पीस लें तथा २५० मि.ली. पानी में उबाल लें। जब पानी की मात्रा १०० मि.ली. के लगभग रह जाये तो नीचे उतार कर छान लें उसके तीन भाग बनाकर सुबह, दोपहर और शाम को सेवन करते रहें। इससे भी पेचिश में लाभ आ जाता है।

## पेचिश रोग में रोगी का आहार

पेचिश रोग की शुरूआत होती ही रोगी को ठोस आहार जैसे रोटी, चावल व देर से पचने वाले आहार का सेवन बंद करा दें। वयस्क रोगियों को दूध का सेवन भी बंद करा दिया जाये, किन्तु छोटे शिशुओं को माँ का दूध पिलाते रह सकते हैं। माँ के दूध में लैक्टोफेटिन नामक एक कीटाणुनाशक तथा विषाणु नाशक प्रतिपिण्ड (एण्टीबॉडीज के कण) होते हैं जो पेचिश के रोगाणुओं का सफाया करने में मदद करते हैं।

रोग की तीव्रता में ठोस आहार के स्थान पर अधिकतम मात्रा में तरल पेय पदार्थों जैसे नारियल का पानी, नींबू, नमक व शहद की शिकंजी, फलों व सब्जियों का रस, दाल का पानी, जौ का पानी, मक्खन रहित ताजा व पतली दही की लस्सी तथा ओरल रिहाइड्रेशन सोल्यूशन आदि का सेवन कराये, जिससे रोगी में पानी एवं खनिज लवणों के अभाव को रोका जा सके। रोग की तीव्रता में सादा पानी पिलाने से बचना चाहिए, क्योंकि एक तो पेचिश की स्थिति में पोटेसियम लवण उल्टे आँतों के पानी में आने लग जाते हैं जिससे रोगी की दशा और बिगड़ने लगती है। जबकि सेवन किये पेय में नमक, ग्लूकोज आदि मौजूद रहने से ये आँत्र को पानीका अवशोषण करने के लिए विवश करते हैं। फलों के रस, सब्जियों के रस, नारियल पानी आदि में काफी मात्रा में, सोडियम, पोटेसियम व अन्य आवश्यक खनिज लवण तथा विभिन्न विटामिन्स मौजूद रहती है, जिससे दस्तों के रूप में क्षति हुई पोषक तत्वों की पूर्ति होती रहती है। रोग की स्थिति में थोड़ा सुधार होने पर रोगी को पतली लस्सी, पतली मसूर या मूंग की दाल, पतली पुराने चावलों की खिचड़ी, पतला दलिया, दही में मसल कर पके केले, छिलका रहित पके फल, उबली सब्जियाँ और उबले फल दिये जा सकते हैं। धीरे-धीरे रोग की स्थिति अनुसार रोगी अपने सामान्य आहार पर वापिस लौट सकता है।

## प्राकृतिक चिकित्सा

पेचिश होने के कई कारण हो सकते हैं परन्तु सभी पेचिश में सबसे पहले पेट पर गरम-ठंडा कम्प्रेस क्रमशः ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा दें। इससे आंतों में रक्तप्रवाह बढ़ जाता है। इसके तुरंत बार दाहिनी करवट पर रोगी को लिटाकर नीम के पत्ते उबले पानी (गुनगुना) का एनीमा धीरे धीरे चढ़ावें। एनीमा पॉट की ऊंचाई अत्यंत कम रखनी चाहिए ताकि यथेष्ट मात्रा में पानी चढ़ाया जा सके। इस एनीमा के देने का सबसे बड़ा फायदा यह होता है कि आंतों में उत्पन्न रोगाणुओं का समूह, जो कि पेचिश का मूल कारण है, नीम के पानी में घुलकर दस्त के साथ बाहर आ जाता है। रोगाणुओं की वृद्धि दर कम होकर खत्म हो जाती है। एनीमा के बाद ठण्डी मिटटी की पट्टी (इसके अभाव में ठंडे तैलिये की पट्टी) ३० मिनट तक रखे। इसके बाद पेड़ू पर गरम ठंडा कम्प्रेस देकर पेड़ू पर सूती-ऊनी लपेट बांध देनी चाहिए। दर्द होने पर बार-बार गरम-ठंडा कम्प्रेस पेड़ू पर दे सकते हैं एवं फिर लपेट बांध देनी चाहिए। पैरों को गरम पानी के पात्र में रखकर १५-२० मिनट तक ठंडा कटि स्नान दे, इस दौरान रोगी को गर्दन तक कम्बल से ढकना नहीं भूलें। इसके बाद सिर को धोकर पोंछ दें एवं पैरों पर लपेट बांधें। लपेट खोलने के बाद नीम के पानी का स्पंज बाथ दिन में १-२ बार दे सकते हैं। पेचिश की चिकित्सा करते समय यह ध्यान रखें कि रोगी अत्यंत दुर्बलता, शक्तिहीनता, महसूस नहीं कर रहा है तथा निर्जलीकरण की अवस्था उपस्थित होने पर अतिसार में बताई गई चिकित्सा का पालन कराये। रोगी को पूर्णतया आराम करने दें एवं लक्षणों पर त्वरित निगाह रखें।

## आहार चिकित्सा

पेचिश होने पर आहार का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। सर्वप्रथम रोगी को नींबू-पानी-शहद पियें। नींबू, पानी (उबालकर ठंडा किया हुआ), शहद, नमक मिलाकर अतिसार प्रकरण में बताई विधि के अनुसार जीवनरक्षक घोल बनाकर चम्मच से बार-बार पिलाना चाहिए। डीहाइड्रेशन की स्थिति में इसी जल का एनीमा देकर उसे रोकें।

प्रथम दिन सिर्फ नींबू-पानी पर उपवास करायें। अन्न आदि ठोस आहार भूलकर भी नहीं दें। इस दौरान छाछ या मट्ठा सर्वोत्तम पथ्य है। इसके अतिरिक्त गाजर, सेव, लौकी आदि का सूप भी पिला सकते हैं। पके हुए केले-२ नंग को दही में मथकर उसमें १ चम्मच ईसबगोल की भूसी, २ चम्मच शहद, चुटकी भर नमक अच्छी तरह मिलाकर धीरे-धीरे चबाकर खाना चाहिए। यह अनुभूत प्रयोग है। इससे रोगी को आराम मिलता है क्योंकि केला, ईसबगोल पेचिश उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं को अपने में बांधकर, सोंखकर एवं चिपकाकर शरीर से बाहर कर देते हैं। पेचिश ठीक हो जाने पर भी कुछ दिन तक रेशे वाले फल-सब्जियां, घी, तेल, वसायुक्त पदार्थ नहीं दें। परन्तु सब्जियों का सूप, छाछ (मट्ठा), चावल का मांड, पका हुआ केला, ईसबगोल आदि दे सकते हैं। ठोस आहार शुरू करते समय सर्वप्रथम आधी रोटी या चावल-मूंग की खिचड़ी, चावल-दही इत्यादि से प्रारंभ करके धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाना चाहिए। पेचिश के दौरान आंतें मुलायम एवं अतिरिक्त संवेदनशील हो जाती हैं अतः ज्यादा ठोस व गरिष्ठ आहार लेने से संग्रहणी, आंत्रशोथ, आंत्रिक ज्वर, कोलाइटिस आदि रोग होने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

३-४ अमरुद की कली को खूब चबा-चबाकर मट्ठा पीने से लाभ होता है। १५-२० ग्राम अनार की कोंपलें, १५० मिली. पानी में उबालें और मथकर छानकर पियें, खूनी पेचिश में आराम मिलता है। अधिक खून आने पर बेल की गिरी, धनिया, सौंफ, मिश्री को समान भाग में लेकर कूट पीसकर चूर्ण बना लें। ४-४ घंटे के अंतर से १० ग्राम की मात्रा में दें। अत्यंत लाभ होता है। इसके अलावा कुछ सावधानियां बरतें जैसे-बरसात व गर्मी के दिनों में पानी को उबाल कर पियें। प्रदूषित फल, सब्जी व फास्ट फूड, बाजार की बनी खाद्य वस्तुओं से परहेज रखें।



## छाती में जलन

आमाशय में जब जठर रस (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, पेप्सिन एन्जाइम आदि) अधिक मात्रा में पैदा होने लग जाता है अथवा खाया गया आहार अधिक समय तक आमाशय में रुका पड़ा रहता है तो काफी अधिक मात्रा में जठर रस और उसका हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (नमक का तेजाब), उसमें मिल जाता है, तब जठर अम्ल के कारण या तो आमाशय की भीतरी श्लेष्मिक कला (झिल्ली) व अन्न प्रणाली की श्लेष्मिक झिल्ली में उससे क्षोभ पैदा होने लग जाता है अथवा जठर निर्गम द्वार द्वारा पर्याप्त मात्रा में अनपचे आहार को ग्रहणी में प्रविष्ट होने देने से जठर अम्ल मिश्रित आहार वापिस मुँह की तरफ अन्न नलिका से आने लगता है। तब भी अम्ल के स्पर्श से रोगी अपने आमाशय, छाती तथा गले में जलन प्रतीत करने लग जाता है। व्यक्ति को कभी-कभी छाती में जलन के साथ खट्टी डकारें भी आने लग जाती हैं और उसके मुँह में खट्टा या चिरपिरा सा तरल भरने लग जाता है। कभी-कभी छाती में जलन के साथ व्यक्ति के आमाशय में आहार के सड़ जाने व उससे खमीर पैदा हो जाने के कारण आमाशय में वायु भर जाती है और उसका पेट फूल जाता है। इससे अफारा जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

### छाती में जलन का कारण :

छाती में जलन उत्पन्न होने के पीछे व्यक्ति द्वारा अपने आहार में बरती गई अनियमितताएं या लापरवाही ही प्रमुख रूप से जिम्मेदार होती हैं। जब व्यक्ति भारी, गरिष्ठ, अधिक मिर्च-मसालेदार, तले-भुने, देर से पचने वाले और आचार आदि खाद्य पदार्थों का बार-बार अधिक मात्रा में सेवन करता है, तो उसकी पाचन की प्रक्रिया गड़बड़ाने लगती है। वैसे भी इन खाद्य पदार्थों को पचने में भी अधिक समय लगता है अर्थात् ये खाद्य पदार्थ अधिक समय तक आमाशय में ही रुके पड़े रहते हैं। आमाशय की आन्तरिक श्लेष्मिक झिल्ली में पैराइटल नामक विशेष प्रकार की कोशिकाएं होती हैं जो जठर अम्ल अर्थात् नमक का तेजाब (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) का उत्पादन करती हैं। आमाशय के इस नमक के तेजाब की सान्द्रता इतनी अधिक होती है कि यह किसी भी प्रकार के कच्चे मांस को ५-७ मिनटों में ही जला डालता है। किन्तु आमाशय की झिल्ली में कई ऐसे कारक मौजूद रहते हैं जो उसकी रक्षा इस अम्ल से करते हैं।

आमाशय के निम्न भाग में कुछ ऐसी कोशिकाएं होती हैं, जो आहार की उपस्थिति में 'गैस्ट्रिन' नामक हारमोन का निर्माण कर उसका अधिक मात्रा में उत्सर्जन करने लग जाती हैं। यह गैस्ट्रिन पैराइटल कोशिकाओं को उद्दीप्त कर उन्हें और अधिक मात्रा में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल पैदा करने के लिए प्रेरित करता है। आहार के आमाशय में अधिक समय तक रुके रहने से गैस्ट्रिन हारमोन भी अधिक पैदा होता है और जठर रस एवं उसका जठर अम्ल भी। इससे आमाशय के आहार में जठर रस अधिक मात्रा में मिलने लग जाता है और उसकी अम्लीयता भी बढ़ने लगती है। अम्ल की अत्यधिक उपस्थिति से आमाशय की भीतरी श्लेष्मिक कला का अम्ल से सुरक्षा प्रदान करने वाला तंत्र कमजोर पड़ने लगता है और उसकी अम्ल के प्रति संवेदनशीलता बढ़ने लगती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति को छाती में जलन महसूस होने लगती है। पुरानी अर्जीण तथा यकृत सम्बन्धी रोगों में भी आहार आमाशय में अधिक समय तक रुका रहता है। तेज मिर्च-मसाले भी सीधे आमाशय की आन्तरिक श्लेष्मिक कला पर क्षोभक की भूमिका निभाते हैं, जिससे श्लेष्मिक कला की सुरक्षा करने वाले कई कारक प्रभावित होने लग जाते हैं तथा श्लेष्मिक कला की जठर अम्ल के प्रति संवेदनशीलता बढ़ने लग जाती है।

शराब का अधिक मात्रा में लंबे समय तक सेवन करते रहने से भी आमाशय की आन्तरिक श्लेष्मिक कला की हाइड्रोक्लोरिक एसिड के प्रति संवेदनशीलता बढ़ने लगती है। वैसे भी शराब स्वयं जठर रस व जठर अम्ल के स्त्राव को बढ़ाने के लिए उत्प्रेरक जैसा करती है। इस प्रकार अधिक मात्रा में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल उत्पन्न होने से आमाशय की श्लेष्मिक कला में क्षोभ उत्पन्न होने लग जाता है। श्लेष्मिक कला में स्नायु तन्तुओं के अंत विद्यमान रहते हैं जो अम्ल के कारण जलन की अनुभूति मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों तक पहुँचा देते हैं। इनके अतिरिक्त अम्लता उत्पन्न करने वाली विभिन्न प्रकार की औषधियों का निरन्तर और अधिक मात्रा में सेवन करते रहने से भी आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है और व्यक्ति को अपनी छाती तथा आमाशय आदि में जलन का अनुभव होने लग जाता है।

छाती में जलन, उसके कारण एवं उचार सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए अति अम्लता (हाइपर एसीडिटी) और आमाशय व्रण (पेप्टिक अल्सर) वाले अध्यायों का अध्ययन करें।

## प्राकृतिक चिकित्सा

छाती में जलन होने के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं। अतः कारण के अनुसार मुख्य रोग का निदान करके उपचार प्रारंभ करें। मुख्यतः अति अम्लता (हाइपर एसीडिटी), अजीर्ण, आध्मान, गल नली की सूजन, गैस बनना इन कारणों से तीव्र जलन महसूस होती है। रोगी को छाती एवं पेट पर ३ मिनट ठंडा क्रमिक सेक देकर नीम पत्ती उबाला हुआ गुनगुने पानी का एनीमा बर्फ के पानी में निचोड़े हुये तौलिया की चार तह बनाकर रखें ऊपर एक मोटे सूती कपड़े से एक दें। मिट्टी पट्टी देने के बाद गरम पाद स्नान देकर स्पंज बाथ दें। इसके बाद पेट पर लपेट बांधें।

दोपहर के उपचार में आधा घंटा पेट पर मिट्टी पट्टी रखें। बाद में गरम ठंडा कटिस्नान या गरम-ठंडा कम्प्रेस पूर्वोक्त विधि के अनुसार दें। तीव्र जलन एवं वेदना होने पर गुनगुने पानी द्वारा कुंजल करा दें। इससे रोगी को राहत मिलती है। रोगी की स्थिति के अनुसार मुख्य कारण ढूँढकर उपचार दें। रोग संभलने पर अन्य उपचार सर्वांग मिट्टी लेप, वाष्प स्नान, धूप स्नान, गीली चादर लपेट, ठंडा कटि स्नान, ठंडा रीढ़ स्नान इत्यादि परिवर्तित करके दें इससे शरीर विषमुक्त होकर सक्रिय हो उठता है।

## आहार चिकित्सा

तीव्र जलन में खाने के लिए कुछ भी ठोस आहार नहीं दें। संभव हो तो १-२ दिन पानी पर उपवास करायें। इससे आमशय एवं आंतों में एकत्र आमविष का पाचन हो जाता है। रुचि के अनुसार फलों का रस व सब्जियों का सूप दें। अम्लपित्त एवं अजीर्ण में वर्णित आहार (फल, सब्जी) का सेवन करायें। नारियल पानी, किशमिश, अनार का रस इत्यादि लाभदायक है।

धीरे-धीरे ठोस आहार देते हुए सामान्य आहार शुरू करें। जिस आहार के सेवन से छाती में जलन होती हो वह आहार नहीं लें।

चाय, कॉफी, मदिरा, मांस, मिर्च-मसाले, गरम खाद्य पदार्थ, तले-भुने संश्लिष्ट आहार, फास्ट फूड, तीक्ष्ण पदार्थ का सेवन नहीं करें। भूख से कम भोजन ग्रहण करें। भोजन के बाद बायीं करवट लेटें अथवा चहलकदमी करें। प्रातःकाल १ कि. मी. सैर करने जाएं।

## डकारे आना

कुछ सामान्य स्वस्थ व्यक्तियों की ऐसी आदत होती है कि वे अपना भोजन कर लेने के पश्चात कुछ मात्रा में आमाशय को ग्रास प्रणाली से होकर वापिस मुंह द्वारा निकालते रहते हैं। भोजन के पश्चात मुंह से गैस निकालने की यह क्रिया आमाशय के हार्दिक क्षेत्र (कार्डिक रीजन) और ग्रास प्रणाली के आरोही भाग में विपरीत दिशा की तरंगों के उत्पन्न होने के कारण होती है। भोजन के पश्चात मुंह से इस प्रकार गैस निकालने की क्रिया को डकारें आना कहते हैं। भोजन करने के बार १-२ डकारें लेना एक सामान्य नियम हो सकता है जिसका अभिप्राय है कि खाली आमाशय में ग्रास प्रणाली का भोजन ठीक प्रकार से पहुँच गया है किन्तु जब बार-बार और अधिक संख्या में कोई व्यक्ति डकारें लेने लग जाता है तो उसे असामान्य आदत तथा कुछ पाचन सम्बन्धी रोगों का सूचक माना जाता है। सामान्य अवस्था में जिस गैस को व्यक्ति डकारों के रूप में निकालते हैं वह गैस आहार के पाचन या किण्वन प्रक्रिया के दौरान आमाशय में उत्पन्न नहीं होती, बल्कि आहार के सेवन की गलत आदत द्वारा भोजन खाने या पेय पदार्थों के सेवन के साथ आमाशय में निगल ली गयी वातावरण की हवा ही होती है, क्योंकि इस हवा का रासायनिक संगठन श्वास में ली जा रही हवा के जैसा ही होता है।

### डकारें आने का कारण

स्वस्थ अवस्था में भी हम थूक निगलते समया जल्दी-जल्दी खाना खाने अथवा पानी आदि पेय पदार्थ पीते समय थोड़ी मात्रा में वातावरण की हवा को भी निगलते रहते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों जैसे कि वायु भक्षण (एयरोफेजी) की दशा में कुछ लोगों की ऐसी आदत पड़ जाती है कि वे बार-बार डकारें लेने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि कुछ समय पहले इनके जठरांत्र में भोजन के पचने या सड़ने से अधिक मात्रा में गैस बननी शुरू हो गई थी जिसे निकालने के लिए उन्हें उस समय डकारें लेनी पड़ती थी अथवा उन्हें वैसे ही ऐसा लगता है जैसे कि उनके पेट में गैस भरी है। इन दोनों ही परिस्थितियों में ये गैसों से छुटकारा पाने के लिये डकारें लेने लगते हैं, पर वास्तव में इन डकारों में आमाशय की गैस बाहर निकलने की बजाय, मुंह द्वारा वातावरण की हवा निगलने की आदत पड़ जाती है। जब भोजन के साथ निगली या वायु भक्षण द्वारा सेवन की गई वायु ग्रास प्रणाली में प्रवेश करती है तो वह आमाशय में न पहुँच कर ग्रास प्रणाली के निम्न भाग में ही इकट्ठी होती चली जाती है, जब तक कि गैस की पर्याप्त मात्रा वहां इकट्ठी होकर डकारों की इच्छा उस व्यक्ति में न करा दे। अतः इस मुंह द्वारा निगली वायु को ही व्यक्ति ग्रास प्रणाली से डकारों के रूप में निकालता है। डकारें लेने की ऐसी प्रवृत्ति उन व्यक्तियों में भी अधिक देखी जाती है जो मानसिक विक्षिप्त अवस्था से गुजर रहे हैं, क्योंकि अत्यधिक मानसिक तनाव या परेशानी की अवस्था में व्यक्ति बार-बार थूक निगलने और खाली मुंह को चबाने लग जाता है। इनके साथ ही ऐसे व्यक्ति की मनोदशा में अनुकूल सुधार आते ही डकारें लेने की भावना या उनकी आवृत्ति घट जाती है।

इस प्रकार एक सामान्य, स्वस्थ व्यक्ति में डकारें लेने के पीछे मुख्य कारण होते हैं- जल्दी-जल्दी बिना भली प्रकार भोजन को चबाये निगल लेना या एक साथ अधिक मात्रा में पानी या ठंडे पेय पदार्थों को पी लेना। पानी और अन्य पेय पदार्थों में ऑक्सीजन और अन्य पेय पदार्थों में ऑक्सीजन और अन्य अनेक गैसे पर्याप्त मात्रा में घुली रहती है। वायु भक्षण करना और अत्यधिक मानसिक तनाव की स्थिति बार-बार डकार आने का कारण हो सकता है।

इनके अतिरिक्त डकारें आने की दशा कुछ पाचन सम्बन्धी रोगों में भी देखने में आती हैं। इन डकारों में जो हवा आमाशय से मुंह द्वारा जाती है उसकी बनावट सामान्य डकारों की हवा से भिन्न, गुदाद्वार से निकलने वाली हवा के समान, तीक्ष्ण दुर्गन्ध युक्त होती है। इसके अलावा व्यक्ति अपने पेट में अत्यधिक तनाव और भारीपन, पेट का फूलना एवं बेचैनी भी महसूस करता है। इस प्रकार के व्यक्तियों की पाचन शक्ति बहुत कमजोर होती है और उनके आमाशय में भोजन के रूप में सेवन किया आहार अधिक समय तक बिना पची अवस्था में पड़ा रहता है। इन व्यक्तियों के आमाशय में आमाशय अम्ल की भी अधिक मात्रा पैदा होती है। इसलिए अति अम्लता के कारण इन व्यक्तियों को डकारों के साथ थोड़ी मात्रा में खट्टा व चिरपरा पदार्थ भी मुंह में आ जाता है। इस कारण आमाशय एवं छाती में भी जलन प्रतीत होती है। रोग की इस दशा को पेट में गैस बनना या अफारा कहते हैं।

### कारण

पेट में गैस बनने के प्रमुख कारण हैं: आहार में कार्बोहाइड्रेट, स्टार्च, फाइबर रेशे वाली हरी सब्जियों व फलों का अधिक अंश, प्रोटीन वाले खाद्य पदार्थ यथा दालें, दूध और मांस-मछली का अधिक प्रयोग, आमाशय शोथ या आमाशय के व्रण, कब्ज की अवस्था में मल का अन्तड़ियों में अधिक समय तक रुकना, पित्ताशय सम्बन्धी रोग, भारी, गरिष्ठ, अधिक तले-भुने व उत्तेजक आहार, चाय, कॉफी, शराब आदि का सेवन करना।

भारी, गरिष्ठ और देर से पचने वाले खाद्य पदार्थों का सेवन करने से वह काफी अधिक समय तक वह आमाशय तथा अन्तड़ियों में बिना पचे और बिना आँत्र भित्तियों में अवशोषित हुए पड़ा रहता है। इससे आहार के कई अंशों या का किण्वन (फरमेन्टेशन) और आँत्र में मौजूद विभिन्न जीवाणुओं द्वारा विघटन या सड़न (पूट्रीफेक्शन) होने लग जाता है जिनसे आँत्र में कार्बन डाईऑक्साइड, हाइड्रोजन, हाइड्रोजन सल्फाइड, नाइट्रोजन, अमोनिया, मिथेन आदि गैसों की उत्पत्ति होने लग जाती है। इन गैसों का कुछ अंश तो रक्त द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है और उनका काफी अंश गुदद्वार द्वारा गैस के रूप में सीधे ही मल विसर्जन के समय निकल जाता है। इनके अतिरिक्त गैसों का जो अंश बच जाता है वह डकारों के रूप में व्यक्ति के मुँह से निकलता है।

पेट में पैदा होने वाली गैसों में ६६ प्रतिशत भाग कार्बन डाईऑक्साइड, ऑक्सीजन, मिथेन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों का है। इन गैसों का निर्माण पाचन रसों और आँत में निवास करने वाले जीवाणुओं द्वारा किण्वन प्रक्रिया द्वारा होता है, जबकि आँत्र में ही रहने वाले कुछ अन्य जीवाणु आहार के प्रोटीन अंश का विघटन करके नाइट्रोजन, अमोनिया और हाइड्रोजन सल्फाइड गैसों को पैदा करते हैं। ये सभी गैसें तीक्ष्ण दुर्गन्ध युक्त होती हैं। इसी कारण आमाशय से निकलने वाली गैस में इनका अंश अधिक होने से उसमें तीक्ष्ण दुर्गन्ध पैदा हो जाती है। सामान्य परिस्थितियों में इन गैसों का भाग पेट में उत्पन्न हुयी गैसों में एक प्रतिशत से भी कम होता है।

यदि आहार नाल में आहार के किण्वन या सड़न से उत्पन्न होने वाली इन गैसों की मात्रा बढ़ जाये अथवा उनका मुँह या गुद द्वार से भली प्रकार निकास न हो पा रहा हो तो यह गैस पेट में ही भरती चली जाती है और अफारा या आद्यमान जैसी समस्या को जन्म देती है।

### डकारों का उपचार

अफारा जैसे रोग के लिए उससे सम्बन्धित अध्याय में चिकित्सा सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। सामान्य डकारों की समस्या से मुक्ति पाने के लिए सबसे पहले अपने आहार के सेवन करने की आदत को सुधारना चाहिए तथा शीघ्र पचने वाले सुचाच्य खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए। अपनी वायु भक्षण की आदत को भी सुधारना चाहिए तथा अपनी मनोदशा में अनुकूल परिवर्तन लाना चाहिए। मानसिक चिन्ता, डर, भय, उन्माद जैसी दशाओं से बचें तथा सदैव प्रसन्न रहने का प्रयास करें।

आहार का सेवन सदैव भूख लगने पर ही करें और कदापि आवश्यकता से अधिक मात्रा में न खायें। आहार को छोटे-छोटे टुकड़ों या मात्राओं में अच्छी तरह चबा-चबा कर भली प्रकार मुँह की लार मिल जाने पर धीरे-धीरे निगलें। कार्बोनेटिड वाटर (ठंडे पेय), डिब्बा बंद आहार, सिरका व संरक्षक रसायनों वाले आहार से बचें। इन सभी में या तो सीधे ही गैस मौजूद रहती है या फिर ये पेट में पहुँच कर गैस उत्पन्न कर देते हैं। डकारों से पीड़ित सभी व्यक्तियों को पानी भी एक साथ अधिक मात्रा में नहीं पीना चाहिए और दूध की बजाय दही को प्रमुखता देनी चाहिए। फलों, तरकारियों आदि को भी कच्चे रूप में या पकाकर खाने से पूर्व भली प्रकार पानी से साफ कर लेना चाहिए क्योंकि इन्हें पकाने या अधिक दिनों तक सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रकार के रसायनों का प्रयोग किया जाता है, जो शरीर में पहुँच कर अनेक हानिकारक प्रभाव पैदा करने के अतिरिक्त गैस भी पैदा करते हैं। व्यक्ति को हरी साग-सब्जियाँ और फलों का जिनमें काफी मात्रा में स्टार्च मौजूद रहती है। स्टार्च पाचन और किण्वन के दौरान काफी मात्रा में कार्बनडाई ऑक्साइड और ऑक्सीजन गैस पैदा करते हैं। लेकिन जब व्यक्ति की पाचन प्रक्रिया सामान्य हो जाये और उसकी डकारों की आदत में अनुकूल परिवर्तन आ जाये तब वह पर्याप्त मात्रा में सब्जियों व फलों का सेवन किया जा सकता है।

वयस्क व्यक्तियों में बच्चों की तुलना में दूध का पाचन थोड़ा जटिल होता है। दूध का मुख्य प्रोटीन 'केसीन' नामक एक जटिल फॉस्फो प्रोटीन है। चौपायों के आमाशय में रेनिन नामक एक प्रोटीन भंजक एन्जाइम होता है, जो उनके पेट में दूध का पाचन करता है। मनुष्य में यद्यपि केसीन एन्जाइम का अभाव होता है, किन्तु शिशुओं के आमाशय में केसीन की तरह का एक अन्य एन्जाइम का अभाव होता है, 'कायमोसिन। वयस्क व्यक्तियों में इस एन्जाइम का अभाव होने से दूध का पाचन सुगमता से नहीं हो पाता। दूध के स्थान पर दही का प्रयोग करने से एक तो उसका पाचन आसानी से हो जाता है दूसरा दही में मौजूद लेक्टोएसिडो फिलस बैक्टीरिया आँत्र के अन्य जीवाणुओं की गतिविधियों को नियंत्रित करके उनके द्वारा गैस उत्पन्न करने की प्रक्रिया को नियंत्रित करता है।

पेअ में गैस उत्पन्न न हो इसके लिए व्यक्ति को चोकर सहित अनाज की रोटियां, दलिया और सेव, अन्ननास, अनार, मौसम्मी, मूली, गाजर तथा गन्ने का रस दिन में कम से कम दो बार एक-एक गिलास मात्रा में जरूर पीना चाहिए। इनके अतिरिक्त व्यक्ति को पपीता, अन्नास आदि फलों का सेवन भी करना चाहिए। पके पपीते में काफी मात्रा में पेपेन नामक एन्जाइम मौजूद रहता है, जिसकी पाचक क्षमता काफी हद तक पेप्सिन नामक एन्जाइम से मिलती-जुलती है जो मानव के आमाशय का मुख्य पाचक रस है। इसके अतिरिक्त अन्ननास में ब्रोमेलिन और प्रोनिंलेइन नामक दो पाचक रस पाये जाते हैं। ये पाचक रस आहार के साथ आमाशय में पहुँच कर आहार के पाचन में जठरांत्र के पाचक एन्जाइमों की सहायता करते हैं। डकार के रोगियों को एक और विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें शान्ति और एकाग्रचित होकर भोजन करना चाहिए। भोजन करते समय बातचीत करने से बचना चाहिए। भोजन को चबाते समय मुँह को पूरी तरह बंद रखना चाहिए क्योंकि भोजन करते समय बोलने से या मुँह को खुला रखने से काफी मात्रा में वातावरण की गैस आहार में मिलकर ग्रास प्रणाली और आमाशय में पहुँच जाती है।

रोगी को प्रातःकाल खाली पेट एक गिलास गुनगुने पानी में एक नींबू निचोड़ कर पीने अथवा नींबू के साथ 9-2 चम्मच अदरक का रस मिलाकर पीते रहने से पाचन क्रिया सुधरती है तथा पेट में गैस नहीं बनती है। रोगी चाहे तो दिन में 9 या 2 बार एक-एक चम्मच निम्न पाचक चूर्ण बना कर भी सेवन कर सकता है। यह चूर्ण पूट में गैस बनने को रोकता है तथा आहार के पाचन में पाचक एन्जाइमों की सहायता करता है-

सौंठ, दालचीनी, लोंग, अजवायन, पीली हरड़ की छाल और आवंला सभी समान मात्रा में लेकर उन्हें अच्छी तरह कूट-पीस कर चूर्ण बना लें तथा छान कर शीशी में भर कर रख लें।

### प्राकृतिक चिकित्सा

जीर्ण कब्ज रहने पर अग्निमांघ हो जाता है। फिर भी ठूस-ठूस कर भोजन करने पर अजीर्ण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और पेट में गया हुआ भोजन पड़ा-पड़ा सड़ने लगता है। सड़ने से वायु उत्पन्न होती है। प्रारंभ में तेज डकारें आती हैं अपानवायु का भी निष्कासन होता है। कभी-कभी आध्मान (अफारा)भी हो जाता है। यह सभी रोग एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनकी जड़ में एकमात्र कब्ज ही है। उपचार के दौरान प्रातः रोगी को कुछ दिन तक कुंजल करना चाहिए। बाकी उपचार कब्ज की तरह रखें। अर्थात् गरम-ठंडा सेक, एनीमा, मिट्टी पट्टी, गरम-ठंडा कटिस्नान, लपेट, स्थानीय वाष्प, सर्वांग मालिश, वाष्प स्नान, धूप स्नान, गरम पैर स्नान आदि के उपचार बदल-बदल कर रोगी की स्थिति के अनुसार दें। प्रायः इन रोगों में त्वचा निष्क्रिय हो जाती है अतः उपर्युक्त उपचारों से त्वचा सक्रिय होकर विषों का निष्कासन करना प्रारंभ कर देती है। पेट पर गरम-ठंडा कम्प्रेस विशेष लाभदायक है।

### आहार चिकित्सा

अजीर्ण, कब्ज रोग में वर्णित व्यवस्था की तरह ही आहार देना चाहिए। 9-2 दिन उपवास कराके रसाहार पर लाएं। फिर फलाहार एवं लघु तरल आहार दें। धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाएं। निम्न उपायों पर भी ध्यान दें-

- गरिष्ठ भोजन, अग्निबल से ज्यादा भोजन, तला'-भुना, मिर्च-मसालेदार आहार नहीं लें।
- शरीर को सक्रिय बनाये रखें।

- नियमित सैर, योग, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि करें।
- खाने के बाद १ लौंग व १ पिप्पली चूसें।

## अम्ल पित्त

इस रोग में व्यक्ति के आमाशय में खट्टास अर्थात अम्लता अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लग जाती है जिससे रोगी अपनी छाती और गले में जलन (Burning) सी अनुभव करने लग जाता है। अम्ल पित्त में भोजन कर लेने के बाद अक्सर थोड़ी से लेकर ज्यादा बढ़ोतरी अवश्य हो जाती है तथा अम्लनाशक (Antacid) औषधि या पदार्थ खा लेने से इसमें कमी आ जाती है। ऐसे रोगियों में कभी-कभी आमाशय का भोजन वापिस मुख गुहा की ओर भी आ जाता है, जिसे Regurgitation नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार कई बार पित्त मिश्रित खट्टा पानी सा भी रोगी के मुँह में आने लग जाता है। कई बार आमाशय की भीतरी श्लेष्मिक झिल्ली में अधिक अम्लता के कारण क्षोभ भी उत्पन्न होने लग जाती है। लेकिन अम्ल पित्त रोगियों में एक विशेष बात अवश्य देखने को मिलती है कि इन्हें अपने पेट में आमाशय व्रण के रोगियों की तरह दर्द का अनुभव नहीं होता है। परन्तु रोगी पेट में भारीपन या भूख में कमी की शिकायत कर सकता है।

### अम्ल पित्त के कारण

सामान्यतः अम्ल पित्त को पुराने अपच या अजीर्ण रोग का एक लक्षण माना जाता है क्योंकि, वास्तव में ही यह रोग दूषित, देर से पचने वाले, खट्टे, चटपटे, अधिक मिर्च मसालेदार और चिकनाई युक्त (तले), गरिष्ठ और बासी भोजन के सेवन करते रहने, बिना भूख या कम भूख में ही समय बे समय आवश्यकता से अधिक भोजन करते रहने, शराब का अधिक मात्रा में लगातार सेवन करते रहने, चाय-कॉफी व अन्य उत्तेजक पदार्थों के सेवन करते रहने तम्बाकू और धूम्रपान की आदत, आत्यधिक मानसिक तनाव व चिन्ता के दौर से गुजरना, आँत्रकृमि, आँत्र और दाँतों से सम्बन्धित रोग, यकृत का सामान्य रूप से कार्य न करना और अम्लता उत्पन्न करने वाली औषधियों का निरन्तर व अधिक समय तक सेवन करते रहने से अम्ल-पित्त के लक्षण पैदा होने लग जाते हैं।

विश्राम की अवस्था (जब आमाशय भोजन से रिक्त रहता है) में आमाशय से 90 से 100 मि.ली. प्रति घंटे की दर से जठर रस का स्राव होता है। इस समय के जठर रस के स्राव में म्यूकम की मात्रा अधिक होती है। पेप्सिन नामक पाचक एन्जाइम की मात्रा भी सामान्य से थोड़ी कम ही रहती है, परन्तु आमाशय अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक एसिड (नमक का तेजाब) की मात्रा व सान्द्रता बिलकुल ही अल्प रहती है। यह अम्ल भी शायद जठर रस में इसलिए मौजूद रहता है कि आमाशय में किसी कारण मौजूद कीटाणुओं का नाश कर सके अर्थात इस समय उसकी भूमिका मात्रा एक एण्टी सेप्टिक पदार्थ की होती है। लेकिन जैसे ही आहार मुँह और गले से होते हुए आमाशय में प्रवेश करता है जठर रस के स्राव की गति बढ़ जाती है। प्रत्येक आहार के समय आमाशय से 500 मि.ली. के लगभग जठर रस का स्राव होता है। इस जठर रस के स्राव की गति भोजन के आमाशय में प्रवेश करते ही बढ़ने लगती है और आहार के आमाशय में पहुँचने के 9 से 12 घंटे के मध्य अधिकतम मात्रा में हाती है। इसके बाद धीरे-धीरे कम होते हुए 3-4 घंटे के बाद पुनः अपने विश्राम वाले स्तर पर आ जाती है।

आहार के मध्य स्रावित होने वाले जठर रस में मौजूद हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की सान्द्रता 9.2 से 9.5 च् (अम्लीयता) के मध्य रहती है, पर जैसे ही आमाशय आहार का पाचन करके आँत्र में धकेलता जाता है और स्वयं खाली होता जाता है, उसमें जठर रस के स्राव व अम्ल की मात्रा घटती जाती है। किन्तु ऐसी परिस्थितियों में जब आमाशय समय से खाली नहीं हो पाता अर्थात उसमें आहार अधिक समय तक पड़ा रहता है तब जठर रस और अम्ल का स्राव तो लगातार होता रहता है पर म्यूकम का स्राव घट जाता है। परिणामस्वरूप अम्ल की अधिकता के कारण रोगी के पेट और गले में जलन महसूस करने लग जाता है। ऐसा अक्सर देर से पचने वाले आहार, अधिक मिर्च मसालेदार, चिकनाई युक्त खाद्य और आचार आदि के सेवन के पश्चात हो जाता है।

आहार में माँस की उपस्थिति जठर रस स्राव की मात्रा और उसके हाइड्रोक्लोरिक अम्ल दोनों की वृद्धि करता है, जबकि इसके विपरीत चपातियाँ, ब्रेड, आदि संतुलित जठर रस स्राव को बढ़ाती हैं। आहार की वसा जठर रस की मात्रा और उसके सभी घटकों के स्राव को घटाने वाली आमाशय की गति को धीमा करने वाली सिद्ध होती है। क्योंकि वसा युक्त आहार के आमाशय से होकर ग्रहणी में प्रवेश करते ही आँत्र की श्लेष्मिक झिल्ली से एक इन्टेरोगेस्ट्रॉन नामक अन्तः स्त्रावी हार्मोन का स्राव होने लग जाता है जो आमाशय की गति व आमाशय से होने वाले जठर रस स्राव, दोनों को प्रभावित

करता है। इन सबके विपरीत आहार में मौजूद चाय, कॉफी, मसाले, सब्जियों के रस, अधिक मिर्च मसाले आदि जठर रस के स्त्राव को बढ़ाने वाले सिद्ध होते हैं।

एक बात और भी देखी गई है कि कुछ विशेष प्रकार के खाद्य पदार्थ जैसे पानी, माँस की तरी आदि आमाशय के अतिरिक्त छोटी आँत्र में मौजूद रहने पर भी जठर रस के स्त्राव को आहार सेवन के ८ से १० घंटे के बाद स्त्रावित कर सकते हैं। कुछ विशेष ग्रन्थियों के अन्तः स्त्रावी हारमोन जैसे कि एड्रीनल ग्लेण्ड (अधिवृक्क ग्रन्थि) का स्त्राव भी जठर रस और उसके पेप्सिन व हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, दोनों की मात्रा को तो बढ़ा देता है परन्तु म्यूकस के स्त्राव को घटाता है। इसी कारण अत्यधिक तनाव के उपरांत भी व्यक्ति अम्ल पित्त की शिकायत करता है। शराब व कुछ अन्य औषधियों का सेवन जैसे कैफीन, रेसरपिन आदि भी जठर रस और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आमाशय से आवश्यकतानुसार सदैव ही कम या अधिक मात्रा में जठर रस के रूप में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, पेप्सिन नामक पाचक एन्जाइम और म्यूकस का स्त्राव लगातार एक साम्यावस्था में होता रहता है। पेप्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल जहाँ आमाशय में आहार के पाचन का कार्य सम्पन्न करते हैं, वहीं म्यूकस नामक श्लेष्मीय तथा क्षारीय पदार्थ आमाशय की दीवारों को अम्ल के प्रभाव से सुरक्षित रखते हैं। किन्तु खट्टे, मसालेदार, चटपटे भारी एवं क्षोभक पदार्थों के अधिक मात्रा में बार-बार सेवन करते रहने से तथा अत्यधिक मानसिक तनाव की स्थिति में आहार आमाशय में अपने पाचन के इंतजार में अधिक समय तक रुका पड़ा रहता है, जिससे आमाशय में जठर रस और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का स्त्राव भी लगातार अधिक मात्रा में होता रहता है। परिणामस्वरूप पेट, छाती व गले में जलन, जी मिचलाना, खट्टी डकारें आना, पेट में भारीपन आदि लक्षणों की शुरुआत हो जाती है। यदि यह अम्ल लगातार इसी प्रकार अधिक मात्रा में बनना जारी रहे तो बाद में आमाशय व्रण का कारण भी सिद्ध हो सकता है।

कभी-कभी आमाशय में ऐसी स्थिति भी देखने में आती है जब आमाशय में सामान्य से भी कम मात्रा में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का स्त्राव होता है। यह स्थिति भी स्वास्थ्य के लिए कोई अच्छी स्थिति नहीं होती है। जठर रस में अम्ल की मात्रा कम और म्यूकस की अधिकता से भी आमाशय में आहार का पाचन समुचित रूप में नहीं हो पाता है तथा रोगी में बदहजमी, अर्जीन , कब्ज तक की शिकायत हो सकती है। ऐसी स्थिति में बिना पचा भोजन पेट में पड़ा-पड़ा सड़ने लग जाता है, जिससे गैस भी अधिक मात्रा में उत्पन्न हो सकती है। यह ऐसी स्थिति है जब आमाशय में अम्ल का उत्पादन आवश्यकता से भी कम मात्रा में होने लगता है। यह स्थिति 'हाइपो क्लोर हाइड्रा' कहलाती है।

### अम्ल पित्त रोग के लक्षण

अम्ल पित्त के रोगी पेट में अम्ल (जठर रस) की अधिकता के कारण अपने गले और छाती आदि में जलन सी महसूस करने लगते हैं व उसे खट्टी डकारें आने लग जाती है। मँह में कभी-कभी खट्टा पानी या चिरपिरा पदार्थ सा भर सकता है। जी मिचलाना और खट्टी वमन के भी लक्षण मिल सकते हैं। रोगी की पाचन क्रिया गड़बड़ा जाने के कारण कभी-कभी रोगी के आमाशय में गैस भर जाने के कारण अफारा सा होकर पेट फूल सकता है, कब्ज भी हो सकती है। या फिर कभी-कभी दस्त भी आ सकते हैं। सिर में धीमा-धीमा दर्द व कमर दर्द भी हो सकता है, आँखों और मूत्र में भी जलन प्रतीत हो सकती है। आयुर्वेद में अम्ल पित्त को दोषभेद के आधार पर तीन समूहों में बांटा है, जैसे वातज् अम्ल पित्त, कफज अम्ल पित्त और वात-कफज अम्ल पित्त।

वातज् अम्ल पित्त में कंप, सारे शरीर में झनझनाहट, ग्लानि, विभ्रम आदि के लक्षण मिलते हैं। कफज, अम्ल पित्त में कफ का बार-बार थूकना, शरीर में भारीपन, जड़ता, अरुचि, ग्लानि, वमन एवं छाती में कफ का जमाना, जठराग्नि के बल का घटना और शरीर में खुजली प्रतीत हो सकती है। वात-कफज अम्ल पित्त होने पर कड़वे एवं चटपटे पदार्थ की डकार आना, छाती, गले आदि में जलन, अरुचि, वमन, सिर में दर्द, मुँह का मीठा स्वाद आदि लक्षण मिलते हैं।

### अम्ल पित्त का उपचार

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में अम्लता को कम या निष्क्रिय करने के लिए रोगी को क्षारीय पदार्थों के योग अर्थात् अम्लनाशक औषधियों यथा सोडियम बाई कार्बोनेट (मधुर क्षार अर्थात् खाने का सोडा), कैल्शियम, एल्यूमिनियम और



मैग्नीशियम आदि के पदार्थ और एच-२ रिसेप्टर (हिस्टामिन शामक) औषधियां जैसे रैनाटिडीन, फैमोटिडीन, ओमेप्राजोल, लेन्सोप्राजोल आदि औषधियां देकर सामायिक तथा लाक्षणिक चिकित्सा की जाती है।

सोडियम बाई कार्बोनेट आमाशय में पहुँच कर जठर रस के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को शीघ्र उदासीन करके आमाशय की अम्लता को कम कर देता है जिससे रोगी को तुरंत जलन आदि से राहत मिल जाती है, किन्तु खाने का यह सोडा अम्ल के स्त्राव पर कोई प्रतिक्रिया स्वरूप आमाशय में कार्बनडाई आक्साइड गैस उत्पन्न होती है जो पेट में ही भर कर गैस दोष को जन्म देती है। इससे रोगी को जलन से तो तुरंत आराम आ जाता है पर पेट का फूलना और बेचैनी जैसे कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं। एल्युमिनियम में भी आमाशय के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को उदासीन करने का गुण है, किन्तु, इसके कारण अम्ल पित्त के रोगी में कब्ज की शिकायत उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह मैग्नीशियम के पदार्थ भी आमाशय में पहुँचकर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को उदासीन करके आमाशय में अम्लता को घटाते हैं व रोगी को पेट की जलन से राहत मिलती है, लेकिन यह भी दोष मुक्त नहीं है। मैग्नीशियम के कारण रोगी को अधिक संख्या में दस्त आने लग जाते हैं।

रैनाटिडीन, फैमोटिडीन, ओमेप्राजोल आदि एच-२ रिसेप्टर केन्द्र पर जाकर कार्य करते हैं और उसको क्रियाहीन बना देते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि एच-२ रिसेप्टर ही हिस्टामिन नामक एक अन्तःस्त्रावी रस को प्रभावित करके हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के स्त्राव को बढ़ाता है। अतः यह औषधियां अपने प्रभाव से आमाशय में अम्ल के स्त्राव को रोकती है। कम मात्रा में आमाशय में अम्ल के बनने से अम्ल पित्त के रोगी को अपने कष्टों में शीघ्र राहत मिलती है। परन्तु इन औषधियों के सेवन से रोगी की पाचन क्रिया प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

इन अवस्थाओं के अतिरिक्त अम्ल पित्त का रोग अत्यधिक मानसिक तनाव के इतिहास वाले रोगियों में भी देखा जाता है। अतः ऐसे रोगियों को अम्ल नाशक व एच-२ रिसेप्टर औषधियों के साथ ही उत्तेजना शामक औषधियों का सेवन भी कराया जाता है। साथ ही हंसी-खुशी व चिन्ता मुक्त वातावरण में रहने की सलाह भी दी जाती है।

### आयुर्वेदिक उपचार

चूँकि आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से अम्ल पित्त नामक रोग विकृति जठराग्नि और विषम आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न माना जाता है। इसी कारण आधुनिक चिकित्सा उपायों से रोगी को तुरंत तो रोग में आराम आ जाता है पर रोग का स्थायी समाधान नहीं हो पाता। इस रोग के स्थायी समाधान के लिए हमारे आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली के विद्वानों ने निम्न चिकित्सा उपक्रम तथा आहार-विहार का परामर्श दिया है।

**(१) आहार विहार :** रोगी को भारी, देर से पचने वाले खाद्य पदार्थ, अधिक मसालेदार, चटपटे व खट्टे भोजन, आचार, चटनी, चाय, कॉफी, शराब, तम्बाकू आदि का सेवन बंद कर देना चाहिए अथवा बहुत कम मात्रा में करना चाहिए। क्योंकि ये सभी खाद्य पदार्थ आमाशय में पहुँचकर काफी समय तक पड़े रहते हैं और अधिक मात्रा में जठर रस स्त्राव का कारण बनते हैं। आयु के अनुसार अपने भोजन की आवश्यकता समय-समय पर व्यवस्थित करते रहना चाहिए, क्योंकि आयु वृद्धि के साथ शरीर की आहार की आवश्यकता कम होती जाती है व पाचन क्रिया मंद पड़ती जाती है। अपना सुपाच्य आहार समय पर ही लेना चाहिए तथा जितनी भूख हो उससे थोड़ा कम मात्रा में ही भोजन करना चाहिए। आहार में व्यक्ति सुपाच्य और शीघ्र पचने वाला भोजन जैसे दलिया, मूंग की दाल की खिचड़ी, नारियल का पानी या उसकी कच्ची गिरी, परवल, पेठे का पकाया हुआ रस, पतले साबूदाने की खीर, जौ का सत्तू, आँवला, पीपता, ठंडा किया हुआ दूध, करेला, अनार का रस, मुनक्का, पुराने गेहूँ के आटे की १-२ पतली हल्की फूली हुई चपाती आदि ले सकते हैं। यदि नाशते के रूप में थोड़ा सा अंकुरित अनाज या चने भी लिये जाये तो भी अच्छा है। इससे भी भोजन का शीघ्र पाचन करने में पाचक रसों को सहायता मिलती है। रोगी सोंठ और परवल का बना काढ़ा भी ले सकता है, यह दीपन और पाचक का कार्य करता है।

रोगी द्वारा अपनी जीवन शैली तथा आहार-विहार में परिवर्तन करते ही रोग में चमत्कारिक लाभ होने लग जाता है। रोगी को एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जब तक भूख न लगे तब तक भोजन न किया जाये और यदि आवश्यक हो तो रोग के कष्ट के दौरान उपवास भी रखा जाये अर्थात् एक दो वक्त का खाना छोड़कर आहार में केवल कुछ तरल पदार्थ यथा अनार का रस या सब्जियों का रस या पेठा अथवा परवलका पका हुआ पानी ही लिया जाए। एक-दो समय

खाना न खाने से आमाशय पर पाचन का बोझ थोड़ा घटता है और जब वह पचे भोजन को आँत्र में धकेल कर विश्राम की अवस्था में आता है तो जठर रस स्त्राव की मात्रा घटने लग जाती है। जबकि जठर रस में ही मौजूद म्यूकस नामक क्षारीय पदार्थ आमाशय की श्लेष्मिक झिल्ली व अन्न नलिका का श्लेष्मिक स्त्राव अम्ल के प्रभाव को कम करने में लग जाते हैं तब रोगी को भी जलन आदि से राहत मिलने लग जाती है।

**(२) औषधीय उपचार :** उचित आहार-विहार का पालन करते हुए रोगी निम्न सरल आयुर्वेदिक उपचार भी ले सकता है, जिससे रोगी को शीघ्र स्वास्थ्य लाभ मिलने लग जाता है। यह औषधियाँ अम्ल पित्त में लाभ करने के साथ ही साथ पाचन विकार को भी ठीक ठाक करके आहार के शीघ्र पाचन में सहयोग करती हैं। कुछ अति सरल आयुर्वेदिक योग इस प्रकार है-

- कावली या बड़ी हरड़ के ३-४ ग्राम चूर्ण में ७-८ ग्राम शुद्ध शहद या बीज रहित काला मुनक्का मिलाकर खाने से तीन-चार दिन में ही अम्ल पित्त का रोग ठीक हो जाता है।
- काली मुनक्का, बड़ी हरड़ का चूर्ण, पिस धनिया, जवासा, पीपल और मिश्री समान-समान मात्रा में लेकर इस चूर्ण को शहद के साथ दिन में दो या तीन बार चाटने से अम्ल पित्त में शीघ्र लाभ होता है।
- सौंठ और धनिया का कल्क रात के समय अम्ल पित्त के रोगी को देने से आहार का शीघ्र पाचन होता है। या फिर आहार के साथ प्रतिदिन आँवले का स्वरस या चूर्ण सेवन करते रहने से अम्ल पित्त में आराम रहता है। इसके अतिरिक्त यह वमन, अरुचि, प्रमेह आदि में भी लाभ करता है।
- अविपत्तिकर चूर्ण अम्लपित्त के रोगियों के लिए सदैव ही रामबाण सिद्ध होता है।

**निर्माण विधि :** त्रिफला, त्रिकुटा, नागरमोथा, बायविंडग, छोटी इलायची और तेज पात का १०-१० ग्राम चूर्ण, लौंग का चूर्ण ६० ग्राम, निरोध का चूर्ण २४० ग्राम और पिसी हुई मिश्री ३६० ग्राम की मात्रा में लेकर इन्हें आपस में मिला लें और एक स्वच्छ बर्तन में भरकर रख लें। बस यही अविपत्तिकर चूर्ण है।

दिन में २-३ बार भोजन करने से पहले ३ से ८ ग्राम की मात्रा में कच्चे नारियल के पानी या ताजा पानी के साथ सेवन करने से अम्लपित्त के रोग में शीघ्र लाभ आ जाता है। यदि अविपत्तिकर चूर्ण के साथ १-२ ग्राम की मात्रा में सोडियम बाई कार्बोनेट (मीठा सोडा) भी मिला लिया जाए तो इसके प्रभाव में और तेजी आ जाती है तथा इसकी केवल एक या दो मात्राओं में से भयंकर से भयंकर अम्ल पित्त रोग में आराम आ जाता है।

### **(३) अम्ल पित्त शामक चूर्ण**

- अच्छी तरह साफ की हुई सूखी गुलाब की पंखुड़िया २०० ग्राम, गिलोय सत्व, कंकोल, छोटी इलायची, सफेद जीरा, खस-खस, नागकेशर, नीलोफर, गौखरू, सफेद चन्दन, वंशलोचन, ईसवगोल का छिलका, कमल गट्टा, तमाल पत्र, अरारोट, सारिवा, नागर मोथा आदि सभी १०-१० ग्राम की मात्रा में, पिसी हुई मिश्री ४०० ग्राम। मिश्री और ईसवगोल को छोड़कर शेष सारी औषधियों को अत्यंत बारीक पीसकर २-३ बार कपड़े से छान लें। अब इस चूर्ण में पिसी हुई मिश्री और ईसवगोल छिलका मिलाकर किसी साफ बर्तन में भरकर व ढक्कन लगाकर इस चूर्ण को रख दें। यही चूर्ण एक अति प्रभावशाली अम्ल पित्त शामक चूर्ण है। इस चूर्ण को डेढ़ से तीन ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार रोगी को ताजा पानी के साथ देने से अम्ल पित्त रोग का शमन होता है। यह एक परीक्षित और सैकड़ों रोगियों पर अजमाया योग है।
- कुटज की छाल ४० ग्राम, शुद्ध और असली लौह भस्म, वंशलोचन, कंकोल आदि १०-१० ग्राम की मात्रा में लेकर इन्हें अलग-अलग बारीक कूट पीसकर चूर्ण बना लें और २-३ बार कपड़े से छान लें। इस चूर्ण में फिर लौह भस्म मिलाकर १-१ ग्राम की पुड़िया बना लें, अथवा अत्यंत कड़वा होने के कारण इस चूर्ण को १-१ ग्राम की मात्रा में खाली कैप्सूलों में भरकर रख लें। दिन में दो बार एक-एक कैप्सूल सुबह शाम ताजा पानी या मक्खन निकली दही की पतली छाछ के साथ लें। यह औषधि जीर्ण अम्ल पित्त में भी चमत्कारिक प्रभाव दिखाती है।
- अम्ल पित्त के लिए आयुर्वेद का एक अति प्रभावशाली योग इस तरह तैयार करके उपयोग में लाया जा सकता है।

अविपत्तिकर चूर्ण	८० ग्राम
आमलकी रसायन	२० ग्राम
माधुयाष्टि चूर्ण	२० ग्राम
सोडियम बाई कार्बोनेट (सोडा खाने वाला)	२० ग्राम
मयूर चंद्रिका भस्म	१० ग्राम
कपूर कचरी	१० ग्राम

ऊपर वर्णित सभी औषधियों को उपरोक्त मात्राओं में लेकर आपस में अच्छी तरह मिला लें तथा दिन में तीन बार खाना खाने से पूर्व ३-३ ग्राम की मात्रा में पेट के रस या धान्यकहिम के साथ सेवन करें। यह चूर्ण अम्ल पित्त के रोगियों के लिए रामबाण का कार्य करता है।

- दिन में दो बार सुबह-शाम काम दुधा रस २५० मि.ग्रा. और अम्ल पित्तान्तक चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में लेकर एक मात्रा के रूप में शहद के साथ चारें। इसी तरह शाम के समय भी एक और मात्रा शहद के साथ लें। दिन में दो बार खाना खाने के बाद टंकण भस्म ३७५ मि.ग्रा. मधुयाष्टि चूर्ण एक एक ग्राम तथा अविपत्तिकर चूर्ण २ ग्राम की मात्रा में आपस में मिलाकर एक मात्रा के रूप में ताजा पानी के साथ लें। रात्रि को सोते समय कावली हरण का चूर्ण २-३ ग्राम की मात्रा में ३ ग्राम मुनक्का के साथ गर्म पानी से सेवन करें।

इस औषधि उपक्रम से अम्ल पित्त के रोगी को आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की औषधियों की तरह शीघ्र लाभ आ जाता है। औषधि का सेवन पूर्ण स्वास्थ्य लाभ मिलने तक जारी रखना चाहिए।

**अपथ्य :** रोगी को उड़द एवं कुल्थी की दाल, तिल, खटाई, दही, अधिक मिर्च- मसालेदार तले हुए भोजन, स्वभाव विरुद्ध भोजन, शराब आदि का सेवन त्याग देना चाहिए। यदि रोग का जोर प्रबल है तो रोगी को एक दो दिन तक ठोस आहार की बजाय तरल खाद्य पदार्थों यथा पतली साबूदाने की खीर, परवल का सूप और जौ के पानी पर ही रखना चाहिए।

जैसे-जैसे रोग पर नियन्त्रण होता जाए और रोगी को पेट और छाती में जलन का अहसास कम होने लगे तब अर्द्ध ठोस आहार जैसे चावल और मूंग की दाल की खिचड़ी, पपीता, नारियल और बेल का पका फल, दलिया, गर्म दूध के साथ आदि दिये जा सकते हैं। रोगी रात्रि के समय एक बार पुनः दूध, साबूदाने की खीर ले सकता है। रोगी को भोजन के साथ पानी न देकर खाना खाने के डेढ़ २ घंटे बाद पानी पीने को देना चाहिए। रोग के प्रारंभ में हरी साग सब्जियों से भी परहेज रखना चाहिए।

### प्राकृतिक चिकित्सा

निरन्तर विरुद्ध भोजन, बासी, विकृत तथा तामसिक भोजन के सेवन से अत्यधिक अम्ल एवं पित्त दोष बढ़ जाता है वही अम्लपित्त कहलाता है। वर्षा एवं शरद ऋतु में इसका प्रकोप ज्यादा होता है। अम्लपित्त से शरीर में भारीपन, पेट में दर्द, हृदय प्रदेश, छाती व गले में दाह आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

पेट पर गरम-ठंडा तौलिया से कम्प्रेस देकर ठण्डी मिट्टी की पट्टी रखें। आधा घंटे बाद रीढ़, पेट, कमर की हल्की मालिश करके नीम पानी या छाछ का एनीमा दें। सौम्य, ठंडा या गरम-ठंडा कटि स्नान देकर पेट पर सूती-ऊनी लपेट बांधें। अपरान्ह काल में पेट पर (यकृत वाले हिस्से पर) गरम-ठंडा कम्प्रेस देकर लपेट बांधें। रोगी को हालत के अनुसार पिण्डलियों की लपेट, वाष्प स्नान, गर्म पादस्नान, धूप स्नान इत्यादि की चिकित्सा व्यवस्था भी कर सकते हैं। उपयुक्त चिकित्सा बदल-बदल कर देने से ७ से १० दिन में रोग पर काबू पा लिया जाता है। रात्रि में आवश्यकतानुसार पेट व पिण्डलियों पर लपेट बांधें व तलुए की मालिश करायें।

### आहार चिकित्सा

प्रातः उठते ही ताम्रपात्र में रखा हुआ ३-४ गिलास जल पियें। नाश्ते में गाजर या लौकी का रस या नारियल पानी पियें। बहुत ज्यादा अम्लपित्त होने पर गाजर के रस में पत्तागोभी का रस किंचित मिलाकर दें। दोपहर के भोजन में आटे की मोटी रोटी, सब्जी, सलाद, छाछ (छाछ ताजी व मीठी होनी चाहिए) दें। दोपहर बाद में परवल, लौकी, तरोई, पपीता (कच्चा) आदि इनमें से किसी एक सब्जी का सूप पिलाना उचित रहता है। सायंकालीन अल्पाहार में अनार, केला, पपीता, चीकू (मीठा-क्षारीय फल) कोई भी एक फल १०० ग्राम से २५० ग्राम तक दें। रात्रि के भोजन में रोटी, उबली सब्जी, सलाद इत्यादि दें। नारियल पानी का प्रचुर मात्रा में सेवन करायें।

## पेप्टिक अल्सर, ड्यूडेनल अल्सर, (परिणाम शूल)

### ¼PEPTIC ULCER, DUDENOL ULCER½

हमारी आहार नाल के सबसे महत्वपूर्ण भाग हैं, आमाशय और ग्रहणी अर्थात् पक्वाशय (ड्यूडेनम)। आमाशय आहार नाल का सबसे चौड़ा भाग है जो अन्न नलिका (इसोफेगस) के अंत से लेकर छोटी आंत के प्रारंभ (ग्रहणी) के मध्य स्थित रहता है। आमाशय पेट के बायीं तरफ अनुपार्श्विक प्रदेश तथा हृदया घटिका प्रदेश को आश्रय देते हुए तिरछा स्थित रहता है। आमाशय का कार्य है आहार को ग्रहण करना, अपने पाचक रसों को उसमें मिलाना, अपनी पेशियों द्वारा भोजन का मन्थन करना और उसे आगे की तरफ धकेल कर ग्रहणी (आंत्र) में भेजना।

ग्रहणी, छोटी आंत्र का सबसे चौड़ा और प्रारम्भिक भाग का नाम है। इसका आकार अंग्रेजी के 'ब' अक्षर की तरह तथा लंबाई २२.५ से.मी. के लगभग होती है और पश्च उदर भित्ति पर स्थिर रहती है। ग्रहणी ऊपर आमाशय के निचले द्वार, जठर निर्गम से शुरू होकर और फिर टेढ़ी होकर वक्राकार बनते हुए यकृत के चौकोर लोथड़े के नीचे से होती हुई मध्यान्त्र (श्रमरनदनउ) का भाग बनाती है। इसी में पित्त प्रणाली और अग्न्याशय प्रणाली की वाहिनियां आकर खुलती हैं, जिनके द्वारा पित्त और अग्न्याशय रस ग्रहणी में आकर भोजन में मिलता रहता है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि आमाशय और ग्रहणी आपस में जुड़े हुए आहार नलिका के दो भाग हैं। इनकी आन्तरिक भित्ति संरचना भी लगभग एक जैसी ही होती है। अतः जब आमाशय और ग्रहणी दोनों में ही एक साथ घाव बन जाते हैं तो उसे 'गैस्ट्रो-ड्यूडेनल अल्सर' कहा जाता है और जब यह घाव या व्रण ग्रहणी की भित्ति में बनता है तो उसे तब 'ड्यूडेनल अल्सर' के नाम से ही जाना जाता है। यद्यपि इन तीनों प्रकार के व्रणों में रचनात्मक रूप से कई प्रकार की विविधता है, पर इन तीनों के कारण व उपचार लगभग एक जैसे ही हैं। अतः इन्हें सामान्यतः एक ही नाम से सम्बोधित कर दिया जाता है अर्थात् पेप्टिक अल्सर या परिणाम शूल कह दिया जाता है।

ये व्रण अधिकतर आमाशय की लघु वक्रता पर, ग्रहणी के प्रथम भाग में, ग्रास प्रणाली के अधः प्रान्त पर और मेकिल विपुटी आदि स्थितियों पर पाये जाते हैं, जहाँ कहीं पर आमाशय की तरह की श्लेष्मिक कला पायी जाती है। कई बातों में अंतर होने के बावजूद आमाशय और ग्रहणी के व्रणों के कई लक्षणों में पूर्ण समानता होती है। आमाशय और ग्रहणी दोनों के अल्सर ही तीव्र (एक्युट) और चिरकारी (क्रोनिक) दोनों रूप में पाये जाते हैं। ये श्लेष्मिक कला में उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी विदरण की समस्या तक उत्पन्न कर देते हैं।

यद्यपि पिछले एक-दो दशकों से कुछ देशों और समाज के कुछ वर्गों में आमाशय और ड्यूडेनल अल्सर के रोगियों की संख्या में कमी आने लगी है, फिर भी यह लोगों के स्वास्थ्य की एक प्रमुख समस्या बने हुए हैं। एक अनुमान के अनुसार ८ से ९ प्रतिशत के लगभग वयस्क आबादी इनकी चपेट में है। पेप्टिक अल्सर (आमाशय व्रण) की अपेक्षा ड्यूडेनल अल्सर (ग्रहणी व्रण) ४ से ६ गुना लोगों में पाया जाता है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुषों में भी इस रोग की प्रसार संख्या अलग-अलग हैं पेप्टिक अल्सर विभिन्न समुदायों के स्त्री-पुरुषों में १:४ के अनुपात से लेकर १:३ अनुपात तक पाया जाता है, अर्थात् पुरुषों की तुलना में पेप्टिक अल्सर का रोग स्त्रियों में ४ गुना तक कम होता है।

वैसे यह रोग अत्यंत विस्तृत अर्थात् संसार के समस्त देशों और सभी समुदाय के लोगों में पाया जाता है। यद्यपि कुछ देशों और क्षेत्रों में अन्य की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। भारत के तमिलनाडु, केरल, आन्ध्रप्रदेश और जम्मू-कश्मीर राज्य में यह अधिक पाया जाता है, जबकि इनकी तुलना में पंजाब, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश राज्यों में इनके रोगी बहुत कम देखने में मिलते हैं। इसी प्रकार आमाशय और ग्रहणी के अल्सर विभिन्न देशों के विभिन्न समुदाय और विभिन्न स्तर के लोगों में अलग-अलग दर से पाये जाते हैं। जैसे कि आमाशय व्रण दक्षिण ब्रिटेन की तुलना में स्कॉटलैण्ड में अधिक पाया जाता है और शायद इसी कारण ग्रहणी का व्रण भी उनमें अधिक होता है। आमाशय और ग्रहणी व्रण रोग के कारणों में भी विभिन्न देशों और प्रदेशों के आधार पर अंतर प्रतीत होता है। जैसे कि यह रोग विकसित देशों अमेरिका और यूरोप के व्यावसायियों तथा उद्योगपतियों अर्थात् सम्पन्न लोगों में अधिक मानसिक उद्वेग से ग्रस्त लोगों में अधिक पाया जाता है। इनके विपरीत

भारत के दक्षिणी राज्यों में यह रोग गरीबी में जीवन व्यतीत कर रहे अत्यंत निर्धन तथा मजदूरों में अधिक पाया जाता है। यह रोग मध्यम आयु अर्थात् २० से ४० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है।

## रोग के कारण

यों तो पेट्रिक अल्सर के वास्तविक कारण का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया है, पर रोगोत्पत्ति में मुख्य भूमिका आमाशयी अम्ल की सक्रियता पर अवश्य निर्भर करती है। रोग उत्पत्ति का कुछ न कुछ सम्बन्ध आनुवांशिकता से भी अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि आमाशय व्रण एक ही परिवार के कई सदस्यों में और कई पीढ़ियों तक होते देखा गया है, जबकि ग्रहणी व्रण तो २० वर्ष से कम आयु के वयस्को में भी देखा गया है, जिनके माता-पिता में से किसी का भी यह रोग रहा हो। आनुवांशिक कारणों के पक्ष में एक बात और भी जाती है कि आमाशय व्रण उन लोगों की सन्तानों में तीन गुना अधिक उत्पन्न होता है जो स्वयं इस रोग से ग्रसित रहे हैं। इसके विपरीत ड्यूडेनल अल्सर माता-पिता और उनकी सन्तानों में लगभग समान रूप में ही उत्पन्न होता है।

इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने आमाशय और ग्रहणी व्रणों को उत्पत्ति तथा उनकी दुस्साध्यता (जटिलताओं) के संबंध में अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया है जैसे कुछ औषधियों के नियमित रूप से सेवन तथा एस्पिरिन, फिनाइल बूटाजोन, रेसर्पिन, इण्डोमेथासिन, कई प्रकार के यांत्रिक अभिघ्रात से उल्टकों को पहुँची क्षति तथा शल्य चिकित्सा व चोट आदि से, विशिष्ट और अविशिष्ट प्रकार के रोगाणु संक्रमण से, रक्त विकार, आहार-न्यूनता, कुछ अन्तः स्त्रावी विकार यथा अग्न्याशय आदि से गेस्ट्रिन नामक हार्मोन का अत्यधिक मात्रा में स्त्राव, यह आमाशय रस में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के स्त्राव को बढ़ाने के लिए जिम्मेदार होता है आदि।

## रोगोत्पत्ति

अभी तक जो बात इन व्रणों की उत्पत्ति के संबंध में पूर्ण दृढ़ता के साथ कही जा सकती है, वह यह है कि इनकी उत्पत्ति का बहुत कुछ सम्बन्ध आमाशय रस में उपस्थित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की सक्रियता के साथ अवश्य है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि आमाशय रस में अम्ल की अधिकता के कारण अथवा आमाशय और ग्रहणी की आन्तरिक श्लेष्मिक कला की इस अम्ल के प्रति प्रतिरोध शक्ति कम पड़ जाने के कारण आमाशय रस का अम्ल इस श्लेष्मिक कला को पचाने लग जाता है, जिससे उन स्थानों पर व्रणोत्पत्ति हो जाती है। यह तो सर्व विदित ही है कि तीव्र अम्ल किसी भी प्रकार के माँस पिण्ड का गला सकने की सामर्थ्य रखते हैं। स्वस्थ अवस्था में आमाशय की कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न श्लेष्मिक (म्यूसिन) पाचक रस व अम्ल से श्लेष्मिक कला की रक्षा करता है। संभव है श्लेष्मिक कला में कुछ ऐसे प्रतिपिंड (एण्टीबोडीज) भी मौजूद रहते हों जो उसको पाचक एंजाइम तथा अम्ल की क्रिया से बचाते रहते हों। किसी कारण से इनकी न्यूनता होने से श्लेष्मिक कला की प्रतिरोध शक्ति घटने तथा रक्त संचार के पर्याप्त न रहने से उन स्थानों की श्लेष्मिक कोशिकाओं का पाचन संभव हो पाता है, जिससे वहाँ घाव बन जाते हैं। साथ ही उन्हीं दशाओं के बने रहने से इन व्रणों का विरोहण नहीं हो पाता या इनके एक बार ठीक हो जाने के बाद इनकी पुनरावृत्ति की संभावना बनी रहती है इसी प्रकार असामान्य संघटन के पाचक रस द्वारा सामान्य स्वस्थ श्लेष्मिक कला को पचा सकना और प्रतिरोध शक्तिहीन श्लेष्मिक कला भी सामान्य पाचक रस द्वारा पच सकती है। दक्षिणी राज्यों में अधिकतर रोगी दूसरे प्रकार के ही होते हैं। उनके पेट में असाधारण अम्ल की मात्रा अधिक नहीं होती, किन्तु कुपोषण, अनियमित भोजन, भोजनों के मध्य अधिक अंतर और विटामिन्स की न्यूनता रोग प्रतिरोधक शक्ति को कमजोर बना डालती है और शायद तभी साधारण पाचक रस ही उसे पचाकर व्रण का कारण बन जाता है।

## आमाशय में अम्ल का स्त्राव

आमाशय के पाचक अम्ल का स्त्राव आमाशय की भित्ति कोशिकाओं (च्लैमजंस बमससे) द्वारा होता है जो आमाशय की बुध्न और काय भाग में सीमित रहती है। अम्ल का स्त्राव दो प्रकार से शुरू होता है। एक जब आहार की गन्ध, देखने या विचार से वेगस नामक तंत्रिका उद्दीप्त होती है तो उसकी प्रतिवर्ती क्रिया से स्त्राव शुरू हो जाता है। दूसरी तरह का

स्त्राव रसायन से शुरू होता है। जठर निर्गम आहार की उपस्थिति में सेक्रेटिन नामक हारमोन का स्त्राव शुरू कर देता है जिससे फिर अम्ल का स्त्राव आरंभ हो जाता है।

पेप्टिक अल्सर की उत्पत्ति का तात्कालिक और सीधा सा कारण आमाशय रस के पेप्टिक और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल द्वारा आमाशय की श्लेष्मिक कला का पच जाना ही होता है, क्योंकि अल्सर की उत्पत्ति के लिए अम्ल और पेप्टिक की मौजूदगी आवश्यक होती है। इसी कारण कुछ विशेष परिस्थितियों जैसे कि एक्लोर हायड्रिक के रोगियों में कभी भी ये व्रण देखने को नहीं मिलते हैं। इन रोगियों में एसिड का स्त्राव बिल्कुल ही बंद हो जाता है और साथ में घातक प्रकार की रक्ताल्पता भी इनको रहती है। इनके विपरीत कुछ अन्य परिस्थितियों में जैसे कि जोलिंगर-इलीशन सिन्ड्रोम नामक रोग में अधिकांश रोगियों को आमाशय और ग्रहणी के व्रण हो जाते हैं। क्योंकि इन रोगियों के आमाशय के पाचक रस में सदैव हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा सामान्य से अधिक रहती है। जोलिंगर इलीशन सिन्ड्रोम अग्न्याशय आदि किसी अंग में ट्यूमर बन जाने से गेस्ट्रिन नामक हारमोन का अधिक मात्रा में स्त्राव करने लग जाता है, जो बाद में एसिड का स्त्राव बढ़ा देता है। पेप्टिक अल्सर की तुलना में ड्यूडेनल अल्सर के रोगियों में अम्ल की भूमिका और भी महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि ड्यूडेनल अल्सर के अधिकांश रोगियों में सदैव ही एसिड का स्त्राव अधिक मात्रा में होते देखा गया है तथा स्त्राव को कम कर देने से ये व्रण ठीक भी जल्दी हो जाते हैं।

### आमाशय की श्लेष्मिक कला की प्रतिरक्षण शक्ति :

आमाशय की श्लेष्मिक कला में अम्ल से विशेषकर उसके हाइड्रोजन आयन्स से अपनी सुरक्षा करने के लिए कई कारक मौजूद रहते हैं। जैसे कि आमाशय भित्ति के बाहरी स्तर की कोशिकाओं बाइकार्बोनेट नामक पदार्थ उपस्थित रहता है जो श्लेष्मिक कला के ऊपर एक क्षारीय परत सी बना देता है। बाइकार्बोनेट का निर्माण कोशिकाओं में श्लेष्मिक प्रोस्टाग्लैंडिन नामक रसायन पर निर्भर करता है। इसी तरह आमाशय की बाह्य कोशिकाओं के ऊपर म्यूसिन नामक एक ग्लाइको प्रोटीन की परत मौजूद रहती है, यह अम्ल के साथ अतिशीघ्र क्रिया करने की क्षमता रखता है। ये सभी कारक मिलकर श्लेष्मिक कला की पूरी सुरक्षा आमाशय के पाचक रस व अम्ल से करते हैं।

लेकिन कई प्रकार की औषधियों के लगातार सेवन से, जैसे कि कुछ दर्द निवारक औषधियाँ ऐस्पिरिन, फिनाइल ब्यूटाजोन, इण्डोमेथासिन, रेसर्पिन (उच्च रक्तचाप) आदि से आमाशय भित्ति के सुरक्षा तंत्र अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि ऐस्पिरिन नामक दवा खाली पेट (जब अम्ल का स्तर  $\approx 3.5$  हो) ली जाती है तो वह ग्लाइकोप्रोटीन नामक म्यूसिन के स्तर को नष्ट कर डालती है। यह प्रोस्टाग्लैंडिन नामक रसायन के स्त्राव को कम करके कोशिकाओं के अंदर बाइकार्बोनेट की मात्रा को भी कम कर देती है। इससे आमाशय के अम्ल को श्लेष्मिक कला पर हमला करके उसे पचा डालने का मौका मिल जाता है। ऐस्पिरिन के सेवन से इसी कारण जठरांत्र क्षेत्र में रक्तस्त्राव तक होने लग जाता है। आस्ट्रेलिया में पेप्टिक अल्सर के अधिकांश रोगी ऐस्पिरिन का सेवन करने वाले ही पाये गये थे।

कई बार आमाशय व्रण के बनने की संभावना उस समय भी बढ़ जाती है जब पित्त और आँत्र के पाचक रस आमाशय में प्रवेश करने लग जाते हैं। क्योंकि पित्त आमाशय में पहुँचकर श्लेष्मिक कला और उसके सुरक्षा तंत्र को नष्ट कर डालता है। चिरकारी आमाशय शोथ के रोगियों में भी आमाशय व्रण बनने की संभावना पायी जाती है जबकि यह शोथ पित्त या आँत्र स्त्राव के आमाशय में पहुँचते रहने से हुई हो।

### पेप्टिक अल्सर और मानसिक तनाव

अत्यधिक मानसिक तनाव के दौर से गुजर रहे लोगों में आमाशय व्रण बनने की संभावना सामान्य जिन्दगी गुजर बसर कर रहे लोगों की तुलना में काफी अधिक रहती है। अत्यधिक मानसिक तनाव, चिन्ता, बेचैनी, व्याकुलता आदि मस्तिष्क के ग्री ओप्टिक हायपोथैलेमिक केन्द्र को सक्रिय करते हैं और उसके एड्रीनो कॉर्टिको ट्रॉफिक रिलीजिंग पदार्थ के स्त्राव को बढ़ा देते हैं। यह पदार्थ हायपोथैलेया पिट्यूटरी रक्त वाहिनियों द्वारा मस्तिष्क में ही स्थित एक अन्य ग्रन्थि, पीयूष ग्रन्थि के अग्र भाग तक पहुँच कर उसे एड्रीनो कॉर्टिको ट्रॉफिक हारमोन के स्त्राव को बढ़ाने के लिए प्रेरित करता है। परिणामस्वरूप अधिक मात्रा में हारमोन रक्त संचार के माध्यम से बहकर गुर्दों के ऊपर स्थित अधिवृक्क ग्रन्थियों तक

पहुंचने लग जाता है। यहां वह अपने प्रभाव से कार्टीको स्टीरायड नामक हारमोन के स्त्राव को तीव्र कर देता है। यह हारमोन अन्य कार्यों के अतिरिक्त आमाशय पर उद्दीपक की तरह कार्य करके उसके पाचक रस व अम्ल के स्त्राव को बढ़ाने लग जाता है। यदि व्यक्ति में यही क्रम करके उसके पाचक रस व अम्ल के स्त्राव को बढ़ाने लग जाता है। यदि व्यक्ति में यही क्रम लगातार अधिक समय तक जारी रहे तो यह निश्चित रूप में पेट्रिक अल्सर जैसे रोग को जन्म दे देता है।

इसी प्रकार कई तरह की स्वेच्छिक तंत्रिकाएँ भी मानसिक तनाव और अवसाद की स्थिति में उत्तेजित होकर हृदय गति व रक्तचाप को बढ़ा देती है, चयापचय दर में वृद्धि कर देती है तथा कब्ज तक पैदा कर देती है, जैसे कि सिम्पैथेटिक तंत्रिकाएं। इन्हीं की एक वेगस नामक तंत्रिका के उत्तेजित होने पर ऊपर जठरांत्र के भाग में पुरःसरण गति बढ़ जाती है। यह आमाशय में पाचक रस व अम्ल के स्त्राव को भी बढ़ाती है, जिसका परिणाम धीरे-धीरे पेट्रिक अल्सर के रूप में सामने आ सकता है। इसी तरह पीठ के नीचे के स्थान की पैरा सिम्पैथेटिक तंत्रिकाएं उत्तेजित होने पर आंत्र में आंत्र पाचक रस स्त्राव व पुरःसरण गति में वृद्धि कर देती है, जिससे व्यक्ति को दस्त तक लग जाते हैं। अत्यधिक तनाव में अवसाद की स्थिति हायपोथेलेमस से जुड़ी इन दोनों प्रकार (सिम्पैथेटिक और पैरा सिम्पैथेटिक) तंत्रिकाओं को प्रभावित करके कई तरह की विकृतियों को जन्म दे सकती है। शायद इन्हीं तंत्रिकाओं पर सिर की चोट, शल्य चिकित्सा आदि से बने तनाव के कारण इन रोगियों में पेट्रिक अल्सर होने की संभावना बढ़ जाती है।

## रोग विकृति

आमाशय और ग्रहणी से सम्बन्धित ये व्रण अक्सर उपस्थित अपरदन की भांति उत्पन्न होते हैं जो बाद में गहरे जख्म का रूप ले लेते हैं। प्रारंभ में ये व्रण कई हो सकते हैं और उनका विरोहण (ठीक होना) भी होता रहता है, किन्तु कुछ व्रण विरोहित (ठीक) नहीं हो पाते या फिर विरोहण (ठीक होने) के बाद पुनः हो जाते हैं। पीर्ण अवस्था में अक्सर कई व्रण मिलकर एक बड़े व्रण का रूप ले लेते हैं। इनका आकार २.५ से.मी. लगभग या उससे भी कुछ बड़ा हो सकता है। कभी-कभी तो इनका आकार १० से १२ से.मी. तक फैल जाता है। इन व्रणों के किनारे गहरे होते हैं। १० प्रतिशत तक जीर्ण व्रण प्रायः लघु वक्रता या जठर निर्गम के २ इंच के भीतर तथा ग्रहणी के प्रथम भाग में ही स्थित होते हैं। वे पश्च भित्ति पर भी अधिक विस्तृत हो सकते हैं। इनके किनारे फूले हुए और लाल रंग के होते हैं और व्रण के ऊपर उठे हुए दीखते हैं। इनका तल तथा वहाँ का बाह्य आवरण स्पर्श में कठोर होता है। व्रण में सबसे ऊपर पूयमय स्तर होता है।

## रोग के लक्षण

रोग के प्रारंभ में लक्षण मृदु होते हैं लेकिन आमाशय के खाली हो जाने पर जलन के साथ वेदना हो सकती है। इसे 'क्षुधा वेदना' (भ्रुदहंत चंपद)के नाम से जाना जाता है। यह जलन कुछ खाने-पीने पर, या अम्ल का निराकरण हो जाने पर, मिट जाती है। यदि व्रण आमाशय में है तो खाना खाने के आधे से डेढ़ घंटे बाद आमाशय प्रदेश में दर्द शुरू हो जाता है, किन्तु जब व्रण ग्रहणी में होता है तो दर्द की शुरुआत खाना खाने के २ से ३ घंटे बाद होती है। अर्थात् जब आमाशय लगभग खाली होने वाला होता है, पर ग्रहणी का यह दर्द हलका और सुपाच्य भोजन करने से कुछ समय पहले भी शुरू हो सकता है अथवा भारी भोजन से अधिक समय बाद शुरू हो सकता है। इसी कारण रात्रि के समय भोजन के २-३ घंटे बाद सोते-सोते ही ग्रहणी व्रण का दर्द शुरू हो जाता है, जिससे रोगी की नींद टूट जाती है। आमाशय व्रण का दर्द रात्रि के समय बहुत कम शुरू होता है। इन व्रणों के दर्द एक-डेढ़ घंटे तक चलकर स्वतः ही शांत हो जाते हैं।

आहार के पश्चात अम्ल निराकरण के कारण वेदना कम हो जाती है, पर आमाशय के खाली हो जाने पर यह वेदना पुनः आरंभ हो जाती है। यह वेदना आशयिक प्रकार की होती है और उसका कारण अत्यधिक तीव्र पुरःसरण गति होती है। जो व्रण के खुले तंत्रिका सिरों के पाचक रस में मौजूद अधिक अम्ल के सम्पर्क में आने से उत्तेजित हो जाने के कारण होती है। अतः यह स्पष्ट है कि यह वेदना व्रण की स्थिति से न होकर आमाशय आदि के रिक्त होने के समय पर निर्भर है। इसी कारण आमाशय और ग्रहणी के व्रणों की वेदना के प्रारम्भ होने के समय में अंतर होता है। आमाशय व्रण में आमाशय शीघ्र ही रिक्त हो जाता है, किन्तु ग्रहणी व्रण में जठर निर्गम के आकर्ष के कारण आमाशय के रिक्त होने में अधिक समय लगता है। इन व्रणों में प्रातःकाल के नाश्ते से पहले शायद ही दर्द होता हो।



आमाशय व्रण का दर्द आमाशय प्रदेश में मध्य रेखा के समीप कुछ बायीं ओर होता है जबकि ग्रहणी व्रण का दर्द मध्य रेखा के दायीं ओर प्रतीत होता है। यह दर्द एक निश्चित स्थान पर ही होता है और रोगी उस स्थान की सूचना अपनी अंगुली से बताता है। यह दर्द रोगी के पेट में जलन या काटने के से रूप में होता है। कुछ खा लेने से वेदना शांत हो जाती है, किन्तु शराब तीक्ष्ण मसालों के सेवन से इनमें वृद्धि भी हो जाती है। आमाशय की पीड़ा अम्ल से होती है या फिर आमाशय संकोच के कारण अथवा व्रण के निकट स्थिति शोथयुक्त भाग की संज्ञा स्नायु नाड़ियों के शोथ के तनाव के कारण। कभी-कभी दर्द की तीव्रता के कारण वमन भी हो जाती है, जिससे थोड़ी मात्रा में अम्ल द्रव निकल जाने से दर्द में आराम आ जाता है। इसके कारण रोगी के मुँह में पानी भर आता है। वमन की समस्या आमाशय व्रण के बहुत सारे रोगियों में देखने में मिलती है, किन्तु व्रण के कारण आने वाली वमन के २० प्रतिशत के लगभग रोगियों में वमन के साथ रक्त भी आता है।

रोग की तीव्रता कुछ दिनों तक इसी तरह जारी रहती है, फिर धीरे-धीरे सामान्य हो जाती है और रोगी कुछ समय के लिए स्वस्थ और लक्षणहीन हो जाता है। यह वह समय होता है जब व्रण का विरोहण हो जाता है। किन्तु थोड़े समय पश्चात लक्षण पुनः प्रकट होने लग जाते हैं। ऐसा स्वतः भी हो सकता है या फिर गरिष्ठ और विक्षोभक या कुछ औषधियों के सेवन से ऐसा हो सकता है अथवा मौसम परिवर्तन के समय इसकी पुनः आवृत्ति हो सकती है। रोग के बढ़ने पर यह लक्षणहीनता या समय घटता जाता है। साथ ही रोगी अपनी वेदना के शमन के लिए अधिक मात्रा में खाने लग जाता है, किन्तु उस पर भी वेदना की पुनरावृत्ति होती रहती है, अतः रोगी को आहार से भी भय लगने लग जाता है। इससे वह कमजोर होने लग जाता है, पर रोगी में क्षुधा नाश नहीं होता। शरीर में पोषक तत्वों की पर्याप्त आपूर्ति न हो पाने व व्रण से रक्त स्राव के कारण रक्ताल्पता भी हो सकती है। लक्षणों का यह चक्र इसी प्रकार चलता रहता है अर्थात् वेदना, आहार, शमन-पुनः वेदना और प्रत्येक बार आहार के पश्चात उस चक्र की पुनरावृत्ति रोगी में चलती रहती है।

### रोग का निदान :

रोगी ने यदि पिछले २४ घंटे में कोई निवारक औषधि ली है और तभी से उसके आमाशय प्रदेश (एपिगैस्ट्रिक) में तीव्र जलन व दर्द शुरू हुआ है तो यह आमाशय व्रण का एक प्रमुख लक्षण है। रोगी नाभि के ऊपर अंगुली रखकर बताता है कि उसे एपिगैस्ट्रिक के बायें, दायें किस ओर दर्द है, वह यह भी बताता है कि दर्द एक ही स्थान पर रहता है। इस दर्द का संबंध भोजन के साथ अवश्य होता है, जैसे यह दर्द भोजन करने के पश्चात सामान्यतः कुछ समय के लिए बंद हो जाता है, जैसे यह दर्द भोजन करने के पश्चात सामान्यतः कुछ समय के लिए बंद हो जाता है। दर्द का आभास और पसलियों तक भी कभी-कभी हो सकता है। कई बार दर्द इतना तीव्र होता है कि इसके कारण रोगी को वमन आ जाती है। २०-२५ प्रतिशत रोगियों में वमन के साथ रक्त आ सकता है। मल में भी रक्त की उपस्थिति मिल सकती है। रोगी की पाचन शक्ति सदैव ही खराब रह सकती है, पेट में गैस भर सकती है, और प्रायः कब्ज के लक्षण मिलते हैं।

आमाशय प्रदेश पर मध्य रेखा के कुछ दायीं ओर दबाने से एक निश्चित स्थान पर स्पर्श अक्षमता का लक्षण मिलता है। रोग के वेग काल में इस स्थान को दबाने पर पेट की मांस पेशियां स्तब्ध हो जाती हैं। आमाशय से निकले स्राव की परीक्षा करने पर एक तो उसकी मात्रा अधिक मिलती है, दूसरे उसमें स्वतंत्र अम्ल की मात्रा अधिक होती है।

बेरियम मील परीक्षण और इण्डोस्कोपी परीक्षण से रोग का शीघ्र व सरलता से निदान हो जाता है।

इस रोग को अधिक अम्लता रोग से बड़ी आसानी से पृथक् किया जा सकता है। अम्ल की अधिकता वाले रोगियों को पेट दर्द नहीं होता बल्कि छाती में जलन की शिकायत रहती है जो भोजन के पश्चात बढ़ जाती है व अम्लनाशक किसी भी औषधि से कम हो जाती है। ऐसे रोगियों को कभी-कभी आमाशय का भोजन वापिस मुखगुहा में आने लग जाता है। इसी प्रकार कुछ पित्त मिला खट्टा पानी भी रोगी के मुँह में आता रहता है।

### रोगी का उपचार

आधुनिक चिकित्सा पैथी में आमाशय का ग्रहणी व्रण (पेप्टिक अल्सर) की कोई विशेष चिकित्सा उपलब्ध नहीं है, बल्कि इनकी भी चिकित्सा अम्ल-पित्त रोग की तरह ही आमाशय अम्ल के स्राव को कम करने और उसे उदासीन करने के

उद्देश्य से अम्लनाशक औषधियों से ही की जाती है। अनेक मामलों में मानसिक उत्तेजनादायक औषधियों की आवश्यकता भी रहती है। लेकिन उपचार में औषधियों से ज्यादा महत्व रोगी के आहार को दिया जाता है। साथ ही रोगी को बहुत सी आदतों व चीजों को जीवन भर के लिए छोड़ना पड़ता है। जैसे कि पेट्रिक अल्सर के सभी रोगियों को एस्पिरिन और अन्य कई शोथ निवारक औषधियों (स्टीरॉयड) को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए और रोगी को इनके दुष्प्रभावों के विषय में अच्छी तरह जान लेना चाहिए। धूम्रपान छोड़ देने से आमाशय व ग्रहणी व्रण के विरोहण की गति तीव्र हो जाती है। अतः सभी रोगियों को धूम्रपान भी छोड़ देना चाहिए। यों तो अधिकतर व्रण रोगी शराब का सेवन स्वतः ही छोड़ देते हैं, परन्तु यह बात उन्हें अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि शराब का सेवन उनके लिए विष के समान है, जो पुनः व्रणोत्पत्ति का कारण सिद्ध हो सकती है।

## आहार की भूमिका

व्रण चिकित्सा में आहार का अपना विशेष महत्व है, क्योंकि एक तरफ तो सभी प्रकार के आहार आमाशय में पहुँच कर पाचक अम्ल को उदासीन करने में सहायता करते हैं, तो दूसरी तरफ आमाशय में ही पाचक रस और अम्ल के स्त्राव को बढ़ाते भी हैं। फिर भी खाद्य पदार्थों की भूमिका थोड़ी भिन्न अवश्य होती है, जैसे कि वसायुक्त आहार आमाशय के खाली के समय को तो बढ़ाते हैं, आमाशय स्त्राव की मात्रा भी घटाते हैं, किन्तु अम्ल को उदासीन बनाने में इनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती है।

व्रण रोगियों की चिकित्सा का एक ही उद्देश्य होता है, कि आमाशय के पाचक अम्ल की मात्रा को कम करना, अधिक से अधिक समय तक उसे उदासीन बनाकर रखना, जिससे व्रण अम्ल के सम्पर्क से दूर रह सके और उसका विरोहण हो सके। व्रण के शीघ्र ठीक होने से कुछ पोषक तत्वों के सेवन से भी सहायता मिलती है। अतः आहार अम्ल को उदासीन करके उससे जख्म को बचाने व पोषक तत्वों की आपूर्ति का अच्छा साधन है। एक व्रण रोगी अपने आहार को इस प्रकार व्यवस्थित कर सकता है—

रोग के तीव्र रूप में रोगी प्रत्येक घंटे के अन्तराल से आधा-आधा कप ठंडा दूध बहुत कम चीनी मिलाकर पी सकता है। इस समय रोगी को ठोस आहार का सेवन नहीं करना चाहिए, पर २-३ दिन बाद रोग की स्थिति में थोड़ा सुधार होने लग जाये तो अर्द्ध ठोस आहार जैसे प्रत्येक घंटे के अंतर से दूध के अतिरिक्त आधा पका हुआ केला, संतरे का जूस, अनार, आँवला और कच्चा नारियल अथवा उसका पानी ले सकता है। इसके बाद वह आहार में गेहूँ जो से बनी चपाती, दूध के साथ जौ का सत्तू, मसूर की पतली दाल, पका आम, मुनक्का, चिरौंजी आदि का सेवन शुरू कर सकता है। पत्ता गोभी का ताजा एक-एक गिलास रस दिन में तीन-चार बार पीने से इन व्रणों के ठीक होने में चमत्कारिक लाभ होते देखा गया है।

## आधुनिक औषधियां

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में आमाशय अम्ल के स्त्राव को कम करने व उसे उदासीन रखने के लिए रोगी को कई प्रकार की क्षारीय औषधियों यथा सोडियम बाईकार्बोनेट (खाने का सोडा), कैल्शियम कार्बोनेट, एल्युमीनियम हाइड्रोऑक्साइड, मैग्नीशियम हाइड्रोऑक्साइड आदि खनिज लवण और हिस्टामिन शामक एच-२ रिसेप्टर औषधियां जैसे रैनाटिडीन, फैमोटिडीन, ओमेप्राजोल, लेन्सोप्राजोल आदि औषधियों का उपयोग कराया जाता है। इनमें क्षारीय योग सीधे ही अम्ल के साथ क्रिया करके उसे असक्रिय पदार्थ में बदल डालते हैं जिससे आमाशय में शीघ्र ही अम्ल का स्तर काफी घट जाता है। इनके विपरीत एच-२ रिसेप्टर औषधियां हिस्टामिन नामक रसायन के प्रभाव को कम करके आमाशय में अम्ल के स्त्राव की गति को धीमा कर देते हैं, जिससे आमाशय के पाचक रस में अम्ल की मात्रा कम हो जाती है। इन दोनों ही प्रकार की औषधियों से व्रण पर अम्ल की सक्रियता घटती है जिससे कि वह स्वयं शीघ्र ही विरोहित हो सके।

## आयुर्वेदिक औषधियां

आयुर्वेद में कई ऐसी औषधियां हैं जो पेट्रिक अल्सर में शीघ्र लाभ करती हैं। यहाँ तक कि बहुत जल्द ही रोग का समूल नष्ट भी कर डालती हैं। इन औषधियों का प्रभाव क्षेत्र और आमाशय आदि में कार्य अलग-अलग होता है। जैसे कि

आँवला को ही लें। आयुर्वेद चिकित्सा में अम्ल पित्त और परिणाम शूल रोग में आँवले का बहुत अधिक प्रयोग होता है। आँवला अपने विशेष रसायन से आमालशय की श्लेष्मिक कला पर म्यूसिन और एल्ब्यूमिन को कोएगुलेट करके एक परत सी बना देता है जिससे श्लेष्मिक कला का कोमल भाग जठर रस व अम्ल के प्रभाव से बचने लग जाता है। साथ ही यह रसायन श्लेष्मा को संकुचित करके उसके विरोहण में मदद करता है व रक्त स्राव को रोकता है।

#### आयुर्वेद के कुछ सरल, परीक्षित योग इस प्रकार हैं-

१) छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, वंश लोचन, हरड़, पिप्पली, धनिया, सफेद चन्दन और आँवला सभी समान-समान मात्रा में लेकर इनका बारीक चूर्ण बना लें और उसे कपड़े से छानकर उसमें सौर चूर्ण के बराबर पीसी हुई मिश्री मिला लें। इस चूर्ण की सुबह-शाम ३ से ६ ग्राम की मात्रा शहद के साथ सेवन करने से पेटिक व्रण में लाभ आ जाता है।

२) आँवले का ताजा रस एक किलो, पेटे का रस डेढ़ किलो और डेढ़ किलो चीनी लेकर इन्हें धीमी आग पर गर्म करके गाढ़ा बना लें। बाद में उसमें जीरा, पिप्पली ५०-५० ग्राम, धनिया, मुस्ता और चातुर्जातक ५-५ ग्राम की मात्रा में लेकर और उनका बारीक चूर्ण बनाकर मिला लें। इस अवलेह का सुबह-शाम दिन में दो बार १०-१० ग्राम की मात्रा में शहद के साथ सेवन करें। यह अवलेह व्रण रोगियों के लिए अमृत तुल्य है।

३) हरड़ छाल, पिप्पली और निशोथ समान मात्रा में लेकर उनका बारीक चूर्ण बना लें और उसमें पुराना गुड़ मिलाकर अवलेह सा बना लें। इस अवलेह का १ से २ चम्मच की मात्रा में सेवन गर्म पानी के साथ दिन में दो बार करें।

#### ४) व्रण रोगियों की एक आयुर्वेदिक चिकित्सा इस प्रकार है-

सप्तामृत लौह २ ग्राम, शंख भस्म १ ग्राम, सूत शेखर रस ५०० मि.ग्रा. तथा शूल वज्रणी वटी २ ग्राम की मात्रा में लेकर, इनकी दो खुराकें बना लें। सुबह-शाम एक-एक खुराक ताजा नींबू रस के साथ सेवन करें। दोपहर के समय आँवला मुरब्बा के दो फल खाकर एक गिलास ताजा दूध पी लें या ठंडा किया दूध पी लें। दिन में तीन बार यवानी खांडव चूर्ण ५-५ ग्राम की मात्रा में मुँह में डालकर चूसते रहें। भोजन के बाद दिन में दो बार सुबह-शाम ५ ग्राम त्रिफला चूर्ण पानी में उबाल कर पीते रहें। इस चिकित्सा क्रम से एक सप्ताह में ही आमालशय व ग्रहणी व्रण के रोगियों को संतोषप्रद लाभ मिल जाता है। एक सप्ताह के बाद रोगी अपनी चिकित्सा को पुनः व्यवस्थित कर सकता है।

५) दिन में बार १ से २ ग्राम की मात्रा में आमलकी रसायन दूध के साथ सेवन करें। दिन में तीन बार ही आमलकी रसायन के साथ १२५ मि.ग्रा. की मात्रा में सूतशेखर रस शहद के साथ चाट लें। खाना खाने से पहले दिन में दो बार ३ ग्राम मात्रा में अविपत्तिकर चूर्ण और २ ग्राम की मात्रा में खाने का सोडा भी मिलाकर पानी के साथ लें। भोजन करने के बाद दिन में दो बार सुकुमार घृत १-१ चम्मच की मात्रा में लें। २-३ दिन के अंतराल से सुकुमार घृत की मात्रा में आधा-आधा चम्मच की वृद्धि करते जायें और उसकी मात्रा ६ चम्मच तक प्रतिदिन कर लें। आमालशय और ग्रहणी व्रण के रोगियों के लिए यह भी एक प्रभावशाली चिकित्सा है।

#### पथ्य-अपथ्यः

पेटिक अल्सर में भोजन तथा पथ्य-अपथ्य पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है। एक तो रोगी का आमालशय खाली नहीं चाहिए, तो दूसरे ऐसा कोई आहार नहीं देना चाहिए जिससे आमालशय स्राव में वृद्धि होती हो। इस रोग में दूध का प्रयोग अत्यंत गुणकारी है। रोग की तीव्र अवस्था में ठोस आहार का सेवन बंद कराकर प्रत्येक एक-डेढ़ घंटे बाद रोगी को १००-१५० मि.ली. दूध ग्लूकोज मिलाकर दिया जा सकता है। जबकि रोग में सुधार के बाद लगभग एक सप्ताह के बाद दूध में कच्चे अण्डे की जर्दी खूब फेंटकर दी जा सकती है। बिस्कूट, मक्खन मलाई आदि भी दिये जा सकते हैं।

#### प्राकृतिक उपचार

रोगी को पहले दिन पेट पर गरम-ठंडा सेक क्रमशः ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा ३ से ५ बाद दें। फिर पेट पर हल्की मालिश करके १ डेढ़ लीटर कुनगुने पानी में आधा चम्मच सोडा बाई कार्ब (मीठा सोडा) मिलाकर एनीमा लगायें। इस एनीमा से आंत्र में एकत्र अम्ल बाहर निकल जाता है। तत्पश्चात् पेट पर ३० मिनट के लिए ठण्डी मिट्टी की पट्टी रखें। इससे उदर वेदना में तुरंत राहत मिलती है तथा अल्सर का घाव भरने में सहायक होती है। कभी-कभी किसी रोगी को तीव्र दर्द की स्थिति में मिट्टी पट्टी से वेदना बढ़ जाती है तो मिट्टी पट्टी का प्रयोग नहीं करें। इसके बाद के उपचार में रोगी की स्थिति के अनुसार कटिस्नान गरम-ठंडा कम्प्रेस १० से ३० मिनट तक दें। तत्पश्चात् घर्षण स्नान करायें। दर्द ज्यादा होने पर गरम-ठंडा सेक दें। कदाचित् रक्तवहन हो रहा हो तो रक्तवमन में वर्णित निसर्गोपचार की विधि प्रयोग में लाएं। यथा-रोगी को विश्राम करायें। बर्फ का पानी पियें। पेट व छाती पर बर्फ के पानी की तौलिया निचोड़कर या मिट्टी पट्टी रखें। सिर पर ठंडा तौलिया रखें। पिंडलियों पर सूती-ऊनी लपेट बांधें। सारे शरीर का स्पंज बाथ अवश्य दें इससे रक्त संचार बढ़ता है।

अल्सर में लाभ धीरे-धीरे मिलता है। ७ से १० दिन बाद अन्य उपचार यथा-सर्वांग मिट्टी लपेट, वाष्प स्नान, धूपस्नान, सूर्य रश्मि चिकित्सा, गरम पैर स्नान, ठंडा कटिस्नान इत्यादि बदल-बदल कर दें। इन उपचारों से अल्सर का घाव सूखने लगता है। रोगी ठीक होने लगता है परन्तु फिर भी यह सावधानी अवश्य रखें कि तेजी से घूमना, अति व्यायाम, मैथुन, दौड़ना, श्रम करना इत्यादि विक्षोभक क्रियाएं नहीं करें। भरपूर विश्राम करें। कोई भी कार्य धीरे-धीरे शारीरिक बल के अनुसार करें। अन्यथा रोग में पुनः तीव्रता हो सकती है।

### आहार चिकित्सा

रोगी की शक्ति के अनुसार २-४ दिन तक केवल पानी पर उपवास करायें। इसके बाद कुछ दिन तक ठंडा दूध, नारियल पानी, पत्तागोभी का रस, लौकी, कद्दू का रस १० मिली. की मात्रा से शुरू करते हुए १०० मि.ली. तक ले जाएं। दिन में २-४ घंटे के अंतर से सेवन करायें। दूध सर्वोत्तम आहार है यह पोषण भी देता है। जिस आहार के लेने से रोग में वृद्धि होती हो वह नहीं दें। खट्टे फल एकदम नहीं दें। अनुकूल होने पर खट्टे फल भी किंचित मात्रा में दिये जा सकते हैं। शहद यदि अनुकूल हो तो अवश्य सेवन करायें। शहद को पानी, दूध, नारियल के पानी, फल व सब्जियों के रस में मिलाकर दें। आमाशय की आंतरिक श्लेष्मल झिल्ली ३-५ दिन के अंतराल में बदल कर नई बन जाती है अर्थात् आमाशय की कोशिकाएं तीव्रता से निर्मित होकर बदलती रहती है। अतः प्राकृतिक आहार लेने से आंतरिक झिल्ली स्वस्थ हो जाती है एवं अल्सर के घाव सूखने लगते हैं। पत्तागोभी का रस २० से ४० मिली. तक दिन में ३-४ बार अवश्य दें। पत्तागोभी में अल्सर को सुखाने वाला घटक मौजूद होता है। धीरे-धीरे ठोस आहार पर लाएं। ठोस आहार में मोटे आटे की रोटी, उबली हुई सब्जी (कद्दू, धीया, तोरई, टिंडा, परवल, गाजर) चावल, सब्जियों का सूप, उबली सेव, केला इत्यादि रोगी की इच्छा एवं पाचन शक्ति के अनुसार सेवन करायें। १० ग्राम मेथी चूर्ण को २०० मि.ली. पानी में उबालें, ५० मि.ली. पानी बचने पर छानकर पियें। इससे अल्सर में आराम मिलता है।

गरिष्ठ भोजन, संश्लिष्ट आहार, तले-भुने-चरपरे खाद्य, पदार्थ, मिर्च-मसाले इत्यादि का सेवन नहीं करें। चाय, कॉफी, मदिरा, मांस, अण्डे, धूम्रपान, तम्बाकू, दूषित पानी, भरपेट भोजन नहीं करें। प्रातः सायं स्वच्छ एवं प्राकृतिक सुरम्य माहौल में १ से ३ कि.मी. जरूर टहलें। सकारात्मक विचार बनायें रखें। धैर्य से उपचार लेने पर इस रोग से स्थायी मुक्ति मिल जाती है।

## संग्रहणी

### 1/4I.B.S.1/2

संग्रहणी जठरांत्र सम्बन्धी एक ऐसा रोग है, जिससे ग्रस्त रोगियों के मुँह तथा आमाशय में पाचक रस का स्राव तो समुचित रूप में होता है और भोजन का पाचन भी काफी हद तक ठीक प्रकार ही होता है, किन्तु उसकी आंत्र में पचे हुये भोजन के प्रमुख अंश जैसे वसा, ग्लूकोज, कैल्शियम, कई प्रकार के विटामिन आदि का अवशोषण नहीं हो पाता है। इस कारण रोगी को एक तरफ तो अधिक मात्रा में पीले रंग के झाग व दुर्गन्ध युक्त, चिकनाहट वाले, गैस युक्त पाखाने आने लग जाते हैं, तो दूसरी तरह इन पोषक तत्वों के शरीर में अल्पता के लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं। जैसे कि अत्यधिक कमजोरी आ जाना, इच्छानुसार चलने-फिरने तक की शक्ति का अभाव, वजन व माँस पेशियों का तेजी से गिरना ।

इस रोग में प्रायः पाचन संस्थान से सम्बन्धित सारे ही अंग (यकृत, अग्न्याशय, पित्ताशय आदि) सामान्य ही मिलते हैं, साथ ही रोगी रोग के आक्रमण से पूर्व अथवा बाद में भी सामान्य प्रकृति का हो सकता है, किन्तु रोग के आक्रमण के दौरान उसकी आंत्र आहार का अवशोषण किसी अज्ञात कारण के प्रभाव में आकर छोड़ देती है।

### संग्रहणी रोग के लक्षण

यह रोग कुछ उष्ण कटिबन्धीय देशों जैसे भारत, श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, मलेशिया, इण्डोनेशिया, हांगकांग, चीन, कैरेबियन द्वीप समूह, कुछ दक्षिणी अमेरिकी देशों और वेस्टइण्डीज आदि में ही पाया जाता है। इस रोग का मुख्य निशाना वे गोरे यूरोपियन होते हैं जो इन देशों में रह रहे हैं। या इन देशों में सैर आदि करके यूरोप (स्वदेश) लौटे हैं। गेहूँ आ और गहरी चमड़ी वाले लोगों को यह रोग कम ही होता है, किन्तु पूरी तरह अपवाद भी नहीं क्योंकि यह रोग मलेशिया में मंगोलिनों और भारत के कुछ भाग के निवासियों में भी देखने को मिलता है। भारत में संग्रहणी रोग से प्रभावित क्षेत्र हैं महाराष्ट्र, दक्षिण भारत विशेषकर तमिलनाडु, केरल, आन्ध्रपेदश, नेपाल से सटा तराई का इलाका आदि। इस रोग का मौसम से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और न ही तापमान का इससे कोई सम्बन्ध है, क्योंकि यह रोग हिमालय के कई ऐसे क्षेत्रों में भी फैलता है जहाँ का तापमान यूरोपियन देशों के वातावरण से काफी समानता रखता है।

इस रोग से एक साथ घर के कई सदस्य पीड़ित हो सकते हैं, पति, पत्नी भी एक साथ इस रोग की चपेट में आ सकते हैं। वैसे यह रोग स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है। इस रोग का उम्र में भी कोई संबंध नहीं है। यह छोटे बच्चों, वयस्कों और वृद्धों को समान रूप से अपना शिकार बनाता है।

वैसे तो संग्रहणी रोग का कारण अब तक अज्ञात ही है किन्तु कुछ देशों के निश्चित भू-भाग में इसके फैलने के कारण ऐसा विश्वास किया जाता है कि संभव है कि प्रारंभ में इस रोग की शुरुआत किसी संक्रमण युक्त वस्तु या जीवाणुओं से उत्पन्न किसी जीव विष के आमाशय या आंत्र में पहुँच जाने से होती हो क्योंकि संग्रहणी रोग के दौरान रोगी के मध्यांत्र में भरे चिकनाहट युक्त मल में बहुत अधिक संख्या में एयरोबिक इन्टेरो बैक्टीरिया उपस्थिति रहते हैं। संभव है ये बैक्टीरिया (जीवाणु) इस रोग में मुख्य भूमिका निभाते हों। कई रोगियों में ऐसा भी देखा गया है कि उन्हें ग्लूटेन नामक एक प्रोटीन कण हजम नहीं हो पाता और आहार से इसे निकाल देने पर उन्हें आराम आ जाता है। किन्तु यही सभी संग्रहणी रोगियों के लिए अकेला और निश्चित कारण नहीं है।

कुछ विद्वान संग्रहणी रोग के लिए रोग से पूर्व मौजूद कुपोषण को इसके लिए जिम्मेदार मानते हैं, किन्तु क्षेत्र विशेष के ही सभी कुपोषित रोगियों में संग्रहणी रोग के लक्षण उत्पन्न नहीं होते । फिर भी कुछ विशेष रोगियों व गम्भीर अवस्था के दौरान फोलेट अल्पता (विटामिन 'बी' समूह का घटक ) इस रोग की शुरुआत करते देखा गया है। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सभी रोगियों के लिए कोई एक निश्चित और स्पष्ट कारण अभी तक मान्य नहीं है।

### रोग विकृति

आँत्र में पोषक तत्वों के अवशोषण का कार्य आँत्र भित्तियों की श्लेष्मिक कला में मौजूद अंकुर नामक तन्तु करते हैं। किन्तु संग्रहणी रोग में भी कोयलिक रोग कोयलिक रोग की अपेक्षा काफी धीमी होती है। मध्यांत्र की अंकुरिकाएँ या तो मोटी हो जाती है या फिर वहाँ उनका अभाव उत्पन्न हो जाता है। उपस्थित कोशिकाओं में इन अंकुर तन्तुओं की जगह पर प्लाज्मा कोशिकाएँ और श्वेत रक्त कणिकाएँ एकत्र होने लग जाती हैं। रोग की गम्भीर अवस्था में तो शेषाँत्र (इलियम) तक में ऐसे परिवर्तन आ जाते हैं। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप आँत्र में वसा, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन आदि का अपर्याप्त अवशोषण हो पाता है तथा दस्तों की अधिकता के कारण ये सभी पोषक तत्व पानी, खनिज लवण, लौह, कैल्शियम आदि के साथ ही व्यर्थ बाहर निकलने लग जाते हैं। परिणाम शीघ्र ही इनकी अल्पता के रूप में सामने आता है। फोलेट की कमी के कारण तो हड्डियों की लाल मज्जा तक में परिवर्तन उत्पन्न होने लग जाते हैं। इससे शरीर में शीघ्र ही रक्ताल्पता के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। जबकि रक्ताल्पता के इस प्रकार के लक्षण विटामिन बी-१२ की अल्पता के कारण तो कई महीनों बाद ही पैदा हो जाते हैं।

कोयलिक प्रकार के संग्रहणी रोग में भी छोटी आँत्र की आन्तरिक श्लेष्मिक कला गेहूँ, जौ, राई, जई आदि अनाजों में उपस्थित ग्लूटेन नामक प्रोटीन के एक अंश ग्लायडिन के कारण उत्तेजित होकर असामान्य रूप धारण कर लेती है। कोयलिक नामक यह रोग छोटे बच्चों को तीन साल की उम्र के आसपास शुरू होता है। रोग के कारण बच्चे का फूलना-फूलना रुक जाता है और स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाता है। बच्चे को काफी मात्रा में पीले रंग के पाखाने (दस्त) आने लग जाते हैं। रोग के और अधिक गम्भीर रूप धारण कर लेने पर बच्चे का विकास पूरी तरह रुक जाता है और रक्त की कमी के लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। बच्चे का पेट भी फूलने लगता है। कोयलिक रोग की शुरुआत वयस्क अवस्था में भी हो सकती है। इनमें रोग के लक्षणों की 'शुरुआत रक्ताल्पता, कमजोरी आदि से होती है।

## रोग के लक्षण

यद्यपि संग्रहणी रोग की शुरुआत रोगजन्य क्षेत्र में पहुँचने के कुछ दिन बाद एकाएक तीव्र रूप में गम्भीर प्रकार के दस्तों के रूप में शुरू होती है जो प्रभावित क्षेत्र में पहुँचने के एक से दो सप्ताह के मध्य या उसके बाद तक हो सकता है। इससे पूर्व व्यक्ति पूरी तरह स्वस्थ और सामान्य होता है। किन्तु उसे क्षेत्र विशेष के स्थानीय निवासियों में, जो संग्रहणी रोग के पुराने मरीज हैं, कुछ लक्षण मिलते हैं, जैसे अत्यधिक थकान मानसिक उदासीनता, अवसाद, वजन का कम होना, भूख की कमी, अफारा आदि। रोग का शान्ति और पुनरावृत्ति का चक्र चलता रहता है, जबकि रोग की गम्भीर अवस्था में रोगी को प्रतिदिन १० या अधिक बार मल त्याग हो सकता है, विशेषकर प्रातःकाल और रात्रि के समय मल विसर्जन की इच्छा एकाएक शुरू होती है और उसे रोक पाना रोगी के लिए मुश्किल हो जाता है। मल की मात्रा सदैव ही ज्यादा रहती है। मल सदैव ही तरल के रूप में पीले रंग का, झाग और दुर्गन्ध युक्त होता है और उसमें वसा की मात्रा बहुत अधिक होती है। मल शौचालय में चिपक सा जाता है तथा उसे साफ करना मुश्किल होता है। मितली के साथ वमन तथा पेट का फूलना आदि लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। रोगी की जीभ भी लाल रंग की घाव युक्त हो सकती है और उसमें दर्द रहता है। रोगी को भोजन निगलने में भी कठिनाई होने लगती है। जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है, रोगी का वजन घटता जाता है।

लगातार भोजन के अंशों के अपर्याप्त अवशोषण के कारण मल में व्यर्थ जाते रहने से शरीर में अनेक पोषक तत्वों की कमी उत्पन्न होने लग जाती है, जिससे कई प्रकार के रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जैसे कि विटामिन 'पी' की कमी के कारण आंखों में धुंधलापन और फॉलिकूलर केराटोसिस नामक रोग में बालों के फॉलिकल किरोटिस के अवरुद्ध हो जाने से त्वचा टोड मेंढक की तरह की रूखी-सूखी और भद्दी सी बन जाती है। विटामिन 'बी' की कमी से रक्ताल्पता, जीभ लाल रंग की व छालों से युक्त हो जाती है। विटामिन 'डी' की कमी के कारण टिटनी रोग (कैल्शियम अल्पता हो जाने के कारण), विटामिन 'के' के अभाव रक्त स्राव का न रुक पाना एवं प्रोटीन अल्पता के कारण शरीर पर शोफ, सामान्य विकास की कमी आदि लक्षण रोगी में प्रकट हो जाते हैं।

संग्रहणी रोग के कारण रोगी के शरीर में वसा का भण्डार बहुत कम रह जाता है, जिसके कारण शरीर के सारे अंग सिकुड़कर छोटे होने लग जाते हैं। जैसे कि यकृत का वजन सामान्य १२००-१५०० ग्राम की तुलना में ७२० से १४२० ग्राम के मध्य, प्लीहा (स्प्लीन) का वजन सामान्य ११५-१५० ग्राम की अपेक्षा मात्र ५ से १४० ग्राम के मध्य ही रह जाता है। जहाँ तक कि हृदय जैसे अति महत्वपूर्ण अंग का वजन भी १४० से २७० ग्राम के बीच ही रह जाता है।

संग्रहणी रोग को लक्षणों के आधार पर दो समूहों में रखा जा सकता है। - उष्ण कटिबन्धीय संग्रहणी और कोयलिक संग्रहणी।

१) **उष्ण कटिबन्धीय संग्रहणीय** का मुख्य लक्षण दस्त हैं, जो रोग के प्रारंभ में अति तीव्र, संख्या में अधिक तथा पानी के समान होते हैं। इसके बाद दस्तों की संख्या तो घटने लग जाती है, किन्तु उनका रंग पीला, झाग युक्त व मात्रा बढ़ जाती है। दस्तों की तीव्रता के कारण शीघ्र ही रोग में विभिन्न पोषक तत्वों का अभाव उत्पन्न हो जाता है। जैसे विटामिनों के अभाव से जीभ चमकदार लाल रंग की व छाले युक्त, त्वचा के रंग में परिवर्तन व त्वचा रूखी-सूखी। रक्त तरल में केरोटेन, प्रोटीन, कैल्शियम फॉस्फोरस, कोलेस्ट्रॉल, प्रोथोम्बिन का स्तर सामान्य से कम, जबकि आमाशय में आमाशय पाचक रस व अम्ल की मात्रा सामान्य।

२) **कोयलिक संग्रहणी** का सबसे प्रमुख लक्षण है कि रोग के आरंभ में भी आंत्र में वसा, प्रोटीन, विटामिन 'बी' १२, कार्बोहाइड्रेट और पानी आदि का अपर्याप्त अवशोषण होने से यह मल के साथ जाने लगते हैं व मल प्रारंभ में भी अधिक मात्रा में पीला, झाग व दुर्गन्ध युक्त, चिकनाहट वाला होता है और संख्या में कई बार आ सकता है। शरीर में वसा में घुलनशील विटामिन 'ए', 'डी', 'के' आदि का अवशोषण न हो पाने से इनकी अल्पता होने लग जाती है। प्रोटीन भी मल के साथ व्यर्थ जाने लगता है, किन्तु आहार से ग्लूटेन को निकाल देने पर कुछ रोगियों को चमत्कारिक लाभ हो जाता है। कोयलिक संग्रहणी के आधे से अधिक रोगी छोटे बच्चे होते हैं।

## रोग का निदान

क्षेत्र विशेष में इस रोग का इतिहास मिलने पर वहां से यात्रा करके लोटे व्यक्तियों में रोग प्रकट होने पर उसका निदान तुरंत हो जाता है। रक्त जांच में फोलेट की कमी होती है जो संग्रहणी रोग की तरफ इशारा करती है। मल में वसा की उपस्थिति मिल सकती है। मध्यांत्र के सीधे परीक्षण से उसकी भित्ति में अंकुरों का अभाव अथवा असाधारण परिवर्तन युक्त मिल सकती है। दस्तों में किसी जीवाणु की उपस्थिति नहीं मिलती है।

## रोग का उपचार

रोग की गम्भीर अवस्था में रोगी को पूर्ण आराम कराया जाये तथा रोगी के शरीर में तरल पदार्थ व खनिज लवणों विशेषकर पोटेशियम के अभाव को जितना जल्दी संभव हो दूर किया जाए। इसलिए रोगी को ऐसा आहार दिया जाए जिसमें पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन, विटामिन हों, और वसा, कार्बोहाइड्रेट और रेशे वाले आहार आवश्यक, किन्तु मात्रा में हो। उपयुक्त मात्रा में फॉलिक एसिड और विटामिन बी-१२ की मात्रा भी दी जाए। लाल मांस प्रोटीन का अच्छा स्रोत है, किन्तु इसकी जगह दूध और सोयाबीन का दूध भी प्रयोग किया जा सकता है। चौथे या पांचवे सप्ताह से फलों और सब्जियों का सेवन भी पुनः शुरू कराया जा सकता है। साथ ही आहार में कार्बोहाइड्रेट और वसा की मात्रा भी धीरे-धीरे बढ़ाई जा सकती है। यों कई प्रकार के फलों (केला, अनार) का प्रयोग कम मात्रा में शुरू में ही किया जा सकता है।

## आधुनिक उपचार

रोगी के आहार में से ग्लूटेन नामक प्रोटीन को पूरी तरह निकाल देना चाहिए इसके साथ ही संग्रहणी के रोगी को उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियों का २८ दिन का एक कोर्स पूरा करा देना चाहिए। इसके साथ ही रोगी को उच्च कैलोरिक (२००० से ३०००) वाले आहार अर्थात् अधिकतम मात्रा में प्रोटीन किन्तु ग्लूटेन से मुक्त, अल्पतम मात्रा में वसा वाले आहार देने चाहिए। विटामिन बी-१२ फॉलिक एसिड भी साथ में दिये जाने चाहिए। यदि रक्त में प्रोथोम्बिन की कमी है तो आवश्यक मात्रा में विटामिन 'के' दी जाए। कैल्शियम अल्पता के दूर करने के लिए कैल्शियम के साथ ही विटामिन 'डी' भी उपयुक्त मात्रा में प्रदान की जाए। रक्ताल्पता के लिए पर्याप्त मात्रा में लौह के साथ ही विटामिन बी'-१२ का प्रयोग कराया जाए। यदि आवश्यक हो तथा रोगी की स्थिति रक्ताल्पता के कारण दयनीय बन गई है तो शीघ्रातिशीघ्र उसे उपयुक्त रक्त समूह का मिलान करके रक्त चढ़ाया जाए।

## आयुर्वेदिक उपचार

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली में संग्रहणी रोग के लिए कई योगों का उल्लेख हुआ है। आवश्यकतानुसार उनका भी सेवन किया जा सकता है। कुछ अनुभव गम्य आयुर्वेदिक योग इस प्रकार है-

- कुटकी, चिरायता, पटोलपत्र, नीम मूल छाल और पित्त पापड़ा सभी समान-समान मात्रा में लेकर उन्हें कूट पीसकर बारीक चूर्ण बना लें तथा २-३ बार कपड़े से छानकर रख लें। इस चूर्ण को १ से २ ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार गौ मूत्र के साथ सेवन करने से संग्रहणी रोग में आराम आने लग जाता है।
- जायफल, शुद्ध सिंगरफ, कौड़ी भस्म, सोंठ, सेंधा नमक, शुद्ध अफीम, शुद्ध धतूरे के बीज और पीपल समान-समान मात्रा में लेकर इनका अत्यंत बारीक चूर्ण तैयार कर लें और फिर नींबू के रस, धतूरे बीज के क्वाथ और भांग के स्वरस की एक-एक भावना देकर नींबू के रस में घोट करके ६०-६० मि.ग्रा. की गोलियां बनाकर छाया में सुखा लें तथा एक स्वच्छ शीशी में भरकर रखें।

संग्रहणी रोगी का १-१ गोली दिन में तीन बार मक्खन निकले दही की पतली लस्सी या ताजा पानी के साथ सेवन कराये। यदि रोगी को वमन के साथ अतिसार रोग है तो १-१ गोली का दिन में तीन बार सेवन नींबू का रस और मिश्री के साथ कराये। अपचनजनित हैजा रोग में इन गोलीयों का सेवन हींग और सेंधा नमक मिले मक्खन निकले दही की लस्सी के साथ कराये। (नोट: इस योग में कई ऐसी औषधियां हैं, जो विषाक्त वर्ग की मानी जाती हैं। अतः यह योग को तैयार करते समय अथवा उपयोग में लाते समय आयुर्वेद पद्धति के किसी विद्वान से अवश्य परामर्श कर लें।)

यह औषधि संग्रहणी, पक्वातिसार, अजीर्ण जन्य विसूचिकका और उदरशूल को दूर करने में अतिप्रभावशाली है। यह 'शामक, स्तम्भक और पाचक औषधि है। नूतन संग्रहणी में आमामुबन्ध न हो तो इसका उपयोग किया जाता है।

- जायफल, अफीम, कलमी शोरा और लोंग सभी समान-समान मात्रा में लेकर बारीक पीस लें तथा चूर्णोदक के पानी में घोटकर ६०-६० मि.ग्रा. की गोलीया बनाकर छाया में सुखा लें। भयंकर से भयंकर संग्रहणी व अतिसार रोग में प्रयोग करें। निःसंदेह निश्चित रूप से लाभ होगा।

संग्रहणी रोग की गम्भीर अवस्था में प्रत्येक तीन घंटे के अंतराल से तथा सामान्य रोग में दिन में तीन बार १ से २ गोलीयों का सेवन तण्डुलोदक ३० ग्राम में घोलकर सेवन कराये। यदि तण्डुलोदक प्राप्त न हो पर्पटी कल्प के साथ भी इसका सेवन कराया जा सकता है।

- आयुर्वेद की एक चिकित्सा व्यवस्था इस प्रकार की जा सकती है - दिन में तीन बार सुबह दोपहर रात्रि के समय लघु गंगाधर चूर्ण ६ ग्राम की मात्रा में लेकर मक्खन रहित दही की लस्सी के साथ सेवन करें। दिन में तीन बार ही खाना खाने से ५-७ मिनट पहले हिंगवष्टक चूर्ण १ से ३ ग्राम की मात्रा में उसी प्रकार दही की लस्सी से लें। खाना खाने से पहले इस चूर्ण का सेवन कर लेने से आमामशय में पाचक रस का स्त्राव पर्याप्त मात्रा में भोजन पहुँचने से पहले ही हो जाता है, जिससे भोजन का आमामशय में 'शीघ्र पाचन और अवशोषण का कार्य शुरू हो जाता है। इनके साथ दिन में दो बार, प्रातःकाल १० बजे और सायं ४ बजे के लगभग कुटजारिस्ट २० मि.ली. मात्रा में पानी मिला कर लें। रात्रि को सोने से समय स्वर्ण बसंत मालती रस १२० मि.ग्रा. की मात्रा में शहद के साथ चाट लें। यह नये और पुराने संग्रहणी रोगी की एक अनुभूत चिकित्सा है। बच्चों को आयु के अनुसार इन औषधियों को कम मात्रा में लेकर सेवन कराया जाना चाहिए।
- दिन में तीन बार नृपति बल्लभ रस २२५ मि.ग्रा. ग्रहणी कपाट रस १२५ मि.ग्रा. और कपित्थाष्टक चूर्ण १ ग्राम की मात्रा में लेकर, एक मात्रा के रूप में सुबह तथा इसी प्रकार अन्य दो मात्राये दोपहर और रात्रि के समय मक्खन रहित दही की लस्सी में भुना जीरा, काला नमक मिलाकर उसके साथ दे। दिन में केवल एक बार सुबह ५० मि.ली. की मात्रा में शालपर्ण्यादि क्वाथ का सेवन कराये तथा सुबह और रात्रि के समय भोजन करने के बाद वेलगिरी का चूर्ण १ ग्राम, सोंठ चूर्ण १ ग्राम तथा पुराना गुड़ २ ग्राम की मात्रा को पानी के साथ सेवन करें।



## प्राकृतिक चिकित्सा

संग्रहणी दुःसाध्य रोग है। लंबे समय तक अव्यवस्थित आहार-विहार एवं दिनचर्या से यह रोग हो जाता है। रोगी का दस्त मात्रा में ज्यादा, बिना पचा हुआ, चिकना व आंव युक्त होता है। कभी-कभी कब्ज एवं कभी पतले दस्त लगते हैं। इस तरह से यह रोग धैर्य से उपचार करने पर ही नियंत्रण में आता है। यदि कब्ज हो तो पहले पेट पर गरम-ठंडा क्रमिक सेक करके छाछ या नींबू-पानी का एनीमा लगायें। फिर सिर तथा पेट पर ठण्डी मिट्टी की पट्टी रखें। ३० मिनट बार गरम ठंडा कटि स्नान या सौम्य कटिस्नान पूर्वोक्त विधि के अनुसार दें। कटिस्नान के बाद स्पंज बाथ करायें। इससे आंतों में रक्त संचार तीव्र होता है। दोपहर बाद फिर पेट पर मिट्टी पट्टी रखें या मिट्टी का लेप करें। गरम ठंडा कम्प्रेस दें एवं ठंडी लपेट उदर पर बांधें। रात्रि में भी पेट पर १ घंटे तक ठंडी लपेट दें। ७ से १५ दिन बाद रोगी की हालत में सुधार होने लगता है। बाद में अन्य उपचार भी रोगी की हालत देखकर दिये जा सकते हैं जैसे सर्वांग मालिश, वाष्पस्नान, धूप स्नान, गीली चादर लपेट, गरम पाद स्नान, ठंडा कटिस्नान, ठंडा मेहन स्नान, रीढ़ स्नान, लपेट, मिट्टी लेप इत्यादि उपचार देकर शरीर को विषमुक्त करना चाहिए। २-३ माह तक लगातार उपचार लेने से स्थायी लाभ मिल जाता है।

## आहार चिकित्सा

५-७ दिन तक नींबू, पानी, शहद, पतली छाछ १५० मिली. या मट्ठा, उबली सेव आधी, अनार का रस, पका हुआ केला, संतरा, मौसम्मी का रस या अनार-सेव का रस दें। प्रारंभ में १-३ दिन तक पानी भर उपवास करायें तो ज्यादा अच्छा है। अन्यथा उपचार के मध्य में उपवास कराना चाहिए। उपवास के बाद २-५ दिन तक रसाहार ही देना चाहिए। रस में अनार, संतरा, मौसम्मी, अनार रस, सेव, बेल का रस दें। धीरे-धीरे फल एवं उबली सब्जी प्रारंभ करें। इस दौरान दिन में २-३ बार पतली छाछ निरन्तर पिलाते रहें। छाछ संग्रहणी का सर्वोत्तम आहार है। ठोस आहार धीरे-धीरे शुरू करें। ठोस आहार में पतला दलिया, खिचड़ी, दही, उबली सब्जी (दूधी, लौकी, परवल) इत्यादि दें। ३-४ दिन बाद पूर्ण आहार देना शुरू करें। इस रोग में रोगी के पास कोई भी खाद्य वस्तु नहीं रखनी चाहिए क्योंकि भूलवश भी कभी मन के वशीभूत होकर अपथ्याचरण हो जाने से हमेशा के लिए आंतों के रोगग्रस्त होने की संभावना है। ठीक हो जाने के बाद भी चाय, कॉफी, ब्रेड, बिस्कुट, नमकीन, तले-भुने आहार, शराब, मांस, अण्डे, वसायुक्त आहार, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करें।

आहार चिकित्सा में इन बातों पर विशेष ध्यान दें-

१. प्रातः सायं यथासंभव टहलने जाएं।
२. मानसिक शांति व धैर्य बनाये रखें।
३. खाने के लिए नहीं जीयें अपितु जीने के लिए खाएं।
४. भरपेट भोजन नहीं करें।
५. ६ घंटे से पहले दूसरा भोजन नहीं करें।
६. सप्ताह में एक बार उपवास अवश्य करें।

## आंव बनना

### ¼MUCOUS FORMATION½

कई बार व्यक्ति को मल के साथ थोड़ी या अधिक मात्रा में आंव आने लग जाती है। कभी-कभी व्यक्ति को आंव और मल के साथ बहुत-बहुत मात्रा में रक्त भी मिश्रित होकर आता है। चूंकि इस रोग में व्यक्ति को मल के साथ या मल के स्थान पर आंव आती है, इसलिए इस रोग को आंव आना कहते हैं। वास्तव में आंव बनने या आने का रोग पेचिश या आमोतिसार, ग्रहणी के रोग और अन्तड़ियों की शोथ आदि अवस्थाओं के साथ ही देखने को मिलता है।

#### रोग के कारण

आयुर्वेदिक विद्वानों का मानना है कि जब उदर में आहार का भली प्रकार से पाचन नहीं होता और व्यक्ति की जठराग्नि मंद रहती है, तब अर्द्धपाचित अन्न के अंश आंव के रूप में रूपान्तरित होने लगते हैं। वास्तव में अतिसार या पेचिश की अवस्था में भी अन्न का भली प्रकार से पाचन नहीं हो पाता है तथा अन्तड़ियों की पुरःसरण गति के तीव्र हो जाने से बार-बार मल त्याग के लिए जाना पड़ता है। इन मलों में अर्द्धपाचित और अनशोषित आहार के अंश ही होते हैं।

व्यक्ति में आंव आने या आंव बनने की अवस्था में रोगी के दो रूप देखने में आते हैं। पहली अवस्था तो वह जब पेचिश रूप नया हो। इस अवस्था में रोगी को आंव और मरोड़ के साथ बार-बार दस्त आते हैं। मल त्याग के समय रोगी को कृथना और जोर लगाना पड़ता है तथा उसे तीव्र मरोड़ युक्त दर्द भी होता है। रोगी में दस्तों की संख्या जैसे जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे दस्तों में मल का अंश घटता जाता है तथा उसमें रक्त या आंव के अंश बढ़ते जाते हैं। कभी-कभी इनके साथ अन्तड़ियों के तन्तु भी आने लग जाते हैं।

दूसरी अवस्था रोगी में वह होती है जब पेचिश या अतिसार का रोग पुराना हो जाता है। इस अवस्था में दस्तों की संख्या तो प्रतिदिन सामान्य या काफी कम रह जाती है, किन्तु मल में आंव, पूय और रक्त मिले हुए तीव्र बदबूदार तरल के रूप में दस्त आते रहते हैं। मल पतला ही आता है और प्रायः मल त्याग के समय रोगी को मरोड़ भी होते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्तड़ियों में आंव बनने की स्थिति या मल के साथ आंव, अन्तड़ियों की नई या पुरानी शोथ की दशा में भी मिलती है। क्योंकि व्यक्ति के मल के साथ जो आंव आती है, वह अन्तड़ियों की श्लेष्मिक कला द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए उत्पन्न किया जा रहा श्लेष्मिक स्त्राव ही होता है। पेचिश, अतिसार, ग्रहणी रोग में अनेक प्रकार के जीवाणु या सूक्ष्म आंत्र कृमि अथवा अमीबा परजीवी, जियार्डिया लैम्बलिया (जियार्डियासिस रोग का कारण) आदि की आंत्र भित्तियों में उपस्थिति से श्लेष्मिक कला में सूजन और घाव बन जाते हैं जिससे उन कोशिकाओं में अधिक मात्रा में श्लेष्मा का उत्पादन होकर अन्तड़ियों में एकत्रित होकर मल के साथ मिश्रित होता रहता है। यही श्लेष्मा या आंव मल त्याग के समय शरीर से बाहर आता रहता है। कई बार उत्तेजक और क्षारभ पदार्थों के आंत्र संस्थान में पहुँच जाने से भी आंत्र की भित्तियाँ क्षतिग्रस्त हो जाती हैं और उनसे अधिक मात्रा में श्लेष्मिक स्त्राव होने लग जाता है। यह श्लेष्मिक स्त्राव फिर आंव के रूप में मल के साथ बाहर आता है।

आंव बनने तथा उसके उपचार के संबंध में विस्तृत अध्ययन के लिए इसी पुस्तक में अन्य स्थान पर देखें।

#### प्राकृतिक चिकित्सा

आंव बनना आम बीमारी है। इस रोग में कभी कब्ज तो कभी अतिसार दोनों तहर की शिकायत मिलती है। अलग-अलग रोगियों में भिन्न भिन्न लक्षण मिलते हैं। अतः रोगी की पाचन प्रणाली को ध्यान में समझाकर उपचार प्रारंभ करें।

सर्वप्रथम पेट पर ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा सेक ४ बार दें। फिर पेट, रीढ़ व कमर की थपकी (हल्की) देकर हल्की मालिश करें। अब नीम के पत्ते उबले पानी (गुनगुने) का एनीमा लगायें। एनीमा से मलाशय में स्थित आंव के छल्ले बाहर आ जाते हैं। रोगी को थोड़ी देर टहलने के लिए कहें एवं विश्राम करायें। दोपहर बाद पेड़ पर मिट्टी पट्टी ३० मिनट

देकर सूती-ऊनी लपेट बांधे आधे घंटे के लिए बांधे । दूसरे दिन स्थानीय वाष्प की जगह पर गरम-ठंडा कम्प्रेश अथवा गरम-ठंडा कटिस्नान (पूर्वोक्त विधि अनुसार) देकर लपेट बांधे। रात्रि में गरम थैली से पेट पर सेक करके लपेट बांधे। ७ दिन बाद अन्य उपचार भी बदलकर दें। जैसे-वाष्पस्नान, सोना बाथ, कटिस्नान, धूपस्नान, गरम पैर स्नान, रीढ़ स्नान, सर्वांग मिट्टी लेप इत्यादि उपचार देने से आंव बनने की प्रक्रिया बंद होकर संचित आंव पसीने, मूत्र, मल के साथ विघटित होकर बाहर निकल जाता है और रोगी ठीक होने लगता है।

## आहार चिकित्सा

रोगी की स्थिति को देखकर १-२ दिन सिर्फ पानी पर उपवास करायें। उपवास कराने से आमदोष का पाचन हो जाता है। धीरे-धीरे फलों का सब्जियों का रस प्रारंभ करें। फलों में अनार, बेल, पपीता, आंवला, नाशपाती, केला आदि उपयोगी है। सब्जियों में लौकी, कद्दू, खीरा, तरुई, नेनुआ, टिण्डा, परवल, बथुआ, पालक, हरी मेथी, चौलाई, गाजर, पत्तागोभी, आंवला, मूली के पत्ते इत्यादि इच्छानुसार दें।

ठोस आहार धीरे-धीरे प्रारंभ करें। ठोस आहार में चौकर युक्त आटे की १-२ रोटी, उबली सब्जी, सूप, पतला दलिया, छाछ, सलाद, अंकुरित अनाज आदि जठराग्नि बल व पाचन शक्ति देखकर अल्प मात्रा में देना शुरू करें। धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाएं।

मांसाहार, मछली, अण्डा, पेस्ट्री, केक, आइस्क्रीम, कोल्ड, ड्रिंक, चॉकलेट, तले-भुने पदार्थ, गरिष्ठ भोजन, अत्यधिक वसा युक्त चीजें एकदम बंद रखें। धूम्रपान, तम्बाकू, शराब, पान-मसाला इत्यादि का सेवन नहीं करें।

आहार चिकित्सा के साथ इन बातों पर भी ध्यान दें।

१. प्रातः १ से ३ कि.मी. टहलें।
२. योगासन एवं प्राणायाम करें।
३. भूख से अधिक भोजन नहीं करें।
४. रात्रि जागरण एवं दिवास्वप्न (दिन में सोना) नहीं करें।
५. कोई भी खाद्य पदार्थ खाने से पूर्व यह सोचें कि यह मेरे शरीर की प्रकृति के अनुकूल है अथवा नहीं।

## आमाशय शोथ

### $\frac{1}{4}$ GASTRITIS $\frac{1}{2}$

आमाशय की भीतरी श्लेष्मिक कला में होने वाली शोथ को आमाशय शोथ कहा जाता है। वैसे किसी भी स्थान पर उत्पन्न होने वाली शोथ को एक सुरक्षा उपाय के रूप में देखा जाता है। अतः आमाशय की श्लेष्मिक झिल्ली में उत्पन्न हुई शोथ का यह अभिप्राय है कि कई प्रकार के बाहरी शत्रु-विष आमाशय को नुकसान पहुँचा रहे हैं। इसलिए आमाशय (शरीर) ने अपनी सुरक्षा के उपाय के रूप में शोथ उत्पन्न कर ली है। वास्तव में आमाशय शोथ एक जटिल स्थिति है और यदि इस पर समय रहते ध्यान न दिया गया तो यह विकराल रूप ले सकती है।

आमाशय की यह शोथ दो रूपों में देखने में आती है। एक रूप वह है जिसमें तीव्र प्रकार के लक्षण एकाएक उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण रोगी को उस समय कष्ट भी अधिक होता है तथा दूसरा रूप वह लक्षणों का उदय धीरे-धीरे शुरू होता है। इस प्रकार आमाशय शोथ के दो रूप निम्न प्रकार से हुए। तीव्र आमाशय शोथ और चिरकारी (क्रोनिक) आमाशय शोथ।

१) तीव्र आमाशय शोथ के प्रमुख कारण वे पदार्थ हैं जो आमाशय की श्लेष्मिक कला पर क्षोभक प्रभाव डालते हैं। कई बार अधिक मात्रा में आहार का सेवन व शराब पी लेने से भी चिरकारी आमाशय शोथ के रोगियों में तीव्र आमाशय शोथ के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। कई बार तो शोथ का कारण वे जीवाणु होते हैं जो आहार के माध्यम से आमाशय में पहुँचकर वहाँ विविध क्रियाओं द्वारा विभिन्न जीव विषों को उत्पन्न करने लग जाते हैं या स्वयं ही आमाशय की श्लेष्मिक कला पर आक्रमण कर बैठते हैं। इस प्रकार तीव्र प्रकार के आमाशय शोथ के कारणों को निम्न प्रकार से चार समूहों में रखा जा सकता है-

(१) भोक्षक रसायन जैसे शराब, एस्त्रिन व अन्य दर्द नाशक दवायें, आर्सनिक, दाहक अम्ल, तीव्र क्षार, स्परिट आदि।

(२) विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं का संक्रमण अथवा उनके जीव विष यथा स्टैफाइलोकोकल द्वारा विषाक्त भोजन, न्यूमोनिया, स्कारलेट ज्वर आदि का संक्रमण।

(३) विषाणु संक्रमण जैसे विषाणु जन्य जठरांत्र शोथ, गलफेड़े (मम्पस), हिमोटोइलिक विषाणु, इन्फ्लूएन्जा विषाणु संक्रमण आदि और

(४) एलर्जी करने वाले कुछ विशेष खाद्य पदार्थों का सेवन जैसे शेल फिश।

इनके अतिरिक्त कई बार पित्त का आंत्र से आकर आमाशय में प्रवेश कर जाने से भी आमाशय की श्लेष्मा में शोथ उत्पन्न हो जाती है। अधिक मात्रा में खाने-पीने से चाइम कम बनने लग जाता है जिससे आमाशय का तरल तीव्र तीक्ष्ण होकर आमाशय द्वार को ही नुकसान पहुँचाने लग जाता है।

### लक्षण

तीव्र आमाशय शोथ के लक्षण क्षोभक पदार्थ के आमाशय में पहुँचने के थोड़ी देर बाद ही शुरू हो जाते हैं। वैसे इन सभी कारणों से आमाशय की आन्तरिक श्लेष्मिक कला में शोथ उत्पन्न हो जाती है जिससे रोगी को अपना पेट भरा-भरा सा प्रतीत होने लग जाता है। भूख का समाप्त हो जाना इस रोग का सबसे प्रमुख लक्षण है, किन्तु रोगी की प्यास बढ़ जाती है। तीव्र शोथ के कारण रोगी को आमाशय में गर्मी और तीव्र जलन महसूस होने लगती है। उसे हो सकता है, जिसमें खाने-पीने के बाद आमाशय पर दबाव बढ़ने या खांसने से वृद्धि हो सकती है। यदि आमाशय में शोथ बहुत अधिक है तो हर समय ही पेट के दाहिनी तरफ दर्द रह सकता है। यहाँ तक कि दर्द के कारण रोगी का चलना-फिरना तक कठिन हो जाता है। मुँह का स्वाद खराब और रोगी को बार-बार दुर्गन्ध युक्त डकारे आ सकती है। मितली और वमन आमाशय शोथ के अन्य प्रमुख लक्षण हैं। वमन के बाद कभी-कभी रोगी को थोड़ा या अधिक आराम आ जाता है। प्रथम वमन में पिछले खाये आहार के अंश और म्यूकस तथा कुछ मात्रा में आमाशय शोथ के अन्य प्रमुख लक्षण है। वमन के बाद कभी-कभी रोगी का थोड़ा या

अधिक आराम आ जाता है। प्रथम वमन में पिछले खाये आहार के अंश और म्यूकस तथा कुछ मात्रा में आमाशय स्त्राव हो सकता है, किन्तु इसके बाद आने वाले वमन मुख्यतः म्यूकस, थूक, पित्त और कभी-कभी थोड़ी अधिक मात्रा में रक्त आ सकता है। रोगी के आमाशय में संक्रमण जन्य या जीव विषों से उत्पन्न हुई शोथ की दशा में दस्त भी लग सकते हैं, अन्यथा इन रोगियों में कब्ज के लक्षण ही अधिक मिलते हैं।

रोगी को कभी-कभी ज्वर और सिर दर्द की शिकायत भी हो सकती है और उसकी बेचैनी में वृद्धि हो सकती है। रोगी पीला पड़ जाता है और थका-थका सा लगता है। मूत्र भी गाढ़ा हो जाता है, जिसमें अल्प मात्रा में एल्ब्यूमिन उपस्थिति हो सकती है। ऐसी अवस्था में रोगी हताश व उसके शरीर में पानी की कमी उत्पन्न हो सकती है। पेट को स्पर्श करने पर वह तना हुआ और सख्त महसूस होता है। तीव्र आमाशय शोथ की अवस्था में कभी-कभी आमाशय की अधोश्लेष्मिक कला में शोथ जन्य निस्त्राव (तरल) भर जाता है जिससे कई बार वहाँ व्रण (घाव) भी बन जाते हैं और पस (मवाद) बनने लगती है और कोशिकायें नष्ट होने लग जाती हैं। कभी-कभी यह स्थिति आमाशय के एक भाग तक सीमित रहती है, परन्तु सामान्यतः यह सारे आमाशय को ही प्रभावित करते हैं।

२) चिरकारी आमाशय शोथ तीव्र आमाशय शोथ में जब लक्षण कुछ धीमे पड़ जाते हैं तो यह रोग पुराना रूप धारण कर लेता है। वैसे चिरकारी आमाशय शोथ की स्थिति लंबे समय तक शराब का सेवन करना, कई प्रकार की औषधियों का दीर्घकाल तक सेवन करना, भारी, दूषित तथा अधिक मिर्च-मसालेदार खाद्य पदार्थों का नियमित सेवन, आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड), गठिया और छोटे जोड़ों का दर्द आदि से आमाशय की श्लेष्मा के प्रभावित होने से यह शोथ पुराना रूप लेती चली जाती है। कई बार आमाशय फैलकर आकार में बड़ा हो जाता है। आमाशय में पाचक रस की बजाय अन्य प्रकार का लेसदार तरल निकलने लग जाता है। चिरकारी आमाशय शोथ की अवस्थाएं प्रायः तीन रूपों में देखने में आती हैं

(१) चिरकारी आमाशय अधोश्लेष्मिक शोथ

(२) शोषी आमाशय शोथ और

(३) अतिवृद्धिक आमाशय शोथ

**अधोश्लेष्मिक आमाशय शोथ** में श्लेष्मा की मोटाई तो सामान्य ही रहती है, किन्तु श्लेष्मिक कला लाल रंग और उसमें तरल के संग्रहित होने से फूल जाती है। इस तरल में कई बार सफेद रक्त कणिकाओं के भी एकत्र हो जाने से दाग से बन जाते हैं, जिनसे रक्त स्त्राव हो सकता है अथवा वहाँ जखम बन सकते हैं। शोषी आमाशय शोथ की अवस्था में श्लेष्मिक कला पतली और पारदर्शक की तरह हो जाती है। इसमें श्लेष्मा का ह्यास मिलता है व श्लेष्मिक कला का रंग लाल सन्तरो की बजाय भूरा या हरा सा हो जाता है तथा उसमें रक्त वाहिकाएं दूर से ही दिखाई देने लग जाती हैं। आमाशय शोथ की यह अवस्था कई अन्तः स्त्रावी रसों (हारमोन्स) की कमी तथा घातक प्रकार की रक्ताल्पता में प्रायः देखने को मिल जाती है। अति वृद्धिक आमाशय शोथ की अवस्था अधिक मात्रा में वर्षों तक शराब का सेवन करते रहने और अधिक तीक्ष्ण व मिर्च-मसालेदार खाना खाने वाले लोगों में देखने में आती है। इस दशा में आमाशय की श्लेष्मिक फूली हुई स्पंज की भांति हो जाती है और अक्सर उसमें व्रण (घाव) उत्पन्न होने लग जाते हैं जो बाद में कैंसर का रूप तक धारण कर लेते हैं। इस अवस्था में मोटी श्लेष्मिक से स्त्राव तो अधिक मात्रा में उत्सर्जित होता है किन्तु आमाशय पाचक रस में मुक्त अम्ल की मात्रा अत्यंत अल्प ही रह जाती है। इस अवस्था में रोगी की भूख बिलकुल समाप्त हो जाती है तथा आमाशय क्षेत्र में बेचैनी प्रतीत होने लग जाती है।

### आमाशय शोथ की कुछ विशेष परिस्थितियां

कई बार आमाशय शोथ की शुरुआत कई प्रकार के तीव्र संक्रमण रोगों द्वारा आमाशय में सूजन आने के बाद भी हो जाती है। वैसे उपदंश (सिफलिस) और क्षय रोग के संक्रमणों में भी अनेक बार यह स्थिति बन जाती है। लेकिन शराब (एल्कोहल) जन्म आमाशय शोथ के रोगी अक्सर देखने को मिल जाते हैं। शराब जन्य उत्पन्न होने वाले इस रोग का निदान भी सरलता से हो जाता है। क्योंकि रोगी को शराब का सेवन करने के तुरंत बाद ही मितली और वमन आने लग जाते हैं। शराब के एक दो पैग लेते ही रोगी को वमन की 'शुरुआत हो जाती है जो कई दिन तक लगातार रोगी को तंग कर सकती

है, जिसके कारण रोगी मुँह से कुछ भी खाने-पीने से असमर्थ रहा जाता है। ऐसे रोगी के वमन में प्रायः पित्त, काफी मात्रा में आमाशय की श्लेष्मा (म्यूकस) और थोड़ी बहुत मात्रा में रक्त भी मिश्रित हो सकता है।

शराब का यों तो शरीर के समस्त ऊतकों पर ही प्रभाव होता है किन्तु केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र और आमाशय की श्लेष्मिक कला पर तो विशेष प्रभाव होता है। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र पर यह संज्ञाहीनता की दशा उत्पन्न करती है, जबकि पाचन संस्थान पर शराब अपनी प्रतिक्रिया के कारण थूक और आमाशय रस स्त्राव को तीव्र करती है। आमाशय पाचक रस में यह अम्ल की मात्रा में वृद्धि और पेप्सिन एन्जाइम के स्त्राव में कमी करती है, किन्तु इसके विपरीत अत्यधिक मात्रा में शराब के सेवन से आमाशय स्त्राव भी बंद हो जाता है। इन्हीं कारणों से अधिक मात्रा में लगातार शराब के सेवन से आमाशय की श्लेष्मिक कला में शोथ उत्पन्न हो जाती है। शराब के कारण जहाँ पर अधोस्तरीय कोशिकाओं में श्लेष्मा का उत्सर्जन कम होता है वहाँ की ये कोशिकायें नष्ट होने लग जाती हैं और रक्त स्त्राव तक होने लग जाता है।

कई बार गलती से, जैसे छोटे बच्चों में अनजाने में अथवा आत्महत्या के प्रयास से कई दाहक पदार्थों के खा लेने से रोगी के पेट में, आमाशय की श्लेष्मिक कोशिकाओं में भयंकर प्रकार की शोथ उत्पन्न हो जाती है, कई प्रकार के तेज तेजाव (सल्फ्यूरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड), तीव्र क्षार (पोटाश, ओक्जेलिक एसिड बाई क्लोराइड ऑफ मरकरी, आयोडीन, संख्यिया, सिल्वर नाइट्रेट, कार्बोलिक एसिड) आदि कुछ ऐसे ही क्षोभक पदार्थ हैं। इनकी प्रतिक्रिया के कारण गले तथा आमाशय की श्लेष्मिक कला में अपक्षय हो जाने के कारण तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाती है, और उसका रंग भी बदल जाता है। रोगी को पूरे आमाशय प्रदेश में असहनीय पीड़ा, जलन व तीव्र जकड़न सी होने लग जाती है। मितली, वमन और दस्त आने लग जाते हैं। वमन के साथ रक्त आने लग जाता है।

### शोथ क्यों और कैसे ?

ऊतकों की क्षति के प्रति स्थानीय रक्षात्मक प्रतिक्रिया को शोथ कहा जाता है जो शरीर द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए प्रयोग में लायी जाती है। चिकित्सकीय भाषा में शोथ की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है “यह वह क्रिया है जिसके द्वारा क्षोभित ऊतकों (पतपजंदज जपेनमे) में निस्त्राव (मगनकंजम) और कोशिकाएं एकत्र होने लग जाती हैं। तथा उस ऊतको को और अधिक क्षति होने से बचाने का प्रयास करती है। यह एक विकासशील (चतवहतेपअम) क्रिया होती है और इसके पश्चात ऊतक की विरोहण (मंसपदह) या पुनर्जनात्मक विरोहण (तमहमदमतंजपअम मंसपदह) की क्रिया शुरू हो जाती है”। क्षति के पश्चात ऊतक में सर्वप्रथम अल्पकालिक वाहिका संकुचन हो जाता है, जिससे रक्त संचार का प्रवाह धीमा पड़कर रक्त हानि को रोक सके। किन्तु इसके तुरंत बाद ही कोशिकाएं (व्वपससंतपमे) और शिरकाओं (टंदनसपे) में प्रसार (क्पंसंजपवद) होने के फलस्वरूप अतिरक्तता की स्थिति बन जाती है। रक्त का यह बड़ा हुआ प्रवाह भी थोड़ी देर ही रहता है और फिर धीरे-धीरे घटने लगता है। इस कारण वाहिकाओं की भित्ति से छानकर द्रव व ‘श्वेत कोशिकाएं निस्त्राव के रूप में बाहर आ जाती हैं। इस निस्त्राव का द्रव भाग मुख्यतः रक्त का प्लाज्मा भाग ही होता है। इस प्रकार वहाँ शोथ उत्पन्न हो जाती है।

यही प्रक्रिया आमाशय की श्लेष्मिक कोशिकाओं में उस समय होने लगती है जब कई बाहरी शत्रु उन्हें हानि पहुँचाने या नष्ट करने लग जाता है। इन कोशिकाओं को जितनी अधिक क्षति उठानि पड़ती है, शोथ की समस्या भी उतनी ही तीव्र बनती जाती है। अतः यह स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि जो शोथ आमाशय भित्ति में उत्पन्न हुई है वह उसकी सुरक्षा का एक प्रयास ही है कि उसे उसके शत्रु और अधिक क्षति न पहुँचा सकें।

### चिरकारी आमाशय शोथ के लक्षण

चिरकारी आमाशय शोथ के रोगियों में कोई विशेष और अधिक लक्षण नहीं होते और जब कभी इन रोगियों में लक्षण प्रकट होते हैं तो वह तीव्र आमाशय शोथ के लक्षणों जैसे ही होते हैं, किन्तु उनकी तुलना में बहुत कम तीव्र। जैसे कि भूख का न लगना, आमाशय क्षेत्र में भारीपन तथा दबाव प्रतीत होना। छाती और पेट में जलन। मितली और वमन का कभी-कभी आते रहना। कुछ विशेष खाद्य पदार्थों को हजम न कर पाना। रक्ताल्पता थोड़ी अधिक शारीरिक कमजोरी एवं पेटिक अल्सर से मिलते-जुलते लक्षण।

### आमाशय शोथ की चिकित्सा

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में आमाशय शोथ की कोई विशेष औषधियां व चिकित्सा उपक्रम का वर्णन नहीं मिलता । इसके बावजूद जो भी चिकित्सा इस रोग के दौरान रोगी को उपलब्ध कराई जाती है वह उसके कष्ट और पीड़ाओं को कम करने के लिए होती है। रोगी को क्षोभक पदार्थों से दूर रहने तथा अपने आहार पर विशेष ध्यान देने के लिए कहा जाता है, क्योंकि इस रोग में रोगी द्वारा सेवन किये जाने वाले आहार का विशेष महत्व होता है।

तीव्र आमाशय शोथ की अवस्था में रोगी को आरामदायक बिस्तर पर पूर्ण आराम करना चाहिए तथा गर्म पानी की बोतल से पेट का सेक करना चाहिए। गर्म सेक से रोगी को आराम मिलता है। यदि उस समय रोगी का आमाशय भरा हुआ हो तो उसे वमन आदि कराकर खाली करने की चेष्टा करनी चाहिए । इसके लिए रोगी एक गिलास गर्म पानी में एक चम्मच सोडियम बाई कार्बोनेट (खाने का सोड़ा) मिलाकर पी सकता है। वैसे भी रोग की तीव्र अवस्था में रोगी को पानी, नींबू शिकंजी, पानी में ग्लूकोज घोलकर, जौ का पानी एवं अनार के रस के अतिरिक्त अन्य कुछ भी खाने-पीने की इजाजत नहीं देनी चाहिए, लेकिन जब रोगी की स्थिति में थोड़ा सुधार होने लगे तो पानी में तैयार किया मीठा अरारोट, पतला दही, पेठा का पानी आदि दिया जा सकता है। रोगी की भूख सामान्य होने लगे, जीभ साफ होने लगे तो वह दही, दूध, अण्डे, चिकन सूप दिया जा सकता है।

चिरकालीन आमाशय रोग की अवस्था में रोगी को उन सभी क्षोभक पदार्थों का पूर्णतः परित्याग कर देना चाहिए, जो आमाशय श्लेष्मा को हानि पहुँचा सकती हो । नाक, कान, गले, दाँतों आदि में कोई संक्रामक रोग हो तो उसकी चिकित्सा भी साथ की जाए। मुँह में थूक के स्राव को बढ़ाने के लिए मिश्री आदि को मुँह में रखकर चूसा जाए । आहार का सेवन भी निश्चित समय अन्तराल से खूब-चबा-चबाकर धीरे-धीरे किया जाए। रात्रि का भोजन बिस्तर पर जाने से कम से कम दो घंटे पहले तक कर लिया जाये और यदि संभव हो तो प्रत्येक आहार का सेवन करने के बाद भी आधा घंटे का विश्राम कर लेना चाहिए ।

शराब का सेवन तो पूरी तरह छोड़ ही देना चाहिए । यदि धूम्रपान का सेवन पूरी तरह छोड़ देना संभव न हो तो भी उन्हें अल्पतम अवश्य कर देना चाहिए। चाय, कॉफी, आदि भी अल्पतम मात्रा में ही लेनी चाहिए एवं उनमें दूध की मात्रा ज्यादा होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त चपाती, सलाद, सब्जियों एवं फलों, आचार आदि का सेवन भी कुछ समय के लिए त्याग देना चाहिए। रोगी थोड़ी मात्रा में आँवला, सेब का मुरब्बा और पालक का सूप ले सकता है। पालक में हिस्टामिन की तरह का एक पदार्थ मौजूद रहता है जो आमाशय में पहुँचकर आमाशय में स्राव को अधिक मात्रा में उत्सर्जित करता है।

यदि रोग को मल के साथ म्यूकस (श्लेष्मा) भी आ रही हो तो प्रातः काल के समय रोगी को एक गिलास पानी में १-२ चम्मच हाइड्रोजन परऑक्साइड पिला दिया जाए। हाइड्रोजन परऑक्साइड से मुक्त आक्सीजन आमाशय भित्ति से म्यूकस को साफ कर देती है। इसके साथ ही यह जीवाणु नाशक का कार्य भी करती है। हाइड्रोजन परऑक्साइड में एक गुण और भी है। यह आमाशय में आमाशय स्राव को बढ़ाता है। इस चिकित्सा से १५-२० दिन में ८० प्रतिशत तक आमाशय स्राव सामान्य हो जाता है। मल विर्सजन नियमित रूप से होता रहे इसके लिए रोग २-३ चम्मच शहद, फलों का मुरब्बा, विशेषकर आँवला, सेब और गाजर का छिलका और बीज रहित आधे उबले फल और पालक की तरी का सेवन कर सकता है।

रोगी नियमित रूप से कम से कम एक बार रात्रि को सोते समय डेढ़ से दो चम्मच ईसवगोल का छिलका पानी या दूध में भिगोकर ले सकता है। ईसवगोल का छिलका खाने के पश्चात कम से कम एक गिलास पानी या दूध अवश्य पिया जाए। ईसवगोल आमाशय में पानी को सोखकर ६-७ गुना आकार में फैल जाता है। इससे रोगी को एक तो मल समय पर सुगमता से आता है, दूसरा यह आमाशय भित्ति की उत्तेजना को शांत करके उसे चिकनाहट प्रदान करता है। ईसवगोल में विषाक्त और दूषित पदार्थों को सोख लेने की अदभुत सामर्थ्य मौजूद है यदि ईसवगोल छिलके के साथ एक चम्मच त्रिफला चूर्ण भी शामिल कर लिया जाये तो इन दोनों के गुणों में ही वृद्धि हो जाती है।

हरड़ में टैनिक अम्ल नामक एक पदार्थ होता है जो आमाशय की श्लेष्मिक कला पर श्लेष्मा ओर एल्ब्यूमिन को कोएगुलेट करके उसकी एक परत सी उस पर जमा देता है, जिससे श्लेष्मा को और क्षति पहुँचने से रक्षा होती है। यह टैनिक अम्ल आमाशय की श्लेष्मिक कला को संकुचित करके रक्त स्राव को भी रोक देता है। इस कार्य में आँवलों का

विटामिन सी भी इसकी सहायता करता है। हरड़ के दैनिक अम्ल से कई प्रकार के जीवाणु और जीस्ट प्रोसीपेट हो जाते हैं। इस तरह हरड़ एक जीवाणुनाशक की भूमिका भी निभा देती है। हरड़ में पेपेवरीन के समान शूल निवारक क्षमता भी मौजूद है। इस तरह ईसवगोल के साथ मिलकर त्रिफला चूर्ण आमाशय शोथ में शीघ्र लाभप्रद सिद्ध होता है।

**आमाशय शोथ के लिए आयुर्वेद की एक अनुभूत चिकित्सा इस प्रकार है-**

### आयुर्वेदिक चिकित्सा

- प्रवाल पंचामृत ३०० मि.ग्रा. अम्ल पित्तान्तक रस ५०० मि.ग्रा., सूत शेखर रस ५०० मि.ग्रा., लीला-विलास रस ५०० मि.ग्रा., मुक्ता शुक्ति रस ५०० मि.ग्रा. और सितोपलादी चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में लेकर उन्हें आपस में अच्छी तरह मिलाकर उसकी तीन मात्राएं तैयार कर लें। एक-एक मात्रा में दिन में तीर सुबह-दोपहर और रात्रि को एक ग्राम आंवला चूर्ण के साथ शहद में मिलाकर लें। तथा इसके ऊपर भूनिम्बादि क्वाथ २५ मि.ली. की मात्रा में सेवन करें।
- दिन में सुबह ८ बजे और शाम ४ बजे के आसपास नारिकेल खण्ड २० ग्राम की मात्रा में १०० मि.ली. दूध के साथ सेवन करायें।
- खाना खाने से १० मिनट पहले यवानी खाण्डव चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में मुँह में रखकर चाटें। खाना खाने के बाद दिन में दो बार अविपत्तिकर चूर्ण पानी के साथ सेवन करें।

रोगी को थोड़ी मात्रा में शीघ्र पचने वाले तरल भोजन सेवन करने चाहिए ताकि आमाशय में आहार का पाचन सुगमता से होता रहे। रोगी को पानी उबालकर ठण्डा करके पीना चाहिए। पानी की बजाय अर्क मकोय का सेवन अत्यंत गुणकारी सिद्ध होता है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

गलत ढंग से खान-पान करने से पेट में विजातीय पदार्थ एकत्रित होते रहने के कारण आमाशय की आंतरिक रचना में उत्पन्न सूजन को आमाशय शोथ कहते हैं। प्राकृतिक उपचार द्वारा इससे आसानी से छुटकारा पाया जा सकता है। यह प्रायः दो प्रकार से देखने को मिलती है। एक तीव्र आमाशय 'शोथ', दूसरा जीर्ण आमाशय शोथ। तीव्र आमाशय शोथ के रोगी को यदि मितली हो रही है और पेट में बेचैनी महसूस हो तो गुनगुना पानी पिलाकर कंजुल (उल्टी) क्रिया करायें इससे यदि पेट में अत्यधिक अम्लता हो रही होगी तो वो भी दूर हो जाती है। कुजल के बाद आवश्यकता होने पर गाय या बकरी का उबालकर ठंडा किया हुआ दूध घूंट-घूंट कर के पिलाना चाहिए। रोगी को पूर्णतया आराम करने दें। उल्टी बार-बार हो रही हो तो बर्फ का टुकड़ा चूसने के लिए दें। इसके पश्चात उदर पर रोंयेदार तौलिये से ३ मिनट गरम एवं २ मिनट ठंडा सेक क्रमशः ३ से ५ बार दें। तत्पश्चात पेट पर मिट्टी की ठण्डी पट्टी या बर्फ के पानी में निचोड़कर तौलिया रखें। ऐसा उपचार देने से रोगी को वमन एवं पेट दर्द में अत्यधिक आराम महसूस होता है। इस बीच रोगी की स्थिति देखकर नीम के पत्ते उबले हुए गुनगुने पानी से एनीमा लगा सकते हैं। एनीमा देने से आमाशय पर आंतरिक दबाव कम हो जाता है एवं वायु का निष्कासन होता है। दोपहर बाद रोगी को गुनगुने या ताजा पानी में १५ से २० मिनट तक कटि स्नान दें। कटि स्नान के बाद पेट पर ३० मिनट के लिए सूती-ऊनी लपेट बांधना चाहिए। रोग की तीव्रता कम होने के २-३ दिन बार सर्वांग मालिश, गरम पाद स्नान, भाप स्नान, धूपस्नान, गरम-ठंडा सेक, कटिस्नान इत्यादि उपचार देकर आमाशय में संचित विजातीय तत्वों को निकालने का उपक्रम करें।

जीर्ण आमाशय शोथ में भी सर्वप्रथम पेट पर ३ मिनट गरम, २ मिनट ठण्डा सेक देकर मिट्टी की पट्टी आधा घंटा रखे तत्पश्चात पेट की हल्की वैज्ञानिक मालिश देकर नीम के पत्ते उबले पानी का एनीमा दें। गरम-ठण्डा कटि स्नान या गरम-ठण्डा कम्प्रेश क्रमशः ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा इस प्रकार से ४ बार दें। इसके बाद पेट पर सूती-ऊनी लपेट बांधें। दिन में १ बार नीम के पानी में तौलिया भिगोकर निचोड़ने के बाद प्रत्येक अंग का घर्षण करते हुए स्पंज बाथ अवश्य देना चाहिए। इससे चमत्कारिक लाभ मिलता है। बाकी उपचार जैसे सर्वांग मालिश, गरमपाद स्नान, कटिस्नान, लपेट, भापस्नान, नीम पानी अथवा छाछ का एनीमा, मिट्टी-पट्टी, गरम-ठण्डा कम्प्रेश, ठण्डा स्पंज बाथ, सूर्य रश्चि स्नान इत्यादि



चिकित्सा रोगी की स्थिति को ध्यान में रखते हुए बदल-बदल कर देना चाहिए । रोगी यदि धीरज के साथ पूर्ण समर्पित भावनासे निसर्गोपचार लेता रहे तो १०-१५ दिन में ही चमत्कार होने लगता है।

### आहार चिकित्सा

तीव्र आमामशय शोथ में रोगी को खाने के लिए कुछ नहीं दें। कुछ भी आहार लेने से पेट दर्द एवं उल्टी में वृद्धि होने की पूर्ण संभावना रहती है। १२ घंटे तक केवल उबालकर ठंडा किया हुआ पानी थोड़ा-थोड़ा पियें। कुंजल कराने के बाद चौथाई कप ठंडा दूध पिलाकर विश्राम करायें । अत्यधिक वमन होने पर नींबू, पानी, पानी, शहद, चुटकी भर नमक का जीवन रक्षक घोल बनाकर घूंट-घूंट करके पियें एवं बर्फ का टुकड़ा चूसने के लिए दें। अत्यधिक अम्लता, उल्टी होने पर खट्टे फलों का रस और तीव्रता बढ़ा सकता है। अतः खट्टे फलों का रस नहीं दें बल्कि सब्जियों का सूप जैसे गाजर, खीरा, लौकी आदि और नारियल का पानी, ठंडा दूध इत्यादि देना चाहिए । रोगी की हालत में सुधार होने पर धीरे-धीरे अर्द्ध ठोस आहार जैसे दलिया, खिचड़ी, उबली हुई सब्जी, रोटी की पपड़ी, फल, सलाद इत्यादि प्रारंभ करें। बीच-बीच में १ दिन का उपवास करके आमामशय को विश्राम दें।

जीर्ण अमाशय शोथ के रोगी की स्थिति को देखते हुए सबसे पहले १-२ दिन पानी पर उपवास कराना बेहतर रहता है। रोगी दुर्बल या कमजोर है तो उसे ३-४ घंटे के अंदर से फलों व सब्जियों जैसे घीया, कद्दू, खीरा, अनार, सेव इत्यादि का रस दें। पत्तागोभी का रस ५० मिली. की मात्रा में दिन में २ बार अवश्य दें। धीरे-धीरे मट्ठा, नारियल पानी, परवल, टिण्डा, तुरई इत्यादि दें। ठोस आहार शुरू करने पर बिना मिर्च-मसाले की सब्जी, केला, उबली सेव, खिचड़ी, दलिया, सूप इत्यादि दें। रोगी आहार को अच्छी तरह भलीभांति चबा-बचा कर ग्रहण करे ताकि आमामशय की श्लेष्मल झिल्ली पर दबाव नहीं पड़े अन्यथा सूजन बढ़ सकती है। तले-भुने, मिर्च-मसालेदार आहार, परिशोधित, डिब्बाबंद आहार, पूड़ी, परांठे, उत्तेजक आहार, शराब, धूम्रपान, तम्बाकू, चाय, कॉफी , गरम भोजन इत्यादि का परित्याग कर दें।

धीरे-धीरे धैर्य रखते हुए उपचार लेने पर रोग पर शीघ्र ही काबू पा लिया जाता है।

## लघु आंत्रशोथ

### ¼ENTERITIS½

इस रोग में अन्तड़ियों की झिल्लियों (आवरण) में विभिन्न कारणों से शोथ उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण रोगी को अपने पेट में उदरशूल जैसा चीरता हुआ दर्द होने लगता और साथ में सफेद, पीले रंग के बदबूदार एवं कभी-कभी झागदार मल आने लग जाते हैं। जब अन्तड़ियों की श्लेष्मिक कला (म्यूकस मेम्ब्रेन) में खराश होने लग जाये तथा शोथ उत्पन्न हो जाये तो उसे श्लेष्मिक आंत्र शोथ या कटारहल इण्ट्राइटिस कहा जाता है।

#### लघु आंत्र शोथ के कारण

लघु आंत्र शोथ के प्रमुख कारण हैं- दूषित, गरिष्ठ एवं देर से पचने वाले खाद्य पदार्थों का अधिक तथा अनियमित सेवन, अन्तड़ियों का क्षय रोग, आंत्रिक ज्वर (टायफाइड ज्वर), न्यूमोनिया, डिफ्थीरिया, हैजा, पेचिश, यकृत की सूजन (अमीबा परजीवी के कारण), अन्तड़ियों पर चोट लग जाना और घाव बन जाना, आँतों में पित्त की अधिक मात्रा में रिसाव, आमाशय शोथ, पाचन दोष और अजीर्ण इत्यादि।

मानव की छोटी आंत्र की लंबाई लगभग २२ फीट होती है जो दूसरे कटि कशेरुक के दक्षिण और ग्रहणी मध्यांत्र बेक पर प्रारंभ होकर दक्षिण श्रोणि फलक खात में शेषांत्र में प्रविष्ट होकर समाप्त होती है। छोटी आंत्र का ऊपर का २/५ भाग मध्यांत्र तथा नीचे का ३/५ भाग शेषांत्र कहलाता है। साधारणतया मध्यांत्र की 'श्लेष्मा वलय शेषांत्र की वलयों से अधिक पूर्ण तथा संख्या में अधिक होती है जबकि शेषांत्र के निम्न भाग में इनका पूर्णतया अभाव होता है। ये लघु आंत्र में पचित आहार की प्रगति को रोकती है तथा आहार में मौजूद पोषक तत्वों के अवशोषण के लिए अधिक क्षेत्रफल निर्मित करती है।

छोटी आंत्र का विकास गर्भावस्था के पांचवें से दसवें सप्ताह के मध्य विशेष क्रम से होने लगता है। छोटी आंत्र का सबसे प्रमुख कार्य है अर्द्ध पचित आहार के कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन भाग संपूर्ण पाचन सम्पन्न करना तथा आहार में मौजूद विभिन्न पोषक तत्वों जैसे एमीनो एसिड (प्रोटीन), ग्लूकोज, फ्रक्टोज (कार्बोहाइड्रेट), वसा अम्लों, खनिज लवणों विटामिन्स आदि का अवशोषण करना। इसी कारण लघु आंत्र सम्बन्धी विभिन्न रोगों में रोगी को अतिसार, उदर में दर्द और उदर का फूलना या प्रसार, वनज में तेजी से गिरावट और रक्ताल्पता आदि जैसे कुछ प्रमुख लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं।

लघु आंत्र में सदैव ही अनेक प्रकार के जीवाणु मौजूद रहते हैं उनमें से कुछ प्रमुख जीवाणु हैं ऐस्कीरिया कोलाई, वात निरपेक्षी या अनाक्सी जीवाणु तथा स्ट्रिप्टोकोकस फीकेलिस, साल्मोनेला एवं पेचिश रोग कारक जीवाणुओं का समूह आदि। इनके अतिरिक्त कभी-कभी रोगोत्पादक फंगस (कवक) भी आंत्र में निवास करते हैं। आंत्र में मल के अधिक समय तक रुकने अथवा आंत्र अवरोध जनक दशाओं में, चाहे उनके पीछे कोई भी कारण क्यों न जिम्मेदार हो, इन दशाओं में इन जीवाणुओं की प्रबलता बढ़ती चली जाती है। अतः आंत्र की श्लेष्मा में इनके संक्रमण से शोथ उत्पन्न होने लग जाती है।

इनके अतिरिक्त आंत्र में अनेक बार क्षय रोग के जीवाणु माइक्रो वैक्टीरियम ट्यूबर क्लोसिस के संक्रमण से भी शोथ उत्पन्न हो जाती है। क्षय रोग के इन जीवाणुओं का संक्रमण दूषित दूध से या जीवाणु युक्त बलगम के निगल लिए जाने से होता है। इसी कारण यह रोग छोटी आयु के बच्चों तथा वृद्धों में ही अधिक होता है। छोटी आंत्र का यह चिरकालीन संक्रमण के रूप में प्रकट होता है। इन जीवाणुओं के संक्रमण के कारण आंत्र में प्रायः क्षयजन्य व्रण भी बन जाते हैं तथा उनके विरोहण से आंत्र उन स्थानों पर संकीर्ण हो जाती है। इनका प्रकटीकरण कभी-कभी तीव्र या चिरकालीन आंत्र अवरोध के लक्षणों के रूप में सामने आता है। इनके अतिरिक्त आंत्रावरोध के कारण कभी-कभी व्रण से आंत्र भित्ति में छेद भी बन जाता है। रोगी में आंत्र शोथ की एक गम्भीर अवस्था होती है।

क्षयजन्य आंत्र शोथ के रोगियों के पेट में गाठें भी बन जाती हैं तथा रोगी को अपने पेट में भारीपन सा महसूस होने लग जाता है। रोगी को आंत्र शोथ की इस अवस्था में अतिसार का रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त रक्ताल्पता, हृदय

की तीव्र थड़कन रात्रि के समय पसीने के साथ बेचैनी होना, रोगी के वजन का तेजी से गिरना तथा रोगी में भूख की कमी के लक्षण आदि सामान्य क्षयरोग जैसे हो सकते हैं।

छोटी आँत्र में आंत्रिक ज्वर (टायफायड ज्वर) के साल्मोनेला टायफी आदि जीवाणु के संक्रमण से भी आँत्र की श्लेष्मा में शोथ, व्रण तथा कभी-कभी छेद उत्पन्न हो जाते हैं तथा उनसे रक्तस्राव तक होने लग जाता है। आँत्र शोथ के रोगियों को पेट में तनाव के साथ दर्द, बेचैनी और अफारा के लक्षण तो कभी कब्ज या कभी अतिसार के लक्षण मिलते हैं। रोगी के रक्त में एक सप्ताह के बाद बढ़े हुए प्रतिपिंड (एण्टीबॉडीज) की उपस्थिति इस रोग को प्रमाणित करती है।

कभी-कभी कुछ रोगियों को किसी रोग के उपचार के दौरान कुछ विसृत क्षेत्र (स्पैक्ट्रम) की प्रतिजीवियों का सेवन दीर्घकाल तक करना पड़ता है। इससे आँत्र में रहने वाले हानिरहित व मित्र जीवाणु तो नष्ट या निर्बल हो जाते हैं किन्तु एक विशेष जीवाणु स्ट्रेफिलोकोकस में तीव्र प्रतिरोधी प्रकार की विकृति (रजिस्टेन्स) या आक्रमण की अति शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तब यह जीवाणु आँत्र श्लेष्मा पर आक्रमण करके उग्र प्रकार की आँत्र शोथ उत्पन्न कर देते हैं। जीवाणु का यह संक्रमण कई बार बहुत घातक सिद्ध होता है। रोगी में इससे अक्सर अतिसार, तीव्र जीव विषाक्ता (डोक्सिनिया) और ज्वर आदि के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

उपयुक्त कारणों से ही आँत्र केन्डीडियेसिस की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। आँत्र में मित्र जीवाणुओं के नष्ट या निर्बल हो जाने पर केन्डिडा का प्रकलन होकर वह रोगोत्पादक बन जाता है, जिससे एक प्रतिरोधक प्रकार की आँत्र शोथ उत्पन्न हो जाती है। इस कवक (फंगस) की तीव्रता इतनी घातक प्रकार की होती है कि इसके संक्रमण से पूति जीव रक्ताता (सेप्टीसीमिया) होकर रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।

उदर भित्ति में कई बार तीव्र प्रकार की चोट आदि लग जाने से भी छोटी आँत्र में क्षति हो जाती है जिससे कई बार आँत्र की भित्ति फट जाती है और इसमें शोथ उत्पन्न हो जाती है। कई बार इसमें जीवाणु संक्रमण से भी शोथ उत्पन्न हो जाती है।

छोटी आँत्र की शोथ सम्बन्धी दो और प्रमुख रोग हैं 'संग्रहणी (कॉयालिक) रोग तथा क्रोन रोग या प्रादेशिक शेषाँत्र शोथ (रिजनल इलाइटिस)। इनमें संग्रहणी रोग में तो आँत्र की श्लेष्मा किसी विशेष कारण से जैसे कि गेहूँ, जौ, राई आदि में मौजूद ग्लाइटिन नामक एक प्रोटीन खण्ड के कारण, असामान्य रूप ग्रहण कर लेती है, जिससे रोगी को बार-बार चिकनाई युक्त पीले रंग के झागदार और अधिक मात्रा में दस्त होने लग जाते हैं। साथ ही रोगी का वजन तेजी से गिरता चला जाता है।

यद्यपि क्रोन रोग का वास्तविक कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया है, पर रोग छोटी आँत्र के शेषाँत्र के अन्तिम भाग तथा अधाँत्र को आक्रांत कर देता है। वैसे यह रोग जठरांत्र नाल के अन्य किसी भी भाग में हो सकता है। इस रोग में आँत्र श्लेष्मा में एक कणिकार्बुदी क्षत (ग्रेनुलोमेटस व्रण) बन जाता है, जिससे अन्तर्पर्युदर्या (इन्टरा पेरीटोनियम) में आँत्र शोथ उत्पन्न हो जाती है या फिर यह व्रण बढ़कर आँत्र अवरोध का कारण बनता है। यह रोग कुछ-कुछ आँत्र क्षय रोग से मिलता-जुलता है। यह रोग प्रायः २० से ४० वर्ष के लोगों को ही अपना शिकार बनाता है तथा पुरुषों में स्त्रियों की तुलना में ज्यादा देखने में आता है।

क्रोन रोग के सामान्यतः चार रूप देखने में आते हैं। यद्यपि ये सभी रूप एक एक दूसरे के साथ मिश्रित होकर ही प्रकट होते हैं। जैसे कि -

- इस रोग के तीव्र शोथ युक्त रूप में तीव्र आँत्रपुच्छ शोथ के समान लक्षण प्रकट होते हैं। यथा दक्षिण श्रोणि फलक क्षेत्र में वेदना, वमन और ज्वर आदि। रक्त में श्वेत रक्त कणिकाओं की संख्या में वृद्धि पायी जाती है। इस रूप में कभी-कभी घाव भी बन जाते हैं या दक्षिण श्रोणि फलक घात में एक पिंड बन कर उभर आता है।
- क्षोभजनक रूप में आँत्र श्लेष्मा में व्रणों की उत्पत्ति के साथ अतिसार के तीव्र लक्षण प्रकट होते हैं।
- अवरोधक रूप में आँत्र अवरोध के समान तीव्र या चिरकालीन लक्षण और चिन्ह रोगी में मिलते हैं।

- क्रोन रोग का चौथा रूप नाल व्रणोत्पादक रूप (फिशुअला टाइप) में होता है जो प्रायः उदर या आँत्रपुच्छ शोथ की 'शल्य कर्म करने के बाद ही उत्पन्न होता है।

आँत्र शोथ की तरह क्रोन रोग की दशा में भी अक्सर आँत्र से आहार के अंशों का अवशोषण प्रभावित हो जाता है, जिससे मल अधिक मात्रा में बनने लग जाता है, तथा रोगी में प्रायः अतिसार जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं। मल पतला होता है और उसमें कभी-कभी कुछ मात्रा में रक्त, आँव या म्यूकस भी उपस्थित रहते हैं। रोगी कुपोषित व उसका वजन तेजी से गिरता चला जाता है तथा उसमें मंद ज्वर, रक्ताल्पता, अंगुलियों में कड़ापन, जीभ लाल व शोथ युक्त तथा सन्धि शोथ जैसे लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं।

इस रोग का निदान बेरियम आहार परीक्षण से किया जा सकता है, जिसमें शेषाँत्र का अन्तिम भाग संकुचित अनम्य डोरी के समान दिखता है। अधाँत्र और वृहत् आँत्र के प्रभावित होने पर उसकी आकृति भी ऐसी ही दिखती है।

### लघु आँत्र शोथ के सामान्य लक्षण

जब अन्तड़ियों की श्लेष्मिक कला में शोथ आ जाती है या घाव बन जाते हैं तो रोगी को पाचन संबंधी कई रोग हो जाते हैं। सफेद, पीले, हरे रंग के चिकनाई वाले मल आने लग जाते हैं। इसके साथ ही श्लेष्मा में खराश की तीव्रता के कारण पेट में उदरशूल जैसा चीरता हुआ दर्द होने लग जाता है। रोग अधिक तीव्र होने पर रोगी को ज्वर भी हो सकता है। जीभ शुष्क, लाल, प्यास की अधिकता, वमन, मितली आदि लक्षण भी उत्पन्न होने लग जाते हैं। नाभि के आस-पास दर्द, जो दबाने पर बढ़ता है। यदि किसी कारण से आँत्र के समस्त आवरण में ही शोथ उत्पन्न हो जाये तो उस समय भी तीव्र दर्द के साथ शेष सभी लक्षण पाये जाते हैं। यदि रोग अत्यधिक भयानक रूप धारण कर ले तो अत्यंत कमजोरी के रूप में रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। यदि ग्रहणी (ड्यूडेनल) में शोथ उत्पन्न हो जाये तो पित्त प्रणाली का द्वार बंद हो जाने से पीलिया जैसे लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं। कानी अन्तड़ी या उसके आसपास शोथ उत्पन्न हो जाने से दर्द जांघ के जोड़ को दबाने के समय होता है और कई बार उस स्थान पर सूजन भी आ जाती है।

अन्य प्रकार के उदर शूल में रोगी को ज्वर नहीं होता, पर आँत्र शोथ के रोगी को ज्वर हो जाता है। पर्युदर्या शोथ के रोगी अपनी टांगों को कष्ट के कारण सिकोड़ कर पेट की तरफ मोड़ लेता है तथा पेट को छूने पर सख्त दर्द बताता है। सांस लेने पर पेट में कष्ट होने के कारण रोगी अपने पेट को हिलने तक नहीं देता, किन्तु अन्तड़ियों की शोथ में ऐसा नहीं करता ।

### लघु आँत्र शोथ की चिकित्सा

लघु आँत्र में शोथ उत्पन्न होने के पीछे विविध कारण और विविध प्रकार के जीवाणुओं की प्रमुख भूमिका होती है। अतः जीवाणु संक्रमण के अनुसार ही उसकी चिकित्सा की जाये। यदि आँत्र शोथ का कारण क्षय संक्रमण हो तो उसकी चिकित्सा सामान्य क्षय चिकित्सा के अनुसार की जाये। क्षय रोग की चिकित्सा के लिए आज कई प्रकार की अति प्रभावशाली क्षयरोग नाशक औषधियाँ उपलब्ध हैं। इन औषधियों का दो या तीन समूहों का एक साथ रोगी को प्रयोग कराया जाये। क्षयनाशक औषधियों के उपयोग से प्रथम सप्ताह के अंत से ही रोगी में आशानुकूल परिणाम नजर आने लग जाते हैं। उसके पेट का दर्द घट जाता है, अतिसारों की आवृत्ति समाप्त हो जाती है, रोगी की भूख सामान्य होने लगती है, और उसका वजन बढ़ने लग जाता है। रोगी को क्षयनाशक औषधियों का सेवन आवश्यक ,निर्धारित समय तक कराया जाये।

यदि छोटी आँत्र में शोथ का कारण आंत्रिक ज्वर का संक्रमण है तो उसकी चिकित्सा उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियों के साथ की जाये। प्रतिजीवी औषधियों के अतिरिक्त यदि रोग में भयानक रक्ताल्पता के लक्षण भी मौजूद हों, तो सामान्य बलवर्द्धक आयोजनों जैसे रक्ताधान या रक्त प्लाज्मा रोगी को चढ़ाया जाये। प्रतिजीवी औषधियों में आज क्लोरेम्फेनिकोल, सिप्रोफ्लोक्ससिन, पेफ्लोक्ससिन आदि प्रभावशाली औषधियाँ उपलब्ध हैं। यदि रोगी की अवस्था जटिल हो तो उपरोक्त औषधियाँ प्रारंभ में उपयुक्त मात्रा में आन्त्रेतर मार्ग (शिरा द्वारा) से दी जाये और ७ से १० दिनों तक रोग के अनुसार सेवन करायी जाये। उपरोक्त चिकित्सा से २-३ दिनों में ही रोगी की स्थिति में काफी सुधार आ जाता है, ज्वर समाप्त होकर पेट का तनाव दर्द पूरी तरह समाप्त हो जाता है। इनके अतिरिक्त अतिसार में भी लाभ आ जाता है।

लघु आँत्र के अन्य संक्रमणजन्य शोथ में भी उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग कराया जाता है, किन्तु रोगी को समय-बेसमय अनावश्यक प्रतिजीवियों के सेवन से बचना चाहिए, क्योंकि इनके सेवन से रोगी को किसी प्रकार का लाभ होने की बजाय रोग को जटिल रूप ग्रहण करने में मदद मिलती है और आँत्र में पाये जाने वाले रोग कारक जीवाणुओं में प्रतिजीवी औषधियों के विरुद्ध प्रतिरोधी शक्ति (रजिस्टेन्ट) पैदा करने का अवसर मिलता है।

संग्रहणी, क्रोन रोग व प्रादेशिक शेषाँत्र शोथ के रोगियों में कुछ विशेष प्रकार के प्रोटीन पदार्थों रहित आहार खाने के लिए देने से रोग की स्थिति में तेजी से सुधार होता है जैसे ग्लूटेन रहित आहार दें। गेहूँ, जो आदि के आटे में ग्लूटेन नामक प्रोटीन का काफी अंश मौजूद रहता है, अतः रोगी को इस प्रकार के आटे की रोटियां न देकर पुराने चावल की खिचड़ी खाने को दें। कई रोगियों में इन रोगों का कारण दूध, मछली, माँस का सेवन होता है और जब इन भोज्य पदार्थों को रोगी के आहार से निकाल दिया जाता है तब रोग के कई लक्षण स्वतः ही कमजोर पड़ जाते हैं।

इन रोगियों को इनके अतिरिक्त अल्प अवशेषी आहार (कम फाइबर्स रेशे वाले खाद्य पदार्थ) सेवन के लिए दिये जायें तथा विटामिनों और लौह खनिज वाली औषधियों का सेवन कराया जाये। कुछ रोगियों में कोर्टिको स्टीरायड्स औषधियों के उपयोग से भी शीघ्र लाभ होते देखा गया है।

आयुर्वेदिक उपचार के रूप में उपरोक्त रोगों वाले रोगियों को दिन में २-३ खाना खाने के बाद हिंगावाष्टक चूर्ण या पंचसकार चूर्ण २-३ ग्राम की मात्रा थोड़े से गुनगुने पानी के साथ दें ताकि खाया गया आहार भली प्रकार पच जाये। दस्तों की तीव्रता को रोकने के लिए चित्रकादि वटी २ से ३ गोлияं दिन में २ या ३ बार या पंचामृत पर्यटी २५० से ४०० मि. ग्रा. की मात्रा में भुने हुए जीरे के चूर्ण के साथ, शहद में मिलाकर चटायें। रोगी की कमजोरी और रक्ताल्पता को दूर करने के लिए लोह भस्म १२५ से २५० मि.ग्रा. की मात्रा में ४० ग्राम च्चनप्राश में मिलाकर खिलायें तथा भोजनोपरांत लौहासव दो चम्मच की मात्रा दो चम्मच पानी मिला कर दें।

रोगी को इनके अतिरिक्त कच्चे बेल फल का मज्जा, चूर्ण, धनिया और ईसबगोल का छिलका, बराबर-बराबर मात्रा में मिलाकर तथा उसमें स्वाद अनुसार मिश्री चूर्ण मिलाकर ५-६ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार गुनगुने पानी के साथ दें। इस चूर्ण से रोगी को १-२ दिनों में ही चमत्कारिक लाभ होगा।

## रोगी का आहार

लघु आँत्र शोथ के रोगियों में उपरोक्त औषधीय उपचार के अतिरिक्त अपने आहार पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। रोग के उपचार के प्रारंभ में रोगी को ठोस आहार के स्थान पर तरल आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए। रोगी दिन भर में ८-१० गिलास निंबू पानी और शहद की शिकंजी, नारियल का पानी, मक्खन रहित ताजा दही की पतली लस्सी थोड़ा सा काला नमक और भुना जीरा डालकर, दाल या चने का पानी, दूध को नींबू के रस के फाड़ कर उसका पानी, फलों में विशेषकर अनार, सन्तरा, मौसमी और अंगूर का रस, हरी सब्जियां विशेषकर गाजर, टामटर, तरबूज और गन्ने का रस ले सकता है। इनके अतिरिक्त भूख की स्थिति सुधरने पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिन में ३-४ बार अर्द्ध ठोस आहार जैसे दही के साथ पुराने चावल, दलिया, साबूदानेकी खीर, कस्टर, उबली हुई सब्जियां और उनका सूप, छिलका रहित फल या फलों को थोड़ी देर पानी में उबाल कर, चनों का सूप और संकुचित अनाज पानी में उबाल कर व स्वाद अनुसार नींबू, नमक डाल कर ले सकता है। इस प्रकार के सुपाच्य आहार से आँतों को आहार के पाचन में कम श्रम करना पड़ता है तथा उत्तेजित पदार्थों से भी उनकी रक्षा हो जाती है। रोगी को ठोस आहार तथा अम्लकारक पदार्थों से कुछ दिन तक पूर्ण परहेज रखना चाहिए।

यदि रोगी दिन में दो बार मक्खन रहित दही की लस्सी में १-२ पके केले मसल कर और उसमें एक-एक चम्मच शहद तथा ईसबगोल का छिलका और आधा चम्मच कच्चे बेल फल का बारीक चूर्ण मिला कर सेवन करे तो उससे उसकी आहार की पूर्ति भी हो जाती है तथा आँत्र भित्तियों की उत्तेजना भी शांत हो जाती है। इसके साथ-साथ क्षाराभ पदार्थों से आँत्र की श्लेष्मा की सुरक्षा भी हो जाती है जिससे आँत्र भित्तियों को अपनी पुनः सामान्य अवस्था ग्रहण करने का सुअवसर मिल जाता है।

ऑत्र शोथ के रोगियों के लिए पके बेल फल का शर्बत, अनार का रस भी बहुत लाभकारी सिद्ध होता है। यदि अनार का रस उपलब्ध न हो अथवा सामर्थ्य से बाहर की बात हो तो अनार की ताजा कोमल पत्तियां पानी में उबाल कर या पीस कर निचोड़ कर स्वाद अनुसार थोड़ा सा काला नमक और भुना जीरा अथवा शहद मिला कर पिया जा सकता है। अनार और बेल फल में पाचक और आवश्यक पोषक तत्व तो मौजूद रहते ही हैं जो शरीर में पहुँच कर तुरंत शक्ति प्रदान करते हैं, इसके अतिरिक्त इनमें जीवाणु नाशक और ऑत्र भित्ति रक्षक गुण भी हैं। ये ऑत्र की श्लेष्मा भित्ति पर एक परत सी बना कर उसकी उत्तेजना घटाते हैं तथा और अधिक होने से उसकी रक्षा करते हैं।

भारत में प्रत्येक वर्ष विशेषकर गर्मी और वर्षा के मौसम में १५ से २० लाख लोग ऑत्र शोथ (इन्टीरो गैस्ट्रीटाइटिस) से प्रभावित होते हैं और उनमें से २०-२२ हजार लोग अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं। इसी वर्ष ऑत्र शोथ के कारण अकेले आसाम में २५०० हजार, बिहार में ३२००, राजस्थान में १७०० और पंजाब में ६३२ लोग भयानक रूप में रोगग्रस्त हुए। अतः संक्रमण वाले क्षेत्र में रहने वाले निवासियों को इस रोग से बचने के लिए सभी पर्याप्त उपाय अपनाने चाहिए। यथा संक्रमण काल में पानी उबाल कर ठंडा कर व छान कर पियें। बाजार की कोई भी ऐसी चीज खरीद कर न खायें जो मक्खी, मच्छर आदि कीटों के सीधे सम्पर्क में आती हो। खाना भी सदैव ताजा और गर्म-गर्म खाया जाये तथा खाद्य पदार्थों को सदैव ढक कर रखा जाये। सब्जियों को भी उबाल कर खायें। फलों और सब्जियों को सीधे या सलाद के रूप में खाने के लिए पहले उन्हें स्वच्छ पानी से धो लें और फिर पानी में ५ ÷ पोटेशियम परमैंगनेट का घोल बना कर सब्जियों और फलों को ५-७ मिनट उसमें रख दें और उस घोल में से निकाल कर उन्हें एक बार पुनः स्वच्छ पानी से धो लें। तब प्रयोग में लायें।

**नोट:** लघु ऑत्र शोथ एवं वृहत् ऑत्र शोथ दोनों के उत्पन्न होने के कारण एक समान हैं। अतः लघु ऑत्र शोथ की प्राकृतिक एवं आहार चिकित्सा वृहत् ऑत्र शोथ में देखें।

## वृहत आंत्रशोथ

### ¼COLITIS½

जब वृहत आंत्र की श्लेष्मिक कला में विभिन्न कारणों से शोथ उत्पन्न हो जाती है तो वह वृहत आंत्र शोथ के नाम से जानी जाती है। इसमें भी छोटी आंत्र शोथ के समान ही अतिसार, कभी-कभी रक्तितम अतिसार, उदर शूल या उदर में तनाव, ज्वर जैसे लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। बार-बार, अधिक मात्रा में मल करते रहने के कारण रोगी में शीघ्र कृपोषितजन्य विकारों के समान अत्यधिक शारीरिक कमजोरी, थकावट, वजन का तेजी से कम होते जाना और रक्ताल्पता जैसे लक्षण उसमें प्रकट होने लग जाते हैं।

वृहत आंत्र की पांच विशिष्ट संक्रमणजन्य शोथ विकार की अवस्थाएं तो बहुत ही विचारणीय हैं। इनमें से दो प्रमुख संक्रमण हैं- क्षय (ट्यूबरकुलोसिस) और अमीबा परजीवीजन्य अमीबिकता (अमीबायसिस), जो गर्म, उष्ण कटिबन्धीय देशों जैसे भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, नेपाल तथा अफ्रीका आदि देशों में तो बहुत ही सामान्य है। इनके अतिरिक्त एक एक्टिनोमाइकोसिस है, जो अधिकांशतः अधांत्र तक ही सीमित रहता है। क्रोन रोग वैसे तो लघु आंत्र का रोग है, किन्तु यह छोटी आंत्र के अतिरिक्त आंत्र के किसी भी भाग को प्रभावित कर सकता है। वृहत आंत्र से सम्बन्धित एक प्रमुख शोथजन्य रोग है सव्रण वृहदांत्र शोथ (अल्सरेटिव कोलाइटिस), जबकि कभी-कभी मलाशय की लसिका कणिका गुल्म (लिम्फो-ग्रेन्यूलोमा) नामक एक रोग भी वृहत आंत्र में देखा जाता है जो ऊपर से अवग्रह वृहदांत्र तक फैल सकता है।

### वृहत आंत्र शोथ के कारण

वृहत आंत्र शोथ के लगभग वे ही प्रमुख कारण होते हैं जिन कारणों से छोटी आंत्र में शोथ उत्पन्न होती है जैसे कि उत्तेजक और क्षोभक पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करना, भारी, गरष्ट भोजनों का लगातार सेवन, वृहत आंत्र की श्लेष्मा पर क्षय, अमीबा तथा कुछ विशेष प्रकार के जीवाणुओं का संक्रमण, आंत्र के किसी प्रकार से चोट आदि लग जाना तथा वृहत आंत्र का विशेष निरीक्षण (वृहदांत्रदर्शी, सिग्मोइडोस्कोपी यंत्र द्वारा निरीक्षण) करते समय मलाशय मार्ग का संक्रमित हो जाना अथवा उसमें घाव बन जाना।

मानव वृहत आंत्र की लंबाई ५ फीट के लगभग होती है और वह अधांत्र से प्रारंभ होकर, उदर के परिसर पर होती है, किन्तु बाह्य अनुदैर्ध्यपेशी स्तर तीन बंधों में सिमट गया है जिन्हें टीनिया कहा जाता है। ये लंबाई में आंत्र की अपेक्षा छोटी होती है जिससे वृहत आंत्र में सिकुड़ने बन कर कोष्ठिकायें बन जाती हैं। यह वृहत आंत्र की विशेष पहचान है। वृहत आंत्र में रक्त दक्षिण, मध्य और वाम वृहत आंत्र धमनियों से आता है। दक्षिण और वाम वृहदांत्र धमनियां उर्ध्व आंत्र योजनी धमनी की शाखायें हैं और वाम, अधोआंत्र योजनी धमनी की।

वृहत आंत्र के दो प्रमुख कार्य और क्रियायें हैं- आंत्र में मौजूद अन्तर्वस्तु (मल) के तरल अंश (पानी) का अवशोषण कर मल को अर्द्धठोस रूप देना तथा अपने में विद्यमान कुछ मित्र जीवाणुओं की सहायता से विटामिन 'के' और विटामिन 'बी' समूह के कुछ सदस्यों का निर्माण करना। वृहत आंत्र में छोटी आंत्र के विपरीत पुरःसरण गति की बजाय समूह गति होती है जिससे अन्तड़ियों का मल मलाशय की तरफ धकेलता रहता है।

वृहत आंत्र में छोटी आंत्र की अपेक्षा अधिक प्रकार के जीवाणुओं की कॉलोनियां निवास करती हैं और उन जीवाणुओं की प्रकृति भी अधिक प्रबल तथा भयानक होती है। ऐस्करीया कोलाई रस समूह का अत्यंत विशिष्ट जीवाणु है। वृहत आंत्र में पूयोत्पादक कोकाई और वात निरपेक्षी जीवाणु भी काफी संख्या में मौजूद रहते हैं। वृहत आंत्र में इन जीवाणुओं के द्वारा आहार के कुछ पदार्थों का किण्वन (फरमेंटेशन) की क्रिया से विटामिन 'के' और विटामिन 'बी' समूह का निर्माण होता है। यह जीवाणु कई बार असामान्य व्यवहार करते हुए वृहत आंत्र श्लेष्मा में शोथ भी उत्पन्न कर डालते हैं।

इनके अतिरिक्त अमीबा परजीवी (एण्टामीबा हिस्टोलिटिका) वृहत आंत्र में पहुँचकर वृहत आंत्र शोथ उत्पन्न कर देता है। यह शोथ अधान्त्र से लेकर मलाशय तक कहीं भी हो सकती है, तो भी यह वृहत आंत्र के प्रथम भाग में ही अधिक होती है। अमीबा द्वारा वृहत आंत्र श्लेष्मा में उत्पन्न की गई शोथ के कारण रोगी को पेचिश हो जाती है अर्थात् उसे

बार-बार मल त्याग, मल के साथ रक्त मिश्रित होकर आना, मल त्याग के समय पेट में मरोड़ या उदर शूल होना आदि लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। इसके साथ ही मल में प्रायः एण्टामीबा हिस्टोलिटिका की उपस्थिति भी पायी जाती है। रोगी में तीव्र प्रकार के अतिसार का लंबा इतिवृत्त इस रोग के निदान में मदद करता है।

वृहद आँत्र में शोथ का एक अन्य प्रमुख कारण है क्षय रोग के जीवाणु का संक्रमण। वृहत आँत्र में यह कहीं भी शोथ उत्पन्न कर सकता है तो भी इसका आधांत्र पर अधिक प्रभाव होता है। क्षय जीवाणु के आँत्र की अधो श्लेष्मिक ओर अधोसीरीय स्तरों से प्रसार कर जाने से उनमें विक्षति के पृष्ठ या पर्व बन जाते हैं और समीपस्थ शेषाँत्र भी उससे आक्रांत हो जाती है। क्षय रोग का यह जीवाणु वृहत आँत्र तक दूषित आहार के माध्यम से तथा कुछ रोगियों में अन्यत्र से रक्त संचारण द्वारा वृहत आँत्र तक पहुँच जाता है। यह रोग २० से ४० वर्ष की आयु की स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है।

क्षय रोग जन्य आँत्र शोथ में भी क्षय रोग के समान ही लक्षण प्रमुख रूपमें पाये जाते हैं यथा-ज्वर, शरीर भार में तेजी से गिरावट, भूख का समाप्त हो जाना, रक्ताल्पता इत्यादि। इनके अतिरिक्त आँत्रजन्य क्षय रोग में कभी-कभी क्षयजन्य जीव विषरक्ता तथा आँत्रावरोध के लक्षण भी पाये जाते हैं। शेषाँत्र अधांत्र क्षयजन्य अवरोध का सर्वप्रथम लक्षण यही है कि भोजन करने के पश्चात रोगी को दक्षिण श्रोणि फलक क्षेत्र में बेचैनी प्रतीत होने लगती है, जबकि अवरोध के और अधिक बढ़ जाने पर उस क्षेत्र में तीव्र प्रकार की वेदना का आक्रमण शुरू हो जाता है तथा दर्द के स्थान पर हाथ के स्पर्श करने पर सूजन प्रतीत होती है।

वृहत आँत्र का एक्टिनोमाइकोसिस नामक रोग किरण कवक (रे. फांगस) स्ट्रिप्टोथ्रिक्स के संक्रमण के कारण होता है। इन जीवाणुओं के संक्रमण का सर्वप्रिय स्थान वृहत आँत्र का अधांत्र है। यद्यपि इसके अतिरिक्त यह रोग अधांत्र के प्रथम भाग में ही अधिक होता है, किन्तु वह अधांत्र की भित्तियों को पार करके दक्षिण श्रोणि फलक क्षेत्र के सब ऊतकों को आक्रांत कर सकता है तथा वहाँ एक संयुक्त पिंड या बन सकता है जो कुछ समयोपरांत नरम होकर त्वचा पर छिद्रों द्वारा नालव्रण के रूप में फूट निकलता है।

छोटी आँत्र (शेषाँत्र) के समान ही क्रोन रोग भी वृहत आँत्र को आक्रांत करके क्रोन रोग के लक्षण पैदा कर देता है।

पेचिश, क्षयजन्य आँत्र शोथ के अतिरिक्त वृहत आँत्र का एक अन्य प्रमुख रोग है- सव्रण वृहदाँत्र शाय (अल्सेरेटिव कोलाइटिस) नामक एक संक्रमणहीन रोग। यह रोग भारत में भी असाधारण रूप में देखा जाता है। यह रोग प्रायः २० से ४० वर्ष की आयु के व्यक्तियों को अधिक पीड़ित करता है। इस रोग में आँत्र की श्लेष्मा में शोथ और व्रण (घाव) उत्पन्न हो जाते हैं।

अल्सेरेटिव कोलाइटिस नामक इस रोग के वास्तविक कारण तो अभी तक ज्ञात नहीं किया जा सके हैं, परन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस रोग में आँत्र की भित्ति किसी विशेष खाद्य पदार्थ या जीवाणुओं के प्रति अति संवेदनशील बन जाती है, क्योंकि कुछ रोगियों में ऐसा देखा गया है कि दूध या किसी विशेष खाद्य पदार्थ का सेवन बंद करा देने पर अल्सेरेटिव कोलाइटिस के कारण उत्पन्न हुए अतिसार में आराम आ जाता है। इस रोग से एक साथ परिवार के अन्य सदस्य भी प्रभावित हो सकते हैं। कुछ विशेषज्ञों का ऐसा भी विश्वास है कि यह रोग मनोकायिक (साइको सोमेटिक) विकार है तथा रोगी की मनोस्थिति में सुधार आते ही रोग की अवस्था में सुधार आने लग जाता है।

इस रोग आक्रमण प्रायः तीव्र रूप में होता है, किन्तु उसके बाद रोग की तीव्रता कुछ धीमी पड़ जाती है या फिर कभी रोग के लक्षण प्रकट या शांत होने का क्रम चलता रहता है। रोग के प्रमुख लक्षण हैं तीव्र प्रवाहिका (डायरिया), रक्त मिश्रित या कभी-कभी म्यूकस या आँव मिश्रित मल आने, मल त्याग के समय में थोड़ा-बहुत दर्द, यद्यपि कभी-कभी तीव्र उदरशूल तथा ज्वर भी हो सकता है। जबकि रोग की तीव्र अवस्था में जीव विषरक्ता के लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं तथा रोगी में निर्जलीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। पेट के स्थान पर स्पर्श करने पर कड़ापन तथा दबाने पर दर्द महसूस होता है। यद्यपि साधारणतया यह रोग वृहदाँत्र में ही होता है पर उससे मलाशय तक आक्रांत हो सकता है जिससे



मलाशय के बाहर व उसके आसपास पूयभवन (जख्म) होने लगता है। तीव्र अवस्था में प्रायः ३० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु तक हो जाती है।

चिरकालीन रोग की दशा में अल्सरेटिव कोलाइटिस के उपद्रवों में आँत्र भित्ति में छेद और उसकी पर्युदर्याशोथ, नाल व्रणों की उत्पत्ति, अवरोध, सन्धि शोथ, आइरिस शोथ तथा वृहत् आँत्र का कैंसर तक हो सकता है।

वृहत् आँत्र की एक अन्य दशा है जिससे वृहत् आँत्र की श्लेष्मा में शोथ या श्लेष्मिक कला में छोटी-छोटी थैलियाँ बन कर वृहत् आँत्र की भित्ति के पेशी स्तर में होकर बाहर निकल आती है। वैसे तो यह रोग जठर आँत्र के किसी भी भाग में हो सकता है पर मुख्यतः यह रोग वृहत् आँत्र को ही ज्यादा आक्रांत करता है। यह रोग शाकाहारियों की अपेक्षा माँसाहारियों को विशेषकर मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि को अधिक आक्रान्त रहता है तथा स्थूलकाय पुरुषों को ५०-६० वर्ष की आयु में होता है।

इस रोग की दशा से पूर्व प्रायः कोष्ठबद्धता (कब्ज) का इतिहास रोगी में मिलता है। इस रोग के अपने कोई लक्षण नहीं होते किन्तु शोथ के कारण रोगी में अनिश्चित बेचैनी तथा वाम श्रोणि फलक क्षेत्र में तीव्र शूलवत् वेदना का कुछ समय अन्तराल से आक्रमण होता रहता है, जबकि रोगी में कभी-कभी रक्त स्त्राव के लक्षण भी मिल सकते हैं।

### वृहत् आँत्र शोथ के संयुक्त लक्षण

वृहत् आँत्र शोथ का सबसे प्रमुख तो यही है कि उसमें रक्त मिश्रित या बिना रक्त मिले, म्यूकस (आँव) और पस (मवाद, पूय) युक्त अतिसार के समान मल आने लग जाते हैं। लेकिन रोग के लक्षणों की तीव्रता के आधार पर इस रोग को मृदु, मध्यम एवं तीव्र तीन रूपों में विभाजित किया गया है। रोगी की 'मृदु' अवस्था में रोगी को दिन में कम से कम ४ बार शौच के लिए जाना पड़ता है और उसका मल रक्त मिश्रित या बिना रक्त मिश्रित हो सकता है, परन्तु मृदु अतिसार के अतिरिक्त रोगी में अन्य कोई शारीरिक लक्षण नहीं होता। रक्त परीक्षण में उसके रक्त का ई.एस.आर. भी सामान्य मिलता है। रोग की मध्यम अवस्था में मृदु एवं तीव्र के बीच की स्थिति रहती है जबकि रोग की 'तीव्र' अवस्था में रोगी को दिन भर में ६ से १० रक्त मिश्रित, म्यूकस व पस युक्त अथवा बिना रक्त मिश्रित शौच आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त रोगी में अनेक शारीरिक लक्षण जैसे ज्वर, नाड़ी की गति तीव्र, रक्ताल्पता (रक्त का हीमोग्लोबिन स्तर कम) हाइपो एल्ब्यूमीनिया आदि भी उपस्थित रहते हैं। इनके अतिरिक्त रोगी में अरुचि, मितली आना, शरीर का वजन तेजी से गिरना, रात्रि को पसीना आना, पेट में तनाव, अस्थि सन्धियों में अकड़ाव और पीलिया जैसे लक्षण हो सकते हैं। रोगी के रक्त परीक्षण में ई.एस.आर. और क्रीयक्टिव प्रोटीन का स्तर बढ़ा हुआ मिल सकता है। कई बार रोगी की इस रोग में मलाशय और गुदा तक आक्रान्त हो जाती है तब अतिसार की बजाय कब्ज या मल त्याग करने के बाद भी पुनः मल त्याग करने की इच्छा होती रहना, आँव और पूय युक्त मल तथा मल के साथ ताजा रक्त आने लगता है।

### वृहत् आँत्र शोथ की चिकित्सा

संक्रमणजन्य वृहत् आँत्र शोथ की चिकित्सा जैसे कि क्षय व अन्य रोग कारक जीवाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न शोथ की चिकित्सा, लघु आँत्र शोथ की चिकित्सा के समान ही है। अतः इस चिकित्सा उपक्रम को वहाँ पर ही देख लेना चाहिए।

वृहत् आँत्र शोथ का एक प्रमुख कारण है पेचिश कारक एण्टामीबा हिस्टोलिटिका नामक अमीबा परजीवी। आधुनिक चिकित्सा में अमीबाजन्य वृहत् आँत्र शोथ में परजीवी को मारने के लिए मेट्रोनायडाजोल, टिनिडाजोल, पैरोनोमाइसिन तथा सेनिडाजोल आदि औषधियों का प्रयोग कराया जाता है। इन औषधियों का ७ से १० दिन का कोर्स है, पर इन सभी औषधियों के कई घातक दुष्प्रभाव भी होते हैं।

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली में इस रोग के लिए निम्न औषधियोग निर्मित करके दिया जा सकता है-

कुटज की छाल, अतीस, कच्चे बेल फल का मज्जा, नागरमोथा और सुगन्धबाला सभी समान मात्रा में लेकर उन्हें मोटा कूट कर रख लें। इस चूर्ण में १०-१२ ग्राम चूर्ण लेकर दो कप पानी में रात्रि के समय भिगो दें और प्रातःकाल उस

पानी को आग पर उबाल लें। जब यह पानी उबलते-उबलते एक-चौथाई रह जाये तो आग से उतार कर छान लें तथा दो मात्रा में बांट कर सुबह-शाम रोगियों को पिलाते रहें। इससे अमीबा परजीवियों का स्थायी रूप में नाश हो जाता है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य आयुर्वेदिक योग इस प्रकार है- नागरमोथा, कुटज की छाल, कच्चे बेल फल का मज्जा, मोचरस, धाय के फूल और लोध्र। इन सबको बराबर मात्राओं में लेकर उनका महीन चूर्ण बना लें तथा कपड़े से दो बार छान कर शीशी में भर कर रख लें। इस चूर्ण में से २ से ४ ग्राम चूर्ण दिन में तीन बार पानी के साथ सेवन करते रहें। इस चूर्ण से सभी प्रकार की आंत्र शोथजन्य अतिसार एवं प्रवाहिका में आराम आ जाता है।

सत्रण वृहदांत्र शोथ (अल्सरेटिव कोलाइटिस) में भी आयुर्वेद के उपरोक्त दोनों योगों का उपयोग किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त तीव्र अतिसारों के कारण शरीर में पानी की मात्रा घट जाने पर एनीमा द्वारा मोचरस का क्वाथ रोगी को दिया जाता है। इसके लिए १० ग्राम मोचरस चूर्ण को ४०० मिली. पानी में भिगोकर और ३ घंटे बाद धीमी आग पर २०-२५ मिनट तक उबाल कर और छानकर व ठंडा करके दिया जाता है। इसके साथ यदि रोगी को शतावरी सिद्ध क्षीर भी दी जाये तो अप्रत्याशित लाभ होता है।

उदर चिकित्सा में समस्त प्रकार के अतिसार, प्रवाहिका, अम्लपित्त, आमशयिक व्रण आदि के लिए निम्न योग भी तैयार करके दिया जाता है। यह भी अति प्रभावशाली योग है- इसमें भुनी हुई छोटी हरड़ १०० ग्राम, भुना हुआ जीरा १०० ग्राम, ईसबगोल का छिलका १०० ग्राम, कच्चे बेल फल का मज्जा २०० ग्राम, आँवला १५० ग्राम, काला नमक ५० ग्राम, सौंफ १०० ग्राम और खाने वाला सोडा १०० ग्राम लिया जाता है। सोडा को छोड़कर शेष औषधियों को पीस कर बारीक चूर्ण बना लिया जाता है तथा बाद में उसमें सोडा भी मिला दिया जाता है।

इस चूर्ण का १ से २ चम्मच की मात्रा में दिन में दो बार पानी के साथ सेवन कराया जाता है।

#### आहार :

अल्सरेटिव कोलाइटिस तथा अन्य आंत्र शोथों की अवस्था में हरी सब्जियां तथा स्टार्च व सेल्यूलोज वाले खाद्य पदार्थों का सेवन अस्थायी रूप में बंद करना पड़ता है। क्योंकि सेल्यूलोज और रेशे आंतों को उत्तेजित कर बार-बार मल प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करते हैं। गेहूँ के चोकर सहित आटे में भी सेल्यूलोज काफी मात्रा में मौजूद रहता है। पुराने चावल में सेल्यूलोज की मात्रा बहुत कम रहती है, अतः चावल और दही मिलाकर खाये जा सकते हैं। अनार का रस भी पिया जा सकता है अथवा अनार के रस स्थान पर अनार के १५ कोमल, ताजा पत्तों का रस एक गिलास पानी में मिलाकर दिन में दो-तीन बार तक पिया जा सकता है। अन्य आहार सम्बन्धी जानकारी लघु आंत्र शोथ में देख सकते हैं।

#### प्राकृतिक चिकित्सा

लघु आंत्र शोथ एवं वृहद आंत्र शोथ दोनों के ही उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं, अनेक भेद है परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा क्रम दोनों के लिए एक जैसा ही है। क्योंकि इस रोग में आंतें बीमार होती हैं जिनका कि मुख्य कार्य आहार को आगे सरकाना, अवचूषण करना, पाचन करना है। इन कार्यों में व्यवधान पड़ने से दोनों आंत्र बीमार हो जाती हैं। सर्वप्रथम रोगी को पेट पर ३ मिनट गरम एवं २ मिनट ठंडा सेक २० मिनट तक दें। तत्पश्चात् नीम के पत्ते उबले पानी या छाछ का एनीमा डेढ़ लीटर की मात्रा में दें। अगर शरीर में पानी और इलेक्ट्रोलाइट्स की कमी हो गई है तो जीवनरक्षक घोल (उबालकर ठंडा किया हुआ पानी + नींबू का रस + चुटकी भर नमक + २ चम्मच शहद) का एनीमा दिया जा सकता है। दस्त जाकर आने के १५ मिनट बाद रोगी को घुटने व छाती के बल लिटाकर २०० मि.ली. द्रव का दूसरा एनीमा लगायें और थोड़ा विश्राम कराना चाहिए। ४० मिनट बाद ठंडा कटि स्नान दें। रोगी की हालत के अनुसार गरम-ठंडा कटि स्नान या गरम-ठंडा कम्प्रेस भी देना लाभदायक होता है। गरम-ठंडा कटिस्नान ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा क्रमानुसार ४-५ बार करें। गरम-ठंडा कम्प्रेस आंत्रशोथ में सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसकी विधि पीलिया-कामला प्रकरण में देखें। गरम-ठंडा सेक देने के बाद १० इंच चौड़ी, ६ फीट लम्बी छिद्रवाली सूती लपेट ठण्डे पानी में भिगो, निचोड़कर पेट पर लपेट दें। इसके ऊपर उसी अनुपात की ठण्डी लपेट बांधें। प्रातः काल ठंडा कटिस्नान देने से भी आंतों को नवजीवन प्राप्त होता है। आंत्र शोथ में मिट्टी की पट्टी दिन में ३ बार देना लाभप्रद है सुबह, दोपहर के भोजन से ३ घंटे बाद एवं रात्रि को सोने से पहले ३०

मिनट तक मिट्टी की पट्टी नाभि के नीचे पेट पर रखनी चाहिए। रोगी की हालत के अनुसार हल्का वाष्प स्नान, गीली चादर लपेट, धूपस्नान आदि उपचार भी बदल-बदलकर दिए जा सकते हैं।

### आहार चिकित्सा

आंत्र शोथ के रोगी को रेशे वाले खाद्य आहार नहीं दें। ३०० ग्राम लौकी या सेव को उबालकर नाश्ते में देना चाहिए। नींबू एवं दही-छाछ कुछ रोगियों के लिए प्रतिकूल सिद्ध होते हैं। अतः माफिक होने पर इनका सेवन करा सकते हैं।

दोपहर के भोजन में मोटे आटे की मोटी १ से २ चपाती, तुरई, लौकी की उबली सब्जी, ताजा दही या छाछ दें। शाम को ४-५ बजे गाजर, लौकी, आंवला, चुकन्दर का रस निकाल कर पियें। रात्रि में उबली सेव या पका हुआ केला ३०० ग्राम तक देना चाहिए। धीरे-धीरे रोगी का स्वास्थ्य पुनः लौटने लगता है और आंत्रशोथ से उत्पन्न हुई पाचन की कमी व आवचूषण क्रिया की कमी दूर होने लगती है तथा आंतें सामान्य अवस्था में आ जाती हैं।

### आंतों की दुर्बलता

अन्तड़ियों से सम्बन्धित अनेक कष्टप्रद रोग हैं, जिनमें आंत की श्लेष्मिक कला की शोथ (इन्ट्राइटिस), आंत्रावरोध, ब्रणज आंत्र शोथ (अल्सरेटिव कोलाइटिस), आंत्रपुच्छ शोथ, आंत्र पक्षाघात, डाइवरटिकूल रोग, आंत्र वृद्धि (हर्निया), आंत्र का कैंसर और आंत्र दुर्बलता आदि कुछ विशेष हैं। इनमें भी अन्तड़ियों की दुर्बलता एक ऐसा रोग है, जिसका कुप्रभाव रोगी के समस्त शरीर पर पड़ता है यद्यपि रोग के लक्षणों की शुरुआत आहार का भली प्रकार से पाचन न हो पाने, आहार में उपस्थित पोषक तत्वों का आंत्र में सही प्रकार से अवशोषण न हो पाने, पेट में मध्यम से लेकर तीव्र दर्द तथा आंत्र में मल के आगे बढ़ने की गति धीमी हो जाने से सख्त कब्ज आदि लक्षणों से ही होती है। जिनके कारण अन्त में अन्य शारीरिक अंग भी विकार ग्रस्त हो जाते हैं। रोगी में रक्ताल्पता, चेहरे का पीला पड़ जाना, वजन में तेजी से गिरावट, यकृत, हृदय और वृक्क आदि सम्बन्धी रोगों के लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं। आंत्र की दुर्बलता वाले रोगियों में मुँह और आमाशय में तो आहार का पाचन कुछ हद तक ठीक रूप से हो सकता है। किन्तु जैसे ही यह अर्द्धपचा आहार आमाशय के जठर निर्गम से गुजर कर ग्रहणी (आंत्र का प्रथम भाग) में प्रवेश कर जाता है, वहाँ वैसे ही काफी समय तक पड़ा रहता है, उसमें मौजूद पोषक तत्वों का अवशोषण भी आंत्र भित्तियाँ नहीं कर पाती हैं। परिणामस्वरूप कई बार रोगी को जी मिचलाना और वमन की शिकायत भी शुरू हो जाती है। आंतों की पुरःसरण गति भी मध्यम पड़ जाती है, जिससे अर्द्धपाचक मल भी आंत्र में बड़ी धीमी गति से आगे बढ़ पाता है। उसके पेट में गैस तक बनने लग जाती है तथा कभी-कभी आंत्र में ऐंठन युक्त दर्द भी होने लग जाता है। आंत्र दुर्बलता के अधिकतर रोगियों में गम्भीर कब्ज की शिकायत सदैव ही मिलती है।

### आंत्र दुर्बलता के कारण

आंत्र दुर्बलता के प्रमुख कारण हैं- चोट, आघात और कई प्रकार के विषाक्त रसायनों के कारण आंत्र को रक्त की आपूर्ति करने वाली रक्त वाहिनियों में रक्त परिसंचरण की क्रिया का धीमा पड़ जाना अथवा उनमें से किसी का भी अवरुद्ध हो जाना। इसके कारण आंत्र के उस भाग में या तो रक्त की आपूर्ति घट जाती है या फिर बिलकुल ही बंद हो जाती है, जिससे आंत्र में आवश्यक पोषक तत्व पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाते, परिणामस्वरूप आंत्र की उस भाग की कोशिकाएं अपना सामान्य काम-काज जारी नहीं रख पाती और तंत्रिकाओं में भी विकृति होकर उस भाग में दुर्बलता आने लग जाती है।

आंत्र दुर्बलता के इनके अतिरिक्त भी बहुत सारे कारण हैं जैसे हृदय, यकृत व अग्न्याशय के रोग, मस्तिष्कीय विकार, रक्ताल्पता, आहार में आवश्यक पोषक तत्वों के अभाव से शरीर में उत्पन्न हुई इनकी कमी इत्यादि। इन सभी कारणों के विस्तार में जाने से पूर्व आंत्र की संरचना और कार्य प्रणाली का अध्ययन कर लेना ज्यादा अच्छा है।

### आंत्र की संरचना

सम्पूर्ण आँत्र संस्थान को उसके आकार, संरचना और कार्य के आधार पर दो भागों में बांटा गया है- छोटी आँत्र (स्माल इन्टेस्टाइन) और बड़ी आँत्र (लार्ज इन्टेस्टाइन)।

**१) छोटी आँत्र :** छोटी आँत आमाशय के जठर निर्गम द्वार (पाइलोरस) से आरंभ होकर बड़ी आँत्र (कोलन) के पाट (कॉलिक वाल्व) पर जाकर समाप्त होती है। इसकी कुल लंबाई ७.६ मीटर (२५ फीट) के लगभग होती है। आँत्र की यह लंबाई और उसका विशाल सतही (भित्तीय) क्षेत्रफल आहार को भली प्रकार से पचने व उसके पोषक तत्वों को आँत्र में अवशोषित हो जाने के लिए पर्याप्त सहायता करता है। छोटी आँत्र भी तीन भागों में बटी होती है। ग्रहणी, मध्यांत्र और शेषांत्र ।

**(अ) ग्रहणी (ड्यूडेनम):** यह छोटी आँत्र का सबसे चौड़ा और प्रथम भाग है जो आमाशय के जठर निर्गम द्वार से जुड़ा रहता है। इस भाग की लंबाई २२.५ से.मी. के आस-पास होती है। छोटी आँत्र के इस भाग में ही अग्न्याशय और पित्त प्रणाली की वाहिनी आकर खुलती है जिससे कि उनका अग्न्याशय रस और पित्त आकर भोजन में मिल सके।

**(ब) मध्यांत्र (जेजुनम) :** छोटी आँत्र का यह भाग ग्रहणी से शुरू होकर शेषांत्र के मध्य स्थित होता है, इसकी शुरुआत कमर के दूसरे कशेरुका के बायीं ओर से होती है। यह मध्यांत्र से अधिक मोटी, अधिक लाल रंग की व अधिक कोशिका युक्त होती है। इसकी कुल लंबाई २२.५ से.मी. से २७० से.मी. के लगभग होती है जो अधिकांशतः नाभि के चारों ओर ही स्थित रहती है तथा आँत्र बन्धनों (लिगामेन्ट) के सहारे टिकी रहती है।

**(स) शेषांत्र (इलियम) :** यह छोटी आँत्र का सबसे पिछला, सबसे पतला तथा संकीर्ण भाग है। यह लच्छों और गुठलियों के आकार के रूप में होती है तथा मध्यांत्रावरण (यह पेरिटोनियम के एक बड़े पंखे के आकार की दोहरी भित्ति) के सहारे पेट की पिछली दीवार से चिपकी रहती है। इसी कारण यह स्वतंत्रता पूर्वक गति कर सकती है।

सम्पूर्ण छोटी आँत्र की संरचना में भी आमाशय के समान ही चार पर्तें होती हैं। परन्तु भीतरी पर्त में एक विशेष रचना और होती है, जिसमें विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियाँ और बाल के समान तंतुओं की भांति उभार के अंकुर (टपससप) पाये जाते हैं। इनमें से हर एक तंतु में छोटी बंद शोषक नली होती है, जिसके द्वारा शोषित पोषक रस लसिका वाहिनी में पहुँचता है। अंकुरों की संख्या ग्रहणी और मध्यांत्र में कम तथा शेषांत्र (२० से ४० प्रति वर्ग से.मी) में अधिक रहती है, क्योंकि प्रथम दो भागों में आहार के पाचन का और शेषांत्र में अवशोषण का कार्य मुख्य रूप से होता है।

**२) बड़ी आँत्र :** बड़ी आँत्र शेषांत्र से आरंभ होकर गुदा पर जाकर समाप्त होती है। इसकी कुल लंबाई ५ फीट से अधिक होती है। यह छोटी आँत्र की तुलना में बहुत अधिक मोटी और झालरदार होती है। यह उदर गुहा में दक्षिण वंक्षणोन्तरिक प्रदेश से शुरू होकर बायें चक्र से छोटी आँत्र का चक्कर लगाकर पुनः बायें वंक्षणोन्तरिक प्रदेश में पहुँच जाती है तथा फिर वहाँ से चक्कर के रूप में पीछे मध्य रेखा पर सीधे उतरती है और मेरुदण्ड के सामने धनुष के समान टेढ़ी मलाशय और गुदा नलिका में बदल जाती है। इसकी संरचना की छोटी आँत्र के समान ही होती है किन्तु बड़ी आँत्र की भित्ति में अंकुरिकाओं का पूर्ण अभाव होता है। अधिकांशतः पेशीमयी स्तरें तीन पतली पट्टियों के समान होते हैं जिनसे बड़ी आँत्र के छोटे-छोटे अंश थैलियों के रूप में आपस में गुथे रहते हैं। बड़ी आँत्र को भी रचना और कार्य के आधार पर छः भागों में बांटा गया है - उण्डुक (सीकम), आरोही बड़ी आँत्र (एसेण्डिंग कोलन), अनुप्रस्थ बड़ी आँत्र (ट्रांसवर्स कोलन), अवरोही बड़ी आँत्र (डेसेण्डिंग कोलन) कुण्डलिका (सिगम्बाइड फ्लेक्सर) और मलाशय गुदा नलिका (रेक्टम)।

उण्डुक बड़ी आँत्र का चौड़ी थैली के आकार का ५ से.मी. लंबा सबसे पहले का भाग है। इसमें संदेश कपाटिकायें (इलियो कैसल वाल्व) होते हैं, जो मल को पुनः विपरीत दिशा में जाने से रोकते हैं। उण्डुक के निचले भाग में ही एक अन्य रचना जुड़ी रहती है, जिसे आँत्रपुच्छ (एपेन्डिक्स) के नाम से जाना जाता है। उण्डुक से बड़ी आँत्र का सबसे मोटा भाग शुरू होता है जिसे आरोही बड़ी आँत्र कहा जाता है, क्योंकि बड़ी आँत्र का यह भाग नीचे से ऊपर की ओर जाता है। जब आँत्र का यह भाग नाभि के ऊपर और आमाशय के नीचे पहुँचकर धनुष की तरह कुछ टेढ़ा सा रूप ले लेता है तब इसे अनुप्रस्थ बड़ी आँत्र कहा जाने लगता है। अनुप्रस्थ आकार बनाने के बाद बड़ी आँत्र पुनः नीचे की ओर जाने लगती है तथा कुण्डलिका पर समाप्त हो जाती है। जब आँत्र नीचे का रूप लेती है तब अवरोही बड़ी आँत्र का नाम दिया जाता है।

कुण्डलिका बड़ी आँत्र का शेष भाग है, जो कुण्डल के आकार का रूप लेकर अधिवस्तिक प्रदेश (हायपोगेस्ट्रिक रीजन) में गुदा नलिका से जुड़ जाता है।

मलाशय या गुदा नलिका बड़ी आँत्र का अन्तिम भाग है। इसकी लंबाई २२.५ से.मी. के लगभग होती है। इसके सामने पुरुषों में मूत्राशय तथा स्त्रियों में गर्भाशय एवं योनि स्थित होते हैं। गुदा द्वार अधर मलाशय का सबसे नीचे का भाग है। यह अनुत्रिकास्थि के सामने दोनों नितम्बों के मध्य स्थित रहता है।

बड़ी आँत्र की संरचना भी चार पतों से ही होती है। माँसपेशी से निर्मित पत में भी वर्तुल और उर्ध्वस्थ दो रूप वाले तंतु होते हैं। इन्हीं तंतुओं के कारण आँत्र में कीड़ों की चाल के समान या फिर कहें कि पानी में उत्पन्न तरंगों के समान गति होती रहती है, जिसे पुरःसरण गति कहते हैं। इसी गति द्वारा खाये गये आहार का पाचन, अवशोषण और उसके मल भाग का आगे सरकने का कार्य सम्पादित होता रहता है। क्योंकि बड़ी आँत्र में भी पानी व छोटी आँत्र में शोषण से बच गये पोषक तत्वों का अवशोषण तथा मल का संग्रह होता रहता है।

### आँत्र का कार्य

आँत्र तंत्र के मुख्यतः तीन कार्य हैं, आमाशय से प्राप्त किये आहार का पाचन करना, पाचन से उत्पन्न हुए सूक्ष्म कणों के रूप में पोषक तत्वों का अवशोषण करना तथा आहार के शेष बचे भाग को मल के रूप में पहले मलाशय में इकट्ठे करते रहना एवं निश्चित समय अन्तराल से मल विसर्जन के रूप में शरीर से बाहर निकालना। इसे और अधिक स्पष्ट करने के प्रयास किया जा रहा है-

**१) पाचन का कार्य :** आँत्र की श्लेष्मिक कला के अंकुरों के मध्य स्थित विशेष प्रकार की ग्रन्थियों से आँत्र का पाचक रस उत्पन्न होता है। इस पाचक रस में मुख्यतः निम्न एन्जाइमस उपस्थित रहते हैं- (१) एन्ट्रोकाइनेस एन्जाइम- यह निष्क्रिय ट्रिप्सीनोजन तथा काइमोट्रिप्सीनोजन को सक्रिय ट्रिप्सीन तथा काइमोट्रिप्सीन में परिवर्तित कर देता है। (२) डाई पेप्टीडेसिस और पेप्टीडेसिस (३) लायपेज (४) सूकरेज (५) माल्टेज (६) लैक्टोज (७) एमायलेज तथा (८) कालेसिस्टोकीनिन जो केवल उर्ध्व आँत्र में ही उत्पन्न होता है।

जैसे ही अर्द्ध पचा आहार आमाशय से ग्रहणी में प्रवेश करता है, छोटी आँत्र की श्लेष्मिक कला से एन्ट्रोक्रोनीन हार्मोन का स्राव होने लग जाता है, जिसके उद्दीपन से आँत्र की ग्रन्थियों से आँत्र के पाचक रस का उत्सर्जन आरंभ हो जाता है। भोजन में मौजूद कुछ पोषक रस का उत्सर्जन आरंभ हो जाता है। भोजन में मौजूद कुछ पोषक तत्वों की प्रेरणा से भी आँत्र से इनका स्राव होने लग जाता है। अतः आहार में पोषक तत्वों के अभाव से भी आँत्र के पाचक रस का पर्याप्त मात्रा में स्राव नहीं हो पाता। आँत्र के पाचक रस में मौजूद डाई पेप्टीडेसिस और पेप्टीडेसिस एन्जाइम जटिल प्रोटीन कणों को सूक्ष्म एमीनो अम्लों में परिवर्तित कर देते हैं। जबकि लाइपेज वसा को वसा अम्लों और ग्लिसरॉल में बदल कर वसा के पाचन की क्रिया को सम्पन्न करता है। लायपेज, सूकरेज, माल्टेज, लैक्टोज और एमायलेज आदि एन्जाइमस कार्बोहाइड्रेट्स को सूक्ष्म मोनासैकेराइड्स अर्थात् ग्लूकोज, माल्टोज, लैक्टोज आदि कणों में बदलकर उसके पाचन की क्रिया को सम्पूर्ण करते हैं। आँत्र के पाचक रस के इस कार्य में अग्नयाशय के एन्जाइम काफी सहायता करते हैं।

**२) अवशोषित का कार्य :** आहार के पचने के उपरांत जो पोषक तत्व सूक्ष्म रूप में पैदा होते हैं, जैसे ग्लूकोज, एमीनो अम्लों, वसा अम्लों, ग्लिसरॉल आदि, उन्हें आँत्र भित्तियां अपने अंकुरों द्वारा अवशोषित कर लेती हैं तथा उन्हें रक्त संचार लसिका स्राव में छोड़ती रहती हैं। वसा अम्ल तथा ग्लिसरॉल के कारण लसिका स्राव दूधिया रंग का हो जाता है, जिन का बाद में लैक्टोल्स द्वारा अवशोषण कर लिया जाता है। विटामिन, खनिज लवण तथा पानी व अन्य औषधि आदि तत्वों को भी आंतों के अंकुरों द्वारा ग्लूकोज, एमीनो अम्ल आदि के साथ ही अवशोषित कर लिया जाता है। अवशोषण का यह क्षेत्र शरीर की त्वचा के कुल क्षेत्रफल से भी पांच गुना अधिक होता है।

अवशोषण का यह कार्य काफी हद तक छोटी आँत्र में ही सम्पन्न हो जाता है, परन्तु बड़ी आँत्र में पानी व फॉलिक एसिड आदि धीरे-धीरे अवशोषण का कार्य जारी रहता है।

आँत्र अवशोषण के इस कार्य में यकृत में उत्पन्न पित्त भी उनकी मदद करता है। पित्त ग्रहणी में पहुँचकर वसा का इमल्शन बनाता है, जिससे उसका सूक्ष्म कणों में विघटन हो सके। इसी कारण छोटी आँत्र में पित्त की सहायता से वसा में घुलनशील कई विटामिन्स (विटामिन ए, विटामिन डी, विटामिन ई, विटामिन के) और स्वयं वसा का अवशोषण हो पाता है। पित्त मृदु विरेचक का कार्य भी करता है, जिससे मल विसर्जन का कार्य सुगम बनता है।

**३) मल त्याग का कार्य :** छोटी आँत्र में मुख्यतः तीन प्रकार की गतियाँ पुरः सरण, खण्डांशीय तथा झूलन प्रकार की गतियाँ होती रहती है, जिनमें झूलन और खण्डांशीय गतियाँ स्थानीय रूप में ही होती हैं और आहार में पाचक रसों को भली प्रकार से मिलाने तथा अवशोषण के कार्य में ही सहायता करती हैं जबकि पुरःसरण गति मल को आँत्र में आगे की तरफ धकेलती है। छोटी आँत्र के विपरीत बड़ी आँत्र में पुरःसरण गति नहीं होती, बल्कि इसके स्थान पर पर्याप्त समय के बाद बड़ी आँत्र के अनुप्रस्थ भाग में पुरःसरण की एक तीव्र तरंग सी उठती है जो अनुप्रस्थ के मल को बड़ी आँत्र के अवरोही तथा कुण्डलिका भाग में धकेल देती है। इस क्रिया को सामूहिक गति कहते हैं। यह आमाशय में भोजन के प्रवेश करने के उपरांत, आमाशय बड़ी आँत्र प्रतिवर्त के कारण उत्पन्न होती है। यह गति कुण्डलिका भाग के मल को खाली मलाशय में पहुँचा देती है जिससे मलाशय की तंत्रिका तंत्र उद्दीप्त हो उठते हैं। साथ ही उदर भित्तियों का संकुचन तथा डायफ्राम के नीचे की तरफ आने से उदरगत दबाव में वृद्धि होती है। इससे मल विसर्जन की क्रिया सम्पन्न होती है।

## रोगोत्पत्ति

आँत्र को तीन प्रकार की रक्त धमनियाँ रक्त की आपूर्ति करती हैं, जिनमें सबसे मुख्य है अपर आँत्र योजनी धमनी (नचमतपवत डमेमदजंतल)। अन्य दोनों रक्त धमनियाँ इसकी सहायता के लिए होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि किसी कारण से एकाएक या धीरे-धीरे इस धमनी में रुकावट उत्पन्न होने लग जाये तो आँत्र को रक्ती की आपूर्ति घटने लग जाती है। आँत्र की यही स्थिति आँत्र से वापिस रक्त ले जाने वाली शिराओं में अवरोध आ जाने से भी हो सकती है। अपर आँत्र योजनी धमनी में अवरोध उत्पन्न होने के कई कारण हो सकते हैं जैसे कि उसके अन्दर रक्त का जम जाना, धमनियों की भित्ति के मोटा हो जाने से रक्त संचार प्रवाह कम हो जाना, रक्त से सम्बन्धित कई प्रकार के रोग, जिसमें सबसे प्रमुख हैं- शरीर में रक्त की कमी (रक्ताल्पता), मौखिक गर्भ निरोधक औषधियाँ और अन्तः शल्यता। अधिकांशतः आँत्र में रक्ताल्पता की स्थिति बुढ़ापे के दौरान या हृदय सम्बन्धी कारणों से भी हो सकती है। शरीर में कई प्रकार के पोषक तत्वों के अभाव के कारण भी ऐसा हो सकता है या इनके कारण हृदय, यकृत, वृक्क आदि अंग पहले प्रभावित होकर आँत्र सम्बन्धी यह रोग उत्पन्न कर सकते हैं। पेट पर लगी कई प्रकार की चोटें और विभिन्न विषाक्त रसायन व औषधियाँ भी अपने प्रभाव के कारण इस प्रकार की समस्या को जन्म दे सकती हैं। मस्तिष्क व स्नायु सम्बन्धी विकार भी इनके लिए जिम्मेदार हो सकते हैं, जिनके कारण आँत्र सम्बन्धी कोई गति धीमी पड़ जाती हो अथवा उसकी गति पूर्णतः अवरुद्ध हो जाए। ऐसा एक साथ कई गतियों के ऊपर भी हो सकता है।

रक्त संचार की आपूर्ति घट जाने के कारण आँत्र कोशिकाओं को आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति घट जाती है जिससे उनकी कार्यक्षमता प्रभावित होती है और फिर आँत्र पाचन, अवशोषण या मल विसर्जन (मल को आँत्र के आगे धकेलने) के कार्य को भली प्रकार से अंजाम नहीं दे पाती है। दूसरी तरफ आँत्र को रक्त आपूर्ति पूरी तरह बंद हो जाने पर आँत्र के उस भाग की कोशिकाएं रक्ताभाव के कारण नष्ट भी होने लग जाती हैं, जिसके कारण उन स्थानों पर जखम तक बन सकते हैं और उनसे रक्त स्राव हो सकता है।

## रोग के लक्षण

आँत्र की निर्बलता के कारण खाये हुए आहार का न तो ठीक प्रकार से पाचन हो पाता है और न ही उसमें मौजूद पोषक तत्वों का अवशोषण होता है। जबकि खाया हुआ आहार अर्द्धपचित अवस्था में धीरे-धीरे मलाशय और बड़ी आँत्र में ही इकट्ठा होता चला जाता है। इससे आँतें और पेट भारी होने लग जाते हैं। आँतों में ऐंठन होने के कारण दर्द भी होने लग जाता है। पेट में पड़े-पड़े आहार के सड़ने से गैस भी उत्पन्न होने लग जाती है, जो पेट में ही भरकर अफारा जैसी स्थिति उत्पन्न कर सकती है। आँतों के मल से भर जाने व उसके आँत्र में सामान्य गति से आगे न सरकने से वह

वापिस आमाशय पर दबाव बनाने लग जाता है, जिससे मितली के साथ रोगी को वमन शुरू हो सकती है। रोगी की भूख भी समाप्त हो जाती है।

शरीर में पोषक तत्वों की आपूर्ति रुक जाने से उनका अभाव शुरू हो जाता है और फिर उनसे लक्षण भी उत्पन्न होने लगते हैं। शरीर में रक्त की कमी होने लग जाती है। शरीर कमजोर होता चला जाता है और वजन तेजी से घटने लगता है। चेहरा पीला और आँखें अन्दर धंसने लगती हैं, ऐसी अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है जैसा कि रोगी कुपोषण का शिकार है। आँत्र दुर्बलता का एक प्रमुख लक्षण है कि रोगी को सख्त कब्ज की शिकायत हो जाती है तथा उसे कई-कई दिन तक मल त्याग की इच्छा तक उत्पन्न नहीं होती। मल अन्तड़ियों में पड़ा-पड़ा खुश्क होकर अत्यंत सख्त रूप ले लेता है। इसी कारण जब विशेष प्रयास से रोगी को मल विसर्जन कराया जाता है, स्थानीय रूप में एनीमा आदि लगाकर, तो मल के द्वारा उसका गुदा छिन्न होता है और उसे अत्यंत पीड़ा का सामना करना पड़ता है। गुदा छिन्न होने से रक्त स्राव हो सकता है। इस कारण वहाँ न ठीक होने वाले घाव तक बन सकते हैं।

### रोग की चिकित्सा

आँत्र निर्बलता रोगी की चिकित्सा का सम्पूर्ण रहस्य रोग के वास्तविक कारणों का पता लगाकर उसके अनुसार चिकित्सा व्यवस्था पर निर्भर करता है, क्योंकि रोग का जो भी कारण है जब तक उसका निदान नहीं किया जायेगा तब तक चिकित्सा संदिग्ध ही रहेगी। स्नायु तंत्र को शक्ति देने के लिए भरपूर मात्रा में विटामिन 'बी' समूह और विटामिन 'सी' दी जा सकती है। कई बार इनके प्रयोग से रोगी का अप्रत्याशित लाभ भी हो जाता है।

लेकिन आँत्र निर्बलता रोग में आहार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। अतः आहार ऐसा सुपाच्य होना चाहिए कि उसका आमाशय या ग्रहणी तक ही पाचन सम्पन्न हो जाये और वह शरीर के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्वों की पूर्ति भी करता रहे क्योंकि आँत्र में न तो आहार का पाचन ही संभव है और न अवशोषण ही। एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जब तक कब्ज समस्या का हल न हो जाये तब तक आहार में ऐसे खाद्य पदार्थों की मात्रा कम से कम रहे जो पाचन उपरांत मल का भाग बनते हैं। आहार में वसा का भाग न्यूनतम रखा जाए, किन्तु शरीर के लिए आवश्यक सम्पूर्ण कैलोरीयुक्त आहार, सभी आवश्यक और पर्याप्त मात्रा में विटामिन व खनिज लवण मौजूद होने चाहिए।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि आँत्र निर्बलता के रोगी का आहार अधिकतम तरल पेय के रूप में ही होना चाहिए तथा थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिनभर में कई भागों में बाँटकर देना चाहिए, जिससे कि उसके अधिकतम अंश का पालन और अवशोषण मध्यांत्र तक ही सम्पन्न हो जाए। एक साथ अधिक मात्रा में तरल देने से वह शीघ्र ही आमाशय से निकलकर ग्रहणी में प्रवेश कर जाता है तथा आँत्र की अवशोषण गति धीमी होने के कारण मध्यांत्र से आगे तक बढ़ सकता है अथवा आँत्र पर अतिरिक्त दबाव डालकर कष्टों की तीव्रता को पुनः जन्म दे सकता है अथवा आँत्र से वापिस आमाशय में आकर वमन के रूप में वापिस निकल सकता है।

रोगी दिन भर में कई बार फलों के जूस जैसे कि अनार, संतरा, अंगूर, सब्जियों का रस यथा गाजर, टमाटर, पत्तागोभी, चुकंदर आदि ले सकता है। इसके अतिरिक्त नींबू शिकंजी, थोड़ी मात्रा में कई बार दूध भी पी सकता है। जौ, दाल विशेषकर सोयाबीन और मूँग की तथा पेठा का पानी पी सकता है। दिन में कई बार छिला हुआ सेवा या सेब का मुरब्बा, आँवले का मुरब्बा भी ले सकता है। प्रोटीन की पूर्ति के लिए सोयाबीन दाल को पीसकर पानी में उबालकर और छानकर पिया जा सकता है अथवा पाउडर के रूप में प्रोटीन ली जा सकती है।

इस प्रकार के आहार सेवन से शरीर को आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति होती रहती है। तथा शरीर का वजन और अधिक गिरने से रुक जाता है एवं रोगी अपने शरीर में पुनः ताकत महसूस करने लग जाता है।

### प्राकृतिक उपचार

गलत खान-पान से धीरे-धीरे आंतों की प्राकृतिक सर्पिल गति कमजोर हो जाती है। उसकी अवचूषण क्रिया एवं आहार पचान की क्षमता कम होने लगती है। कई रोगों में भी आंतें दुर्बल हो जाती हैं जैसे टाइफाइड, तीव्र पेचिश, आंत्र कृमि, विष सेवन आदि।

प्राकृतिक उपचार में सर्वप्रथम पेट पर ठण्डी मिट्टी पट्टी रखें। इससे आंतों में रक्त संचार तीव्र होता है और विजातीय तत्वों को मिट्टी सोखती है। यदि कब्ज हो तो गरम-ठण्डा सेक देकर एनीमा लगायें। एनीम द्रव में नीम पत्तों का उबला पानी या छाछ काम में लें। तत्पश्चात् गरम-ठण्डा कटि स्नान ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा क्रम से ५ बार लेना चाहिए। कटिस्नान के बाद सूखा घर्षण स्नान देकर उदर एवं कमर पर ठण्डी लपेट बांधें। दोपहर बार में पेट व सिर पर मिट्टी की पट्टी रखें। आंतों (पेट) पर गरम-ठंडा कम्प्रेश (पूर्वोक्त विधि के अनुसार) दें या स्थानीय वाष्प देकर लपेट बांधें। रात्रि के उपचार में प्रतिदिन ठण्डी लपेट १ घंटे तक बांधें। यह उपचार कम से कम १० दिन तक लें। इसके बाद अन्य अंगों के द्वारा शरीर में संचित दूषित तत्वों को बाहर निकालने के लिए गरम उपचार जैसे- धूपस्नान, वाष्पस्नान, गरम पैर स्नान भी दें। साथ में गीली चादर लपेट, रीढ़ स्नान, कटि स्नान, लपेट, सेक इत्यादि बदल-बदल कर देना चाहिए।

### आहार चिकित्सा

प्रारंभ में १-२ दिन पानी या नींबू, पानी, शहद पर उपवास करायें। ४ दिन तक संतरा या कोई भी फल का रस लेकर उपवास करें। रस की मात्रा २००-३०० मिली. दिन में चार बार लें। रोग मुक्ति के लिए दूध कल्प अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है। ५ वें दिन से गाय का दूध २५० मि.ली. की मात्रा में १ घंटे में अंतराल से पियें। छठे दिन ५० मिनट के अंतर से ७ वें दिन ४५ मिनट के अंतर से ८ वें दिन ४० मिनट के अंतर से, ९ वें दिन ३५ मिनट के अंतर से, १० वें दिन ३० मिनट के अंतर पर लें। ३० मिनट के अंतर पर यह दुग्ध कल्प १ डेढ़ माह तक चलाएं। दूध धीरे-धीरे चूसकर पीना चाहिए। दिन भर में ५-७ लीटर दूध पीने के बाद भी आराम से हजम होता है। दूध प्रातः ७ बजे से शाम को ७ बजे तक पीना चाहिए। दूध कच्चा ही प्रयोग में लाएं। किसी कांच के बर्तन में रखकर ठंडी जगह पर रखें तो खराब नहीं होता है। इस दौरान किसी को पतले दस्त और किसी को कब्ज हो जाती है। कब्ज होने पर एनीमा लेते रहें। पतले दस्तों की ३-४ दिन तक परवाह नहीं करें पर यदि ३-४ दिन बाद भी दस्त रहें तो दूध की जगह मट्ठा शुरू कर दें। शाम के जामये दही का मट्ठा प्रातः से दोपहर तक करें। दोपहर के बाद में सुबह जामये हुए मट्ठे का प्रयोग करें। मट्ठे को मक्खन रहित करके पिलाना चाहिए। यदि मट्ठा शुरू करना पड़े तो रोज शाम को ७ बजे संतरे का रस १५० मिली मात्रा में जरूर लेवे। इसके सेवन से पोषणजन्य कमी दूर होती है। इस तरह से दूध या मट्ठे पर ५-६ सप्ताह तक कल्प समाप्त करें। समापन के लिए रोज दोपहर को १-२ बजे तक कल्प के दिनों की तरह की दूध या मट्ठा पिलाएं और शाम को कोई रसदार फल खायें। दूसरे दिन शाम को सेव खिलाएं या कोई ठोस फल और तीसरे दिन हरी सब्जी, चौकर युक्त आटे की रोटी आदि दें। चौथे दिन से सामान्य भोजन दें। सामान्य आहार में भी दोपहर में सब्जी रोटी परन्तु सुबह शाम फल, दूध, मट्ठा, रस आदि ही देना चाहिए। कल्प के दौरान प्यास लगे तो पानी पी सकते हैं। इस दुग्ध मट्ठा कल्प से आंतों की दुर्बलता, संग्रहणी दूर होकर शरीर का काया कल्प हो जाता है। उपचार के दौरान प्रमादवश भी गलत खान-पान नहीं करें। चाय, कॉफी, तम्बाकू, धूम्रपान, शराब, तले-भुने, मिर्च-मसाले, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन बिल्कुल भी नहीं करें। प्रातः सायं सैर करें। पूर्ण विश्राम करें। तेज एवं गहरे सांस लें। श्वासन, वज्रासन, धूप स्नान करें।



## ऑत्र कृमि या पेट के कीड़े

### $\frac{1}{4}$ WORMS $\frac{1}{2}$

ऑत्र कृमि अर्थात् पेट में विभिन्न प्रकार के कीड़ों की उपस्थिति एक सामान्य बात है। छोटे बच्चों से लेकर बड़े लोगों तक की आँतों में ये कृमि पाये जाते हैं। इन ऑत्र कृमियों के कारण तटबन्धीय और उष्ण तटबन्धीय देशों में सैंकड़ों लोग प्रतिवर्ष मौत के मुँह में चले जाते हैं। भारत में भी प्रतिवर्ष कई हजार लोग इन ऑत्र कृमियों के कारण मौत का शिकार बनते हैं तथा अन्य सैंकड़ों लोग इनकी उपस्थिति के कारण कई अन्य रोगों की गिरफ्त में आ जाते हैं। इन ऑत्र कृमियों का मनुष्य पर आक्रमण करने का प्रमुख कारण है स्वच्छ पेयजल का अभाव, दूषित एवं अशुद्ध खाद्य पदार्थों का सेवन करना तथा शारीरिक स्वच्छता की तरफ ध्यान न देना।

ऑत्र कृमियों के बारे में और अधिक जानकारी के लिए उनकी शारीरिक बनावट के आधार पर दो श्रेणियों में बांटा गया है -

#### १. गोल कृमि या राउण्ड वर्म और

#### २. फीता कृमि या टेप वर्म

#### १) गोल कृमि:

इस प्रकार के ऑत्रकृमि नेमाटोड्स कुल के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें गोल कृमियों या केंचुए के रूप में जाना जाता है। इस समूह के प्रमुख कृमि हैं- गोल कृमि, धागे सदृश कृमि, अंकुश कृमि और स्ट्रोंगइलोइडोसिस स्टारकोरलिस आदि।

(अ) गोल कृमि या केंचुए (ऐस्केरिस लुम्ब्री कोइड्स) : इस कृमिजन्य रोग को ऐस्कारियासिस कहा जाता है। यह सबसे अधिक पाये जाने वाले ऑत्र कृमि हैं। वयस्क गोल कृमि छोटी आँत्र में निवास करते हैं। इन कृमियों में नर और मादा अलग-अलग होते हैं। इनका रंग सफेद-पीलापन लिए होता है। नर कृमि की लंबाई १५ से.मी. तथा मादा की २० से ४० से.मी. तक तथा मोटाई ६ मि.मी. तक होती है। इस कृमि की मादा निषेचन के पश्चात एक ही दिन में हजारों की संख्या में अण्डे देती है। ये अण्डे हजारों की संख्या में मल के साथ निकल कर मिट्टी, पानी, सब्जियों व अन्य खाद्य एवं पेय पदार्थों को दूषित करते रहते हैं। जब कोई स्वस्थ व्यक्ति इन संक्रमित खाद्य या पेय पदार्थों का सेवन करता है तो ये अण्डे उसकी छोटी आँत्र में पहुँचकर वहाँ फूट जाते हैं तथा उनसे वहाँ पर लार्वा पैदा होते हैं। ये लार्वा छोटी आँत्र की भित्ति को भेद कर रक्त संचार में प्रवेश कर जाते हैं तथा रक्त संचार के द्वारा हृदय, फेफड़ों, अन्न नलिका, स्वयं यंत्र, नाक आदि से होते हुए पुनः आमाशय एवं छोटी आँत्र में पहुँच जाते हैं। ये कृमि गुदा और स्त्री योनि तक भी पहुँच जाते हैं। लार्वा से वयस्क कृमि बनने व अण्डे देने शुरू करने में ६० से ७५ दिन का समय लगता है। इन ऑत्र कृमियों का जीवन काल एक वर्ष तक हो सकता है।

**रोग के लक्षण :** इन कृमियों की आँत्र में उपस्थिति के कारण व्यक्ति की भूख प्रायः घट जाती है। परन्तु कभी-कभी व्यक्ति की भूख बहुत अधिक बढ़ जाती है। आमाशय के खाली रहने पर ये कृमि आमाशय की ओर रेंगते प्रतीत होते हैं। कई बार इनके कारण आँतों में रुकावट भी उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति को मितली या वमन आने लग जाते हैं। रोगी के पेट में दर्द रहने लगता है तथा मरोड़ के साथ कभी कब्ज हो जाती है या कभी दस्त आने लग जाते हैं। नींद में रोगी के मुँह से लार बहती और बच्चे दाँत पीसने लगते हैं। मुँह से बदबू आने लग जाती है, चेहरे का रंग पीला सा हो जाता है, शरीर कमजोर और हाथ-पैर दुर्बल हो जाते हैं। पेट में अफारा तक हो सकता है तथा शरीर में अधिक गर्मी प्रतीत होने लगती है। रोगी के नाक, मुँह, गुदा में खुजली होती है विशेषकर रात्रि के समय। कभी-कभी रोगी के शरीर पर पित्ती भी उछल आती है। इन ऑत्र कृमियों के कारण रोगी को रात के समय खांसी भी होने लगती है, जो विशेषकर बच्चों को एलर्जी खांसी के रूप में होती है।

रोगी के मल की जाँच में गोल कृमि (ऐस्केरिस) या उनके अण्डों की उपस्थिति मिल सकती है, तथा रक्त परीक्षण में इसनोफीलिया के लक्षण मिलते हैं।

**(ब) धागे सदृश कृमि या ग्रेड वर्म (इन्टेरोवियस वर्मीकुलेरिस):** इन आँत्र कृमियों को चुरने, चुन्ने का पिन वर्म (ऑक्सीरिस) भी कहा जाता है। दूसर नंबर पर सबसे अधिक व्यक्तियों में इसी प्रकार के धागे सदृश आँत्र कृमि पाये जाते हैं। इन कृमियों का अधिकतर आक्रमण बच्चों पर ही होता है। अनुमान है कि २० प्रतिशत बच्चे इन कृमियों से संक्रमित हैं। ये कृमि बहुत छोटे होते हैं। इनमें भी नर और मादा अलग-अलग होते हैं। जिनमें नर २ से ५ मि.मी. लंबा तथा मादा कृमि ८ से १२ मि.मी. तक लंबी हो सकती हैं। इन आँत्र कृमियों के अण्डे मल द्वारा धूल, मिट्टी, पानी, सब्जियों आदि तक पहुँच जाते हैं। इन दूषित खाद्य या पेय पदार्थों के सेवन से ये अण्डे पेट में पहुँच जाते हैं। इन कृमियों का रोगजन्य आक्रमण तो छोटी आँत्र में ही होता है किन्तु वे रहते हैं वृहदांत्र और उसके आगे ही। ये गुदा के आस-पास मलाशय के अन्तिम भाग और छोटी आँत्र में गुच्छों के रूप में हजारों की संख्या में पाये जाते हैं।

**रोग के लक्षण :** इन कृमियों की उपस्थिति के कारण बच्चों के गुदा द्वार पर विशेषकर रात्रि के समय तीव्र खुजली होती है। क्योंकि मादा कृमि गुदा के आस-पास ही ज्यादा सक्रिय रहती है तथा अपने अण्डे देती है। तीव्र खुजली के कारण जब बच्चा अपनी अंगुली से गुदा की खारिश करता है तो इनके अण्डे अंगुली पर चिपक कर उसके मुँह तक भी पहुँच जाते हैं और इस प्रकार बच्चा स्वयं ही इनसे पुनः संक्रमित हो जाता है। स्त्रियों में इनके कारण योनि तक संक्रमित हो जाती है। तीव्र खारिश के कारण बच्चे अक्सर नींद से जाग उठते हैं तथा कभी-कभी सोते हुए दाँत किटकिटाते हैं तथा अपनी नाक को नौचते हैं। इनके कारण उनकी भूख कम हो जाती है तथा कभी कभी पेट में दर्द भी रहने लगता है तथा ऐंठन के दौरे भी पड़ सकते हैं। इन कृमियों से एक साथ घर के अन्य सदस्य भी प्रभावित हो सकते हैं।

**(स) अंकुश कृमि या हुक वर्म :** इन आँत्र कृमियों के संक्रमण को “एनकिलोस्टोमियासिस” कहा जाता है। ये कृमि धागे की भाँति बारीक, एक से.मी. लंबे तथा हरियाली लिए सफेद रंग के होते हैं। ये संक्रमित व्यक्ति ही ग्रहणी तथा मध्यांत्र में काफी संख्या में पाये जाते हैं। इन कृमियों का मुँह प्याली जैसा, अंकुश के समान टेढ़ा होता है। ये छोटी आँत्र की ग्रहणी और मध्यांत्र की श्लेष्मिक कला में रह कर अन्तड़ियों की बाह्य रक्तवाहिनियों का रक्त चूसते रहते हैं जिसके कारण व्यक्ति में रक्त की अत्यधिक कमी उत्पन्न हो जाती है। इन कृमियों के अण्डे संक्रमित व्यक्ति के मल के साथ शरीर से बाहर निकलकर रेत आदि में मिल जाते हैं तथा वहाँ पर ही विकसित होते रहते हैं। जब नंगे पाँव वाला कोई व्यक्ति इनके सम्पर्क में आता है तो ये कृमि उसके पैर की कोमल त्वचा या अंगुलियों के मध्य की त्वचा से चिपक जाते हैं तथा धीरे-धीरे उस स्थान की त्वचा में प्रवेश करके रक्त संचार में मिल जाते हैं। रक्त संचरण के द्वारा ही फेफड़ों आदि से होते हुए छोटी आँत्र में ग्रहणी तक पहुँच जाते हैं। वहाँ से इनका पुनः एक नया जीवन चक्र शुरू हो जाता है। इन कृमियों का एकमात्र शिकार मनुष्य ही बनता है।

**रोग के लक्षण :** इन आँत्र कृमियों के संक्रमण का एक प्रमुख लक्षण है शरीर में रक्त की भारी कमी हो जाना। रक्त की कमी के कारण व्यक्ति का समस्त शरीर और चेहरा पीला पड़ जाता है, भूख घट जाती है तथा शरीर में कमजोरी बढ़ती जाती है। रोगी को इनके कारण आमाशय के निकट पसलियों के किनारों पर आँत्र शोथ या पेटिक अल्सर की तरह का दर्द रहने लगता है। कभी-कभी मितली या वमन भी आने लग जाती है। कृमियों द्वारा रक्त चूसने से कभी-कभी अन्तड़ियों से रक्त स्राव भी होने लग जाता है जिससे मल में रक्त मिश्रित होकर आ सकता है व मल का रंग रक्त मिश्रित होने के कारण काला सा हो सकता है। रोगी की त्वचा पर इनके कारण पित्ती निकल सकती है। रोगी में कभी ऐंठन के दौरे पड़ने लग सकते हैं और मुँह से लार बहने लगती है। इनके कारण बच्चों का शारीरिक तथा मस्तिष्कीय विकास तक रुक जाता है। रक्ताल्पता वाले व्यक्तियों में इनके तीव्र संक्रमण के कारण मृत्यु तक हो सकती है।

**(द) स्ट्रोंगइ लोइडोसिस स्टारकोरलिस :** इस आँत्र कृमिजन्य रोग को स्ट्रोंगइलोइडियासिस कहा जाता है। यह अत्यंत सूक्ष्म कृमि है। इनकी लंबाई केवल २ मि.मी. के लगभग होती है। ये कृमि मनुष्य के अतिरिक्त कुत्तों की आँत्र में भी पाये जाते हैं। ये आँत्र कृमि मनुष्यों की छोटी आँत्र के ग्रहणी तथा मध्यांत्र में हजारों की संख्या में पाये जाते हैं। इन कृमियों की वयस्क मादा आँत्र की श्लेष्मिक कला में अण्डे देती हैं। तब ये अण्डे मल के साथ शरीर से बाहर निकल जाते हैं तथा मिट्टी आदि में पड़े रह कर फिलेरीफार्म लार्वा के रूप में विकसित होते रहते हैं। फिलेरीफार्म लार्वा मनुष्य के शरीर की त्वचा के सम्पर्क में आते ही उससे वहाँ से वह फेफड़ों आदि से होता हुआ पुनः छोटी आँत्र में पहुँच कर वयस्क रूप में परिवर्तित

हो जाता है। लार्वा त्वचा में प्रवेश करने से लेकर वयस्क होने में ४ सप्ताह के लगभग समय लगता है। इन कृमियों का जीवन काल पांच वर्ष तक हो सकता है।

**रोग के लक्षण :** त्वचा के जिस स्थान पर इस कृमि का लार्वा प्रवेश करता है उस स्थान पर तीव्र प्रकार की खुजली होती है और वह स्थान थोड़ा लाल सा होकर सूज जाता है। रोगी में इनके कारण मितली, भूख की कमी, हल्का ज्वर, दमा जैसा श्वास कष्ट और रूक-रूक कर खांसी होने लगती है। त्वचा पर पित्ती भी उछल आती है। आँत्र में इस कृमि के प्रवेश और निवास के साथ ही रोगी को मितली, वमन, मरोड़ के रूप में आमाशय व्रण जैसा दर्द, अफारा तथा कभी कब्ज और कभी अतिसार की शिकायत रहने लगती है। बच्चों में इनके संक्रमण से पेट फूल जाता है। इस कृमि के कारण रोगी को लगातार तीव्र अतिसारों के परिणामस्वरूप पौषक तत्वों का अभाव होने लगता है और अत्यधिक कमजोरी आ जाती है। इन कृमियों के फेफड़ों में संक्रमण से कभी-कभी जीवाणु संक्रमण जैसा निमोनिया भी हो जाता है, जिससे रोगी की मृत्यु तक हो सकती है।

नेमोटोड्स कुल के आँत्र कृमियों में एक समूह फिलोरियासस कृमियों का है जिनके संक्रमण के कारण श्लीपद या हाथीपाद जैसे रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

## २) फीताकृमि

इस प्रकार के आँत्र कृमि सेस्टोड कुल के अन्तर्गत आते हैं। फीता कृमियों का संक्रमण बहुत कम व्यक्तियों में ही देखा जाता है क्योंकि ये कृमि उन माँसाहारी लोगों का अपना शिकार बनाते हैं जो गाय या सूअर का माँस प्रयोग करते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन दो पशुओं के शरीर में फीताकृमि अपने जीवन का एक मुख्य काल व्यतीत करते हैं तथा इनके माँत्र को खाने वाले व्यक्तियों के पेट में यह कृमि सरलता से स्थान्तरित हो जाते हैं। इन आँत्र, कृमियों के पूँछ के भाग टूट-टूट कर मल के साथ व्यक्ति के शरीर से बाहर आते रहते हैं, जिन्हें सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा सुगमता से देखा जा सकता है। ये कृमि व्यक्ति की आँत्र की दीवार में अपना सिर गढ़ाये रख कर उसका रक्त चूसते रहते हैं। इन कृमियों से छुटकारा पाना काफी कठिन कार्य होता है।

इस समूह के कुछ प्रमुख आँत्र कृमि हैं- फीता कृमि की गाय और सूअर में पनपने वाली अलग-अलग प्रजाति और मछली के पेट में पाये जाने वाली एक अन्य डाई फाइलो वोथ्रियम लेटम नामक प्रजाति ।

### फीता कृमि या कद्दू दाने:

इन आँत्र कृमियों के संक्रमण से होने वाले रोग को टीनियासिस कहा जाता है। इस फीता कृमि की तीन प्रजातियाँ हैं। जैसे कि टीलियां सागीनेटा, यह, गाय, बैल आदि के पेट में पलता है, टीनिया सोलियम, यह सूअर के पेट में पलता है और डाई फाइलो वोथ्रियम लेटम, यह कृमि मछलियों के पेट में पलता है।

ये आँत्र कृमि फीते के समान बहुत लंबे तथा भूरे-सफेद रंग के होते हैं। इन कृमियों की लंबाई ४ मीटर तक होती है। इन कृमियों का शरीर कद्दू के बीजों की तरह चौरस खण्डों के में आपस मिलने से एक जंजीर के से रूप में होता है। इन कृमियों के शरीर में अपनी आहार नाल नहीं होती। इसलिए ये कृमि अपने लिए पौषक तत्व ऊपरी सतह माध्यम से ही प्राप्त करते हैं। इनके प्रत्येक खण्ड में नर और मादा दोनों प्रकार की जननेन्द्रियां रहती है। इस तरह के कृमियों का प्रत्येक खण्ड ही संपूर्ण कृमि जैसा ही होता है। कभी-कभी इन कृमियों के चौरस खण्ड इनके शरीर से टूट-टूट कर मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं। इनके टूटे खण्डों में इनके निषेचित अण्डे भी रहते हैं। अण्डे युक्त ये खण्ड संक्रमित जीव की आँत्र में कई सप्ताह तक पड़े रहते हैं और लार्वा के रूप में रूपान्तरित होते रहते हैं। फीता कृमि के ये लार्वा इन जीवों के अधपके या कच्चे मांस के साथ पेट में पहुँच कर वयस्क कृमि का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इन कृमियों के निषेचित अण्डे झील, तालाब, पोखरों आदि के स्थिर पानी में भी पाये जाते हैं। जब इस दूषित पानी को मनुष्य, गाय, बैल, मछली, सूअर आदि पीते हैं तो ये अण्डे उनकी आँत्र में प्रवेश पा जाते हैं।

**रोग के लक्षण :** इन कृमियों की आँत्र में उपस्थिति के बावजूद कभी-कभी व्यक्ति में कोई भी लक्षण प्रकट नहीं होता और व्यक्ति इनकी उपस्थिति से अनभिज्ञ बना रहता है। लेकिन ऐसे व्यक्तियों के शरीर से कभी-कभी मल के साथ इस कृमि के खण्ड अवश्य निकलते रहते हैं जिनसे इन कृमियों की संभावना की जा सकती है। जबकि अनेक व्यक्तियों में इन आँत्र कृमियों के अन्तड़ियों में मौजूद रहने के कारण बहुत भूख लगने लग जाती है। कभी-कभी पेट में तीव्र प्रकार का दर्द भी होने लगता है, मल ढीला आने लगता है तथा गुदा एवं नाक में खुजली रहने लगती है। व्यक्ति के पौषक तत्वों पर कृमि द्वारा हाथ साफ करने लग जाने से व्यक्ति में कमजोरी आने लगती है और शरीर दुबला होता चला जाता है। उसकी पाचन शक्ति भी कमजोर पड़ने लगती है तथा उसका सिर भारी व उसमें दर्द रहने लगता है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के आँत्र कृमि भी हैं जो अनेक व्यक्तियों की आँत्र को संक्रमित करके दीर्घकाल तक पेट दर्द तथा अतिसार आदि का कारण बने रहते हैं। इनमें से कुछ आँत्र कृमि इस प्रकार है -

**(१) द्विप वर्म या प्रतोद कृमि (ट्राइक्यूरिया ट्राइक्यूरिस):** ये कृमि बहुत ही बारीक सफेद धागों के समान छोटे-छोटे तथा हजारों की संख्या में एक साथ आँत्र में मौजूद रहते हैं। इस कृमि का आकार चाबुक के समान होता है। वयस्क कृमि की लंबाई ३ से ५ से.मी. तक होती है। यह कृमि मध्यम: आँत्र के उण्डुक (सीकम), मध्यांत्र तथा आँत्र पुच्छ व वृहदांत्र में निवास करते हैं। वहाँ पर ही इस कृमि की मादा अपने अण्डे देती है, जो मल के साथ शरीर से बाहर निकलकर दूध, पानी आदि को संक्रमित करते रहते हैं। वहाँ से ये अण्डे दूसरे स्वस्थ व्यक्ति की आँत्र तक पहुँचते रहते हैं। आँत्र में अण्डों के अंदर से एम्ब्रियो निकलता है जो ६ मास के लगभग वयस्क कृमि बन जाता है।

**रोग के लक्षण :** सामान्य द्विप वर्म के कोई विशेष कष्टदायक लक्षण प्रकट नहीं होते। लेकिन जब बच्चों में इसका तीव्र संक्रमण हो जाता है तो उन्हें दस्त आने लग जाते हैं। कभी-कभी इनकी प्रतिवर्त से छापकी उछलने जैसे लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। अन्य कुछ लक्षणों में आँत्र शूल, दाँतों को बजाना तथा रात्रि के समय शैय्या पर मूत्र कर जाना होते हैं।

**(२) ट्राईकिनेला स्पाइरालिस :** यह कृमि प्रायः सूअर या चूहों के माँस खाने वाले व्यक्तियों को अपना शिकार बनाते हैं। इस कृमि का संक्रमण काफी जटिलताएँ उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि इस कृमि के लार्वा का संक्रमण की प्रारम्भिक अवस्था में तो नष्ट किया जा सकता है, परन्तु बाद की अवस्था में इस कृमि को नष्ट करना बहुत कठिन हो जाता है।

इस कृमि से संक्रमित माँस खाने के २४ से ४८ घंटों के बाद ही दस्त आने लग जाते हैं, पर उसके बाद व्यक्ति को ज्वर, चेहरे, विशेषकर आँखों और भोहों पर शोथ, खांसी, श्वास लेने में कष्ट और माँसपेशियों में दर्द तक होने लग जाता है।

**(३) जियार्डिया लैम्बलिया :** यह एक कोशिकीय प्रोटोजोआ जाति का सूत्रयुक्त कृमि है। इसका आकार नाशपाती जैसा होता है। इसमें दो न्यूकिलाई तथा ४ जोड़े फ्लेजेला होते हैं, जिनसे ये आँत्र की श्लेष्मिक कला की कोशिकाओं से चिपके रहते हैं तथा अपना पोषण अवशोषित करते रहते हैं। इनके अण्डे या सिस्ट मल के साथ संक्रमित व्यक्ति से वर्षों तक निकलते रहते हैं।

ये आँत्र कृमि आँत्र के ग्रहणी, मध्यांत्र में रहकर उसकी श्लेष्मिक कला में शोथ उत्पन्न कर देते हैं, जो जीर्ण अतिसार या विसूचिका का कारण बनते हैं। इनके कारण आँत्र में पौषक पदार्थ भली प्रकार से अवशोषित नहीं हो पाते हैं। इस कारण व्यक्ति में अफारा, पेट का फूलना, पेट में दर्द, मितली और कभी-कभी वमन के साथ तीव्र अतिसार आने लग जाते हैं। इस कृमि से उत्पन्न रोग का जियार्डियासिस कहा जाता है। यह रोग बहुत व्यापक है और इसका संक्रमण ५ से २५ प्रतिशत लोगों में देखने में आता है।

**आँत्र कृमियों की चिकित्सा :**

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में आँत्र कृमियों के उपचार के लिए बहुत सारी औषधियाँ उपलब्ध हैं, जैसे कि पिपराजीन साइट्रेट, मेवेन्डा जोल, एलबेन्डा जोल, पायरेन्टल पेमोएट, लेवामिसोल, निकलोसामाइड और प्राजिक्वोन्टल आदि जो प्रायः समस्त प्रकार के आँत्र कृमियों के विरुद्ध प्रभाव डालते हैं।

पिपराजीन साइट्रेट बहुत समय से आँत्र कृमियों का समाप्त करने के लिए औषधि रूप में प्रयोग की जाती है। परन्तु यह आँत्र कृमियों को नष्ट न करके उन्हें केवल शिथिल बना देती है जो मल के साथ शरीर से बाहर निकल जाते हैं। यदि इस औषधि के साथ कब्जनाशक औषधि भी दे दी जाये तो इस औषधि का लाभ दुगुना हो जाता है तथा द्रव मल के साथ आँत्र कृमि सरलता से बाहर निकल जाते हैं। यह औषधि रोगी को रात के भोजन से पहले केवल एक खुराक के रूप में देनी पड़ती है। यह गोल कृमि, धागे सदृश कृमि तथा अंकुश कृमियों के लिए प्रयोग की जाती है।

आजकल मेवेन्डा जोल, एलबेन्डाजोल आदि आँत्र कृमिनाशक औषधियों का ज्यादा प्रचलन है। किन्तु इनके विषैले प्रभाव पिपराजीन की तुलना में अधिक है और लाभ उनके समान ही है। मेवेन्डा जोल की वयस्क मात्रा दिन में दो बार 900-900 मि.ग्राम पांच दिन तक और एलबेन्डाजोल की वयस्क मात्रा 800 मि.ग्राम के रूप में केवल एक खुराक है। ये गोल कृमि, धागे सदृश कृमि, अंकुश कृमि, ह्रिप वर्म, फीता कृमि तथा स्ट्रोंगइ लोइडोसिस आदि कृमियों के विरुद्ध प्रभावशाली है।

पायरेन्टल पेमोएट भी आजकल आँत्र कृमियों का नाश करने में प्रयोग की जाने वाली एक सर्वश्रेष्ठ औषधि है। इसका सेवन भी रात्रि के भोजन से पहले एक मात्रा के रूप में ही कराया जाता है। इसकी वयस्क मात्रा 250 मि.ग्राम. के लगभग है। यह औषधि के पूर्ण लाभ के लिए सप्ताह में एक बार दो या तीन सप्ताह तक प्रयोग करना होता है।

गोल कृमियों की अपेक्षा फीता कृमि वाले रोगियों को उनकी चिकित्सा के लिए विशेष रूप से तैयार करना पड़ता है कि औषधि के प्रयोग करने से पहले रोगी की आहार नाल जहाँ यह फीता कृमि आँत्र में चिपका पड़ा रहता है, बिल्कुल खाली रहे ताकि औषधि का सीधा और पूरा प्रभाव इस कृमि के शरीर पर पड़ सके। इसके लिए रोगी को 2-3 दिन भूखा रखा जाता है और केवल तरल पदार्थ जैसे फलों का रस, ग्लूकोज का पानी आदि ही प्रयोग करने को दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त रोगी को 30 ग्राम की मात्रा में सोडियम बाई कार्बोनेट (खाने वाला सोडा) दिन में 4 बार भी पानी में घोल कर दिया जाता है, जिससे आँतों के अन्दर की श्लेष्मा घुल जाये। इन 2-3 दिनों में रोगी नमक का दस्तावर घोल प्रातः काल लेता रहे, किन्तु स्टार्च वाले पदार्थ और दूध आदि पदार्थ न ले।

इसके पश्चात सुबह जब आमाशय बिल्कुल खाली हो तो रोगी को कृमिनाशक औषधि का सेवन कराया जाये। उसके साथ विरेचन औषधि भी दी जाये। रोगी के मल में टेपवर्म के सिर को देखते रहना चाहिए। जब इस कृमि का सिर मल के साथ बाहर आ जाये तो चिकित्सा पूर्ण समझी जाये। फीता कृमि के लिए निकलोसामाइड औषधि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

### आयुर्वेदिक उपचार

- वायबिडंग सोंठ, पीपल और काली मिर्च समान मात्रा में लेकर पीस कर महीन चूर्ण कर लें तथा 9 से 2 चम्मच यह चूर्ण चावल की मॉड में मिलाकर प्रयोग करने से आँत्र कृमियों का नाश हो जाता है।
- पित्त पापड़ा, भुनी किरंजवा के बीज की गिरी, कबीला प्रत्येक का 6-6 ग्राम की मात्रा में चूर्ण और खुरासानी अजवायन का 3 ग्राम की मात्रा में चूर्ण मिलाकर 92 ग्राम गुड़ में घोंट कर 500-500 मि.ग्राम की गोलियां बना लें। 9-2 गोलियां दिन में दो बार खाली पेट सेवन करने से आँत्र कृमि नष्ट हो जाते हैं।
- कबीला 3 ग्राम को खरल करके 28 ग्राम गुलकन्द में मिलाकर खिलाने और ऊपर से अनार वृक्ष की छाल 28 ग्राम को 950 मि.ली. पानी में उबाल कर पिलाने से गोल कृमि और फीता कृमि, आदि समस्त कृमि नष्ट हो जाते हैं।
- पलाश के बीज का काढ़ा 'शहद में मिला कर पीने व इसके बीज की चटनी बनाकर मधु के साथ चाटने से भी आँत्र कृमि नष्ट हो जाते हैं।
- वायबिडंग, इन्द्रजौ, पलाश के बीज इन सबका समान मात्रा में 2-2 ग्राम चूर्ण लेकर मिश्री में मिला कर खाने से भी आँत्र कृमि नष्ट हो जाते हैं।

## आंत्र कृमियों से बचाव के उपाय

- खाद्य-पदार्थों और पानी आदि को सदैव ढक कर मक्खी, मच्छर आदि से बचाकर रखा जाये।
- भोजन करने से पूर्व हाथों को भली प्रकार से साफ कर लिया जाये और अंगुलियों के नाखुन सदैव काट कर रखे जायें।
- फलों, सब्जियों आदि को कच्चा खाने से पूर्व अच्छी तरह धो लिया जाए।
- मल-मूत्र का विसर्जन तलाब, नदी, पोखरों, नालों और कुओं आदि में न किया जाये। यदि इस प्रकार का संक्रमित पानी की विवशता हो तो पानी को पीने से पूर्व उबाल कर ठंडा कर लिया जाये।
- मांसाहारी लोगों को गाय, सूअर आदि जानवरों का मांस खाने में सावधानी बरतनी चाहिए तथा इनका मांस खाने से पूर्व उसे भली प्रकार पका लिया जाये, जिससे आंत्र कृमि के अण्डे और लार्वा आदि पूर्णतः नष्ट हो जायें।

## प्राकृतिक चिकित्सा

संक्रमित जल, भोजन, फल, सब्जियां, मांसाहार के सेवन से आंतों में विभिन्न प्रकार के कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। ये रोगी की आंतों में चिपककर वही से अपना आहार ग्रहण करते हैं और प्रजनन करके अपनी संख्या में वृद्धि करते रहते हैं। फलस्वरूप कई तरह के लक्षण दिखाई देते हैं। अतिसार, पेट दर्द, गैस बनना, पेचिश, यकृत में सूजन, ज्वर, आंतों में सूजन (आंत्र शोथ) आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

सर्वप्रथम रोगी का भलीभांति परीक्षण करके रोग का निदान करें। पेट पर ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा क्रमिक सेक करके हल्की वैज्ञानिक मालिश दें और नीम के पत्ते उबले गुनगुने पानी का एनीमा लगायें। एनीमा लगाने के आधा घंटे बाद रोगी की स्थिति देखकर उपचार दें। इससे आंत्र कृमियों में विक्षाभ उत्पन्न होता है और वे बाहर की ओर प्रवृत्त होते हैं। तत्पश्चात् ३ मिनट गरम, २ मिनट ठण्डा कटि स्नान क्रमशः ५ बार दें और उदर पर ३० मिनट तक लपेट बांधें। दोपहर के उपचार में भोजन के ३ घंटे बाद मिट्टी की पट्टी आधा घंटा रखें। पेट पर स्थानीय वाष्प ५ मिनट तक दें या गरम-ठण्डा कम्प्रेस करें फिर लपेट बांध दें। ऐसा करने से आंतों में नया रक्त संचार होकर सजीवता आती है और कृमि बाहर निकलने लगते हैं। ५ दिन बाद अन्य इत्यादि उपचार बदल-बदल कर दें। शीघ्र ही आराम मिलता है। इस दौरान यदि अतिसार, पेचिश, कब्ज, अरुचि इत्यादि रोग दिखें तो इन रोगों के अनुसार (पूर्वोक्त वर्णित) चिकित्सा करायें। बच्चों को उपचार देते समय उनकी इच्छा एवं शक्ति का ध्यान रखें।

## आहार चिकित्सा

आंत्र कृमि गलत खान-पान की आदतों से ही पनपते हैं। सर्वप्रथम रोगी को १-२ दिन जल पर उपवास करायें। यदि पानी पर उपवास करने में सक्षम नहीं है तो नींबू-पानी-शहद या फल एवं सब्जियों को रस देकर उपवास करायें। फलों में सस्ते किन्तु मौसम के अनुसार फलों का रस दें। संतरा, मौसम्मी, अनार, आंवला, गाजर, लौकी, कद्दू इत्यादि का सेवन उपयोगी हैं। दिन में १-२ बार नीम की पत्तियों का रस २० से ५० मिली. पियें। रेशेदार फल एवं सब्जियों का भरपूर प्रयोग करायें। इससे आंतों की ठीक तरह से सफाई हो जाती है और कृमि बाहर निकल जाते हैं। धीरे-धीरे ठोस आहार पर लाएं। ठोस आहार में चौकर युक्त आटे की रोटी, उबली हरी सब्जियां (पालक, बथुआ, चौलाई, हरी मेथी, मूली पत्ते, लौकी, टिण्डा, तोरई इत्यादि), छाछ, सब्जियों का सूप, सलाद, अंकुरित अन्न इच्छानुसार कम मात्रा में शुरू करके सामान्य आहार पर लाएं।

मांसाहार करने वालों के आंत्रकृमि होने की अधिकतम संभावना रहती है। क्योंकि विभिन्न जानवरों के मांस से भिन्न-भिन्न कृमि पेट में चले जाते हैं जैसे-सूअर के मांस में टीनिया टेप वर्म की प्रजातियां पाई जाती है। इस टेप वर्म का अण्डा सूअर की मांसपेशियों में पलता है। फलतः मनुष्यों में इसका मांस खाने से आंतों में पहुंच जाते हैं। संक्रमित जल, दूषित फल, सब्जियां इत्यादि को उबालकर काम में लाएं। बाजार में निर्मित खाद्य सामग्री यथा-फास्ट फूड, चाट, समोसा

इत्यादि नहीं खाएं। घर में पालतू पशुओं (गाय, बकरी, कुत्ता आदि) का निवास दूर रखें एवं उनकी स्वच्छता का विशेष रखें अन्यथा कई तरह के असंख्य कृमि अनजाने में ही हमारे शरीर में पहुंच जाते हैं।

१. नीम या करेला का रस २० से ५० मिली. पियें।
२. अजवायन और मेथी को पीसकर १० ग्राम की मात्रा में गरम पानी से पियें।

## आंत्रिक रक्तस्राव

जब मल के साथ रक्त मिश्रित होकर आने लग जाता है तो सर्वाधिक संभावना इसी बात की रहती है कि आमाशय या आँत्र के किसी भाग में रक्त का रिसाव हो रहा है। जठरांत्र के किसी भाग में होने वाले रक्त के इस रिसाव को आंत्रिक रक्तस्राव के नाम से जाना जाता है। कभी-कभी आँत्र में मौजूद रक्त मल के अतिरिक्त वमन के साथ भी मिश्रित होकर आता है। आंत्रिक रक्तस्राव के अलावा मल या वमन के साथ फेफड़ों, नाक या मस्तिष्क से स्रावित रक्त भी आ सकता है क्योंकि कई बार फेफड़ों से खांसी के साथ मुँह में आया रक्त थूक के साथ आमाशय में निगल लिया जाता है या नाक का रक्त (नक्सीर या चोट आदि में रिसा) थूक या भोजन निगलने के साथ आमाशय में पहुँच जाता है। अतः आंत्रिक रक्तस्राव में रोग के कारणों का निदान करते समय रोगी का भली प्रकार से निरीक्षण कर लेना चाहिए व उससे अधिकतम जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

### रोग के कारण

आंत्रिक रक्तस्राव के सबसे प्रमुख कारण है- जीर्ण आमाशय या ग्रहणी के व्रण (गेस्ट्रिक या ड्यूडेनल अल्सर)। ये आंत्रिक रक्तस्राव के ५० प्रतिशत मामलों के लिए जिम्मेदार होते हैं। १५ से ३० प्रतिशत आंत्रिक रक्तस्राव के पीछे कारण होता है आमाशय या आँत्र की श्लेष्मिक कला (म्यूकस मेम्ब्रेन) का छिल या नष्ट हो जाना। १० प्रतिशत आंत्रिक रक्तस्राव के कारण ग्रासनलिका की शोथ, ७ प्रतिशत आंत्रिक रक्तस्राव के कारण वमन द्वारा आमाशय के कॉर्डिक भाग की श्लेष्मा का चिर जाना आदि होते हैं। इनके अतिरिक्त आंत्रिक रक्तस्राव के कुछ मामलों के पीछे आमाशय या आँत्र के सामान्य ट्यूमर या कैंसर गाँठें, रक्त सम्बन्धी विकार, पेचिश रोग का संक्रमण, आँत्र कृमि, यकृत एवं हृदय सम्बन्धी रोग इत्यादि ।

आमाशय या आँत्र की श्लेष्मिक कला के छिलने या नष्ट होने के पीछे सबसे महत्वपूर्ण कारण कई प्रकार की दर्द निवारक औषधियों का लंबे समय तक सेवन करते रहना या शोथहर औषधियों यथा स्टीरॉयड्स दवाओं का नियमित रूप से लंबे समय तक सेवन करना आदि है। एस्पिरिन का अकेले सेवन करना या शराब के साथ संयुक्त रूप से सेवन करने से आंत्रिक श्लेष्मा क्षय की गति बढ़ जाती है। इनके अलावा कई प्रकार के विक्षोभक पदार्थों के खा लेने पर भी आंत्रिक श्लेष्मा छिल जाती है और आँत्र में रक्त का स्राव होने लग जाता है। आमाशय या ग्रहणी के व्रण से वैसे तो थोड़ा बहुत रक्तस्राव सदैव ही होता रहता है, किन्तु दर्द निवारक (एस्पिरिन, इण्डोमेथासिन आदि) शोथहर (स्टीरॉयड) तथा शराब के सेवन कर लेने से उनमें रक्तस्राव की दर बढ़ जाती है। अधिक मिर्च-मसाले युक्त भोजन के सेवन से भी आंत्रिक रक्तस्राव की मात्रा बढ़ जाती है।

आँत्र में पल रहे कई प्रकार के आँत्र कृमि अपने लिए पौषक तत्वों को प्राप्त करने के लिए आँत्र भित्तियों से चिपक कर रक्त चूसने लगते हैं, जिससे आँत्र की भित्ति में अनेक सूक्ष्म घाव बन जाते हैं और उनसे रक्तस्राव होने लग जाता है। इसी प्रकार आँत्र संस्थान में अनेक प्रकार के जीवाणुओं और परजीवियों के संक्रमण से भी आँत्र भित्ति में जगह-जगह अति सूक्ष्म घाव बन जाते हैं और उनसे रक्तस्राव होने लग जाता है।

कई बार रक्त में थक्का बनाने वाले कारकों यथा प्रोथ्रोम्बिन तथा तेरह के लगभग अन्य फेक्टरों में किसी एक या कईयों के विकार या कमी के कारण रक्त के थक्का बनने की प्रक्रिया गड़बड़ा जाती है जिसके कारण जरा सी क्षति से भी लगातार रक्त का स्राव होता रहता है। आहार के सामान्य पाचन प्रक्रिया के दौरान सदैव ही आँत्र भित्तियों में थोड़ी-बहुत-टूट-फूट होती रहती है, जो स्वयं ही ठीक भी होती रहती है। किन्तु रक्त की थक्का बनने की प्रक्रिया (जमने की प्रक्रिया) में विकार उत्पन्न हो जाने से क्षतिग्रस्त स्थल पर रक्त का थक्का न बन पाने से रक्तस्राव निरन्तर जारी रहती है। इस कारण न वह क्षति ग्रस्त स्थान ठीक नहीं हो पाता है।

### रोग के लक्षण :

सामान्यतः स्वस्थ अवस्था में मल का रंग इसी बात पर निर्भर करता है कि किस प्रकार का भोजन खाया गया है। जैसे कि दूध, दही या दूध से निर्मित अन्य पदार्थ और चावल आदि अधिक मात्रा में सेवन करने वालों के मल का रंग लगभग सफेद सा, हरी-साग सब्जियों और सलाद आदि का अधिक सेवन करने वालों के मल का रंग लगभग सफेद सा,



हरी-साग सब्जियों और सलाद आदि का अधिक सेवन करने वालों के मल का रंग हरा, मांस, मछली आदि का अधिक मात्रा में सेवन करने पर मल का रंग गहरा भूरा तथा मिश्रित प्रकार का भोजन करने पर मल का रंग मामूली भूरे रंग का होता है। जबकि शराब या फलों का अधिक सेवन करने पर मल का रंग गहरा भूरा तथा विभिन्न प्रकार की औषधियों के प्रभाव से मल का रंग काला अथवा अन्य रंग का हो सकता है। अन्तड़ियों की पुरःसरण गति जब तीव्र हो जाती है तब अन्तड़ियां पचे व अर्द्धपचे भोजन को तीव्र से आगे की तरफ धकेलने लग जाती है, जिससे आँत्र में भोजन के पाचित अंशों का अवशोषण भली प्रकार से नहीं हो पाता है तथा मल में भी पित्त की अधिकता रहती है। इससे मल का रंग हरा या पीलाहट युक्त हरा सा रहने लगता है। लेकिन जब किसी कारण से मल में पित्त नहीं मिल पाता तब मल का रंग मटमैले से रंग का रहने लगता है। इसी तरह मल में चिकनाहट अधिक रहने से मल का रंग फीके पीले से रंग का हो जाता है। इसलिए आंत्रिक रक्तस्त्राव की अवस्था में मल में रक्त का निरीक्षण करते समय उपरोक्त बातों पर ध्यान रख लेना चाहिए।

आँत्र की भित्तियों में जब किसी भी कारण से रक्त स्त्राव होने लगता है, तब मल के साथ मिश्रित होकर दो प्रकार से रक्त आने लगता है। जैसे कि गहरे चमकदार लाल रंग में या रक्त की पाचित या अर्द्ध पाचित अवस्था में कालापन लिए या गहरे भूरे रंग के रूप में। जब रक्तस्त्राव के स्थान आँत्र संस्थान के निम्न भाग जैसे कि गुदा, मलाशय, वृहत आँत्र में होते हैं तो मल के साथ कम या अधिक मात्रा में लाल चमकदार रक्त आता है। यह मल के ऊपर लगा हुआ, मल से पूर्व या मल त्याग के अंत में बिना मल के साथ मिश्रित होकर आता है। यथा वृहदाँत्र के कैसर, गुदा या मलाशय के घाव, बवासीर या भगन्दर आदि से रिसने वाला रक्त।

परन्तु जब रक्तस्त्राव का स्थान आँत्र संस्थान के प्रथम भाग में यथा छोटी आँत्र या आमाशय की श्लेष्मा में होता है, तब रक्त का मल के साथ आँत्र से गुजरते हुए पूर्व या अर्द्ध रूप में पाचन हो जाता है और ऐसी स्थिति में रक्त के कारण मल का रंग गहरा लाल या कालापन लिये लाल अथवा कौफी के से रंग जैसा हो जाता है। आमाशय व्रण या अग्न्याशय के घाव से रक्तस्त्राव होने पर भी रक्त के कारण मल का रंग कालापन लिए हो जाता है। मल के रंग में रक्त की मात्रा के अनुसार परिवर्तन आता रहता है। जब रक्त की उपस्थिति मल में बहुत कम रहती है तब उसे आँखों से सीधे देख पाना मुश्किल होता है और उसकी उपस्थिति केवल प्रयोगशालीय परीक्षणों से ही सिद्ध हो पाती है।

रोगी की आँत्र में जब रक्त का स्त्राव तीव्र गति से और अधिक मात्रा में होने लगता है, चाहे आंत्रिक रक्तस्त्राव का कारण उस अवस्था में कोई भी क्यों न हो, रोगी की स्थिति शीघ्र ही जटिल बनती चली जाती है। ऐसी अवस्था में रोगी अत्यधिक कमजोरी, सिर में चक्कर आने और आँखों के आगे अन्धेरा छाने की शिकायत करने लगता है। उसे पसीना अधिक आने लगता है, मितली और वमन भी आ सकते हैं। वमन में रक्त मिश्रित आमाशय या आँत्र का भोजन आ सकता है। रोगी का रक्तचाप घट सकता, हृदय की धड़कन तीव्र हो सकती व नाड़ी की गति तीव्र व मंद हो सकती है।

जब आंत्रिक रक्तस्त्राव कम मात्रा में लगातार काफी समय तक होता रहता है तो रोगी में रक्ताल्पता वाले लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। रोगी शरीर में कमजोरी व थकावट बताने लगता है। उसकी भूख घट जाती है और स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। मल में रक्त की उपस्थिति मिलती है। रक्त परीक्षण में हीमोग्लोबिन का स्तर सामान्य से कम मिलता है। रक्त में जब यूरिया की मात्रा बढ़ी हुई मिले और क्रीटेनिन का स्तर सामान्य ही हो, तो उसका तात्पर्य है कि रोगी की आँत्र में एक लीटर से अधिक मात्रा में रक्त का स्त्राव हो चुका है।

## रोग का उपचार

रोगी की दशा यदि अत्यंत, नाजुक हो, उसकी आँत्र में रक्त का स्त्राव तीव्र गति से व अधिक मात्रा में हो रहा हो, उसके शरीर के रक्त में हीमोग्लोबिन का स्तर सामान्य से काफी कम रह गया हो एवं रक्तचाप घट रहा हो तो ऐसी अवस्था में बिना कोई समय नष्ट किये रोगी का उपचार आपातकालीन रूप में विशेषज्ञ चिकित्सकों की देखरेख में करवाना चाहिए। क्योंकि रोगी की ऐसी नाजुक अवस्था में उसे तुरंत रक्त चढ़ाना पड़ सकता है। रोग के वास्तविक कारण को ज्ञात करने के लिए कई प्रकार के परीक्षण करवाने पड़ सकते हैं तथा रोगी के तीव्र रक्तस्त्राव को रोकने के लिए तुरंत शल्य चिकित्सा (ऑपरेशन) की भी सहायता लेनी पड़ सकती है।

इसके विपरीत जब रोगी की आँत्र में रक्तस्राव की गति धीमी और उसमें काफी समय से आंत्रिक रक्तस्राव जारी हो तो सर्वप्रथम रोगी का विस्तृत रूप में निरीक्षण करते हुए रक्तस्राव के वास्तविक कारण को ज्ञात करना चाहिए तथा उसके अनुसार ही रोगी की चिकित्सा की जानी चाहिए जिससे रोगी को स्थायी रूप में स्वास्थ्य लाभ मिल सके।

### आंत्रिक रक्तस्राव के रोगियों को भिन्न तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए

१. आंत्रिक रक्तस्राव के दौरान या जिन लोगों को पहले कभी आंत्रिक रक्तस्राव अथवा आमाशय या ग्रहणी के व्रण आदि रोग रहे हैं, उन्हें किसी भी प्रकार की दर्द निवारक औषधियाँ यथा एस्पिरिन, इण्डोमेथासिन, डिक्लोफेनेक, पेरेक्साकान, आइबूप्रोफेन, फिनाइलबूटाजोन आदि, बिना चिकित्सकीय परामर्श के बिलकुल नहीं खानी चाहिए और न ही शोथहर औषधियाँ, स्टीरॉयडस ही सेवन करनी चाहिए। इनके अतिरिक्त आंत्रिक रक्तस्राव के रोगियों को शराब का सेवन पूरी तरह छोड़ देना चाहिए और अपने आहार में तेज मिर्च, मसाले एवं अधिक नमक का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
२. शरीर में विटामिन 'के' की कमी न हो इस बात का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योंकि कई प्रकार के रोगों में प्रतिजीवी औषधियों (एण्टीबायोटिक्स) का लंबे समय तक सेवन करते रहने से आँत्र में निवास करने वाले मित्र जीवाणुओं का नाश हो जाता है। यह जीवाणु शरीर के लिए विटामिन 'के' का निर्माण करते हैं। अतः इन जीवाणुओं के अभाव में रक्त में विटामिन 'के' की कमी हो जाती है। विटामिन 'के' रक्तस्राव को रोकने के लिए रक्त का थक्का बनने (रक्त के जमने) की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विटामिन 'के' के अभाव में रक्त के थक्का बनने की प्रक्रिया गड़बड़ा जाती है।
३. आंत्रिक रक्तस्राव का वास्तविक कारण जब तक ज्ञात हो और उसके अनुसार रक्तस्राव का उपचार शुरू को पाये तब तक रक्तवर्द्धक खाद्य पदार्थों का सेवन रक्ताल्पता रोग में किये जाने वाले आहार की भाँति ही किया जाये जिससे रक्त की क्षतिपूर्ति होती रहे और रक्तस्राव के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकने वाली जटिल समस्याएं उत्पन्न न हों पायें

### आयुर्वेदिक चिकित्सा उपक्रम

आंत्रिक रक्तस्राव को रोकने के लिए निम्न आयुर्वेदिक चिकित्सा उपक्रमों की सहायता ली जा सकती है-

१. छोटी इलायची दाना, वेल पत्र, नागकेशर, अजवायन, सफेद चंदन, वंशलोचन, धाय के फूल, धनिया, कुड़ा की छाल, खस-खस आदि सभी समान मात्रा में लेकर इन्हें अत्यंत बारीक पीस लें और छानकर किसी पात्र में भर कर रख लें। यह चूर्ण एक चम्मच की मात्रा में और उसमें २ ग्राम मात्रा में उन्नावा मिला कर एक खुराक के रूप में ताजा पानी के साथ दैनिक रूप में ऐसी तीन खुराकें देते रहें। इससे लगभग सभी प्रकार के आंत्रिक रक्तस्राव ५ से ७ दिनों में ठीक हो जाता है।
२. ईसबगोल के बीज ५ ग्राम, खस-खस के बीज १० ग्राम, बबूल का गोंद १० ग्राम और शहद १२ ग्राम की मात्रा में लेकर, सबसे पहले रात्रि के समय खस-खस और ईसबगोल के बीजों को मोटा-मोटा पीस कर एक कप पानी में रात्रि को भिगो दें। प्रातःकाल इन्हें धीमी आग पर चढ़ा कर उसका क्वाथ बना लें। इस क्वाथ में बबूल का गोंद पीसकर और शहद मिला लें। इस क्वाथ का दिन में दो बार, सुबह-शाम १०-१० मि.ली. की मात्रा में गाया या बकरी के ताजा दूध के साथ सेवन करने से आंत्रगत रक्तस्राव में लाभ आ जाता है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

आंत्रिक रक्तस्राव से तात्पर्य है आंतों से खून आना। आंतों से खून प्रायः मल के साथ ही आता है। आने वाला खून लाल एवं काले रंग का हो सकता है तथा यह कोई न कोई आंत्रिक व्याधि के कारण उपस्थित होता है। किसी भी तरह का आंत्रिक रक्तस्राव होना गम्भीर हो सकता है। अतः इसका प्रारम्भिक अवस्था में ही पूर्ण सावधानी से इजाल शुरू कर देना चाहिए। आंत्रिक रक्तस्राव का रोगी प्रायः कमजोर, रक्तहीन एवं दुर्बल नजर आता है। सर्वप्रथम उसे पूर्ण शवासन की

मुद्रा में विश्राम करना चाहिए। उपचार में सर्वप्रथम एकदम ठण्डी मिट्टी की पट्टी पेड़ू पर एवं मलद्वार पर रखें एवं बर्फ का पानी या चूरा डालकर ठंडा करते रहें। जैसे ही पट्टी गरम हो उसे तुरंत बदलते रहना चाहिए। रोगी की स्थिति को देखते हुए १५० मि.ली. से २५० मिली. बर्फ का पानी का एनीमा देना चाहिए एवं रोगी से कहना चाहिए कि पानी को रोकने की चेष्टा करे। ऐसी परिस्थिति में रोगी का शरीर एकदम ठण्डा भी नहीं होने दें। अतः पैरों को कम्बल से ढक कर रखना चाहिए एवं शरीर इतना गरम भी न होने पाये कि रक्त बहाव में तेजी होने लगे। अगर शरीर बहुत ज्यादा गरम प्रतीत होने लगे तो ठण्डे पानी से सम्पूर्ण शरीर का स्पंज स्नान दे सकते हैं। जैसे ही रक्तस्राव कम होने लगे तो रोगी को एकदम ठण्डा कटि स्नान देना चाहिए। इस कटि स्नान के दौरान दोनों पैरों को गरम पानी के टब में रखें तथा गर्दन से नीचे तक का सम्पूर्ण शरीर कम्बल से ढक कर रखें ताकि शरीर की उष्मा का स्तर बना रहे। आवश्यकता हो तो पिण्डलियों पर गीली सूती लपेट बांधकर उसके उपर से सूखी ऊनी लपेट बांधनी चाहिए। यही उपचार ३ से ५ दिन तक देना चाहिए। निश्चित ही रोगी को आराम मिलता है।

### आहार चिकित्सा

बकरी के दूध में बर्फ डालकर चम्मच से बार-बार पियें। रोग की तीव्र अवस्था में भोजन या रेशे वाला कोई आहार नहीं देना चाहिए। डेढ़ दो घंटे के अंतराल से बर्फ मिला नारियल पानी या दूध ३० से ६० मिली. की मात्रा में सेवन कराना चाहिए। स्थिति में सुधार होने पर दुध या नारियल पानी (बर्फ मिला हुआ) की मात्रा १००-१२५ मिली. तक बढ़ाकर देते रहें। इस दौरान हरी घास का रस २०-३० मिली. की मात्रा में औषध रूप में पिला सकते हैं। इसके लिए प्रातःकाल पर्याप्त मात्रा में हरी घाव लेकर उसे स्वच्छ पानी से भली प्रकार से धो लें। इस घास को सिल-बट्टे अथवा मिक्सी में पीस लें। पतले स्वच्छ सूती कपड़े में इसी पिसी घास को रख कर निचोड़ ले। यह रस हर प्रकार के रक्तस्राव को रोकता है। जब रोगी को यह पचने लग जाये तो फलों का रस या चावल के मांड का पानी या मूंग का पानी शुरू कर सकते हैं। धीरे-धीरे ३-४ दिन बाद लाल चावल का भात, सब्जी का सूप, पीले कद्दू की सब्जी देनी चाहिए। रोगी की पाचन शक्ति के अनुसार गेहूं की घास का रस, गाजर, अंगूर, अनार, पत्तागोभी इत्यादि का रस प्रयोग में लाएं। १०-१५ दिन तक निरन्तर घास रस को प्रयोग करायें। भरपेट भोजन नहीं करके अल्पाहार एवं सुपाच्य आहार दें, सप्ताह में एक दिन फलों के रस पर उपवास करायें तो बेहतर रहता है। भारी, गरिष्ठ आहार, तले-भुने, मिर्च-मसालेदार, आमिस तन्तु एवं रेशे वाले आहार का परित्याग करें।

## वमन (उल्टी)

### $\frac{1}{4}$ VOMITING $\frac{1}{2}$

जब आमाशय के विपरीत दिशा में गति करने पर आमाशय के पदार्थ (भोजन आदि) कंठ नलिका में वापिस आकर मुँह के रास्ते बाहर निकलने लगें तो उसे “वमन” अर्थात् ‘कै’ करना कहते हैं। सामान्य बोलचाल में इसे उल्टी आना भी कहा जाता है। वमन में आमाशय का पचा, अधपचा आहार, पित्त या खट्टा, कड़वा, पीला सा तरल तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ अन्य पदार्थ भी आने लगते हैं। कई बार रोगी को वमन की इच्छा तो होती है पर आमाशय के गति न करने के कारण वमन नहीं आती। इस दशा को मितली आना कहते हैं और जब आमाशय में गति तो होती है परन्तु आमाशय से कोई पदार्थ वमन के रूप में बाहर न निकले तो वह दशा रेचिंग कही जाती है। वास्तव में वमन की शुरुआत मितली आने से ही शुरू होती है।

### वमन क्या है ?

वास्तव में वमन एक ऐसी प्रतिवर्त प्रतिक्रिया है तो आमाशयी पदार्थ का मुँह द्वारा बाहर फेंक कर उर्ध्व जठरांत्र को आराम प्रदान करती है। इस वमन की शुरुआत या तो उस समय हो सकती है जब आमाशय आदि में मौजूद आहार स्वयं क्षोभक हो या कि स्वयं आमाशय या आमाशय की स्नायु सामान्य की अपेक्षा अधिक फैलाव या संकुचन अथवा उत्तेजना भी इस प्रतिवर्त प्रतिक्रिया की शुरुआत कर वमन ला सकती है। वमन की यह प्रतिक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है, जो कई चरणों में सम्पन्न होती है जैसे कि

1. मितली आना : वमन की शुरुआत में सबसे पहले व्यक्ति को मितली का अनुभव होने लग जाता है। इसके बाद मुँह में थूक के स्राव की गति बढ़ जाती है।
2. नासाग्रसनी और ‘श्वसन द्वार का बंद होना : नासाग्रहसनी और ‘श्वसन द्वार के बंद होने का मुख्य कार्य यह होता है कि वमनीय पदार्थ किसी भी प्रकार इनके द्वारा फेफड़ों तथा नाक में प्रवेश न कर सके।
3. आमाशय का शांत होना: आमाशय का निचला द्वार जो आँत्र में खुलता है, संकुचित होकर दबाव के साथ आमाशय के पदार्थ को वापिस पीछे धकेलता है। इसके साथ ही आमाशय में संकुचन और विपरात पुरःसरण गति शुरू हो जाती है व जठर निर्गम द्वार बंद हो जाता है।
4. पेट में दबाव बनना : उबकाई (वमन) की भावना के साथ ही पेट की माँस पेशियां सिकुड़ने लगती हैं, जिससे पेट के अंदर तीव्र दबाव बनने लग जाता है तथा जो आमाशय पर पीछे से तीव्र दबाव डालकर आमाशयी पदार्थ को वापिस कंठ और मुँह के द्वारा बाहर फेंक देता है। कंठ नलिका की विपरीत पुरःसरण गति भी इसमें सहायता करती है।

यो वमन का सीधा सा नियन्त्रण वमन केन्द्र द्वारा होता है, जो हमारे मस्तिष्क के मेडूला के डार्सल भाग में स्थित होता है। यह केन्द्र वमन के अतिरिक्त मल त्याग की प्रवृत्ति, श्वसन क्रिया थूक के स्राव आदि को भी नियन्त्रण करता है। शायद इसी कारण वमन क्रिया के दौरान वमन के अतिरिक्त इनमें से भी कोई एक-दो लक्षण मौजूद रहता है। यह केन्द्र कई विशेष परिस्थितियों में सीधे ही उत्तेजित होकर वमन शुरू कर देता है, जैसे कुछ औषधियों के द्वारा, रक्त में यूरिया की मात्रा सामान्य से अधिक हो जाने पर, मस्तिष्कीय दबाव के बढ़ने पर (ब्रेन ट्यूमर, मस्तिष्कीय शोथ) आदि।

### वमन के कारण

आमाशय और इससे सम्बन्धित तमाम रोगों में वमन का आना एक प्रमुख लक्षण माना जाता है। वैसे वमन आने के कई कारण भी हो सकते हैं जैसे पर्युदर्या की शोथ आँत्रपुच्छ शोथ, पित्ताशय शोथ आदि। कुछ और बहुत सी अवस्थायें भी वमन का कारण बन जाती हैं, जैसे कि मस्तिष्कीय आवरण शोथ, रक्त में यूरिया का स्तर बढ़ जाना, आधे सिर का दर्द, कुछ औषधियों के दुष्प्रभाव जैसे मारफीन और डिगाविस्स (हृदय रोग की एक दवा), और बच्चों में कुछ संक्रमण रोगों के कारण। इनके अतिरिक्त वमन अति बदबूदार और गंदी हवा में सांस लेने, आमाशय में खराश पैदा करने वाली वस्तुओं जैसे संखिया, अफीम, चरस, भांग, गांजा, शराब आदि के सेवन करने, कुछ घृणित वस्तुओं को देखने, झूला झूलने या चक्करदार

खिलौने पर खेलने (चक्कर खाने) के बाद, गर्भ ठहर जाने पर, पानी के जहाज या वायुयान में यात्रा करने, कार, मोटर, रेलगाड़ी में यात्रा करते समय भी कई लोगों को वमन आ जाती है।

न पचने वाले खाद्य पदार्थों के सेवन कर लेने, भोजन की अनियमितता, आमाशय में किसी दोष के कारण जैसे पित्त या बलगम (कफ) के अधिक मात्रा में इकट्ठे हो जाने, आमाशय शोथ, आमाशय के व्रण, आमाशय का कैंसर, आमाशय का जाना आदि सभी में आमाशय में ही खाया हुआ आहार इकट्ठा होता जाता है जो बाद में जठर निर्गम और आमाशय भित्तियों पर दबाव डालता है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आमाशय में संकुचन होकर वमन क्रिया से मुंह के द्वारा आमाशय का सारा पदार्थ बाहर निकल जाता है और रोगी को कष्ट से चैन आ जाता है।

आमाशय में पैदा हुई किसी प्रकार की उत्तेजना अथवा शरीर के कुछ अन्य अंगों की प्रतिक्रिया स्वरूप वमन केन्द्र उत्तेजित हो सकता है। मस्तिष्क के सेरीब्रल केन्द्र में पैदा प्रतिवर्ति क्रिया और कुछ रसायनों के रक्त संचार के द्वारा वमन केन्द्र तक पहुंच जाने से भी वमन आ सकती है। कई प्रकार के यांत्रिक और रसायन उद्दीपक आमाशय की श्लेष्मिक भित्ति में उपस्थित वेगल और सिम्पेथेटिक तंत्रिकाओं के सिरों को उत्तेजित कर वमन प्रतिवर्त शुरू कर सकते हैं। इसी तरह कई प्रकार के विषाक्त पदार्थ भोजन के साथ आमाशय में पहुंच कर या पाचनक्रिया के दौरान शरीर में पैदा होकर इस प्रकार की प्रतिवर्ती प्रतिक्रिया शुरू कर सकते हैं। उदाहरण के लिए पारे का एक यौगिक मरकरी क्लोराइड, कॉपर और जिंक के सल्फेट आदि।

आमाशय के अतिरिक्त पाचन संस्थान के कुछ अन्य भागों में पैदा हुई खराश की सूजन या उनमें रुकावट आदि। ग्रहणी और मध्यांत्र के फूलने से भी वमन की शुरुआत हो सकती है। गुर्दे, मूत्राशय, पित्ताशय, गर्भाशय, हृदय आदि में उत्पन्न किसी प्रकार की खराश सीधे ही वमन केन्द्र पर कार्य करके वमन की समस्या को जन्म दे सकती है। इसी कारण गुर्दे की विफलता, हृदय विफलता तथा हृदय की रक्त वाहिनियों से सम्बन्धित रोगों में वमन एक प्रमुख लक्षण होता है।

हमारे कान का एक अंग होता है लिबिरिन्थ इसके उद्दीप्त होने से भी वमन की शुरुआत हो सकती है। इस प्रकार की वमन तीव्र गति से चक्कर लगाने या तीव्र गति के वाहन में यात्रा करने पर कभी-कभी शुरू हो जाती है, जैसे कि कार, मोटर, रेलगाड़ी, वायुयान और समुद्र के जहाज की यात्राओं के दौरान। मोशन सिकनेस इसका एक प्रमुख उदाहरण है।

गर्भावस्था के समय प्रथम तीन माह में अक्सर स्त्रियों को प्रातःकाल वमन आने लग जाते हैं। इस प्रकार की वमन आने का कारण उप-पाचन विकार है। शरीर में कार्बोहाइड्रेट की कमी और पानी की कमी से किटोसिस जैसे लक्षण बन जाते हैं, जो वमन केन्द्र को वमन की शुरुआत के लिए प्रेरित करते हैं। गर्भावस्था के पेट में पल रहे भ्रूण की आहार सम्बन्धी आवश्यकता माँ के रक्त द्वारा पूरी की जाती है। माँ के यकृत में उस दौरान ग्लाइकोजन का स्तर भी बहुत कम रह जाता है। जब दो खानों के मध्य अधिक समय हो जाए, जैसे रात्रि को खाना जल्दी खा लेने से नाश्ते के समय तक, तो रक्त में कार्बोहाइड्रेट का स्तर घट जाता है, जिससे कम प्रकार के किटोसिस लक्षण पैदा हो जाते हैं और फिर मितली व वमन की शुरुआत होने लग जाती है। रक्ताल्पता या रक्त स्राव के समय जब रक्त की आपूर्ति मस्तिष्क को घट जाती है तब भी वमन की शुरुआत हो सकती है।

कुछ बच्चों में एक प्रकार की वमन देखी जाती है, जिसे स्कूल फोविया के नाम से जाना जाता है। इस वमन के लक्षण स्कूल जाने की तैयारी करते समय या स्कूल में विशेष विषय की कक्षा शुरू होने के समय प्रकट होते हैं। इस प्रकार की वमन का कारण मानसिक होता है, और बच्चों के मन में छिपा कोई डर होता है, जिसे वह प्रकट रूप से दूसरों के सामने नहीं रख पाते हैं। इस वमन की शुरुआत प्रायः जी मिचलाने या मितली आने से ही होती है। वयस्कों में भी मानसिक प्रकार से वमन की शुरुआत हो जाती है, जो प्रायः नाश्ता करने के बाद या चलते समय होती है। इसका कारण अत्यधिक मानसिक तनाव, उत्तेजना और वहम हो सकता है।

## वमन के लक्षण और निदान

वमन के प्रकार, समय, रंग, गंध तथा मात्रा से वमन के कारण का सही-सही पता लगाने में सहायता मिलती है। यदि वमन बिना किसी पूर्वाभाव और मितली के अचानक आने लग जाए तो उसका सीधा सा कारण होता है मस्तिष्क के

मेडूला भाग में स्थित वमन केन्द्र का उद्दीपन होना, जैसे कि मस्तिष्क सम्बन्धी कई रोगों में होता है। वमन जिससे दर्द में आराम आ जाए, उसका सम्बन्ध पेटिक अल्सर के साथ हो सकता है। यदि वमन कई दिनों तक आती रहे, किन्तु रोगी के वजन में कमी न आए तो उसका सम्बन्ध मानसिक कारणों से होता है। प्रातः काल की वमन गर्भावस्था के दौरान या शराब का सेवन करने वालों को होती है। यदि शाम या रात्रि के समय अधिक मात्रा में वमन आये और वमन में खाया हुआ भोजन और पाचक स्त्राव मौजूद हों, तो इसका कारण आमाशय या आँत्र अवरोध होता है।

आमाशय के निचले द्वार में रूकावट होने पर दोनों समय का आहार आमाशय में ही इकट्ठा होता चला जाता है और रूकावट के कारण आगे ग्रहणी में प्रवेश नहीं कर पाता है। ऐसी अवस्था में दोनों का आहार आमाशय में ही रूका रहने के कारण रोगी को प्रायः सायंकाल या रात्रि के समय वमन आ जाती है। वमन आने से पहले रोगी का जी मिचलाता है तथा आमाशय में सख्त दर्द होने लग जाता है, इसके बाद रोगी को वमन आ जाती है। कई बार पाचन क्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद ही वमन आ जाती है। बच्चों में बहुत अधिक मात्रा में वमन आना आमाशय के निचले द्वार, जठर निर्गम की रूकावट का एक प्रमुख लक्षण है। यों वमन वृक्कों, हृदय और कई स्नायु सम्बन्धी रोगों में भी आने लग जाती है।

वमन में प्रायः खट्टी गंध आती है जो उसमें आमाशय के पाचक रस (हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) के मिल जाने से पैदा होती है। जब आमाशय का भोजन आमाशय के निचले द्वार के किसी अवरोध के कारण अन्तर्द्वारों में नहीं पहुँच पाता तब दोनों समय का भोजन आमाशय में ही इकट्ठा हो जाता है। अतः आमाशय विकार के कारण जो वमन आती है वह एक तो मात्रा में अधिक होती है तथा उसमें से खट्टी सी गंध भी निकलती है। मुँह का स्वाद भी वमन के बाद कड़वा खट्टा सा हो जाता है। आमाशय कैंसर में भी रोगी को इसी प्रकार की वमन सायंकाल तक आ सकती है।

यदि वमन से खट्टी गंध की जगह दुर्गन्ध आने लग जाये तो यह किसी गम्भीर रोग का लक्षण हो सकता है। अन्तर्द्वारों में उत्पन्न हुई पूर्ण रूकावट के कारण मल आगे की तरफ की न बढ़कर पुनः वापिस आमाशय में लौटने लग जाता है, जिससे आमाशय में ही आहार के साथ मल भी इकट्ठा हो जाता है। अतः इस समय जो वमन आती है उसमें मल का भाग मिले होने के कारा पाखाना जैसी दुर्गन्ध आती है। आमाशय के निचले द्वार के घातक रोगों के कारण बहुत अधिक मात्रा में खमीर बनने लग जाता है व गैस बनने लग जाती है, इसलिए इस कारण से वमन आने के समय भी उसमें तीक्ष्ण दुर्गन्ध आती है।

भोजन करने के तुरंत बाद ही वमन आ जाने या देर से आने से वमन के रंग में परिवर्तन आ जाता है। आमाशय से आने वाली वमन का रंग अक्सर भोजन के रंग जैसा ही होता है। आमाशय से ही कुछ समय बाद वमन आने पर उसका रंग हल्का पीलापन लिए हो सकता है। जब ग्रहणी (छोटी आँत्र का अगला भाग) से पचा भोजन वापिस आमाशय में आकर वमन के रूप में मुँह से निकलता है तो इस वमन में कई असाधारण अंश भी आने लग जाते हैं। आमाशय से रक्त स्त्राव होने पर (पेटिक अल्सर आदि में) वमन का रंग चमकदार लाल या कालापन लिए लाल (कॉफ के रंग का) हो सकता है क्योंकि वमन में ताजा रक्त या थक्का व पचा रक्त मिला होता है। वमन के साथ प्रायः पित्त भी मिलकर आता है जिसके कारण वमन का रंग हल्का पीला सा या हरा-पीला सा हो जाता है। किन्तु जब आहार अन्तर्द्वारों की रूकावट के कारण वहाँ से लौटकर वमन के रूप में बाहर निकलता है, तो उसका रंग गहरा पीलापन लिए होता है, क्योंकि उस समय वमन में पित्त काफी अधिक मात्रा में मिला होता है। वमन में उस समय आमाशय का आधा पचा भोजन और चाइम मिला रहता है।

जिस प्रकार पाखाना के साथ बलगम (म्यूकस) भी थोड़ी मात्रा में निकलती है उसी प्रकार वमन में भी बलगम थोड़ी बहुत मात्रा में मिली रहती है, किन्तु जब वमन के साथ बलगम अधिक मात्रा में आने लगे तो यह आमाशय शोथ का लक्षण होती है। वमन में कई प्रकार के जीवाणु, आमाशय की भित्ति कोशिकाओं के टूटे हुए अंश, पूय और विभिन्न रसायन भी मिले होते हैं। आवश्यकतानुसार इनका भी परीक्षण कराकर रोग निदान में सहायता ली जा सकती है और उसके अनुसार चिकित्सा की जा सकती है।

## वमन की चिकित्सा

वमन की चिकित्सा चाहे आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से की जाये या फिर आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली अथवा अन्य किसी पैथी से, परन्तु चिकित्सा का सर्वप्रथम उद्देश्य और रहस्य इसी बात में छिपा रहता है कि वमन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली पानी, खनिज लवण और पोषक तत्वों की क्षति को किस प्रकार रोका जाये तथा शीघ्र से शीघ्र रोग का पता लगाकर उसका समुचित उपचार किया जाए। क्योंकि वमन की समस्या कई लोगों विशेषकर छोटे बच्चों में कई प्रकार की जटिलताएं उत्पन्न कर सकती हैं, जैसे कि बच्चों में लगातार वमन के कारण शीघ्र ही पानी, सोडियम, पोटेशियम की कमी हो जाती है। पोटेशियम की तो एक दिन में ही २-३ ग्राम की मात्रा में क्षति हो सकती है, जिससे अचानक हृदयाघात होकर बच्चे की मौत तक हो सकती है। वैसे कभी-कभी, गर्भावस्था, शराब के सेवन के उपरांत और भारी, गरिष्ठ भोजन के बाद होने वाली वमनों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता तो नहीं होती है, परन्तु जब लगातार और गम्भीर प्रकार की मितली और वमन आने लग जाये तो तुरंत ध्यान देने व चिकित्सा सहायता उपलब्ध कराने की आवश्यकता पड़ती है। वमन चिकित्सा के दो उद्देश्य होते हैं- तरल और पोषक तत्वों की पूर्ति तथा रोकने व रोगानुसार चिकित्सा ।

### आधुनिक उपचार

(१) शरीर में तरल और पोषक तत्वों की पर्याप्त मात्रा बनाये रखने का प्रयास किया जाए। यदि वमन रोगी मुँह से कुछ भी खाने पीने में असमर्थ हो, तो अस्थायी तौर पर उसका आहार सेवन बंद कराकर शिरामार्ग से तरल, खनिज लवण व पोषक तत्वों की आपूर्ति की जाए। रोग में जैसे ही सुधार आ जाये शीघ्र ही मुँह से तरल पदार्थों का सेवन शुरू करा दिया जाये जैसे कि नींबू की नमक (काला नमक हो तो अच्छा है) और थोड़ी चीनी मिलाकर तैयार कि गई शिंकजी, दाल का पानी, उबले जौ और चने का पानी, फलों और हरी सब्जियों का रस आदि। जब रोगी इन्हें पचाने लग जाये तो उसे अर्द्ध ठोस आहार यथा बिस्कुट, केला, चीकू, सेव आदि फल, खिचड़ी, दलिया, साबूदाना, दूध आदि भी देने शुरू कर देने चाहिए और अंत में रोगी अपना सामान्य आहार का सेवन शुरू कर सकता है।

यदि गर्भवती स्त्रियां सुबह उठने से पहले २-३ बिस्कुट, चाय, दूध अथवा फल आदि का सेवन थोड़ी मात्रा में कर लिया करें तो बिस्तर छोड़ने के बाद उन्हें वमन आने की संभावना कम हो जाती है अथवा उनकी तीव्रता घट जाती है, इसके विपरीत कार, मोटर, रेलगाड़ी, वायुयान से यात्रा करने वाले उन लोगों को, जिन्हें इन वाहनों में यात्रा करते समय अक्सर वमन की समस्या का सामना करना पड़ता है, अपनी यात्रा शुरू करने से पहले किसी भी प्रकार का ठोस आहार ३-४ घंटे पहले कर लेना चाहिए। अर्द्ध ठोस आहार जैसे दूध, दही, फल, बिस्कुट आदि भी कम से कम डेढ़ से २ घंटे पहले तक खा लेने चाहिए तथा तरल पदार्थ जैसे फलों का जूस, शिंकजी, शर्बत, ठण्डे पेय आदि भी आधे से एक घंटे पहले तक ले लेने चाहिए। परन्तु यात्रा आरंभ करने से ३०-४० मिनट पूर्व कुछ भी खाना-पीना नहीं चाहिए, इस प्रकार के प्रयास से इन लोगों को यात्रा के दौरान वमन की समस्या का कम से कम सामना करना पड़ेगा ।

(२) आधुनिक चिकित्सा पैथी में कई प्रकार की ऐसी औषधियां उपलब्ध है जो सीधे ही वमन केन्द्र पर प्रभाव डालकर वमन की आवृत्ति को रोक देती है। यथा आवश्यक इन औषधियों का उपयोग किया जाना चाहिए, किन्तु इनके साथ ही रोग के वास्तविक कारण का पता लगाकर उसकी समुचित चिकित्सा भी शुरू कर देनी चाहिए।

### आयुर्वेदिक चिकित्सा

आयुर्वेद चिकित्सा पैथी के भी वही उद्देश्य है जो आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के हैं। इसमें भी रोगानुसार वमन की चिकित्सा की जाती है। साथ ही शरीर को तरल और अन्य आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति जारी रखना। चूंकि आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली में शिरा मार्ग से तरल चढ़ाने का विधान नहीं है अतः वमन की अवस्था में मुख मार्ग से ही पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थ देते रहने चाहिए। इस सम्बन्ध में दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। किसी भी प्रकार के ठोस और अर्द्ध ठोस खाद्य पदार्थों का सेवन अस्थायी रूप में पूर्णतः बंद कर दिया जाये लेकिन थोड़ी-थोड़ी मात्रा में तरल पदार्थ मुँह द्वारा जारी रखे जायें। यदि रोगी को वमनों की आवृत्ति एक घंटे से अधिक समय के अंतराल से है अर्थात् रोगी को दिन भर में आने वाली वमनों की संख्या १०-११ से कम है तो रोगी मुँह द्वारा तरल पेय जारी रख सकता है। यदि तरल को सेवन किये एक घंटे से अधिक समय हो चुका है और इस दौरान वमन की आवृत्ति नहीं हुई है, तो पेय का बहुत अधिक भाग पेट में अवशोषित होकर शरीर में पहुँच जाता है, जिससे काफी हद तक शरीर को तरल और पोषक तत्वों की आपूर्ति होती रहती

है। इसलिये यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो तरल रोगी मुँह द्वारा ले रहा है, वह पूरे का पूरा व्यर्थ वापिस निकल जाता है।

रोगी तरल के रूप में पानी उबाल कर ठंडा किया शिंकजी के रूप में, शर्बत, दाल, जौ और काले चने को उबालकर तैयार किया पानी, फलों, सब्जियों को रस आदि ले सकता है। (देखें आधुनिक चिकित्सा के अंतर्गत)। रोगी को एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उसे कभी भी अधिक मात्रा में लगातार सदा पानी पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। इससे शरीर को पानी की आपूर्ति तो हो जाती है, किन्तु खनिज लवण और पोषक तत्वों, विशेषकर सोडियम और पोटेशियम का अभाव बना ही रहता है। इसलिए शरीर को पानी की आपूर्ति लाभ की बजाय हानि पहुँचा सकती है।

सामान्यतः समय-समय पर वमनों की समस्या के उत्पन्न होने के पीछे आमाशय से सम्बन्धित विकार ही जिम्मेदार होते हैं। भोजन करने के एक घंटे के अंदर यदि वमन आ जाये तो इसका सीधा सा संबंध आमाशय से ही होता है। भोजन करने के दो-तीन घंटे बाद वमन हो तो इसका संबंध यकृत या आँतों से सम्बन्धित रोगों से हो सकता है। किन्तु एक बात सदैव स्पष्ट होती है कि वमन यदि किसी अन्य रोग के कारण हो तो साथ में सम्बन्धित रोग के लक्षण पाये जाते हैं।

आयुर्वेद के कुछ वमन की चिकित्सा सम्बन्धी परीक्षित व सरल योग इस प्रकार है जिनका लाभ आवश्यकता के समय रोगियों को कराया जा सकता है -

- जायफल फांट : दो लीटर पानी में १२-१३ ग्राम जायफल का चूर्ण डालकर पानी को आधा घंटा आग पर उबाल लें, फिर इसे उतार कर छान लें। ठंडा होने पर इसमें आवश्यकता के अनुसार थोड़ा सा काला नमक तथा चीनी भी मिला लें। इस जायफल फांट में से थोड़ा-थोड़ा पानी रोगी को थोड़े-थोड़े समय बाद पिलाते रहने से वमन आनी बंद हो जाती है। साथ ही रोगी के शरीर को पानी व खनिज लवण की आपूर्ति भी होती रहती है।
- भांग के पत्ते एक ग्राम और काफूर दो ग्राम की मात्रा में लेकर, उन्हें खरल में डालकर अच्छी तरह घोट लें तथा उसमें २५-३० गोлияं बनाकर छाया में सुखा लें और साफ शीशी में भरकर रख लें। आवश्यकता के समय १-२ गोली अर्क गुलाब या ताजा पानी के साथ सेवन करायें। इससे जटिल से जटिल परिस्थितियों में भी वमन का आना रुक जाता है।
- वमन रोकने के लिए बहुत ही आसान और प्रभावशाली योग इस प्रकार है- कागजी नींबू लेकर उन्हें पानी से अच्छी तरह साफ करके कपड़े से पौछ कर सुखा लें। इन नींबूओं को पत्थर की खरल में डालकर पीस लें तथा एक कांच के साफ किये बर्तन में भरकर आवश्यकता के अनुसार सेंधा नमक मिलाकर बर्तन के मुँह को अच्छी तरह बंद करके एक महीने के लिए सूर्य की धूप में रख दें। बाद में इस को छानकर अन्य किसी शीशी में भरकर रख लें। यह औषधि हर प्रकार के वमन व मितली के लिए बहुत अदभुत है। इस औषधि को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पानी में मिलाकर रोगी को पिलाते रहें। यह औषधि यात्रा की मितली व वमन में भी लाभ करती है।
- छोटी इलायची दाना, पिप्पली, पोदीना समान मात्रा में लेकर अच्छी तरह बारीक पीस लें। इस चूर्ण का थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सेवन करने से वमन का शमन होता है।
- छोटी इलायची, लौंग, दालचीनी, और तेजपात समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। दिन में ५-६ बार एक-एक घंटे के अंतर से १-१ ग्राम की मात्रा में शहद के साथ चाटने से वमन में आराम आ जाता है।
- बड़ी इलायची के भुने हुए, नारियल जटा की काली भस्म, गेरू भस्म प्रत्येक १२-१२ ग्राम की मात्रा में लेकर बारीक पीस लें। आवश्यकता के समय इसमें से १२५ मि.ग्राम से ५०० मि.ग्राम की मात्रा में लेकर शहद के साथ चाट लें। इससे लगभग प्रत्येक प्रकार की वमन शांत हो जाती है।
- आयुर्वेदिक चिकित्सा का एक उपक्रम इस प्रकार है- लीला विलास रस ५०० मि.ग्रा. सूत शेखर रस ५० मि.ग्राम मयूर पिच्छ भस्म एक ग्राम, मुक्ता पिष्टी २५० मि.ग्राम और पिप्पली चूर्ण एक ग्राम की मात्रा में लेकर उसकी चार खुराकें बना लें तथा दिन में चार बार प्रत्येक ३-३ घंटे के अंतर से एक ग्राम बड़ी इलायची के भुने हुए चूर्ण के साथ शहद में मिलाकर चाट लें। दिन में ५-६ बार ही यवानी खाडंव चूर्ण १-२ ग्राम की मात्रा में चाटते रहें तथा १-१ घंटे के अंतर से २० मिली. पानी में २ ग्राम सर्जिका क्षार व ५ बूंद अमृत बिन्दु भी मिलाकर पीते हैं। इस



औषधि उपक्रम से वमन में बहुत जल्द लाभ आ जाता है, पाचन प्रक्रिया सुधर जाती है और रोगी कमजोरी भी महसूस नहीं करता।

### प्राकृतिक उपचार

सर्वप्रथम वमन किस कारण से हो रहा है उस कारण को दूर करने की चेष्टा करें। यदि किसी दूषित पदार्थ के खाने के बाद वमन हो रहा है तो पर्याप्त मात्रा में ताजा पानी पिलाकर कुंजल (उल्टी) करायें। उल्टी को रोकें नहीं अपितु प्रकृति के उद्देग को बाहर निकालने के लिए उद्यत करें। ऐसा करने से दूषित पदार्थ बाहर निकल जायेंगे एवं रोगी को आराम मिलेगा। कुंजल के बाद ठंडा दूध चम्मच से पियें। ऐसा करने से उल्टी रुक जाती है। यदि वमन में कुछ भी पदार्थ बाहर नहीं निकलता और रोगी का जी मिचला रहा हो तो बर्फ का टुकड़ा चूसने के लिए दें। उदर पर तैलिया के द्वारा गरम-ठंडा कम्प्रेष क्रमशः ३ मिनट गमर, २ मिनट ठण्डा दें और नीम के पत्ते उबले पानी का एनीमा लगायें। एनीमा देने के बाद पेट पर ठण्डी मिट्टी की पट्टी रखकर रोगी को विश्राम करायें। यदि अम्लता के कारण वमन होती हो एवं कुछ भी खाने पर बार-बार बाहर आ जाता हो तो ठंडा दूध १०० मिली. तक पियें एवं मध्य उदर पर ठण्डे पानी में भिगो निचोड़कर मोटा कपड़ा रख दें। ऊपर से गरम पानी की थैली से सेक करें या कम्बल से ढक दें। बहुत जल्दी आराम मिलता है। गरम-ठण्डा कटि स्नान दें एवं इस दौरान थोड़ा-थोड़ा दूध पियें। नीम के पत्ते उबले पानी से समस्त शरीर का घर्षण करते हुए रोंयेदार तैलिये से पूरे शरीर की घर्षण मालिश करें एवं पेट पर मिट्टी की पट्टी की रखें। अतयधिक वमन होने पर निर्जलीकरण (डीहाइड्रेशन) की अवस्था उत्पन्न हो सकती है अतः १ लीटर नीम के पत्ते उबले पानी २ बड़े नीबू का रस, १० ग्राम नमक, ३० ग्राम शहद , ५ ग्राम मीठा सोड़ा मिलाकर धीरे-धीरे एनीमा देना चाहिए। वमन शांत होने पर फल या सब्जियों का रस अल्पमात्रा में शुरू करें। अम्लता वमन में खट्टे फल व सब्जियों का रस नहीं देना चाहिए। नारियल पानी, लौकी, गाजर, आंवला सेव इत्यादि का रस दें। धीरे-धीरे लघु एवं सुपाच्य आहार दलिया, खिचड़ी, सूप, फल, सलाद पर लाएं।

### आहार चिकित्सा

आहार में रोगी को २-४ दिन तक रोग की उग्र अवस्था के कम हो जाने तक भोजन नहीं दें। भोजन देने से बार-बार उत्क्लेश की प्रवृत्ति होती है। बर्फ मिला हुआ दूध एवं कच्चे नारियल का पानी एक घंटे के अंतर से १ कप की मात्रा बढ़ा दें अर्थात् १०० से १५० मिली. की मात्रा दें। हरी दूब का रस ५० मिली. की मात्रा में दिन में ३-४ बार पियें। १-२ दिन बाद चावल के मांड का पानी, सब्जी व फलों का रस अल्प मात्रा में प्रारंभ करें। फाइबर आहार नहीं दें। इसके बाद धीरे-धीरे रोगी की स्थिति देखते हुए चावल, पेठा, पत्तागोभी की सब्जी लघु मात्रा में दें। पत्तागोभी , अनार, काले-मीठे अंगूर, सेव, गाजर, चुकन्दर, गेहूँ पत्तों का रस, दूब का रस, बदल-बदलकर सेवन करायें।

भरपेट भोजन नहीं करें, तले-भुने, चटपटे, मिर्च-मसालेदार भोजन से परहेज रखें। रेशे वाले खाद्य पदार्थ नहीं खाएं। सप्ताह में एक बार उपवास अवश्य करें।

## रक्त पित्त

‘भाव प्रकाश’ में रक्त पित्त रोग के कारण उत्पन्न होने वाले कष्टों (उपद्रव) के विषय में इस प्रकार लिखा गया है कि रक्त पित्त के कारण रोगी में “दुर्बलता, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, पांडुता, दाह, मूर्च्छा, भोजन करने के बाद पेट में कष्ट, बेचैनी, हृदय प्रदेश में सदैव पीड़ा का रहना, प्यास अधिक लगना, भोजन में अरुचि, दस्तों का लग जाना, सिर दर्द, मुँह से थूक के साथ दुर्गन्ध आने लगना, पेट में आहार का समुचित रूप से पाचन न होना और नाक, कान, मूत्र मार्ग (लिंग व योनी) तथा समस्त शरीर के रोम कूपों से माँस की धोवन के समान दूषित रक्त का बहना” आदि लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। स्पष्ट है कि ‘भाव प्रकाश’ वर्णित रक्त पित्त रोग के यह लक्षण पाचन संस्थान के संक्रमण रोग के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। समस्त संक्रमण रोगों में ज्वर, घबराहट, बेचैनी व पाचन सम्बन्धी विकार सदैव ही प्रारम्भिक लक्षणों के रूप में प्रकट होते हैं। वैसे भी आयुर्वेद में लगभग रोगों के पीछे आमाशय सम्बन्धी पाचन विकार, दूषित व अप्राकृतिक आहार एवं अनिश्चित विहार को ही दोषी माना जाता रहा है। आयुर्वेदिक मनीषियों का मानना है कि दूषित और अनियमित आहार-विहार से पाचन का कार्य भली भाँति सम्पन्न नहीं हो पाता है जिससे शरीर में अधिक मात्रा में दोष उत्पन्न होने लग जाते हैं, साथ ही उनका संचय भी शरीर में अधिक होने लग जाता है, जो विभिन्न रोगों की उत्पत्ति का कारण सिद्ध होने लग जाता है।

संक्रमित रोगों के पीछे भी वे अनुचित आहार-विहार को ही मुख्य दोषी मानते हैं। उनका कहना है कि दूषित खान-पान से कुछ समय के उपरांत शरीर की प्रतिरक्षा शक्ति कमजोर पड़ जाती है, ऐसी स्थिति में रोगाणु शरीर पर हावी होकर अपनी जीवन लीला सुगमता से चलाने लग जाते हैं, जिससे शरीर के उत्तकों को क्षय होने लग जाता है और रोग उत्पन्न होने लग जाते हैं। अन्यथा शरीर की सामान्य स्वास्थ्य प्रतिरक्षा प्रणाली इन जीवाणुओं को नष्ट करके बाहर खदेड़ती रहती है व शरीर के स्वास्थ्य को सामान्य बनाये रखती है। ज्वर रोग का संबंध भी पाचन संस्थान के साथ जोड़ते हुए “माधव ज्वर निदान” में लिखा है कि मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वात, पित्त और कफ आमाशय के जठराग्नि को बाहर निकालकर ज्वर उत्पन्न करते हैं। जठराग्नि के बाहर निकलने से तात्पर्य बाध्य अर्थात् त्वचा पर उष्णता का प्रतीत होने से है। साथ ही व्यक्ति की पाचकाग्नि भी मंद हो जाती है कि पाचकाग्नि बाहर निकल गई। किन्तु वास्तव में दूषित दोष ही रस धातु से मिलकर ज्वर उत्पन्न करता है।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जिस रक्त पित्त दोष की चर्चा विभिन्न आयुर्वेदिक ग्रन्थों में की गई है वह दूषित आहार के साथ पाचन संस्थान में प्रवेश पा गये संक्रमित रोग के जीवाणुओं से उत्पन्न रोग के लक्षण ही हैं। ये विभिन्न तरह से पाचन तंत्र व शरीर के अन्य अंगों पर प्रभाव डालकर रोग के विभिन्न लक्षणों को जनम देते हैं।

### रक्त पित्त रोग के कारण :

‘भाव प्रकाश’ में ही लिखा है कि धूप में अधिक परिश्रम या मेहनत का कार्य करने, गर्म , तीक्ष्ण, लवण तथा क्षार युक्त पदार्थों का अधिक सेवन करने से, खट्टे, अधिक मिर्च-मसाले, चटपटे और दूषित आहार के सेवन से पित्त दूषित होने लग जाता है, जो बाद में अपने प्रभाव से रक्त को दूषित करने लग जाता है। इस प्रकार दूषित रक्त और दूषित पित्त मिलकर समस्त शरीर की धमनियों में परिसंचरण करने लग जाते हैं। अतः पित्त से दूषित हुआ रक्त, रक्त पित्त रोग नाम से जाना जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि पित्त ही लाल रंग का होकर बहने लगता है, इसलिए रक्त पित्त कहा जाता है। इस बारे में आचार्य सुश्रुत अपनी ‘सुश्रुत संहिता’ में लिखते हैं कि इस रोग में (रक्त पित्त में) रक्त और पित्त दोनों एक साथ बहने लगते हैं।

अतः एक बात तो स्पष्ट है कि इस रोग में रक्त सीधे-सीधे रूप में दूषित न होकर पहले दूषित आहार-विहार से पाचन संस्थान गड़बड़ाता है, जिससे पित्त दूषित होता है। यह वात बाद में रक्त को दूषित का आना व त्वचा के ऊपर फुन्सियां निकल आना (त्वचा के रोम कूपों से पित्त मिश्रित रक्त अर्थात् पूय निकलना) इस बात का संकेत है कि इस रोग का थोड़ा बहुत सम्बंध संक्रमण रोग से अवश्य है। ज्वर की उत्पत्ति, सिर दर्द, शरीर में गर्मी (दाह) का अहसास, थूक से दुर्गन्ध आना भी इस बात का संकेत है कि यह रोग संक्रमणकारी जीवाणुओं के कारण हो सकता है, और वह शरीर के किसी अन्य स्थान पर न होकर पेट में ही केन्द्रित रहते हैं।

**इस रोग का पीलिया(पाण्डू) रोग से अंतर निम्न कारणों से है :** रोगी का शरीर कभी-कभी पीला प्रतीत हो सकता है, किन्तु वह पीलिया रोग के कारण न होकर रक्ताल्पता या शरीर कमजोरी के कारण हो सकता है, क्योंकि इस रोग का एक प्रमुख लक्षण अत्यधिक कमजोरी या दुर्बलता भी है। जबकि रक्त पित्त रोग में पीलिया की तरह न तो यकृत व पित्ताशय सम्बन्धी कोई विकार होते हैं न ही उसके मूत्र का रंग पीला और मल का रंग सफेद होता है।

रक्त पित्त रोग का आक्रमण पाचन संस्थान से ही प्रारंभ होता है। अतः इस रोग को पाचन संस्थान के रोगों के अन्तर्गत रखना तो काफी हद तक ठीक है किन्तु इसे पाचन संस्थान से सम्बन्धित रोग मान लेना कतई ठीक नहीं है, क्योंकि अपच, अजीर्ण या अरोचक रोगों में रक्त पित्त जैसे बाह्य त्वचा के फोड़े-फुंसी व नाक-कान, जननेन्द्रियों आदि से पित्त मिश्रित रक्त का स्त्राव नहीं होता। यद्यपि अजीर्ण, अपच जैसे बहुत सारे लक्षण इस रोग में भी मौजूद रहते हैं। जैसे कि भोजन में अरुचि, आहार का ठीक प्रकार से न पच पाना, भोजनोपरांत आमाशय प्रदेश में भारीपन या कष्ट महसूस होने लग जाना, मितली, वमन आदि का आने लग जाना।

इस रक्त पित्त रोग में कई बार खांसी या श्वास की समस्या भी देखने में आती है। वह भी इस रोग को पेट के पाचन सम्बन्धी रोगों से स्पष्ट रूप से पृथक् करती है। खांसी आदि की यह समस्या इसलिए प्रकट होती है कि रोग के कीटाणु रक्त संचार के माध्यम से जो सीधे ही उर्ध्व वायु नलिका में पहुँचकर वहाँ अपना डेरा डालकर अपनी जनसंख्या वृद्धि करने लग जाते हैं और पेट संबंधी लक्षणों के साथ ही खांसी का लक्षण भी पैदा कर देते हैं। श्वास रोग रक्ताल्पता या अत्यधिक कमजोरी के क्षणों में थोड़ा चलने-फिरने या श्रम करने से हो सकता है।

संक्रमित रोग के कीटाणुओं को व्यक्ति लगातार दूषित और सामान्य आहार के साथ उदरस्थ करता रहता है। यह कीटाणु कई बार दाँत, टांसिल, गले व नाक में संक्रमण करने के पश्चात भी पानी पीने या आहार के साथ पेट तक पहुँच जाते हैं। किन्तु इन जीवाणुओं को लाला स्त्राव का लाइसोजाइम नामक एन्जाइम तथा आमाशय पाचक रस का लवण अम्ल लगातार नष्ट करते रहते हैं, जिससे इन्हें पेट में पनपने का अवसर नहीं मिल पाता है, परंतु दूषित और देर से पचने वाले व क्षार युक्त आहार के लगातार सेवन से लाइसोजाइम का स्त्राव घट जाता है व लवण अम्ल शीघ्र उदासीन हो जाता है, परिणामस्वरूप इन जीवाणुओं को पेट में सड़ रहे आहार में पनपने का अवसर मिल जाता है। इन जीवाणुओं का संपर्क जब अन्य प्रकार की कोशिकाओं जिन्हें 'मोनोसाइट कोशिकाएं' कहा जाता है, के साथ होता है तो यह कोशिकाएं "इनडशनेस" नामक हारमोन का उत्सर्जन करने लग जाती हैं, जो रक्त संचार के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। यह हारमोन मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस नामक भाग को उद्दीप्त करता है। हारमोन द्वारा शरीर में रोगाणुओं की उपस्थिति की सूचना मिलते ही यह शरीर के ताप को बढ़ा देता है, जिससे रोगाणुओं की वृद्धि रुक जाती है, साथ ही शरीर का तापमान बढ़ जाने से माँस-पेशियों का फैलना-सिकुड़ना आरंभ हो जाता है और रोगी को सर्दी का अनुभव होने लग जाता है।

आमाशय से गुजरकर जब यह कीटाणु छोटी आँत्र में से होते हुए बड़ी आँत्र में पहुँचते हैं, तो बड़ी आँत्र की भित्तियों में उत्तेजना जगाकर पुरःसरण गति को बढ़ा देते हैं, जिससे बड़ी आँत्र में मल के आगे बढ़ने की गति तीव्र हो जाती है, परिणामस्वरूप मल का बहुत सा पानी आँत्र में अवशोषित होने से बच जाता है और पतले मल की अधिक मात्रा मलाशय में पहुँचने लग जाती है, जिससे उसे बार-बार मल विसर्जन करना पड़ता है।

उदर विकार और दूषित रक्त के साथ ही त्वचा के रोमकूपों में भी कीटाणु पनपने लग जाते हैं, जिससे उन स्थानों पर छोटी-छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं, जिनसे पकने के बाद रक्त मिश्रित पूय (मवाद) निकलने लगती है। इस प्रकार का संक्रमण शरीर के अन्य स्थानों पर भी हो सकता है, या फिर रक्त संचार के माध्यम से भी कीटाणु जननेन्द्रियों, वृक्क, नाभ आदि के अंदर संक्रमण फैला सकते हैं, जिनसे कभी-कभी पूय (मवाद) आने लग जाती है।

## रोग के लक्षण

रक्त पित्त रोग के लक्षणों की शुरुआत पाचन संबंधी विकारों से ही होती है। रोगी के भारी, गरिष्ठ और अधिक मिर्च-मसालेदार भोजन करते रहने से उसका पाचन भली प्रकार से नहीं हो पाता है और वह खाया हुआ आहार अर्द्ध पचित अवस्था में ही आमाशय तथा आँत्र में अधिक समय तक पड़ा रहता है। ऐसी अवस्था में आहार के ऊपर आहार खा लेने से

आमाशय और आँत्र पर और अधिक पाचन संबंधी दबाव बढ़ जाता है। इस कारण रोगी को भोजन करने के बाद आमाशय प्रदेश में भारीपन व कष्ट होने लगता है। जब तक पहले खाया हुआ आहार ही पूरी तरह न पच पाये और उसमें नया आहार और शामिल हो जाये तो इससे आमाशय और आँत्र की पाचन संबंधी प्रक्रिया और धीमी हो जाती है, साथ ही पेट में सड़ रहे भोजन में कीटाणु पनपने लग जाते हैं। ऐसी अवस्था में रोगी को वमन शुरू हो सकती है। जीवाणुओं के बड़ी आँत्र में पहुँच जाने से दस्त आने लग सकते हैं। आहार के अपर्याप्त पाचन के कारण शरीर को आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति न हो पाने से शरीर में कमजोरी आने लग जाती है।

जीवाणुओं से उत्पन्न जीव विषों के रक्त में मिलकर मस्तिष्क तक पहुँच जाने से ज्वर की समस्या उत्पन्न हो जाती है। ज्वर के कारण अधिक उपापचय क्रिया के परिणामस्वरूप संचित ऊर्जा का खर्च अधिक मात्रा में होता है। आहार द्वारा इसमें शीघ्र आपूर्ति न हो पाने के कारण ऊर्जा भण्डार का कोशिकाओं में अभाव सा उत्पन्न होने लगता है, जिससे रोगी अत्यधिक कमजोरी महसूस करने लग जाता है। इसके साथ ही ज्वर की अवस्था में अधिक मात्रा में पसीना आने लगता है, श्वास द्वारा पानी व खनिज लवणों की काफी हानि होती है और रोगी के शरीर में इनका अभाव उत्पन्न हो जाता है। कई बार तो रक्त में तरल (पानी) की मात्रा इतनी कम रह जाती है कि रोगी का रक्तचाप कम रह जाने से चक्कर तक आने लग जाते हैं। रोगी का मुँह सूखने लगता है व उसकी प्यास बढ़ जाती है।

### रक्त पित्त का उपचार

रक्त पित्त के रोगियों को ऐसा सुपाच्य और शीघ्र पचन वाला आहार का सेवन करना चाहिए, जिससे पाचन तंत्र का दबाव कुछ कम हो सके। रोगी आहार के रूप में मूँग, अरहर और चने की दाल का सेवन कर सकता है। रोगी को अपने आहार में वसा अल्पतम मात्रा में व मसाले बहुत कम प्रयोग में लाने चाहिए। खटाई के लिए रक्त पित्त का रोग अनारदाना और आँवला उपयोग में ला सकता है।

वैसे भी अनार का रस अथवा आँवला चूर्ण या आँवले का मुरब्बा खाने से पाचन प्रक्रिया सुधरती है। रोगी धनिया, आँवला, अड़सा, पित्त पापड़ा और मुनक्का को सूप की तरह का तरल बनाकर दिन में कई बार पी सकता है। इससे रक्त पित्त के रोगी को ज्वर, प्यास और बेचैनी में आराम मिलता है। इनके अतिरिक्त रोगी को रक्त की शुद्धि के लिए नीम के कोमल पत्ते, बड़ और परवल के कोमल पत्ते आदि सेवन भी करना चाहिए। गिलोय और मुलेठी का क्वाथ भी रोगी को शीघ्र लाभ पहुँचाता है।

### आयुर्वेद चिकित्सा

आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली में रक्त पित्त की चिकित्सा के संदर्भ में बहुत कुछ लिखा गया है, साथ ही इसकी चिकित्सा के लिए ऐसे अनेक योगों का वर्णन भी मिलता है जो इस रोग में काफी अनुभूत सिद्ध होते हैं। ऐसे ही कुछ परीक्षित योगों का यहाँ वर्णन है

- काकड़ा सिंगी, पिप्पली, तालीसपत्र, काली मिर्च, सोंठ, हरड़ का छिलका, लोंग, अनारदाना, दालचीनी, नागकेशर, सफेद जीरा, काला जीरा, छोटी इलायची दाना, सुगंध वाला, तोखा खीर, वंश लोचन, कचूर, दाना रहित मुनक्का और छुहारा आदि समान-समान मात्रा में लेकर मुनक्का और छुहारा को छोड़कर शेष सारी औषधियों को धूप में सुखाकर बारीक पीस लें, तथा दो बार कपड़ छानकर लें। इसके बाद इन सब औषधियों के बराबर मात्रा में मिश्री लेकर उसका चूर्ण बना लें। मुनक्का और छुआरों को लोहे की खरल में डालकर थोड़ा-थोड़ा यह चूर्ण डालते जाये और उसे कूटते जाये। इसी तरह सारे चूर्ण को मुनक्का और छुआरों में अच्छी तरह मिला दें। मिश्री के चूर्ण को भी इसमें अच्छी तरह मिला लें और इस चूर्ण को किसी स्वच्छ बर्तन में भरकर रख लें। दिन में तीन बार यह चूर्ण ३-४ ग्राम की मात्रा में थोड़े से गुनगुने पानी के साथ सेवन करने से रक्त पित्त, मन्दाग्नि, उदर शूल और दूसरे पाचन संस्थान से सम्बन्धित रोगों में आराम आ जाता है।

- सितोपलादि चूर्ण: सितोपलादि चूर्ण को प्राचीन काल से ही गले, उर्ध्व पाचन संस्थान आदि के लिए कीटाणुनाशक औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। इस चूर्ण के दो घटक दालचीनी और छोटी इलायची आँत्र ज्वर (टाइफाइड) के लिए जिम्मेदार टाइफाइड बसिली को नष्ट करने वाले पाये गये हैं।
- औषधि द्रव्य : दालचीनी, इलायची, पिप्पली, वंश लोचन और मिश्री सभी को १:२:४:८:१६ के अनुपात में लेकर, मिश्री को छोड़ शेष सभी औषधियों को कूट-पीसकर अत्यंत बारीक चूर्ण बना लें और कपड़े से छान लें। मिश्री को भी बारीक पीसकर इस चूर्ण में अच्छी तरह मिला लें। आपका सितोपलादि चूर्ण तैयार है।
- उपयोग और सेवन विधि : दिन में तीन बार इस चूर्ण को ३-३ ग्राम की मात्रा में थोड़े से घी और शहद के साथ चाटने पर रक्त पित्त, मन्दाग्नि, अरूचि, ज्वर, हाथ-पैरों और कन्धों की जलन, पेटिक अल्सर, खांसी आदि रोग शांत हो जाते हैं।
- कुटज की छाल, शतावरी, इन्द्रजव, उशीर, लोध्र, सफेद चंदन, पदमकेशर और नागरमोथा आदि समान-समान मात्रा में लेकर इनका जौकूट चूर्ण बना लें। इसमें से दो चम्मच चूर्ण लेकर कांच के बर्तन में २०० मि.ली. पानी में भिगों दें और प्रातःकाल इसे आग पर रखकर उबाल लें। जब यह उबलते-उबलते एक-चौथाई मात्रा में रह जाये तो इस क्वाथ को दो मात्राओं में बांटकर सुबह-शाम मिश्री और शहद मिलाकर सेवन करें। यह क्वाथ रक्त पित्त रोग के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

उष्ण, तीक्ष्ण आहार, खट्टे व नमकीन पदार्थों के अति सेवन से, विदाही अन्न से पित्त बढ़ जाता है और रक्त को दूषित करके रक्तपित्त उत्पन्न करता है। रक्तपित्त के रक्त को रोकना नहीं चाहिए अपितु निकलने दें। उर्ध्वग रक्तपित्त में एनीमा देकर विरेचन करायें। अधोग रक्तपित्त में गुनगुना पानी पिलाकर वमन करायें। क्योंकि विरेचन से पित्त का निर्हरण होकर रक्त साफ हो जाता है। पेट पर गरम-ठण्डा सेक देकर, गुनगुने पानी का एनीमा लगायें। तत्पश्चात् आधा घंटे पेट पर ठण्डी मिट्टी रखें। ठण्डा कटि स्नान देकर घर्षण बाथ करायें। दोपहर बाद में मिट्टी की पट्टी पुनः रखें और पेट पर गरम-ठण्डा सेक (क्रमिक) देकर ठण्डी लपेट बांधें। अन्य उपचारों से सर्वांग मिट्टी, गीली चादर लपेट, गरम पैर स्नान, ठण्डा रीढ़ स्नान इत्यादि बदल-बदल कर देने से रक्त में स्थित विजातीय तत्व बाहर निकल जाते हैं। यह उपचार कम से कम १ महा तक देना चाहिए। रोगी को गरम उपचार देने से घबराहट होती है अतः रोग की स्थिति के अनुसार स्वविवेक से चिकित्सा करें। अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा है तो बर्फ की थैली का सेक या लपेट दें। अन्य उपचार रक्तस्राव की चिकित्सा के अनुसार करायें।

### आहार चिकित्सा

१-२ दिन जल पर उपवास करायें। फिर तर्पण चिकित्सा करें अर्थात् खजूर, मुनक्का, फालसा, शहद, आँवला, अनार इत्यादि का भरपूर सेवन करायें। रसदार फलों का एवं हरी सब्जियों लौकी, तरौई, टिण्डा, पत्तागोभी, गाजर, नेनुआ, परवल, करेला आदि के शाक हितकर हैं। धीरे-धीरे ठोस आहार दें। पतला दलिया, उबली सेव, सूप, सलाद, फल इत्यादि शुरू करायें। धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाएं। पित्तनाशक ठण्डी तासीर के फलों का उपयोग करें। नारियल पानी, अन्ननास, संतरा, मौसम्मी, अनार, अंगूर इत्यादि लाभदायक हैं। चाय, कॉफी, धूम्रपान, उष्ण प्रकृति की वस्तुएं, गरम भोजन, पित्तवर्द्धक आहार, क्षार एवं लवण युक्त भोजन का अति सेवन, नमकीन, भुजिया, मांसाहार इत्यादि हमेशा के लिए बंद कर दें।

गन्ने का रस, गाय का दूध, दूब का रस, अनार के फल का रस नासागत रक्तपित्त में बूंद-बूंद कर दिन में २-३ बार डालें। नियमित योग, प्राणायाम, सैर, ध्यान इत्यादि करें। ठण्डे जल का सेवन अधिक करें। गरम आहार-विहार त्याग दें।

## पाण्डू (रक्ताल्पता)

### ANEMIA

चिरकालीन यकृत विकारों के कारण शरीर में रक्त की, विशेषकर उसमें मौजूद लाल रक्त कणिकाओं के हीमोग्लोबिन नामक पदार्थ की अत्यधिक कमी हो जाती है। हीमोग्लोबिन का लाल रंग उसके लौह युक्त पोर पायरिन नामक एक वर्णक के कारण होता है। अतः ऐसी अवस्था में हीमोग्लोबिन के अभाव में रक्त की लाली बहुत कम रह जाती है। परिणामस्वरूप रोगी की त्वचा, चेहरा तथा आँखें निस्तेज एवं पीलाहट लिए श्वेत रंग की होने लगती हैं तथा रोगी का समस्त शरीर ही पीत वर्ण का (पीलिया रोग जैसा) प्रतीत होने लग जाता है। इस प्रकार की समस्या कई बार अत्यधिक रक्तस्त्राव के कारण उत्पन्न हुई रक्त की कमी में भी देखी जाती है। चूंकि इस दशा में रोगी का चेहरा पीला, निस्तेज तथा क्रांतिहीन सा हो जाता है, इसलिए इसे रक्ताल्पता के अतिरिक्त हरा पाण्डू (क्लोरासिस) या ग्रीन सिकनेस के नाम से भी जाना जाता है।

एक स्वस्थ, वयस्क मानव शरीर में ५ से ५.५ लीटर के लगभग या उसके शरीर भार का ६ से ७.५ प्रतिशत अर्थात् उसके भार का १३वें अंश के बराबर रक्त मौजूद रहता है। रक्त की रचना लाल रक्त कणिकाओं, कई प्रकार की श्वेत रक्त कणिकाओं, प्लेटलिअ कणिकाओं तथा प्लाज्मा नामक तरल के समिश्रण से होती है। रक्त के प्लाज्मा भाग में ७ से ८ प्रतिशत तक प्लाज्मा प्रोटीन यथा एल्ब्यूमिन ४५ प्रतिशत, ग्लोबूलिन १.७ -३.५ प्रतिशत तथा फाइब्रीनोजन १०.४ प्रतिशत अनेक आर्गेनिक तथा खनिज पदार्थ, हारमोन्स रसायन, विटामिन्स आदि मौजूद रहते हैं। रक्त के सभी घटकों का कर्म भिन्न-भिन्न रहता है। जहां लाल रक्त कणिकाएं अपने हीमोग्लोबिन की सहायता से शरीर की समस्त कोशिकाओं तक फेफड़ों से ऑक्सीजन पहुंचाती हैं तथा ऊतकों में ऊर्जा उत्पादन के बाद पैदा हुई कार्बन डाई ऑक्साइड गैस को उन (ऊतकों) से लेकर फेफड़ों में लाकर छोड़ने का कार्य करती हैं, वहीं श्वेत रक्त कणिकाएं सीधे ही अथवा एण्टीबॉडीज पैदा करके शरीर को रोगणुओं के प्रभाव से मुक्त रख कर, प्रतिरक्षा प्रणाली की भूमिका निभाती हैं। प्लेटलेट और प्लाज्मा मिलकर बहते हुए रक्त को रोक कर क्षतिग्रस्त ऊतकों तथा घावों आदि को शीघ्र भरने में सहायता करते हैं। रक्त का प्लाज्मा भाग विभिन्न पोषक तत्वों को आँत्र व यकृत से प्राप्त करके शरीर की समस्त कोशिकाओं (ऊतकों) का पोषण करता है, शरीर में विभिन्न रासायनिक क्रियाओं में पैदा हुए व्यर्थ पदार्थों को मूत्र, पसीने आदि के माध्यम से बाहर निकालने में मदद करता है तथा अनेक हारमोन आदि रसायनों को एक स्थान से समस्त शरीर में फैलकर अनेक शारीरिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायता करता है।

एक वयस्क व्यक्ति में ४.५ से ६.० लाल रक्त कणिकाएं रहती हैं। इन लाल रक्त कणिकाओं में हीमोग्लोबिन की मात्रा पुरुषों में १५ से १८ ग्राम प्रति १०० मिली. तथा स्त्रियों में १३ से १६ ग्राम प्रति १०० मि.ली. सामान्य मानी जाती है। यदि उनमें हीमोग्लोबिन का स्तर इस निर्धारित मात्रा से कम है तो उसे रक्ताल्पता का एक प्रमुख चिन्ह माना जाता है। हीमोग्लोबिन के कम स्तर के कारण आवश्यक मात्रा में ऑक्सीजन की आपूर्ति पूरी मात्रा में कोशिकाओं को नहीं हो पाती है जिससे शारीरिक कार्य करने के दौरान पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन नहीं हो पाता है इसके कारण थोड़े से परिश्रम या चलने, फिरने से ही थकावट आ जाती है तथा सांस फूलने लग जाती है।

जन्म के समय शिशुओं के रक्त में हीमोग्लोबिन का स्तर १८ ग्राम प्रति १०० मि.ली. तक रहता है, किन्तु जन्मोपरांत शीघ्र ही फेफड़ों में हीमोग्लोबिन का ऑक्सीजेनशन शुरू हो जाने के कारण हीमोग्लोबिन का स्तर तेजी से गिरने लगता है तथा तीन महीने के अंत तक उसका स्तर आधा ही रह जाता है। इसके उपरांत उसके स्तर में पुनः सुधार आने लगता है तथा वयस्क अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह अपना सामान्य स्तर प्राप्त कर लेता है। जन्म के समय शिशुओं के शरीर में लौह का पर्याप्त भण्डार रहता है। जन्मोपरांत, हीमोग्लोबिन की जो हानि होती है उससे मुक्त हुए लौह को भी उनका यकृत अपने अंदर संचित कर लेता है। यह लौह अगले कुछ माह तक तो रक्त के निर्माण में काम आता रहता है, किन्तु धीरे-धीरे इसका भण्डार खत्म होने लगता है, जिससे कुछ समय बाद रक्ताल्पता के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं, क्योंकि दूध में लौह की मात्रा नगण्य रहती है।

### रोग के प्रमुख कारण

शरीर में उत्पन्न होने वाली रक्त की कमी (रक्ताल्पता) के कई बार तो बहुत ही स्पष्ट कारण होते हैं और कई बार विभिन्न प्रकार के आधुनिक परीक्षण या टेस्ट कराने के बावजूद कोई भी स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं हो पाते हैं। अतः जब रक्ताल्पता के लक्षण किसी स्पष्ट कारण से उत्पन्न हुए हों, तो उसे प्राथमिक प्रकार की रक्ताल्पता कहा जाता है, किन्तु जब रक्ती की कमी के पीछे कोई स्पष्ट कारण प्रतीत न हों तो उसे द्वितीय प्रकार की रक्ताल्पता कहा जाता है।

प्राथमिक प्रकार की रक्ताल्पता के पीछे प्रमुख रूप से निम्न कारण हैं- यकृत, आमाशय, वृक्क तथा अस्थि मज्जा से सम्बन्धित जीर्ण रोग, क्षय रोग, कैंसर, चिरकालीन रक्तस्त्राव, प्रदर संबंधी समस्या, आँत्र कृमि, नकसीर, बार-बार गर्भाधान अथवा गर्भपात, अधिक समय तक शिशुओं को स्तन पान कराते रहना, कुपोषण आदि

संयुक्त रूप से रक्ताल्पता के प्रमुख कारण हैं- आहार में प्रोटीन, लौह खनिज, विटामिन बी-१२, फॉलिक एसिड सहित विभिन्न पोषक पदार्थों का अभाव, चिरकालीन कब्ज, अजीर्ण व आमाशय संबंधी विकार, स्त्रियों के मासिक चक्र सम्बन्धी रोग तथा गर्भाधान से सम्बन्धित समस्याएं, अधिक बच्चों को जन्म देना या कई बार गर्भपात कराना या हो जाना, आमाशय व्रण, बवासीर के साथ रक्त बहते रहना, मानकिस तनाव, परेशानी, उत्तेजना या शोक की स्थिति में लंबे समय तक पर्याप्त मात्रा में भोजन न करना इत्यादि ।

### शरीर में रक्त निर्माण की प्रक्रिया

हमारे शरीर में अस्थि मज्जा (बोन मैरो) नामक एक ऊत्तकी संरचना होती है, जो अस्थियों तथा कार्टिलेज की गुहाओं (केवेटीज) में मौजूद रहती है। अनुमान है कि एक वयस्क व्यक्ति में उसके कुल भार की ३.५ से ६.० प्रतिशत तक यह अस्थिमज्जा रहती है अर्थात् जन्म के समय ७० मि.ली. के लगभग और ३५०० मिली. के लगभग वयस्क अवस्था में । अधिकांश समय इसमें से केवल आधी अस्थि मज्जा ही सक्रिय रहकर रक्त निर्माण के कार्य में संलग्न रहती है, जिसे कि लाल अस्थि मज्जा के नाम से जाना जाता है। शेष आधी के लगभग अस्थि मज्जा निष्क्रिय अवस्था में रहती है। किन्तु उसमें यह सामर्थ्य रहती है कि आवश्यकता के समय यह पुनः सक्रिय होकर रक्त निर्माण के कार्य में जुट सके। इस अस्थि मज्जा के भाग को पीली अस्थि मज्जा के नाम से भी जाना जाता है।

जन्म से लेकर चौथे वर्ष तक की आयु में समस्त अस्थियों के अंदर यह लाल अस्थि मज्जा सक्रिय रहती है, किन्तु ७ वर्ष की उम्र तक इसकी काफी मात्रा पीला रूप लेकर निष्क्रिय अवस्था में चली जाती है तथा १० से १४ वर्ष से लेकर २० वर्ष तक की आयु तक यह सिकुड़ कर केवल हाथ-पैर की बड़ी अस्थियों के सिरों की गुहा में ही सक्रिय रूप से ही रह जाती है अर्थात् इस आयु में रक्त निर्माण का कार्य सिकुड़ कर केवल इन स्थानों तक ही सीमित रह जाता है।

लाल अस्थि मज्जा का प्रमुख कार्य है रक्त की लाल रक्त कणिकाओं , कुछ प्रकार की श्वेत रक्त कणिकाओं और प्लेटलेट्स का निर्माण करना, जीर्ण, असामान्य तथा क्षतिग्रस्त लाल कणिकाओं का विघटन करके एवं उनसे स्वतंत्र हुए हीमोग्लोबिन अंश से लौह युक्त प्रोटीन को हीमो सिडेसिन तथा फेरिटिन के रूप में संग्रह करना ।

लाल रक्त कणिकाओं , विशेषकर उसके हीमोग्लोबीन अंश के निर्माण के लिए कई उच्च स्तर की प्रोटीन, एमीनो एसिड्स जैसे हिस्टाडीन, फिनल, एलानिन, ल्युसिनेरेट आदि, कई खनिज तत्वों जैसे लौह, तांबा, मैग्नीशियम, कोबाल्ट तथा कई विटामिन जैसे विटामिन बी-१२, फॉलिक एसिड, रिबोफ्लाविन, पेन्टोथैनिक एसिड तथा विटामिन सी की आवश्यकता पड़ती है। हीमोग्लोबिन का निर्माण ग्लोबिन प्रोटीन के एक कण तथा 'हेम' के चार कणों के मेल से होता है। हेम में यह लौह का एक अणु मौजूद रहता है जो ऑक्सीजन को अपने साथ जोड़ने तथा मुक्त करने की सामर्थ्य रखता है।

हमारा यकृत रक्त निर्माण के काम आने वाले इन महत्वपूर्ण पदार्थों में से कई का निर्माण करता है तो कई का अपने अंदर भण्डारण या उपयोग में आ सकने योग्य रूपान्तरण भी करता है। ग्लोबिन व समस्त प्लाज्मा प्रोटीन का निर्माण तो यकृत में ही होता है। इनके अतिरिक्त यकृत रक्त निर्माण का नियंत्रण तथा रक्त के थक्का बनाने के काम आने वाले घटकों, प्रोथ्रोम्बिन का विटामिन 'के' के सहयोग से तथा फाइब्रीनोजन का निर्माण भी करता है। यकृत आहार के पाचन के पश्चात स्वतंत्र होकर यकृत तक पहुँचे विभिन्न एमीनो एसिडों को पुनः उपयोग में आ सकने योग्य प्रोटीनों में बदलने का कार्य भी करता है। इसी कारण जीर्ण यकृत विकारों के पश्चात शरीर में अनेक प्रकार के प्रोटीन, खनिज तत्वों तथा विटामिन

आदि का अभाव उत्पन्न होने लग जाता है, जिनके परिणामस्वरूप रक्त निर्माण आदि प्रकार की अनेक महत्वपूर्ण क्रियाएं प्रभावित होती चली जाती हैं यथा व्यक्ति में रक्ताल्पता एवं अन्य रोगों के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। इनके अतिरिक्त यकृत पित्त का निर्माण करके आँत्र संस्थान में आहार का सम्पूर्ण पाचन तथा वहाँसे पोषक तत्वों के अवशोषण करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

रक्ताल्पता को उसके कारणों के आधार पर निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

**(१) अत्यधिक रक्तनाशजन्य रक्ताल्पता :** एक सामान्य हीमोग्लोबिन स्तर वाले वयस्क के शरीर से यदि आधा लीटर रक्त निकाल लिया जाये अथवा उसका किसी कारण से हानि (रक्तस्त्राव) हो जाये तो उसके शरीर में रक्ताल्पता के किसी प्रकार के लक्षण प्रकट नहीं होते, क्योंकि लाल रक्त कणिकाओं आदि की क्षतिपूर्ति यकृत और प्लीहा तथा प्लाज्मा की पूर्ति लसिका तंत्र तुरंत पूरी कर देते हैं। किन्तु जब इससे अधिक मात्रा में रक्त की हानि हो जाती है अथवा हीमोग्लोबिन के सामान्य से कम स्तर वाले व्यक्ति में आमाशय व्रण, बवासीर, चोट आदि से लगातार रक्त रिसता रहता है तो उनमें धीरे-धीरे रक्ताल्पता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अधिक मात्रा में रक्त के बह जाने से शरीर में लौह के साथ ही हीमोग्लोबिन के निर्माण में काम आने वाली प्रोटीनों की बहुत अधिक हानि हो जाती है। आहार द्वारा समय पर उनकी क्षतिपूर्ति न हो पाने से रक्त निर्माण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है व शरीर में रक्ती की कमी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

प्रौढ़ अवस्था के पुरुषों में रक्ताल्पता के लिए आमाशय व्रण तथा बवासीर दो सबसे प्रमुख कारण हैं

**(२) लौह तत्व की कमीजन्य रक्ताल्पता :** हीमोग्लोबिन के हेम भाग के निर्माण के लिए 'लौह' अत्यंत जरूरी रहता है। लौह माँसपेशियों की मायोग्लोबिन नामक प्रोटीन तथा कई एन्जाइम जैसे कि साइटोक्रोम आदि के लिए बहुत जरूरी होता है। शरीर के लिए आवश्यक लौह की आपूर्ति आहार के माध्यम से ही की जाती है। आहार में मौजूद लौह का अवशोषण पाचन के उपरांत छोटी आँत्र के प्रथम भाग (ग्रहणी व मध्यांत्र) में ही प्रमुख रूप से होता है और वह भी केवल 'फैरस' रूप में। लाल माँस में लौह हेम के साथ संयुक्त रूप से मौजूद रहता है, अतः इसका सीधे हेम रूप में ही अवशोषण होता है।

लेकिन दुर्भाग्य इस बात का है कि हमारे आहार में मौजूद अधिकांश लौह अवशोषण के योग्य नहीं रहता, क्योंकि यह पाचन के दौरान शीघ्र ही अन्य पदार्थों के साथ संयुक्त होकर फायटेट और फास्फेट के रूप में बदल कर अवशोषण योग्य नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त लौह आँत्र में पहुँच कर बहुत जल्दी ही फैरस से फैरिक रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह फैरिक रूप भी अवशोषण योग्य नहीं रहता। आँत्र का अम्लीय वातावरण विशेषकर आमाशय का निम्न भाग तथा ग्रहणी का प्रथम भाग, लौह को फैरस रूप में अवशोषण योग्य बनाये रखने तथा शर्करा और एमीनो अम्लों के साथ संयुक्त होने से रोकता है। चोकर सहित अनाज तथा हरी साग सब्जियाँ (पालक, बथुआ) आदि लौह के अच्छे भण्डार होते हैं किन्तु आटे और चावल में फायलेट काफी मात्रा में मौजूद रहता है जो लौह के अवशोषित होने में बाधा डालता है। इसी प्रकार पालक आदि का अधिकांश लौह अवशोषित हुए बिना ही व्यर्थ चला जाता है।

शरीर में रक्त निर्माण के लिए लौह की आवश्यकता, शरीर में संचित लौह से पूरी होती रहती है, वैसे लाल अस्थिमज्जा में होने वाले रक्त निर्माण के लिए लौह की आपूर्ति सीधे ही आँत्र से अवशोषित लौह द्वारा होती रहती है। इसी कारण एक सामान्य वयस्क व्यक्ति को प्रतिदिन २.५ से ३.० मि.ग्राम लौह की आवश्यकता रहती है, किन्तु जब इतनी मात्रा की लौह की आपूर्ति भी सामान्य रूप से जारी नहीं रह पाती है तो शीघ्र ही शरीर में संचित लौह के भण्डार समाप्त होने लगते हैं तथा रोगी में रक्ताल्पता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

शरीर में लौह की आपूर्ति कई कारणों से प्रभावित हो सकती है जैसे कि आहार में अवशोषण योग्य लौह की मात्रा बहुत कम रहना, आमाशय में जठर अम्ल का कम मात्रा में स्त्राव होना, अतिसार तथा आँत्र संस्थान से सम्बन्धित अन्य रोग, जिनके कारण आँत्र से लौह का सामान्य रूप में अवशोषण न हो सके।

लौह अल्पता का एक प्रमुख कारण है, विशेषकर स्त्रियों में, उनका प्रजनन काल तथा प्रदर रोग। स्त्रियों में प्रत्येक मासिक के दौरान लगभग ३० मि. ग्राम लौह की हानि होती है। इस कारण उन्हें एक मि.ग्राम अतिरिक्त लौह की प्रतिदिन और आवश्यकता रहती है। यद्यपि मासिक के रूप में होने वाली लौह की हानि गर्भावस्था के दौरान रुक जाती है, किन्तु इस



दौरान पेट में पल रहे शिशु, प्रसव प्रक्रिया के समय होने वाली रक्त की हानि तथा उसके स्वयं के लिए लौह की आवश्यकता बढ़ जाती है। इसलिए स्त्रियों को अपने सम्पूर्ण प्रजनन काल में ३.५ से ३.५ मि.ग्राम लौह की प्रतिदिन आवश्यकता रहती है। इसी कारण वयस्क पुरुषों की तुलना में प्रजनन काल के दौरान स्त्रियों को रक्ताल्पता की अधिक शिकायत रहती है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों में रक्ताल्पता के अन्य प्रमुख कारण हैं, बार-बार गर्भ धारण करना, अधिक समय तक स्तनपान कराना, मासिक स्राव का अधिक समय तक चलते रहना आदि।

प्रजनन काल के उपरान्त स्त्रियों में तथा वृद्ध पुरुषों में लौह की कमी के प्रमुख कारण होते हैं, चिरकालीन जठरांत्र रक्तस्राव, आमाशय व्रण, एस्पिरिन तथा दर्द निवारक औषधियों से उत्पन्न आमाशय रक्तस्राव, संक्रमण रोगों का बार-बार प्रकोप, परजीवी आँत्र कृमि, जिसमें प्रमुख है हुक वर्म, बवसीर का रोग, शल्य चिकित्सा के दौरान हुआ अधिक रक्तस्राव तथा दुर्घटना आदि में रक्त स्राव।

**(३) विटामिन की कमीजन्य रक्ताल्पता :** लौह, तांबा, मैग्नीशियम, कोबाल्ट आदि खनिज तत्वों के अतिरिक्त विटामिन बी-१२, फॉलिक एसिड, रिवोफ्लोविन आदि के अभाव से भी विशेष प्रकार की रक्ताल्पता उत्पन्न हो जाती है जिसे मैगाब्लास्टिक एनीमिया या रक्ताल्पता कहा जाता है। इस प्रकार की रक्ताल्पता में लाल रक्त कणिकाओं का आकार बड़ा तथा असामान्य आकृति का रूप लेने लगता है। इसके कारण इन असामान्य लाल रक्त कणिकाओं का विघटन भी अधिक संख्या में होने लग जाता है, परिणामस्वरूप रोगी में रक्ताल्पता उत्पन्न होने लग जाती है।

एक वयस्क व्यक्ति को प्रतिदिन ४० माइक्रोग्राम विटामिन बी-१२, ४०० मि.ग्राम फॉलिक एसिड (गर्भावस्था तथा स्तनपान कराने की अवधि में ८०० मि.ग्राम प्रतिदिन), १.१ से १.८ मि.ग्राम रिवोफ्लोविन तथा पेन्टोथैनिक एसिड की आवश्यकता रहती है। इनकी आपूर्ति बड़े आराम से सामान्य आहार जैसे दूध, दही, पनीर से (विटामिन बी-१२, रिवोफ्लोविन, पेन्टोथैनिक एसिड), हरी सब्जियों से (फॉलिक एसिड), चौकरदार अनाज, चावल अथवा अंकुरित अनाज, दालों से (फॉलिक एसिड, रिवोफ्लोविन), माँस के (विटामिन बी-१२, फॉलिक एसिड, पेन्टोथैनिक एसिड) हो जाती है। फॉलिक एसिड की कमी कई व्यक्तियों में मृगी के उपचार के दौरान भी उत्पन्न हो जाती है।

**(५) घातक प्रकार की रक्ताल्पता :** जब किन्हीं कारणों से आमाशय तथा आँत्र की श्लेष्मिक कला से पाचक रसों तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का स्राव कम मात्रा में होने लग जाता है, जैसे आमाशय शोथ, अल्प अम्लता आदि में, तो आँत्र संस्थान में पर्याप्त अम्लीय वातावरण का निर्माण नहीं हो पाता है। फलतः आँत्र की श्लेष्मिक कला से विटामिन बी-१२ तथा लौह का अवशोषण सामान्य रूप से नहीं हो पाता है तथा शरीर में रक्त निर्माण की प्रक्रिया प्रभावित होने लग जाती है। इसका परिणाम बाद में रक्ताल्पता के रूप में सामने आता है।

**(५) आनुवांशिक कारणों से उपजी रक्ताल्पता :** यह आनुवांशिक प्रकार की रक्ताल्पता शरीर की कोशिकाओं में मौजूद गुण सूत्रों में से एक विशेष प्रकार की रचना में विकार के कारण एक विशेष एन्जाइम की संरचना बदल जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

### **पाण्डू एनीमिया या रक्ताल्पता के लक्षण**

पाण्डूजन्य रक्ताल्पता का यह रोग अधिकतर जवान लड़कियों को १४ से २४ वर्ष आयु के मध्य, विवाह से पूर्व अथवा उसके आसपास होते देखा जाता है, क्योंकि इस अवस्था में लड़कियाँ अक्सर मानसिक तनाव की छाया में जीने लगती हैं। मानसिक अवसाद के कारण उनकी भूख बहुत कम रह जाती है। आहार का पूरी मात्रा में समय पर सेवन न करते रहने से उनके शरीर में आवश्यक पोषक तत्वों का अभाव उत्पन्न होने लग जाता है और फिर धीरे-धीरे रक्ताल्पता रोग जन्म लेने लग जाता है।

चूंकि इस रोग में रक्त की लाली बहुत कम रह जाती है इसलिए रोगी का रंग पीला या पीलाहट युक्त मटमैला सा होने लगता है। होठ, मसूड़े और आँखें तक सफेद-पीली सी दिखने लगती हैं। रोगी की पाचन क्रिया भी गड़बड़ा जाती है एवं उसे विचित्र वस्तुएं, जैसे मिट्टी, खड़िया, चाक, पके मिट्टी के बर्तनों का खप्पर, पेंट, सीमेन्ट आदि खाने की इच्छा होने

लगती है। प्रदर के दोष में योनि से अधिक मात्रा में सफेद-पीला, गाढ़ा बदबूदार तरल बहते रहने तथा हिस्टीरिया रोग के लक्षण भी इस दौरान हो सकते हैं।

इनके अतिरिक्त रक्ताल्पता के समस्त लक्षण जैसे कि कमजोरी, थकावट, काम करने को मन न करना तथा थोड़ा सा परिश्रम करने से ही सांस फूलने लग जाना, हाथ-पैरों में सुईयां जैसी चुभन, सुनापन (सोने लग जाना), भूख की कमी, हृदय की तीव्र धड़कन, चेहरे तथा पैरों की सूजन जैसे लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं।

हाथ की हथेलियां, होठ आँख और उसकी पलकों के नीचे की त्वचा, जीभ आदि का निस्तेज और पीला सा पड़ जाना इस रोग के प्रमुख चिन्ह हैं। यों तो चेहरे का हल्का पीलापन भारतीयों में सामान्यतः देखा जाता है। अतः इसे रक्ताल्पता नहीं मान लेना चाहिए। मामूली परिश्रम करने पर आँखों के सामने अंधेरा छाना, हाथ-पैरों का ठंडा रहने लगना, शरीर का तापमान सामान्य से कम रहना, नाड़ी की गति कमजोर पर तीव्र, सिर दर्द व चक्कर आना, कानों में घंटियां बजने की सी आवाज आने लगना इस रोगी की भयानकता के कुछ स्पष्ट चिन्ह हैं।

रक्ताल्पता का प्रभाव रोगी के नाखूनों पर भी सीधा पड़ता है। लोहे की कमी वाले रक्ताल्पता के रोगी के नाखून खुरदरें तथा संकुचित होकर उनकी चमक समाप्त हो जाती है तथा चपटे होने शुरू हो जाते हैं। रोग के अधिक प्रभावी हो जाने पर नाखून पिचक कर कनकेव जैसे होने लगते हैं। ऐसे रोगी की जीभ बिलकुल सपाटा, चिकनी तथा चमकदार होने के साथ-साथ पीली-सफेद सी भी होने लग जाती है।

रक्ताल्पता रोग का निदान भी बहुत आसान है। रक्त में हीमोग्लोबिन का स्तर ज्ञात करने तथा लाल रक्त कणिकाओं की संख्या का पता लगाने के लिए रक्त का प्रयोगशालीय परीक्षण करवाया जा सकता है जिससे तुरंत वस्तुस्थिति का पता चल जाता है।

### पाण्डू एनीमिया का उपचार

पाण्डू एनीमिया अर्थात् रक्ताल्पता वाले रोगियों को प्रचुर मात्रा में लौह, तांबा, प्रोटीन, विटामिन बी-१२, फॉलिक एसिड आदि युक्त आहार का सेवन करना चाहिए, जिससे रक्त निर्माण के काम आने वाले सम्पूर्ण पोषक तत्वों की आपूर्ति शरीर में यथा शीघ्र हो सके तथा रक्त का निर्माण पुनः सामान्य रूप में हो सके।

प्रोटीन के लिए व्यक्ति को दूध, दही, पनीर, अंकुरित दालें, अनाज, कणी युक्त चावल, सोयाबिन आदि का पर्याप्त मात्रा में सेवन करना चाहिए जो लोग माँसाहार का सेवन करते हैं वे इनके अतिरिक्त माँस (कलेजी, गर्दे) अण्डे आदि का सेवन भी कर सकते हैं। अंकुरित अनाज को रक्ताल्पता वाले रोगियों के लिए अमृत के समान लाभप्रद सिद्ध होता है। क्योंकि अंकुरित अनाज में प्रोटीन के अतिरिक्त विटामिन बी समूह के कई प्रमुख घटक भी पर्याप्त मात्रा में होते हैं, जैसे थाइमिन, रिवोफ्लोविन, विटामिन बी-१२, फॉलिक अम्ल, बायोटिन तथा इनके अतिरिक्त विटामिन सी, ई, डी काफी मात्रा में इसमें उपलब्ध रहते हैं। यह विटामिन आँत्र में लौह की अवचूषण गति में वृद्धि करते हैं।

लौह, तांबा, कैल्शियम, मैग्नीशियम आदि खनिजों की दृष्टि से व्यक्ति को हरी साग-सब्जियां जैसे पत्ता गोभी, टिंडा, खीरा, ककड़ी, कच्चा प्याज तथा अन्य सब्जियों यथा गाजर, टमाटर, मूली, शलगम, मटर, अंकुरित अनाज, चना, उड़द, तिल तथा चोकर सहित मोटे आटे की रोटियां, पालिश रहित चावल, सूखे मेवे जैसे बादाम खुमानी, अखरोट, काजू, मूंगफली तथा फल जैसे सेव, केला, संतरा, अनार, पका आम, गन्ने का रस, नारियल आदि का उपयोग करना चाहिए। पालक, गाजर, टमाटर, सेव, मटर आदि तो लौह के बहुत अच्छे स्रोत हैं, जबकि केला, अजवायन मैग्नीशियम खनिज के अच्छे स्रोत हैं। केला के विषय में तो ऐसा कहा जाता है कि हृदयाघात के रोगी को दौरे के तुरंत पश्चात १-२ केला खिला देने से उसके मरने की संभावना ८० प्रतिशत तक घट जाती है। इसके अतिरिक्त सेव में ऐसे तत्व भी हैं जो अनाम में मौजूद फायटेट तथा फाइटिन आदि तत्वों को निष्क्रिय करके उनके लौह को अवशोषण योग्य बना देता है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में पाण्डूजन्य रक्ताल्पता के लौह तांबा, कोबाल्ट आदि खनिज युक्त जैसे फ़ैरस फुमारेट, ग्लोबिन, हीमोग्लोबिन तथा कूड लिवर एक्सट्रेक्ट (यकृत निष्कर्षण) आदि विभिन्न मिश्रणों के रूप में कैप्सूल, टेबलेट, सीरप तरल तथा इंजेक्शनों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं।

आयुर्वेद चिकित्सा में यकृत क्रिया को सुधारने तथा लाल रक्तकणों की वृद्धि व रक्त निर्माण को सामान्य करने वाले विभिन्न योगों का प्रयोग कराया जाता है। आयुर्वेद के अति सरल व परीक्षित योग इस प्रकार है-

सबसे पहले यकृत की क्रिया को सुधारने के लिए रोगी को निम्न योग तैयार करके पिलाना चाहिए त्रिफला, गिलोय, सत्व, चिरायता, कुटकी, निम्न की अंतर छाल, अड़ूसा, सभी समान मात्रा में लेकर उन्हें मोटा कूट लें तथा उसमें से २५ ग्राम चूर्ण लेकर रात्रि को २०० मि.ली. पानी में भिगो दें। प्रातःकाल उसका क्वाथ बना कर ठण्डा कर छान लें। इस क्वाथ में दो चम्मच शहद मिला कर रोगी को पिला दें। इससे यकृत की क्रिया सामान्य होती है तथा रोगी की पाचन प्रक्रिया सुधरती है। इस योग के अतिरिक्त रोगी को रक्त निर्माण करने वाले निम्न योगों का सेवन कराना चाहिए।

- नवायस लौह ४ ग्राम, ताप्यादि लौह २ ग्राम तथा कासीस भस्म २ ग्राम मात्रा में लेकर उनकी १६ मात्रायें बना लें तथा दिन में दो बार, सुबह-शाम एक-एक मात्रा शहद में चटा कर गाय मूत्र के साथ दें। यह रोग यकृत शक्तिवर्द्धक, रक्त कणों में वृद्धि करने वाला तथा पाचन प्रक्रिया को सुधारने वाला है।
- पुनर्नवा मण्डूर, नवायस लौह, आरोग्यवर्द्धिनी वटी, सभी समान मात्रा में लेकर खरल में डालकर घोट लें तथा ५००-५०० मि.ग्राम की मात्रायें बना लें। दिन में तीन बार एक-एक मात्रा गाय के ताजा मूत्र के साथ दें। यह अच्छे पाचन, रक्तवर्द्धक, हृदय, वृक्क और यकृत रोगों में विशेष प्रभावकारी है। यह रक्त कणों में वृद्धि करता है तथा यकृत शोथ आदि में लाभ करता है।
- रक्ताल्पता का रोगी दिन में दो बार खाना खाने के बाद लोहासव, कुमारीसव, द्राक्षासव २-२ चम्मच समान मात्रा में पानी मिलाकर सेवन करें।
- घी में भुनी हुई कुटकी का बारीक चूर्ण १० ग्राम, मण्डूर भस्म १० ग्राम, जवाखार १० ग्राम की मात्रा में लेकर अच्छी तरह बारीक पीस लें और कपड़े से दो बार छान कर २५०-२५० मि.ग्रा. की मात्रा में कैप्सूल में भर लें। दिन में तीन बार १-२ कैप्सूल रोग की स्थिति के अनुसार गर्म पानी से दें। यह योग यकृत की क्रिया को सुधार कर रक्तवर्द्धक लौह की कमी पूरी करता है तथा लाल रक्त कणों की संख्या में वृद्धि करता है।
- रोगी अपने आहार में गाजर, टमाटर, पत्ता गोभी, प्याज, लहसुन, अंकुरित अनाज, चोकर सहित अनाज की रोटियां, सेव, मुनक्का आदि को अधिक मात्रा में शामिल करे। इनसे रोगी को आवश्यक मात्रा में विभिन्न पोषक तत्व जैसे विटामिन ए, बी-समूह, सी, ई, के, खनिज लवण प्राप्त हो जाते हैं। लहसुन में सेलेनियम नामक खनिज लवण, ऑयल सल्फाइड आदि कीटाणुनाशक रसायन में मिल जाते हैं जो शरीर की संक्रमण रोगों से सुरक्षा करते हैं।

## प्राकृतिक उपचार

रक्ताल्पता के अनेक कारण हैं परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा धैर्य एवं विश्वास रखते हुए उपचार लेने से स्थायी रूप से लाभ मिल जाता है।

सर्वप्रथम यदि रोगी को कोष्ठबद्धता (कब्ज) हो तो पेट पर गर्म-ठण्डा सेक (क्रमशः ३ मिनट गर्म, २ मिनट ठंडा) चार बार दें एवं मिट्टी की पट्टी आधा घंटे के लिए पेट पर रखें। इसके बाद नीम पत्ती उबला गुनगुना पानी या गुनगुने पानी में नींबू निचोड़कर एनीमा लगायें। इसके बाद धूप स्नान कराते हुए (प्रातःकाल) समस्त शरीर पर सूखा घर्षण स्नान दें एवं बाद में ठंडे पानी में तौलिया निचोड़कर घर्षण स्नान दें। हल्की धूप में सम्पूर्ण शरीर की हल्की मालिश दें। रोगी की शारीरिक सामर्थ्य को देखते हुए वाष्प स्नान, गरम पाद स्नान, धूप स्नान देना चाहिए। इसके रक्त प्रवाह तीव्र होकर सभी कोशिकाएं उद्दीप्त होती हैं। दोपहर बाद में पेट पर गरम सेक अथवा स्थानीय वाष्प दें तथा तुरंत बाद में ठंडा रीढ़ स्नान दें। चूंकि रक्ताल्पता में यकृत तथा प्लीहा को विशेष उपचारित करना जरूरी है इसलिए यकृत एवं प्लीहा पर क्रमशः

बदल-बदलकर ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा सेक ५ बार दें। अर्थात् जब यकृत पर गरम तौलिया रखें उसी समय प्लीहा पर ठंडा तौलिया से सेक करें बाद में ३० मिनट के लिये लपेट बांधें। इसी प्रकार दूसरे दिन छाती एवं रीढ़ का गरम-ठंडा सेक (यकृत व प्लीहा के सेव विधि की तरह) करें। गरम पानी के अधिक प्रयोग से रक्ताल्पता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है अतः रोगी को ठंडी पानी का स्पंज बाथ देकर ठंडे जल से ही स्नान करायें। स्नान के बाद सूखा घर्षण स्नान देना चाहिए। गरम उपचार देते समय इस बात की सावधानी रखें कि कहीं रोगी थकान या दुर्बलता महसूस तो नहीं कर रहा है ? गहरी सांस लेकर विश्राम करायें। इस तरह से उपचार करने पर धीरे-धीरे रक्त वृद्धि होकर नया खून बनना शुरू हो जाता है और पाण्डूता दूर होने लगती है।

### आहार चिकित्सा

रक्त में क्षारीय तत्व मुख्य होते हैं। अतः रोगी को क्षार प्रधान आहार देने से रक्त वृद्धि होती है। आहार के संगठन में प्रोटीन, लौह, फॉलिक एसिड, विटामिन बी-१२ युक्त पदार्थ देने चाहिए। यदि रोगी अत्यंत दुर्बल नहीं है तो प्रारंभ में १-२ दिन नींबू-पानी-शहद पर उपवास करायें। उपवास के दौरान लौह, खनिज लवणों का अवशोषण व पाचन भलीभांति होकर इनका संतुलन बना रहता है अतः हीमोग्लोबिन की वृद्धि होती है। धीरे-धीरे फलों के रस व सब्जियों के रस पर लाएं। फलों में मुनक्का, अंगूर, संतरा, मौसम्मी, खूबानी, जामुन, सेव, किशमिश, चेरी, नींबू इत्यादि का सेवन करें। सब्जियों में गाजर, चुकन्दर, शलजम, पालक टमाटर, पत्तागोभी, गेहूं के पत्ते का रस, सोयाबीन, नारियल, मूंगफली, खीरा, ककड़ी इत्यादि का भरपूर प्रयोग करायें।

दूध, दही, छाछ, अंकुरित दालें आहार में लें। भोजन के बाद २०० ग्राम सेव खायें। सेव लौह के अवशोषण में सहायता करता है। इस तरह से आहार का सेवन करें।

प्रातः काल गहरा सांस लेते हुए १ डेढ़ किमी. शुद्ध हवा में टहलें। इससे भरपूर ऑक्सीजन मिलती है। ज्यादा श्रम, अति मैथुन, अति व्यायाम, बल वाले कार्य नहीं करें। हल्के योगासन जैसे- उत्तानपादासन, भुजंगासन, शवासन करें।

## पीलिया - कामला

(श्रान्छक्य)

पित्त (वाइल) का निर्माण यकृत कोशिकाओं में होता है और उसका भण्डारण पित्ताशय में । जब आहार आमाशय से गुजरता हुआ ग्रहणी (ड्यूडेनल छोटी आंत्र का प्रथम भाग) में प्रवेश करता है तो उसी समय पित्त भी पित्ताशय से निकलकर पित्त प्रणाली द्वारा ग्रहणी में पहुँच कर उसमें मिलता रहता है तथा उसके (आहार के ) पाचन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, किन्तु जब यही पित्त पित्ताशय से निकल कर ग्रहणी में न पहुँच कर सीधे ही रक्त में मिल कर व रक्त परिसंचरण के द्वारा समस्त शरीर में फैल जाता है। तो पित्त में मौजूद बिलीरुबिन नामक रंजक पदार्थ सूक्ष्म रक्त वाहिनियों से निकल कर त्वचा, श्लेष्मिक कला तथा आँख की कंजेक्टाइवा आदि में फैल कर उन्हें पीले रंग में रंगने लग जाता है। अतः शरीर की समस्त त्वचा, नाखून, आँखें, तालू का रंग और मूत्र आदि पीले दिखने लग जाते हैं। अतः शरीर की समस्त त्वचा, नाखून, आँखें, तालू का रंग और मूत्र आदि पीले दिखने लग जाते हैं। रक्त में जैसे-जैसे बिलीरुबिन की मात्रा बढ़ती जाती है, गुर्दे उसे छानकर रक्त को साफ करने में असमर्थ होते जाते हैं तो मूत्र का रंग भी गाढ़ा पीला होने लग जाता है। चूंकि शरीर का पीलापन इस रोग का प्रमुख लक्षण है, इसीलिए इस रोग का 'पीलिया' या 'कामला' नाम दिया गया है। इसे आयुर्वेद में कामला, अंग्रेजी में जॉण्डिस या हिपेटाइटिस तथा यूनानी में यरकान कहा जाता है।

चाहे त्वचा पर पीलापन प्रकट न हुआ है, पर रोगी का मूत्र पीला, मल सफेद रंग का आये तथा भूख न लग रही हो एवं रक्त परीक्षण में बिलीरुबिन की मात्रा २.५ से ३.० मि.ग्रा. प्रति १०० मि.ली. या उससे अधिक हो तो उन्हें पीलिया के शुरुआती लक्षण माना जा सकता है।

यों तो पीलिया रोग के दौरान रोगी के समस्त बाहरी व आन्तरिक अंग पीले रंग में रंगते चले जाते हैं, किन्तु बिलीरुबिन छन कर माँ के दूध तथा थूक में नहीं प्रवेश कर पाता है, अतः दूध और थूक रोग की गम्भीर अवस्था में भी सामान्य रंग के बने रहते हैं।

### पीलिया रोग के प्रमुख कारण

पीलिया रोग के मुख्यतः दो प्रमुख कारण होते हैं- एक, तो वह जब यकृत की स्वयं अपनी कोशिकाएं या पित्त प्रणाली विकारग्रस्त हो जाये, और दूसरा, वह जब पित्ताशय एवं ग्रहणी के मध्य की पित्त प्रणाली में कोई अवरोध उत्पन्न हो जाये। अतः पीलिया रोग के प्रमुख कारण हैं-

अ) यकृत कोशिकाओं की विकृतिजन्य पीलिया (हिपेटो सेल्यूलर जॉण्डिस)।

ब) अवरोध जनित या पित्तबद्ध पीलिया (कोलिसटेटिक जॉण्डिस)।

स) रक्त क्षयजन्य पीलिया (हीमो लायटिक जॉण्डिस)।

(अ) **यकृत कोशिका की विकृतिजन्य पीलिया** : यकृत की कोशिकाओं की क्षति या उनके रूग्ण हो जाने के कारण अथवा उनमें शोथ या सूजन आ जाने के कारण जब यकृत बिलीरुबिन को पित्त में मिश्रित नहीं कर पाता है तो यह बिलीरुबिन नामक रंजक पदार्थ सीधे ही रक्त में मिलता चला जाता है, परिणामतः शरीर में पीलिया के लक्षण प्रकट होते चले जाते हैं। यकृत कोशिकाओं में उत्पन्न हुई विकृति के पीछे भी दो कारण हो सकते हैं।

१. विषाणुजन्य पीलिया

२. औषधि और विषाक्त पदार्थजन्य पीलिया ।

(१) **विषाणुजन्य पीलिया** : भारत में पीलिया रोग का सबसे प्रमुख कारण है यकृत कोशिकाओं पर विषाणुओं को संक्रमण । अभी तक पीलिया रोग के लिए जिम्मेदार इस विषाणु परिवार के सात सदस्यों को पहचाना जा चुका है। ये हैं- हिपेटाइटिस ए, बी, सी, डी, ई, एफ और जी आदि। पीलिया कारक ये विषाणु दूषित खान-पान के माध्यम से आहार के साथ आंत्र

संस्थान में पहुँच जाते हैं और फिर वहाँ से रक्त संचरण के द्वारा यकृत तक पहुँच जाते हैं। यकृत तक पहुँचने के इनके कुछ अन्य मार्ग हैं- विषाणु संक्रमित व्यक्ति के रक्त को किसी दूसरे को दान (ब्लड ट्रांसफ्यूजन), संक्रमित व्यक्ति के रक्त घटकों का अन्य स्वस्थ व्यक्ति को दान , इन्जेक्शन लगाने के लिए संक्रमित व्यक्ति की सुई का प्रयोग । इन सब कारणों से संक्रमित व्यक्ति से पीलिया के विषाणु स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में शामिल होकर यकृत तक पहुँच जाते हैं। कई बार पीलिया विषाणुओं की उपस्थिति योनि स्त्राव तथा वीर्य में भी पायी जाती है। अतः संक्रमित व्यक्ति के साथ संभोग से भी पीलिया के विषाणु का संक्रमण हो सकता है।

किसी भी माध्यम से जब पीलिया रोग के ये विषाणु यकृत तक पहुँच जाते हैं तो यकृत की कोशिकाओं में प्रवेश करके वहाँ डेरा डाल लेते हैं तथा अपनी जीवन लीला प्रारंभ कर देते हैं। यकृत कोशिकाओं में इनकी उपस्थिति तथा गतिविधियों के कारण विकार उत्पन्न होने लग जाते हैं तथा उनमें शोथ आ जाती है जिनके कारण यकृत कोशिकाओं की सामान्य क्रिया में विकार उत्पन्न होने लग जाता है। यकृत के रक्त संचरण में भी बाधा आने लगती है। बिलीरुबिन नामक रंजक पदार्थ का चयापचय भी बिगड़ जाता है एवं रक्त में उसकी मात्रा बढ़ने लग जाती है। रोग कारक ये विषाणु यकृत को जितना अधिक नुकसान पहुँचाते हैं, उतना ही बिलीरुबिन की चयापचय दर बिगड़ती है तथा रक्त में उसकी उतनी ही अधिक मात्रा बढ़ती है।

सर्व साधारण में विशेषकर बच्चों में पीलिया रोग का सबसे प्रमुख कारण है हिपेटाइटिस 'ए' नामक विषाणु। यह विषाणु दूषित खाद्यन्न, पानी, दूध, फल और सब्जियों एवं अन्य पदार्थों के माध्यम से उनके पेट में पहुँच जाता है और फिर वहाँ से यकृत में। चूंकि इस विषाणु का प्रसार दूषित खान-पान के पदार्थों से होता है, इसी कारण यह रोग भारत में वर्षा ऋतु के मौसम में अधिक फैलता है। यह हिपेटाइटिस ए विषाणु बच्चों की तुलना में वयस्क व्यक्तियों को संक्रमित करके अनेक जटिल विषमताओं को जन्म दे सकता है। हिपेटाइटिस ए की तरह हिपेटाइटिस 'इ' विषाणु भी दूषित भोजन तथा जल आदि के माध्यम से ही फैलता है, किन्तु यह पहले विषाणु की तरह ज्यादा खतरनाक सिद्ध नहीं होता तथा ज्यादा तीव्र प्रकार के लक्षण उत्पन्न नहीं कराता।

पीलिया के लिए जिम्मेदार विषाणु परिवार का दूसरा सबसे खतरनाक सदस्य है "हिपेटाइटिस 'बी' नामक विषाणु। इस विषाणु का संक्रमण सामान्यतः रक्त व रक्त के पदार्थों के माध्यम से उनके (रक्त) दान के समय, इन्जेक्शन द्वारा अथवा दूषित सुई को शिरा में लगाए जाने से होता है। इनके अतिरिक्त शरीर के अन्य तरल पदार्थ जैसे लार, आंसू, वीर्य, योनि स्त्राव और पसीने आदि के द्वारा भी इस विषाणु का संक्रमण हो सकता है। इस विषाणु से संक्रमित रोगी दीर्घकाल तक यकृत विकार से पीड़ित रह सकते हैं या फिर उसे दीर्घकालीन संक्रमण के कारण लिवर का सिरोसिस रोग अथवा यकृत कैंसर जैसे गंभीर रोग भी हो सकते हैं। नवजात शिशुओं में हिपेटाइटिस 'बी' विषाणु का संक्रमण का ज्यादा खतरा रहता है। वास्तव में हिपेटाइटिस बी जन्य पीलिया एक गंभीर समस्या है। इसकी भयानकता इसी बात से सिद्ध होती है कि प्रतिवर्ष यह विषाणु सीधे तौर पर ही लगभग २० लाख से अधिक लोगों को मौत के मुँह में पहुँचा देता है।

हिपेटाइटिस 'बी' विषाणु की तरह हिपेटाइटिस 'सी' विषाणु का संक्रमण भी रक्त और उसके पदार्थ तथा शिरा द्वारा ही फैलता है। यह विषाणु भी हिपेटाइटिस 'बी' की तरह ही खतरनाक है।

हिपेटाइटिस 'डी' नामक पीलिया कारण विषाणु केवल उन्हीं लोगों को संक्रमित करता है जो हिपेटाइटिस 'बी' विषाणु से पीति रहे हों अथवा पीड़ित हों। अतः यह कहा जा सकता है कि हिपेटाइटिसी 'डी' विषाणु पीलिया फैलाने में हिपेटाइटिस 'बी' विषाणु के सहायक की भूमिका ही प्रमुख रूप से निभाता है।

**विषाणुजन्य पीलिया के लक्षण :** चूंकि यह एक विषाणुजन्य रोग है अतः यह एक रोगी व्यक्ति से दूसरे स्वस्थ व्यक्ति को हो सकता है अर्थात् यह एक संक्रामक रोग है। यदि पड़ोस में अथवा परिवार में कोई अन्य सदस्य पीलिया रोग से पीड़ित है या फिर कुछ दिन पूर्व रह चुका है तो वह अन्य दूसरे स्वस्थ व्यक्ति को संक्रमित कर सकता है। यदि पिछले दिनों किसी व्यक्ति ने शिरा मार्ग से कोई इन्जेक्शन लगवाया हो अथवा रक्त आदि चढ़वाया हो , उसके उपरांत ही यकृत संबंधी विकार उत्पन्न हुए हों, तो इस रोग का निदान बड़ी सरलता से हो जाता है। यह रोग छोटे बच्चों तथा युवाओं में ही अधिक

देखा जाता है। एक मनुष्य की औसत आयु में यह २ से ३ बार तक हो सकता है, किन्तु ५० वर्ष की आयु के बाद यह बहुत कम होते देखा जाता है।

इन पीलियाकारक विषाणुओं का प्रभाव संक्रमण से ३ से ४ सप्ताह बाद तक हो सकता है। इसी कारण इस रोग की सामान्यतः तीन अवस्थाएं देखने में आती हैं, परंतु इन तीनों अवस्थाओं में प्रत्येक रोगी के रहने का समय अलग-अलग हो सकता है। इसी प्रकार रोग से छुटकारा भी १५ दिन से डेढ़-दो माह के मध्य कभी भी मिल सकता है।

**प्रथम अवस्था** में जब रोग आरंभ होता है तो रोगी को मंद-मंद ज्वर रहने लगता है तथा उसकी भोजन के प्रति रुचि इतनी कम रह जाती है कि वह उसे देखना तक पसंद नहीं करता। रोगी दूध, चाय, धूम्रपान आदि सब कुछ का सेवन छोड़ देता है तथा उसे भोजन देखते ही मितली सी आने लग जाती है। कभी-कभी उसे मितली के साथ वमन भी आ जाती है। रोगी का शरीर सुस्त, किसी काम को न करने का दिल करना तथा सिर दर्द आदि की शिकायत हो सकती है। प्रारंभ के एक सप्ताह तक पीलिया के चिन्ह दिखाई नहीं देते, किन्तु दूसरा सप्ताह प्रारंभ होते ही रोगी को मूत्र गहरे पीले रंग का आने लग जाता है। इस अवस्था तक रोगी के शरीर का भार २-३ किलोग्राम तक कम हो जाता है। रोग की प्रथम सप्ताह में पहचान मुख्य रूप से भूख न लगना, मध्यम ज्वर रहना, यकृत के स्थान पर बोज़ या भारीपन महसूस होना तथा यकृत का स्थान शेष शरीर की अपेक्षा थोड़ा अधिक गर्म प्रतीत होना आदि कुछ पीलिया के संकेत हैं। रोगी के रक्त परीक्षण में बिलारुबिन की मात्रा बढ़ी मिल सकती है। चूंकि यह विषाणुजन्य यकृत शोथ है अतः रोगी को अपने यकृत के स्थान पर पसलियों के नीचे दुखन नहीं होती बल्कि उस स्थान पर भारीपन महसूस होता है।

**दूसरी अवस्था** में पीलिया के लक्षण पूर्णतः स्पष्ट होने लग जाते हैं और रोगी के अतिरिक्त दूसरे भी इसे महसूस करने लगते हैं। रोगी में मूत्र के अतिरिक्त उसकी आँखों में भी पीलाहट आने लग जाता है। मुंह के अंदर तालु भी पीला दिखने लग जाता है। त्वचा और नाखुनों का रंग भी पीला होने लग जाता है। अधिकतर रोगियों में इस प्रकार के लक्षण ३ सप्ताह तक बढ़ते हैं और फिर उनमें कमी आने लग जाती है। लेकिन इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पीलिया के लक्षण स्पष्ट होते ही ज्वर स्वतः ही कम होने लग जाता है तथा रोगी को भोजन की इच्छा होने लग जाती है यदि इस अवस्था में रोगी को भोजन करने की अनुमति दे दी जाये तो रोगी के भार में कमी की गति धीमी पड़ जाती है।

स्पष्ट है जब रोगी की ज्वर सामान्य होने लगे, भुख पुनः लगनी शुरू हो जाये तो यह पीलिया रोग से मुक्ति के संकेत हैं। यद्यपि रोगी की त्वचा का रंग इसी अवस्था में पीला पड़ने लगता है, अतः रोगी में पीलाहट का उत्पन्न महत्व नहीं है जितना कि यकृत का पुनः सामान्य कार्य करने लग जाना।

**तीसरी अवस्था** में रोगी का दैनिक जीवन सामान्य सा होने लग जाता है और उसे जब कुछ खाने की इच्छा होने लग जाती है तथा वह शीघ्र ही अपना खोया हुआ भार पुनः प्राप्त कर लेता है, अतः इस अवस्था में रोगी की सभी भोजन संबंधी रुकावटें दूर कर देनी चाहिए। अब पीलिया के लक्षण और चिन्ह धीरे-धीरे समाप्त होने लग जाते हैं। अधिकतर रोगी उपरोक्त अवस्थाओं से गुजर कर डेढ़-दो माह तक पूर्णतः स्वस्थ हो जाते हैं। केवल ५ से १० प्रतिशत रोगी ही जटिल यकृत सम्बन्धी विकारों के कारण अचेत होकर अकाल मृत्यु के मुंह में पहुँच जाते हैं, विशेषकर गर्भवती स्त्रियाँ। इसीलिए इस अवस्था में हिपेटिक कोमा (यकृत संन्यास) के विषय में रोगी के निकट सम्बन्धियों को स्पष्ट बता देना चाहिए। जैसे कि रोगी की चेतना कम हो रही हो, वह असामान्य व्यवहार करने लग जाये, बहुत अधिक चिड़चिड़ा होने लग जाये तथा शरीर में विशेषकर हाथों में कम्पन होने लग जाये तो उसे आपातकालीन स्थिति समझा जाना चाहिए।

रोग के स्पष्ट निदान तथा यकृत सम्बन्धी विकारों की वास्तविक स्थिति ज्ञात करने के लिए कुछ परीक्षण कराये जा सकते हैं, जैसे कि मूत्र में बिलीरुबिन की मात्रा ज्ञात करना, रक्त में एस.जी.ओ.टी., एस.जी.पी.टी. और एल्कैलाइन फास्फेट इत्यादि की मात्रा ज्ञात करना।

**(२) औषधि और विषाक्त पदार्थजन्य पीलिया :** लगभग सभी प्रकार की औषधियाँ (आधुनिक) कम या अधिक रूप में यकृत कोशिकाओं पर कुप्रभाव अवश्य ही डालती हैं, लेकिन जब विशेष रोगों के उपचार के दौरान इन औषधियों का सेवन लगातार दीर्घकाल तक करना पड़ता है तो उनके विपरीत प्रभाव से यकृत की कार्य क्षमता घटने लगती है तथा यकृत

क्रियाहीनता के कारण अनेक विषाक्त और हानिकारक व्यर्थ पदार्थ शरीर में ही (रक्त में) इकट्ठे होते चले जाते हैं। उन्हीं व्यर्थ पदार्थों में बिलीरुबिन भी एक है। यकृत विकार से सम्बन्धित यह लक्षण मुख्यतः क्षयरोगी औषधियों के सेवन से दिखाई देते हैं, पीड़ाहारी तथा शान्तिदायक औषधियों के लगातार अधिक समय तक सेवन से। इनके अतिरिक्त शराब का अत्यधिक सेवन, संधिया (आर्सेनिक) टाइनानट्रो, फास्फोरस, क्लोरम फेनीकॉल, ईथर, ट्रेटाक्लेथैन, क्लोरोफार्म आदि विषाक्त रसायन से भी इसके लक्षण दिखाई दे सकते हैं।

यकृत का कार्य शरीर में बाहरी तथा आन्तरिक हानिकारक व्यर्थ पदार्थों को हानि रहित पदार्थों में परिवर्तित करके (विभिन्न उपापचय क्रियाओं द्वारा) मूत्र, पसीने आदि के द्वारा शरीर से बाहर निकालने का भी है। अतः इस प्रकार का कोई भी पदार्थ यकृत से बिना गुजने तथा बिना उपापचित एवं विघटित हुए शरीर से बाहर नहीं निकल सकता। इसी कारण इन उपापचय क्रियाओं के दौरान यकृत कोशिकाओं को गम्भीर प्रकार की हानि उठानी पड़ती है तथा उनकी क्रिया पद्धति घटती चली जाती है, जो विभिन्न रोगों के रूप में सामने आ सकती है।

**रोग के लक्षण :** इस प्रकार के पीलिया रोग में कुछ मात्रा में पित्त यकृत व पित्ताशय से होकर ग्रहणी तक अवश्य पहुँच ही जाता है इसलिए रोगी के मल के रंग में कोई विशेष परिवर्तन पीलिया के इस रूप में दिखाई नहीं देता है। इसके अतिरिक्त पीलिया के अन्य लक्षण भी ज्यादा तीव्र रूप में नहीं हातो, किन्तु रोगी की भूख इस रोग में भी काफी कम रह जाती है। रोगी में कमजोरी, आलस्य, थकावट तथा रक्त की कमी के लक्षण भी हो सकते हैं। औषधियों का सेवन बंद करने के २-३ दिन बाद ही रोगी काफी राहत महसूस करने लग जाता है।

**(ब) अवरोध जनित पीलिया :** आहार में वसा की मात्रा अधिक रहने से अथवा भारी गरिष्ठ भोजन का बार-बार सेवन करते रहने से शरीर में वसा का समुचित रूप में चयापचय नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप उसकी रक्त में मात्रा (कोलेस्ट्रॉल के रूप में) बढ़ने लगती है तथा रक्त धमनियों की आन्तरिक भित्तियों के ऊपर जमने लगती है, जिससे उन वाहिनियों की आन्तरिक चौड़ाई घटती चली जाती है तथा उनमें अवरोध उत्पन्न होने लगता है। पित्त में भी काफी मात्रा में कोलेस्ट्रॉल रहता है, अतः इसकी अधिक मात्रा के कारण पित्त पित्ताशय में खुश्क होकर कभी-कभी पथरी का रूप भी धारण कर लेता है। वैसे भी जब यकृत से चलकर पित्त पित्ताशय में जाकर इकट्ठा होता है तो उसके जल अंश का वहाँ काफी मात्रा में अवशोषण हो जाने से वह काफी गाढ़ा हो जाता है। कई बार यह पथरियों का रूप भी ग्रहण कर लेता है। पित्ताशय में कई रोगाणुओं के संक्रमण से भी पित्त की पथरियाँ वहाँ बन जाती हैं।

अतः पीलिया की यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें यकृत की कोशिकाएँ तो अपना कार्य सुचारु रूप से करती हैं, किन्तु पित्त प्रणाली में किसी अवरोध के कारण पित्त ग्रहणी तक न पहुँच कर रक्त में ही मिलने लग जाता है। इस अवरोध के कारण पित्त के अत्यधिक खुश्क हो जाने से बनी पथरियाँ जो पित्ताशय के मुँह में फँस कर अथवा वहाँ से निकल कर पित्त प्रणाली को किसी भी स्थान पर बंद कर देती है। इसके अतिरिक्त पित्त प्रणाली का संकीर्ण हो जाना, ऑत्र कृमि आदि का ग्रहणी में पित्त प्रणाली द्वार को अवरुद्ध कर देना, ऑत्र में किसी बाह्य वस्तु के द्वारा पित्त प्रणाली द्वार में फँस जाना, ड्यूडेनलजन्य अवरोध, चिरकालीन अग्न्याशय की शोथ या ट्यूमर अथवा उसका कैंसर, पित्त प्रणाली की शोथ, व्रण या ट्यूमर, आमाशय, गुर्दे आदि के ट्यूमर आदि अनेक कारणों से पित्त प्रणाली की नलिका बंद हो जाती है जिससे पित्त ऑत्र के अंदर प्रवेश न करके रक्त में मिलने लग जाता है। इसी कारण अवरोध जनित पीलिया को ऑब्स्ट्रक्टिव जॉण्डिस भी कहा जाता है। पित्त प्रणाली के इस अवरोध को दूर करने के लिए अधिकांश मामलों में शल्य चिकित्सा की मदद भी लेनी पड़ती है। अतः यह सर्जिकल पीलिया के नाम से भी जाना जाता है, जबकि हिपेटाइटिस प्रकार के पीलिया मेडीकल जॉण्डिस के नाम से जाने जाते हैं।

**इस रोग के लक्षण :** पित्त नलिका में अवरोध के कारण पित्त व उसका रंजक पदार्थ बिलीरुबिन ऑत्र में पहुँच कर मल में नहीं मिल पाता है इसलिए इस पीलिया में मल का रंग सफेद, स्लेटी या राख के रंग जैसा होता है। इसी कारण इसे क्ले कलर स्टूल लक्षण वाला पीलिया भी कहा जाता है, जबकि मूत्र का रंग, त्वचा व आँखों का रंग पीला होता चला जाता है। पित्त का मल में न मिलने से रोगी को कब्ज रहने लगती है तथा ऑत्र में मल के सड़ने की प्रक्रिया बढ़ जाती है। वसा का समुचित रूप से पाचन नहीं हो पाने के कारण रक्त में ऊत्तकों से बिलीरुबिन के साथ ही कोलेस्ट्रॉल निकल कर, उसका स्तर बढ़ना शुरू हो जाता है। इन्हीं के साथ रक्त जमाने वाले घटकों का स्तर भी रक्त में बढ़ने लग जाता है। रोगी में रक्त



की कमी के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। यकृत का आकार भी थोड़ा बढ़ सकता है, एवं शरीर में विशेषकर रात्रि के समय तीव्र प्रकार की खुजली हो सकती है।

**(स) रक्त क्षयजन्य पीलिया:** जब किन्हीं कारणों से, जैसे कि मलेरिया परजीवी, कालाजार, स्ट्रेप्टोकोकस जीवाणुओं आदि के संक्रमण, घातक प्रकार की रक्ताल्पता (परनिशय एनीमिया) में, गलत ग्रुप का रक्त चढ़ा दिये जाने पर, कई प्रकार के विषों का रक्त में मिल जाने से, विषैले सर्प-कीट आदि के काट लेने से तथा जन्मजात विकारों के कारण, शरीर में लाल रक्त कणिकाओं का नाश अधिक संख्या में होने लग जाता है तो रेडिकुलो एण्डेथिलियम तंत्र, प्लीहा, यकृत, अस्थि मज्जा तथा लसिका ग्रन्थियों में इनके विघटन से अधिक मात्रा में हीमोग्लोबिन स्वतंत्र होने लग जाता है। इसी हीमोग्लोबिन के उप-पाचन से यकृत में पित्त व बिलिरुबिन का निर्माण होता है जो ऐसी परिस्थितियों में काफी मात्रा में होने लग जाता है तथा सारे का सारा पित्त प्रणाली द्वारा आँत्र में न पहुँच कर कुछ मात्रा में रक्त में मिलने लग जाता है। क्योंकि गुर्दे सीमित मात्रा में ही इस बिलिरुबिन का उत्सर्जन सामान्य रूप में कर पाते हैं, अतः इसकी मात्रा रक्त में बढ़ने लगती है और पीलिया के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अत्यधिक मात्रा में रक्ताणुओं के नष्ट होने के कारण ही यह रक्तक्षय या हिमोलिटिक पीलिया कहलाता है। इसे डक्टरस पीलिया के नाम से भी जाना जाता है।

इस प्रकार का पीलिया नवजात शिशुओं में जन्म के प्रथम सप्ताह में कम या अधिक रूप में अक्सर देखने में आता है, क्योंकि शिशु गर्भावस्था के दौरान अपने आहार, श्वास तथा उत्सर्जन के मामले में पूरी तरह अपनी माँ पर निर्भर रहता है और माँ के रक्त द्वारा ही पोषक तत्वों को ग्रहण करता है तथा व्यर्थ पदार्थों का उत्सर्जन करता है, किन्तु जैसे ही जन्मोपरान्त उसकी अपनी प्रणालियाँ स्वतंत्र रूप में अपना कार्य करने लगती हैं तब एक तरफ तो काफी संख्या में लाल कणिकाओं का नाश होने लगता है तो दूसर तरफ हीमोग्लोबिन का भी ऑक्सीजेशन होने लग जाता है। वैसे भी शिशु के गुर्दे की बिलिरुबिन को छानने की क्षमता बहुत कम रहती है। नवजात शिशुओं में पीलिया के यह लक्षण जन्म से दूसरे दिन से पाँचवें दिन तक हो सकते हैं तथा ७ से १० दिन तक रह सकते हैं। रोग तीव्र हो तो यह भयानक भी सिद्ध हो सकता है।

**रोग के लक्षण :** कभी-कभी यह रोग एकाएक, अचानक, तीव्र रूप में तो कभी-कभी धीरे-धीरे शुरू होता है। जब यह रोग एकाएक रूप में शुरू होता है तो रोगी का समस्त शरीर, चेहरा, आँखें, होठ आदि पीले हो जाते हैं तथा मूत्र भी गहरे पीले रंग का आने लग जाता है। रोगी की पाचन प्रक्रिया पूरी तरह बिगड़ जाती है एवं रोगी की प्यास बढ़ जाती है। रोगी के मुँह का स्वाद कड़वा हो सकता है एवं उसे प्रायः कब्ज रहती है, परन्तु कभी-कभी दस्त भी आने लग जाते हैं। रोगी बहुत कमजोर तथा बेचैन रहने लगता है। सोर शरीर में खुजली विशेषकर रात्रि के समय तथा कभी-कभी शरीर पर फुन्सियाँ तक निकल आती हैं। सिर दर्द, बदन दर्द तक हो सकता है। रोग के अधिक तीव्र होने पर पसीने और थूक का रंग भी पीला होने लग जाता है। रोगी को प्रत्येक वस्तु पीले रंग की दिखाई देने लगती है। रोगी की भूख बहुत घट जाती है। घी, तेल वाले भोजन से घृणा व देखने मात्र से मितली व वमन तक आने लग जाती है।

**रोग का उपचार :** पीलिया रोग के पीछे कई प्रकार के कारण जिम्मेदार होते हैं। अतः रोग का उपचार कारण विशेष को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। लेकिन सभी प्रकार के पीलिया रोगों में रोगी को अपने आहार पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। रोगी को भारी, गरिष्ठ, तले, भुने व अधिक मिर्च-मसालेदार भोजन, शराब, अनावश्यक औषधियों का सेवन पूर्णतः बंद कर देना चाहिए तथा प्रारंभ के ४-५ दिन तक केवल तरल पेय पदार्थ जैसे नींबू-पानी की शिकंजी, फलों और सब्जियों का रस, गन्ने का रस, अनार का रस, मक्खन रहित ताजा दही की पतली लस्सी आदि का सेवन ही करना चाहिए, जिससे आहार के पाचन तथा यकृत में होने वाले उप-पाचन में सुगमता रहे तथा शरीर के विटामिन सी, बी-समूह तथा ए आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते रहें। इन विटामिनों की पीलिया रोग के शमन में सहायता मिलती है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में विषाणुजन्य पीलिया रोग का कोई विशेष सफल उपचार उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अभी तक तमाम अनुसंधान कार्यक्रमों के बावजूद भी विषाणुओं के विरुद्ध कोई कारगर विषाणुरोधी औषधि नहीं बन पायी है। अतः औषधीय उपचार का पीलिया रोग में कोई विशेष महत्व नहीं है। यद्यपि 'इन्टरफिरान' नामक एक एन्जाइम की सहायता से विषाणुओं के विकास को कुछ हद तक रोका अवश्य जा सकता है, किन्तु अधिक कीमती होने के कारण यह दवा आम आदमी की पहुँच से काफी दूर है।

इसके बावजूद पीलिया रोग की रोकथाम के लिए वैक्सीन इंजेक्शनों का अवश्य कुछ महत्व है। आज हमारे पास हिपेटाइटिस ए, बी विषाणुओं के प्रतिरोधी टीके उपलब्ध हैं। इन वैक्सीन इंजेक्शनों को संक्रमण काल से पूर्व लगवा कर रोग की गिरफ्त में आने से बचा जा सकता है। यद्यपि हिपेटाइटिस डी विषाणु का प्रतिरोधी टीका अभी तक नहीं बन पाया है किन्तु यह विषाणु केवल उन्हीं लोगों को संक्रमित करता है जो हिपेटाइटिस बी से संक्रमित रहते हैं। अतः हिपेटाइटिस-बी से रक्षा हो जाने पर हिपेटाइटिस-डी से भी सुरक्षा हो जाती है।

विषाणुजन्य पीलिया रोग से बचाव का सर्वोत्तम उपाय यही है कि दूषित आहार के सेवन विशेषकर संक्रमित प्रभावित क्षेत्र व वर्षा के मौसम में बचा जायें। रक्तदान से पूर्व रक्त की अच्छी तरह जांच कर ली जाये। सदैव डिस्पोजेबल सीरिज का ही उपयोग किया जाये। शल्य चिकित्सा के दौरान भी पूर्ण सावधानी बरती जाये। सहवास के दौरान भी पूरी सुरक्षा तथा सुनिश्चितता बरती जाए।

इन सबके बावजूद एक प्रसन्नता की बात है कि विषाणुओं का प्रकोप एक सीमित अवधि के लिए ही होता है और अधिकांश मामलों में शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली इन्हें पूरी तरह से नष्ट करके शरीर से बाहर खदेड़ देती है।

अवरोधजन्य पीलिया रोग में प्रायः अवरोध को हटाने तथा पित्त प्रणाली मार्ग की सफाई के लिए शल्य चिकित्सा तक की आवश्यकता पड़ती है अतः जितना जल्दी संभव हो इस अवरोध को निकलवा देना चाहिए, जिससे रोग से शीघ्र मुक्ति हो सके।

### आयुर्वेदिक उपचार

- त्रिफला घनसत्व ५० ग्राम, गिलोय घनसत्व ५० ग्राम, चिरायता ५० ग्राम, निम्ब पत्र ५० ग्राम, पुनर्नवा मूल छाल ५० ग्राम मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण बना लें तथा दो कपड़े से छान लें। इसमें १५० ग्राम मण्डूर भस्म तथा १५० ग्राम लौह भस्म मिला कर २ बार घी क्वार का रस तथा गाय के ताजा मूत्र की भावना देकर खरल में ४-५ घंटे तक घोट कर ४००-४०० मि.ग्राम की गोलियां बना लें अथवा कैप्सूल में भर लें। सुबह शाम दिन में दो बार १-२ कैप्सूल या गोलियां ताजा पानी या गाय के मूत्र के साथ सेवन करने तथा भोजनोपरांत रोहितकारिष्ट, पुनर्वासव तथा कुमारी आसव २-२ चम्मच समान मात्रा में पानी मिला कर पीने से यकृत शोधजन्य पीलिया, यकृत वृद्धि अवरोधजन्य पीलिया, रक्ताल्पता तथा मन्दाग्नि आदि में शीघ्र लाभ आ जाता है।
- भृंगराज , अंकोल, कालमेघ, पुनर्नवा मूल छाल ५०-५० ग्राम की मात्रा में लेकर उनका बारीक चूर्ण बना लें तथा उस चूर्ण में शंख भस्म, लौह भस्म, मण्डूर भस्म ५०-५० ग्राम तथा १५० ग्राम कुटकी चूर्ण मिलाकर ग्वार पाठे के स्वरस में भली प्रकार घोट कर ४००-४०० मि.ग्राम की गोलियां बना लें। दिन में दो बार १-२ गोली का सेवन ताजा पानी के साथ करने से पीलिया, यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि अवरोधजन्य पीलिया, जलादेर, रक्ताल्पता आदि में शीघ्र लाभ आ जाता है।
- कालमेघ, पुनर्नवा मूल छाल, वायबिडंग, गिलोय, कुटकी, रोहतक, नागरमोथा, भृंगराज, हरड़ छिलका और कुमारी सत्व समान-समान मात्रा में लेकर मोटा-मोटा कूट लें। रात्रि के समय १०-१२ ग्राम यह चूर्ण १५० मि.ली. पानी में भिगो दें तथा प्रातःकाल आग पर रख कर क्वाथ बना लें। इस क्वाथ का दिन में दो बार २ से ४ चम्मच समान मात्रा में पानी मिला कर सेवन करने से यकृत शोध, यकृत वृद्धि, पीलिया यकृत सिरोसिस, आदि में आराम आ जाता है।
- १२ ग्राम कुटकी लेकर उसे घी में भून लें तथा उसे फिर पीस कर चूर्ण बना लें। ३-३ ग्राम की मात्रा में इसे दिन में चार बार शहद में मिला कर चार्टें। दिन में कई बार गन्ने का रस, फलों और सब्जियों का रस, ग्लूकोज का पानी, नींबू शिकंजी आदि लेते रहें। इससे ४ दिन में ही यकृत की क्रिया सामान्य हो जाती है।
- हमने लंबे अनुसंधान कार्य के पश्चात पीलिया रोग के लिए कुछ विशेष वनौषधियों के मिश्रण से एक प्रभावशाली योग तैयार किया है जिसके सेवन से रोगियों को प्रथम दिन से लाभ होने लग जाता है तथा ४-५ दिन में ही रोगी को पर्याप्त लाभ आ जाता है। भोजन के प्रति रोगी की रुचि पुनः जाग्रत होने लगती, शारीरिक बेचैनी, जलन, थकावट में भी पूरी तरह आराम आ जाता है एवं १०-१२ दिन में रोग पूरी तरह ठीक हो जाता है।

## रोगी का आहार :

यकृत शोथ के रोगियों को अपने आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए तथा वसायुक्त आहार का सेवन, माँस, मछली, अण्डे का सेवन नहीं करना चाहिए। प्रोटीन की मात्रा आहार में कम रहे, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाये तथा दालों का सेवन भी कम मात्रा में किया जाये। शराब को विष के समान समझते हुए उसका सेवन त्याग दिया जाये तथा रोगी को प्रथम कुछ दिन तक केवल पेय पदार्थों के सेवन पर ही निर्भर रहना चाहिए। इसके लिए रोगी गन्ने का रस, ग्लूकोज का पानी, नींबू की शिकंजी, फलों का रस, मक्खन रहित पतली दही की लस्सी, सब्जियों का रस, गाजर के रस का सेवन भरपूर मात्रा में कर सकता है। रोगी के लिए सन्तरा, अनार का रस, आँवला, नींबू-पानी और शहद की शिकंजी से बहुत लाभ मिलता है तथा ४-५ दिनों में ही रोगी की स्थिति में आशानुकूल परिवर्तन आ जाता है। इनके अतिरिक्त रोगी अंगूर का रस, मूली का रस, टमाटर, हरी सब्जियों का रस और सूप ले सकता है। इनसे रोगी को पर्याप्त मात्रा में विटामिन सी, ए, बी-समूह तथा खनिज लवण एवं कार्बोहाइड्रेज प्राप्त हो जाती है जो रोगी में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाकर उसे शक्तिशाली बनाते हैं।

रोग में सुधार आते ही रोगी अर्द्ध ठोस आहार जैसे उबली हुई सब्जियाँ, सब्जियों का सूप, दही की लस्सी, पालिश रहित चावल की खिचड़ी, पतला दलिया, मीठे व ताजा फल आदि का सेवन शुरू कर सकता है तथा धीरे-धीरे अपने सामान्य आहार पर लौट सकता है। वास्तव में पीलिया के उपचार में औषधियों से ज्यादा महत्व आहार का है।

## प्राकृतिक चिकित्सा

पीलिया ग्रस्त रोगी को सर्वप्रथम यकृत वाले स्थान पर गरम-ठण्डा कम्प्रेस क्रमशः बदल-बदल कर दें। कम्प्रेस की विधि इस प्रकार से है तीसरी पसली से लेकर नाभि पर्यन्त गरम पानी में भिगोकर निचोड़ा हुआ तौलिया रखें। ठीक इसी समय पीठ के मध्य भाग में बर्फ के पानी में भिगोकर निचोड़ा हुआ तौलिया रखें। ३ मिनट बाद इसके विपरीत अर्थात् नाभिपर्यन्त ठण्डा बर्फ के पानी के निचोड़ा हुआ तौलिया एवं पीठ के मध्य भाग पर (कंधे के नीचे से कमर तक) गरम तौलिया रखें। इस प्रकार ५ बार करें। इस उपचार के बाद ८-१० मिनट तक इन अंगों की हल्की मालिश करके यकृत पर मिट्टी की पट्टी ३० मिनट तक रखें। तत्पश्चात् रीढ़ एवं यकृत की हल्दी मालिश करके नीम के पत्ते उबले गुनगुने पानी का एनीमा देना चाहिए। गरम-ठण्डा सेक व एनीमा देने से इन अंगों को भरपूर पोषण मिलता है। यकृत की सूजन दूर होती है व पित्त प्रणाली खुलती है। शुद्ध रक्त पहुंचने से विजातीय तत्व घटने लगते हैं। एनीमा देने के बाद रोगी की शक्ति को ध्यान में रखते हुए गरम पादस्नान हल्का वाष्पस्नान दे सकते हैं। गरम उपचार से स्वेद ग्रंथियां खुलकर भरपूर पसीना आता है। पसीने के साथ विजातीय तत्व बाहर निकलते हैं। एक बार तो तीव्र खुजली चलती है परन्तु फिर राहत मिल जाती है। दोपहर बाद फिर से गरम-ठण्डा कम्प्रेस देकर आधा घंटा मिट्टी की पट्टी रखें इसके बाद ३ मिनट गरम तथा २ मिनट ठण्डा क्रम से तीन बार गरम-ठण्डा कटि स्नान देना चाहिए। कटिस्नान देने से पित्त प्रणाली की रुकावट दूर होकर यकृत को पोषण मिलता है। रात्रि में पुनः गरम-ठण्डा कम्प्रेस यकृत पर (नाभि के दायीं तरफ) पांच बार देकर पेट पर सूती-ऊनी लपेट बांध दें। नींद नहीं आने पर गरम पादस्नान दिया जा सकता है। ७ दिन तक इसी प्रकार उपचार दें। रोगी की स्थिति को देखते हुए गरम पादस्नान, वाष्पस्नान, गीली चादर लपेट, हल्की मालिश, एनीमा, धूप स्नान, प्लास्टिक की सीट में लपेटकर धूप स्नान, ठण्डा कटि स्नान, ठण्डा रीढ़ स्नान, पंक स्नान इत्यादि में से कोई भी एक चिकित्सा बदल-बदल कर दी जा सकती है। गौमूत्र का यकृत पर सेक करने से भी लाभ होता है। पीलिया रोग में जुकाम कदाचित (कभी-कभी) ही होता है। अतः ठण्डा उपचार खूब दे सकते हैं। रोगी को अधिक से अधिक विश्राम करना चाहिए।

## आहार चिकित्सा

सर्वप्रथम रोगी की शारीरिक शक्ति के अनुसार २ से ५ दिन तक नींबू, पानी, शहद पर पूर्ण अथवा आंशिक उपवास कराना चाहिए। तत्पश्चात्, नींबू, नारंगी, मौसम्मी के रस पर ३ से ५ दिन तक रखें। कभी-कभी जामुन, टमाटर, अन्ननास, तरबूज, अनार, गन्ने का रस भी पिलायें। स्वच्छ मूली के पत्ते, पालक, पत्ता गोभी या टमाटर के रस पर भी २ से ४ दिन रखें तो अत्यंत लाभ प्राप्त होता है। फलों में अंगूर, आम, चीकू, पपीता, मुनक्का, किशमिश, अंजीर आदि में भी प्रयोग करायें। प्रतिदिन प्रातःकाल ताजी नीम, गिलोय का रस २५ से ५० मिली तक पिलायें। इससे पित्त का विरेचन होकर

कामला में सुधार आने लगता है। ५-७ दिन तक रसाहार पर रहने से ही यकृत की समस्त पित्त प्रणाली खुल जाती है और बड़ा हुआ रंजक पित्त स्त्रोतों द्वारा बाहर निकलना शुरू हो जाता है एवं रोगी को आराम मिलने लगता है। रोग नियंत्रण में आने के बाद धीरे-धीरे मूली पत्ता, चौलाई, धनिया, पालक, लौकी, टमाटर, गाजर, पत्तगोभी की उबली सब्जी या सूप पियें। एक समय पतली चपाती, चावल हरी सब्जी एवं भरपूर छाछ के साथ खिलाएं। यकृत व्याधि में छाछ सर्वोत्तम पथ्याहार है। इस रोग में आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए। गरिष्ठ पदार्थ, तेल, घी, वसायुक्त पदार्थ नहीं लें क्योंकि पाचकाग्नि की मंदता के कारण वसा का पाचन नहीं होता और यह वसा यकृत पर विष के समान प्रभाव डालती है। तले-भुने पदार्थ, चाय, कॉफी, मांस, मदिरा, मैदा, बेसन युक्त पदार्थ तम्बाकू, धूम्रपान इत्यादि का पूर्ण परित्याग करें।

## यकृत वृद्धि, यकृत सिरोसिस और यकृत शोथ

### यकृत की संरचना

यकृत शरीर की सबसे बड़ी प्रमुख और अति सक्रिय ग्रन्थि है, जिसका वजन पुरुषों में १३०० से १८०० ग्राम तथा स्त्रियों में १२०० से १५०० ग्राम अर्थात् उनके शरीर के कुछ भार के ३६ से ३६वें भाग के बराबर होता है। परन्तु गर्भस्थ शिशु में यकृत का आकार व भार उसके शरीर के १८ वें भाग के बराबर होता है अर्थात् वयस्क अवस्था की तुलना में गर्भावस्था में यकृत दुगुने से भी अधिक होता है। यकृत का रंग गहरा लाली युक्त भूरा (चॉकलेट के रंग जैसा) होता है। यकृत का अधिकांश भाग दाहिनी ओर की पसलियों के नीचे व पीछे की तरफ तथा थोड़ा सा बायें लोथड़े का भाग बायीं ओर की पसलियों तक फैला रहता है। यकृत में ५ लोथड़े ५ दरार ५ बंद और ५ प्रकार की रक्तवाहिनियां होती हैं। यकृत में सदैव ही शरीर के पांचवें भाग के बराबर रक्त मौजूद रहता है। यकृत की प्रमुख रक्त वाहिनियां हैं-

(१) प्रतिहारिणी (पोर्टल वेन)- यह पांच छोटी शिराओं से मिलकर बनी होती है, जिनके माध्यम से आमाशय, आँतों, अग्न्याशय और प्लीहा का रक्त यकृत तक पहुँचता है तथा इसी के द्वारा आमाशय एवं आँत्र से शाषित पचे आहार के पोषक अंश भी यकृत तक पहुँचते हैं।

(२) यकृत शिरायें (हेपेटिक वेन्ज)

(३) यकृत धमनी (हेपेटिक आर्टरी)

(४) यकृत की नली (हेपेटिक डक्ट)

(५) यकृत लसिका वाहिनी (हेपेटिक-लिम्फेटिक्स)

### यकृत के कार्य

शरीर में यकृत की भूमिका एक रासायनिक उद्योग की तरह है, जिसमें आहार के सभी पोषक तत्वों तथा कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन (एमीनो एसिड्स), वसा अम्लों (वसा), विटामिन्स और खनिज लवणों का उप पाचन सम्पन्न होता है तथा काफी मात्रा में उष्मा का उत्पादन होता है। यकृत में लगभग ५०० अधिक विभिन्न रासायनिक पदार्थों का निर्माण होता है जो शरीर में रक्त निर्माण, पित्त निर्माण, विटामिनों के निर्माण, प्रोटीन के निर्माण शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली (एंटीबॉडीज) के निर्माण तथा समस्त प्रकार के ऊतकों के पुनः निर्माण व मरम्मत आदि के काम आते हैं। यही कारण है कि शरीर का एक चौथाई से अधिक रक्त सदैव यकृत में मौजूद रहता है तथा इसी (यकृत) से ही आमाशय एवं आँत्र आदि में रक्त का संचरण होता है। यकृत के विभिन्न महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं-

(१) यकृत का प्रमुख कार्य है पित्त (वायल) का निर्माण करना। यकृत प्रतिदिन ७५० से १३०० मि.ली. के लगभग पित्त का निर्माण करता है। यह पित्त आँत्र में वसा का इमल्शन बना कर उसके पाचन में सहयोग देता है तथा आँत्र से विटामिन 'के' एवं वसा अम्लों और ग्लिसराल का अवशोषण करता है। पित्त एक मृदु विरेचक की भूमिका भी निभाता है, जिससे मल विसर्जन की क्रिया में सरलता आती है।

(२) भ्रूणावस्था में यकृत रक्त की लाल रक्त कणिकाओं के निर्माण तथा वयस्क अवस्था में इन लाल रक्त कणिकाओं के जीर्ण व अनुपयोगी हो जाने पर उनके विघटन करने का कार्य भी करता है तथा उनसे स्वतंत्र हुए लौह के संचय का कार्य भी करता है। यह रक्त का भण्डारण व उसकी मात्रा को भी नियंत्रित करता है। यकृत विटामिन 'के' की सहायता से आहार में मौजूद कुछ एमीनो अम्लों को रक्त का थक्का बनाने के काम आने वाले रक्त स्कन्दक घटकों, प्रोथ्रोम्बिन तथा फाइब्रीनोजन और रक्त नलिकाओं में रक्त के जमाव को रोकने वाले पदार्थ 'हिपेरिन' का निर्माण भी करता है।

(३) यकृत में भोजन से प्राप्त अरक्तरोगी घटक विटामिन बी-१२ का भण्डारण होता है जो अस्थि मज्जा में लाल रक्त कणिकाओं की प्रौढ़ता के लिए अत्यंत आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त यह आहार से प्राप्त लौह, प्लीहा में जीर्ण लाल रक्त कणिकाओं के विघटन से उत्पन्न हुए लौह का भण्डारण भी करता है, जो पुनः रक्त निर्माण के काम आता है। इसके अतिरिक्त यकृत आहार से प्राप्त विटामिन 'ए', 'डी', 'ई' और 'के' का भण्डारण भी करता है।

(४) यकृत हरी सब्जियों, पील फलों तथा मांस आदि से प्राप्त कैरेटीन नामक रसायन को विटामिन 'ए' में रूपान्तरण करने का महत्वपूर्ण कार्य भी करता है। इसके अतिरिक्त यह रक्त प्लाज्मा के प्रोटीन भाग, सीरम एल्ब्यूमिन तथा ग्लोब्यूलिन का निर्माण भी करता है।

(५) भोजन के पाचन के पश्चात् जब रक्त में ग्लूकोज का स्तर सामान्य से बढ़ने लगता है तो यकृत उस अतिरिक्त ग्लूकोज को इन्सुलिन की सहायता से ग्लाइकोजन में रूपान्तरित करके अपने अंदर कैद कर लेता है। यह ग्लाइकोजन आवश्यकता पड़ने पर जैसे उपवास, दो भोजनों के मध्य अधिक समयान्तराल और अधिक परश्रम के क्षणों में पुनः ग्लूकोज में बदल कर ऊर्जा उत्पादन के कार्य आता है। यह वसा अम्लों को भी विसंतृप्तीकरण करके अपने अंदर जमा कर लेता है।

(६) यकृत का एक और प्रमुख कार्य है शरीर को विषाक्त व अनावश्यक हानिकारक पदार्थों के शरीर में एकत्र होने से बचाना। अनावश्यक औषधियों, विषों, शरीर में चयापचय क्रियाओं के परिणामस्वरूप पैदा हुए अनावश्यक पदार्थों तथा उन अनावश्यक एमीनो अम्लों को, मूत्र के माध्यम से शरीर से बाहर निकाल देता है। शायद, इसीलिए प्रकृति ने ऐसा नियम बनाया है कि आमाशय आँत्र और प्लीहा आदि से आ रहे रक्त को सीधे हृदय, फेफड़ों और मस्तिष्क तक पहुँचने से पूर्व यकृत से गुजरना पड़ता है ताकि गलती से भी कोई अवांछनीय हानिकारक पदार्थ उन महत्वपूर्ण अंगों तक न पहुँच पाये।

## यकृत शोथ

यकृत के जब किसी विशेष भाग में या सम्पूर्ण यकृत में ही शोथ उत्पन्न हो जाती है, तो उसे यकृत शोथ (हिपेटाइटिस) कहा जाता है। शोथ के कारण यकृत का आकार भी गई बार थोड़ा बढ़ जाता है तथा उसमें दर्द रहने लगता है। इस अवस्था में यकृत अपना सामान्य कार्य सुचारु रूप से जारी नहीं रख पाता है, जिनके लक्षण अन्य महत्वपूर्ण अंगों व समस्त शरीर में ही प्रकट होने लगते हैं। जब यह यकृत की शोथ उसके केवल बाह्य आवरण में ही होती है तब उसे यकृत आवरण शोथ या परियकृत शोथ (पेरी हिपेटाइटिस) कहा जाता है।

## यकृत शोथ के प्रमुख कारण

भोजन में अनियमितता, भारी, गरिष्ठ, तले-भुने और अधिक मिर्च-मसालेदार खाद्य पदार्थों का अधिक मात्रा में लंबे समय तक सेवन करते रहना, शराब का अधिक मात्रा में नियमित रूप से सेवन करते रहना, विभिन्न प्रकार की औषधियों का अधिक समय तक प्रयोग और शरीर में शीशा आदि विषों के पहुँच जाने से यकृत कोशिकाओं में शोथ उत्पन्न हो जाती है। इनके अतिरिक्त यकृत पर विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं और विषाणुओं का सीधा अथवा उनसे उत्पन्न जीव विषों का हमला, ये सभी यकृत कोशिकाओं को क्षतिग्रस्त करके उनमें सूजन उत्पन्न कर देते हैं। मलेरिया, अमीबा आदि परजीवी, उपदंश (सिफिलिस) के रोगाणु आदि उनमें से कुछ हैं। यकृत शोथ के अधिकांश मामलों के पीछे एक विशेष विषाणु परिवार के अनेक सदस्य मुख्य रूप से जिम्मेदार होते हैं, जो शरीर में दूषित खाद्य पदार्थों, पानी, रक्तदान, इन्जेक्शन व शिरा इन्फ्यूजन द्वारा रक्त से होते हुए यकृत तक पहुँच जाते हैं तथा उसकी कोशिकाओं को हानि पहुँचाना शुरू कर देते हैं। यही सूजन का कारण बनते हैं। (इनके विषय में अधिक जानकारी के लिए पीलिया रोग के अन्तर्गत पढ़ें।) यकृत के स्थान पर चोट लगना, कुछ तीव्र और विषाक्त रसायनों एवं अनेकों औषधियों का अधिक मात्रा में यकृत में पहुँच कर उसकी कोशिकाओं को हानि पहुँचा देने से भी उसमें सूजन आने लग जाती है।

यकृत का आहार के पाचन में महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसीलिए जब चिकनाई वाले व मसाले युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन अधिक मात्रा में और ज्यादा समय तक किया जाता है तो उससे यकृत की कार्य क्षमता पर भी अतिरिक्त दबाव पड़ने लगता है। इस कारण यकृत को मजबूरन अधिक मात्रा में पित्त आदि पाचक रसों का स्राव करना पड़ता है, जिससे

उसकी कोशिकाएं लगातार कार्य में जुटी रहती हैं और क्षतिग्रस्त होती रहती हैं। दूसरी तरफ यकृत पाचन के अतिरिक्त आहार के कई महत्वपूर्ण अंशों का अपने अंदर भण्डारण भी करता है जिससे एक तरफ तो उसकी सक्रिय कोशिकाओं की संख्या घटती जाती है तो दूसर तरफ कोशिकाओं में ग्लाइकोजन व वसा की मात्रा बढ़ती जाती है और उनका आकार फैलता जाता है। भारी, गरिष्ठ आहार में वसा का अंश अधिक होता है अतः आहार के पाचन के उपरांत रक्त में शोषित होकर यह वसा, वसा अम्लों तथा ग्लिसरॉल के रूप में यकृत तक अधिक मात्रा में पहुँचने लगती है। अधिकांश वसा का शरीर में सीधे रूप में कोई विशेष कार्य नहीं होता है। इसलिए यह यकृत में पुनः मानव वसा के रूप में रूपान्तरित होकर यकृत सहित अन्य अंगों में संचित होती चली जाती है। यह संचित वसा केवल उपवास काल आदि संकट के समय, रक्त द्वारा पुनः यकृत तक पहुँच कर निःसंतृप्तीकृत होकर इस योग्य बन जाती है कि कोशिकाओं में प्रवेश करके उपचयन (ऊर्जा उत्पादन) के काम आकर कार्बन डाई ऑक्साइड तथा जल में परिवर्तित हो सके। किन्तु वसा के उपचयन से कोटीन पिण्ड उत्पन्न होने लगते हैं जिससे किटोसिस की समस्या उत्पन्न हो जाती है और रक्त का अम्ल-क्षार सन्तुलन बिगड़ जाता है।

शराब, औषधियों और विषाक्त रसायनों के यकृत कोशिकाओं में चयापचय होते रहने से अन्य पदार्थों का निर्माण होने लगता है। इनमें से बहुत सारे पदार्थ तो मूत्र के साथ बहकर बाहर निकलते रहते हैं पर कुछ यकृत कोशिकाओं में ही एकत्र होते चले जाते हैं, जिसके कारण यकृत कोशिकाएं नष्ट होने लगती हैं तथा उनमें शोथ उत्पन्न हो जाती है।

जीवाणु, विषाणु भी यकृत में पहुँच कर उसकी कोशिकाओं में अपना डेरा डाल लेते हैं और वहाँ अपनी जीवन लीला चलाने व अपनी संख्या बढ़ाने के कार्य में जुट जाते हैं। इसके लिए उन्हें विभिन्न पोषक पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, जिन्हें वह उन्हीं यकृत कोशिकाओं से ही प्राप्त करते हैं। इनके साथ ही जीवाणुओं की विभिन्न क्रियाओं में अनेक पदार्थों का निर्माण होता है जिनमें से अनेक यकृत व अन्य शरीर कोशिकाओं के लिए हानिकारक होते हैं। इस प्रकार यकृत कोशिकाओं को जीवाणुओं के कारण दुहरी हानि उठानी पड़ती है। एक तो अपने पोषक तत्वों से हाथ धोना पड़ता है, दूसरा उनके व्यर्थ पदार्थों का संचय भी करना पड़ता है। परिणामस्वरूप यकृत कोशिकाओं के नाश होने लगता है। जीवाणुओं से मुक्ति पाने के लिए शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली की कई प्रकार की कोशिकाएं भी यकृत में पहुँच कर वहाँ इकट्ठी होने लगती हैं। इस प्रकार इन तीनों कारणों से यकृत कोशिकाओं में शोथ उत्पन्न होने लगती है और यकृत के कार्य में विकार आने लगता है।

### यकृत शोथ के लक्षण

- जब यकृत के बाह्य आवरण में शोथ होती है तो यकृत के स्थान, दायाँ पसलियों के नीचे तथा नाभि के ऊपर दक्षिण अनुपाश्विक प्रदेश (राइट हायपो कॉन्ड्रियक क्षेत्र) में दर्द रहने लगता है। यह दर्द काफी समय तक बना रहता है। रोगी को सांस लेने में थोड़ी कठिनाई भी होने लगती है, क्योंकि सांस लेते समय यकृत की पीड़ा कुछ बढ़ जाती है, लेकिन यकृत इस अवस्था में अपनी सामान्य क्रिया को बनाये रखता है। इससे रोगी की भूख भी लगभग सामान्य ही रहती है।
- लेकिन जब यह शोथ स्वयं यकृत कोशिकाओं के अंदर ही उत्पन्न होने लग जाती है तो यकृत के स्थान पर दर्द के साथ गर्माहट भी प्रतीत होने लगती है। यकृत का यह दर्द भी यकृत के स्थान से लेकर दाहिने कंधे तक विस्तारित हो सकता है। सांस लेने से या उस स्थान को दबाने से दर्द में वृद्धि होती है। यकृत का दर्द मूत्राशय की दायाँ तरफ तक जाता है जिसके कारण बायीं करवट लेने पर भी दर्द बढ़ जाता है। इस रोग में रोगी को प्यास तो अधिक लग सकती है, किन्तु उसकी भूख लगभग समाप्त हो जाती है। पाचन शक्ति के कमजोर पड़ जाने के कारण (यकृत आहार के पाचन में मुख्य भूमिका निभाता है) रोगी को भोजन के प्रति अरुचि, जी मिचलाना अथवा भोजन को देखते ही वमन तक आ जाती है।
- रोगी को तीव्र ज्वर हो सकता है जो लगातार बना रह सकता है। सिर दर्द, शरीर में अत्यधिक कमजोरी, बेचैनी, कोई काम न करने को दिल करना, कभी कब्ज तो कभी दस्त आने लग जाना आदि लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं। मूत्र भी गहरे लाल रंग का तथा कम मात्रा में आने लगता है, रोगी की जीभ शुष्क और मैली सी रहने लगती है। कभी-कभी ३-५ दिन के पश्चात पीलिया के लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं।

- यकृत की यह शोथ जब पुरानी हो जाती है तब यकृत शोथ में तीव्र लक्षणों की बजाय साधारण लक्षण भी पाये जाते हैं। यकृत के स्थान पर हर समय धीमा-धीमा दर्द रहने लगता है तथा ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे वहाँ बोझ सा पड़ा हो। रोगी को ज्वर नहीं रहता, किन्तु पाचन शक्ति अत्यंत दुर्बल बनी रहती है तथा भूख बहुत कम लगने लगती है। यकृत क्रियाहीनताके कारण रोगी में रक्ताल्पता के लक्षण, शरीर में अत्यधिक कमजोरी, चेहरे व शरीर का पीला पड़ना आदि लक्षण भी प्रकट होने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रायः रोगी को कब्ज रहने लगती है तथा मूत्र भी कम मात्रा में आने लगता है।
- रोग के और अधिक पुराना हो जाने पर रोगी को सांस लेने में कठिनाई होने लगती है तथा थोड़ा सा चलने फिरने अथवा काम करने पर सांस फूलने लग जाता है। यकृत का आकार भी 9-2 अंगुल बढ़ जाता है और वह सख्त हो जाता है। यकृत की इस वृद्धि को दाहिनी पसलियों के नीचे अंगुलियों के स्पर्श से आसानी से पहचाना जा सकता है।
- जब यकृत की यह शोथ यकृत की पित्त प्रणाली में पित्त के अधिक पैदा होने के कारण उत्पन्न होती है तो उस रोगी में थोड़े बहुत पीलिया रोग के लक्षण भी उत्पन्न होने लग जाते हैं। मल पीले रंग का आने लग जाता है। कभी-कभी रोगी को पित्त मिश्रित वमन भी आ जाती है। मुँह शुष्क और स्वाद कड़वा रहने लगता है। रोगी को शरीर में गर्मी प्रतीत होने लगती है तथा उसकी प्यास बढ़ जाती है।
- रक्त की अधिकता से पैदा यकृत शोथ में ज्वर रहता है। प्यास अधिक लगती है तथा यकृत में जलन, बोझ तथा दर्द रहने लगता है। यकृत में यह रक्त की वृद्धि जीवाणु संक्रमण के समय उत्पन्न होती है।
- श्लेष्मिक यकृत शोथ में पसलियों के नीचे मामूली शोथ प्रतीत होती है। रोगी का चेहरा, जीभ और मल का रंग सफेद सा हो जाता है। प्यास बहुत कम लगने लगती है। काम करने की हिम्मत नहीं रहती और रोगी आलस्य का मारा जैसे का तैसा पड़ा रहना चाहता है। इस प्रकार की यकृत शोथ कुपोषित और अत्यधिक रक्ताल्पता वाले रोगियों में देखने में मिलती है।
- अमीबा परजीवी के संक्रमण के कारण उत्पन्न हुई यकृत शोथ के रोगी को कुछ समय पहले अमीबाजन्य पेचिश रह चुकी होती है तथा बाद में यकृत शोथ उत्पन्न होकर यकृत के स्थान पर दर्द रहने लगता है। रोगी में ज्वर कंपकपी के साथ तथा पीलिया के लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं। रक्त में सफेद रक्त कणों की संख्या में बढ़ोतरी होने लग जाती है।
- मलेरिया परजीवी के कारण उत्पन्न हुई यकृत शोथ में रोगी को कुछ मास पूर्व मलेरिया ज्वर 9-2 या अधिक बार रह चुका होता है और उसके बाद में यकृत शोथ के लक्षण प्रकट होते हैं। इसमें यकृत के स्थान पर दर्द की बजाय भारीपन सा महसूस होता है तथा रोगी के शरीर में रक्ताल्पता के लक्षण भी मिलते हैं।

## यकृत वृद्धि

यकृत की कोशिकाओं में सूजन आ जाने अथवा उनके आकार के फैल जाने से जब यकृत के आकार में वृद्धि हो जाती है तो उसे यकृत वृद्धि कहा जाता है। यकृत वृद्धि में पसलियों के नीचे दाहिने हाइपो कोन्ड्रिम क्षेत्र में यकृत के स्थान पर स्पर्श करने से यकृत का आकार 9 से 2 से.मी. या अधिक बढ़ा हुआ मिलता है। यकृत वृद्धि के सत्यापन के लिए अल्ट्रासाउंड स्कैन का सहारा भी लिया जा सकता है।

यदि यकृत का आकार कुछ विशेष कारणों से बढ़ा हो तो उसके साथ में सम्बन्धित रोग के लक्षण भी पाये जाते हैं। जैसे कि यकृत शोथ में पीलिया रोग के लक्षण अमीबिक यकृत वृद्धि या अमीबिक फोड़े में अतिसार, हृदय रोगजन्य यकृत वृद्धि में (कन्जेस्टिव कार्डिक फेल्यूर) में सांस फूलना, हृदय का आकार बढ़ा हुआ, गर्दन की शिराएं फूली हुई तथा पैरों की सूजन आदि चिन्ह भी उपस्थित रहते हैं।

## यकृत वृद्धि के कारण



वैसे तो यकृत के फैलने (बड़े होने) के बहुत से कारण हो सकते हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश कारण वे ही हैं जो लिवर सिरोसिस तथा यकृत शोथ के लिए प्रमुख रूप से जिम्मेदार होते हैं। जैसे कि यकृत की चिरकालीन सूजन, मलेरिया, कालाजार, उपदंश और क्षय रोग पैदा करने वाले रोगाणुओं, चिरकालीन संक्रमण, हृदय रोग, यकृत का ट्यूमर अथवा यकृत का अमीबिक व्रण आदि। जीर्ण उपापचय विकार व कुपोषण (प्रोटीन अल्पता), चिरकालीन विप्रकुष्ट यकृत में रक्त संचय, कैसर, चिरकालीन पित्ताशय या पित्त प्रणाली की पथरी आदि के कारण भी यकृत के आकार में वृद्धि हो जाती है। यकृत के स्थान पर दर्द तथा स्पर्श असहिष्णुता के लक्षण भी साथ में पाये जाते हैं। कुछ प्रकार की यकृत वृद्धि के मामलों में यकृत के स्थान पर दर्द एवं छूने पर संवेदनशीलता के बहुत कम या बिल्कुल भी लक्षण नहीं मिलते हैं, जैसे कि यकृत में वसा के अतिरिक्त संचय से उत्पन्न हुई आकार वृद्धि, लारडेसियस आदि रोगों में।

मानव पर मलेरिया रोग का संक्रमण प्लाज्मोडियम फल्सीपेरस, प्लाज्मोडियम वीवेक्स, प्लाज्मोडियम आवेल और प्लाज्मोडियम मलेई नामक परजीवी जीवाणुओं के कारण होता है। ये परजीवी मादा मच्छर द्वारा काटने पर सीधे ही रक्त में प्रवेश कर जाते हैं तथा रक्त संचरण द्वारा शीघ्र ही यकृत तक पहुँच कर यकृत कोशिकाओं में डेरा डाल लेते हैं। यकृत में कुछ परिपक्व होकर ये परजीवी रक्त की लाल कणिकाओं में प्रवेश कर जाते हैं और उन्हें नष्ट करने तथा मलेरिया रोग का कारण बनते हैं। जब यह परजीवी यकृत कोशिकाओं के अंदर मौजूद रहते हैं तब कोशिकाओं में मौजूद कुछ एन्जाइम और रसायन इन्हें नष्ट करने के प्रयास में जुट जाते हैं। इस संघर्ष के कुछ यकृत कोशिकाएं नष्ट हो जाती हैं तो कुछ कोशिकाओं में व्यर्थ पदार्थ संचित होते चले जाते हैं। दूसरी तरफ परजीवियों के कारण अधिक संख्या में लाल कणिकाओं के नष्ट होने से अधिक मात्रा में हीमोग्लोबिन स्वतंत्र होने लग जाता है जिसके विघटन का कार्य भी यकृत कोशिकाओं पर ही होता है। परिणामस्वरूप यह भी यकृत में संचित होता चला जाता है। इस तरह मलेरिया के संक्रमण के समय इन तीनों ही कारणों से यकृत का आकार फैलने लग जाता है और उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होने लगती है।

कालाजार जो लिसमानिया डोनोवनी नामक जीवाणु के संक्रमण से फैलता है, यह जीवाणु भी शरीर में पहुँच कर अपना निवास स्थल यकृत कोशिकाओं, अस्थिमज्जा, प्लीहा आदि में बनता है। अतः इस जीवाणु के संक्रमण के समय भी रोगी के यकृत का आकार फैल जाता है। इसके साथ ही रोगी के शरीर में रक्त की कमी के लक्षण भी मिलते हैं।

यकृत की वृद्धि का एक प्रमुख कारण है 'अमीबा परजीवी का संक्रमण'। यह परजीवी प्रदूषित जल या खाद्य पदार्थों के साथ आँत्र संस्थान में और फिर वहाँ से यकृत तक पहुँच जाता है। यकृत में पहुँच कर यह सबसे पहले उसकी कोशिकाओं में शोथ, फिर व्रण (घाव) तथा अंत में उसके आकार में वृद्धि कर देता है जिसके कारण यकृत के स्थान पर दर्द रहने लगता है। दर्द का अहसास विलरी कोलिक जैसा होता है। यह दर्द कभी-कभी रोगी को दाहिने कंधे में भी प्रतीत होता है जो कुछ दिन से लेकर कुछ सप्ताह तक रह सकता है। रोगी को सांस भरने में तथा दाहिनी तरफ घूमने में दर्द में वृद्धि महसूस हो सकती है। रोगी को ज्वर भी रह सकता है जो कभी साधारण तो कभी कुछ तेज रहता है।

रोगी को भोजन की इच्छा भी इस रोग के कारण समाप्त हो जाती है। रोगी में मितली, वमन तथा पीलिया के लक्षण भी मिल सकते हैं। यदि रोगी को यकृत वृद्धि होने से कुछ समय पूर्व पेचिश रह चुकी हो तो यह अमीबिक परजीवी का संक्रमण शराब का अधिक सेवन करने वाले लोगों में अधिक तीव्र रूप में होता है। रोगी के मल की जाँच कराने पर अमीबा की उपस्थिति रक्त में लाल कणिकाओं की वृद्धि तथा एक्स-रे में डायफ्राम का दाहिना भाग ऊपर की ओर उठा हुआ मिलता है। अल्ट्रा-साउण्ड स्कैन से यकृत की वृद्धि प्रामाणित हो जाती है।

चिरकालीन पित्ताशय की पथरी अथवा पित्त प्रणाली में फंसी पथरी के कारण पित्त प्रणाली का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप यकृत में उत्पन्न हुआ पित्त पित्ताशय अथवा पित्ताशय से गुजर कर ग्रहणी तक नहीं पहुँच पाता है। इससे या तो पित्त का ही अधिक मात्रा में संचय यकृत में होने लग जाता है अथवा जिन पदार्थों से यकृत पित्त का निर्माण करता है वे ही यकृत में संचित होते चले जाते हैं जिससे धीरे-धीरे यकृत की कोशिकाएं फूलने लगती हैं तथा यकृत का आकार बढ़ने लग जाता है। इस प्रकार की यकृत वृद्धि के दौरान पीलिया के लक्षण भी साथ में मिलते हैं।

कुपोषित रोगियों में, विशेषकर जिनके भोजन में प्रोटीन अंश का अभाव रहता है उनकी यकृत की कोशिकाएं रोग के प्रारंभ में बड़ी होने लग जाती हैं, जिसके कारण यकृत का आकार बढ़ जाता है, किन्तु जब यह कुपोषण की समस्या अधिक समय तक बनी रहती है तो शरीर के अन्य अंगों की तरह यकृत का आकार भी छोटा होता चला जाता है।

अति विक्षोभक गुण वाले आहार का सेवन करते रहने से उनके दुष्प्रभाव के कारण यकृत में विकृति उत्पन्न होने लगती है तथा उसका (यकृत) का आकार बढ़ने लगता है।

## रोग के लक्षण

यकृत वृद्धि के अधिकांश लक्षण यकृत शोथ के समान ही होते हैं, किन्तु यकृत वृद्धि में यकृत के स्थान पर दर्द की बजाय बोज़ सा बना रहता है। रोगी की भूख भी पूरी तरह समाप्त होने की बजाय धीरे-धीरे कम होती जाती है। यकृत द्वारा अपना सामान्य कार्य जारी न रख पाने के कारण शरीर में कई आवश्यक पदार्थों का अभाव होने लगता है। रोगी में रक्ताल्पता के लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं और अत्यधिक शारीरिक कमजोरी आ जाती है। शरीर कृष्ण, दुर्बल होने लगता है, आँखें अंदर धंसने लगती हैं। रक्त में रक्त स्कंदक घटकों (प्रोथोम्बिन और फाइब्रीनोजन) की कमी आ जाने से मामूली चोट पर शीघ्र थक्का न बन पाने के कारण रक्त स्राव काफी समय तक जारी रह सकता है। शरीर की उत्सर्जन शक्ति (विषाक्त और अवांछनीय पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना) भी काफी घट जाता है, जिससे शरीर में विभिन्न चयापचय क्रियाओं में पैदा हुए अनावश्यक व्यर्थ पदार्थ तथा मुंह द्वारा सेवन की गई औषधियाँ आदि शरीर में ही संचित होते चले जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप अन्य महत्वपूर्ण अंगों की कार्य क्षमता पर प्रभाव पड़ने लगता है तथा अन्य रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

## प्राकृतिक चिकित्सा

यकृत वृद्धि व यकृत शोथ होने पर जठराग्नि मंद होकर भूख बंद हो जाती है और लगभग पीलिया जैसे लक्षण भी मिल सकते हैं। यकृत व प्लीहा दोनों बढ़ जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा यकृत के समस्त विकारों को दूर किया जा सकता है। शरीर में एकत्र विजातीय तत्वों को नष्ट करते-करते यकृत की क्रियाएं कमजोर होने लगती हैं। उसके आकर में वृद्धि होने लगती है तथा सूजन (शोथ) पैदा हो जाती है। सर्वप्रथम रोगी के रक्त का शोधन होना जरूरी है ताकि शरीर के विजातीय तत्वों को नष्ट करने का दबाव यकृत पर से कम हो सके। इसके लिए सर्वप्रथम प्रातः खाली पेट १ से डेढ़ लीटर कुनकुने पानी में एक बड़ा नींबू निचोड़कर रोगी को एनीमा लगायें। तत्पश्चात् यकृत व पेट के ऊपर ३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा ३ से ५ बार देना चाहिए। मिट्टी की पट्टी दिन में ३-४ बार रख सकते हैं। दोपहर के भोजन के बाद पेट व कमर का स्थानीय वाष्प स्नान देकर ठंडा कटि स्नान देना चाहिए। रात में यकृत व पेट पर गरम-ठण्डा सेक देकर गीली सूती लपेट को निचोड़कर पेट पर चारों ओर लपेट दें और ऊपर से ६ फीअ लंबी एवं १० इंच चौड़ी ऊनी लपेट (सूती लपेट भी इसी नाप की लें) अच्छी तरह से लपेट दें। लपेट बांधने से स्थानीय रक्त संचार तेज होकर यकृत की कोशिकाओं का पुननिर्माण एवं स्वस्थीकरण होता है और वे नई कोशिकाओं का निर्माण करने लगती हैं उपर्युक्त उपचार रोगी की स्थिति के अनुसार १५ से ३० दिन तक चलाना चाहिए। यकृत पर २ मिनट गरम तथा १ मिनट ठण्डा क्रमशः चार बार सेक देने से मात्र १० दिन में बढ़ा हुआ यकृत अपनी सामान्य अवस्था में आने लगता है। यकृत के ऊपर हल्की मालिश करने से भी रक्त संचार में वृद्धि होकर सूजन में कमी आने लगती है। यकृत रोग में लाभ मिलने के कुछ दिन बाद रोगी की शारीरिक क्षमता को ध्यान में रखते हुए शरीर के अन्य अंगों में एकत्र हुए विजातीय विषों को निकालने के लिए धूप स्नान, सोना बाथ, वाष्प स्नान, गरम पैर स्नान, सर्वांग पंक स्नान, गीली चादर लपेट, जेट स्प्रे बाथ इत्यादि चिकित्सा देते हुए चिकित्सा क्रम जारी रखना चाहिए। इन विभिन्न चिकित्साओं के प्रयोग से रक्त संचार में वृद्धि होती है एवं पसीने के रूप में सारी गंदगी व विजातीय पदार्थ शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

## आहार चिकित्सा

सर्वप्रथम नींबू, पानी, शहद पर उपवास कराना चाहिए। यदि रोगी अशक्त (कमजोर) है और उपवास नहीं कर सकता है तो ताजे फल तथा हरी सब्जियों का रस निकाल कर पिलाना चाहिए। फलों में मौसम्मी, अनार, संतरा एवं सब्जियों

में गाजर, टमाटर, मूल पत्ते, लौकी, तुरई इत्यादि का रस इच्छानुसार दें। वसा युक्त भोजन का परित्याग करें। जो रोगी उपवास नहीं कर सकते हों उन्हें प्रतिदिन २०-३० ग्राम मुनक्का १ घंटे के अंतराल पर ५-७ चूसकर खिलाएं। यकृत रोगियों को पानी पर्याप्त मात्रा में पीना चाहिए इससे खून साफ होता है जिससे यकृत पर से दबाव कम होता है। पथ्याहार में छाछ, सब्जियों का सूप, फलों का रस श्रेष्ठ होता है। यकृत के स्वास्थावस्था में आने पर ठोस आहार में शालि चावल, मूंग, परवल, तुरई, लौकी की सब्जी दें। फलों में पपीता, आलू बुखारा, नींबू, संतरा, अनार, अन्ननास, खरबूजा, तरबूज आदि काफ़ी समय तक प्रयोग कराना चाहिए।

मक्खन, घी, तेल, वसा, चर्बीयुक्त पदार्थ, चाय, कॉफी, तले-भुने पदार्थ, पूड़ी, परांठे, आचार, जैम, शराब, कोला इत्यादि पेय से एकदम परहेज रखें। इनका कदापि सेवन नहीं करें। धीरे-धीरे यकृत रोग ठीक हो जाता है।

### सिरोसिस ऑफ दी लिवर (यकृताल्पुद्दर)

यकृत की चिरकालीन शोथ के कारण, चाहे उनके मूल में कोई भी कारण क्यों न हों, जो दूषित पदार्थ यकृत कोशिकाओं के अंदर होते चले जाते हैं, वह कुछ समय के उपरांत जमकर तन्तु संरचनाओं का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इनके कारण शुरू में तो यकृत का आकार थोड़ा बड़ा हो जाता है, परन्तु फिर धीरे-धीरे सिकुड़ कर छोटा होता जाता है। यकृत का वजन भी घट जाता है तथा वह सख्त व कठोर हो जाता है, उसके किनारे मोटे और सतह खुरदरे या गांठदार हो जाते हैं। यकृत के एक अन्य रोग 'इन्फिल्ट्रेशन ऑफ लिवर' में भी यकृत के अंदर वसा, ग्लाइकोजन, लिपोइड तथा अन्य पिगमेंट जमा होने लग जाते हैं और उसकी सतह चिकनी व रबड़ जैसी नरम होने लग जाती है।

सिरोसिस रोग से ग्रस्त यकृत की आंतरिक संरचना देखने के लिए यदि उसका विच्छेदन किया जाये तो उसके अंदर बड़े हुए सफेद रंग की रेखाओं के रूप में तन्तु दिखाई देते हैं, जबकि यकृत का अपना स्वयं का रंग कच्ची मोम के समान पीला सा दिखाई पड़ता है। इन तन्तुओं के कारण यकृत के अंदर रक्त संचार तथा यकृत के अंदर पैदा होने वाले पदार्थों के आवागमन में रुकावट आने लगती है। यकृत को पर्याप्त मात्रा में रक्त व पोषक तत्वों की पूर्ति न हो पाने के कारण यकृत अपने कार्य को सामान्य रूप से जारी नहीं रख पाता है, जिसके परिणामस्वरूप यकृत के अंदर शरीर के लिए आवश्यक विभिन्न पदार्थों तथा रक्त निर्माण के काम आने वाले पदार्थों का निर्माण नहीं हो पाता है, परिणामस्वरूप रोगी धीरे-धीरे मृत्यु की तरफ बढ़ने लगता है।

### लिवर सिरोसिस के कारण

सिरोसिस रोग अधिकतर अधिक मात्रा में लंबे समय तक शराब पीने वाले लोगों में ही देखा जाता है। इसके अतिरिक्त चिरकालीन संक्रमण रोगों जैसे उपदंश (सिफिलिस), मलेरिया का संक्रमण, यकृत और हृदय सम्बन्धी कुछ विकारों के कारण, चिरकालीन विषाणुजन्य यकृत शोथ तथा पित्ताशय की पथरियों के निरन्तर खराश के कारण भी यह रोग होते देखा गया है।

जो लोग १०० ग्राम या उससे अधिक मात्रा में शराब का नियमित रूप से सेवन करते हैं, उनमें से बहुत सारे व्यक्तियों में ५ से १५ साल के मध्य यकृत के सिरोसिस रोग से पीड़ित हो जाते हैं। मुंह से सेवन करने के पश्चात् जैसी ही शराब आमाशय में पहुँचती है उसका अवशोषण शुरू हो जाता है तथा अधिकांश शराब का अवशोषण आमाशय में पहुँचती है उसका अवशोषण शुरू हो जाता है तथा अधिकांश शराब का अवशोषण आमाशय में ही सम्पन्न हो जाता है। इसी कारण सेवन की गई अधिकांश शराब शीघ्र ही रक्त में मिश्रित होकर सारे शरीर में परिभ्रमण करके समस्त अंगों को प्रभावित करती है। मस्तिष्क पर यह कम मात्रा में अवसादक तथा अधिक मात्रा में संवेदनहीनता प्रभाव डालती है। शरीर से शराब का उत्सर्जन गुर्दा द्वारा तथी संभव हो पाता है जब इसका यकृत में उपपाचन (मेटाबोलिज्म) सम्पन्न हो जाये। लेकिन एक सामान्य वयस्क व्यक्ति का यकृत प्रति घंटे केवल १२ से १५ मि.ली. शराब का उपापचय ही कर पाता है अर्थात् १०० ग्राम शराब को शरीर से बाहर निकलने के लिए यकृत को ७ से ६ घंटे तक संघर्ष करना पड़ता है। जब उसे यही कार्य वर्षों तक प्रतिदिन करना पड़ता है तो उसकी कोशिकाएं नष्ट होने लगती हैं, उनमें कई प्रकार के विकार पैदा होने लग जाते हैं तथा

इस उपापचय क्रिया में उत्पन्न हुये कई पदार्थ उनमें ही संचित होते चले जाते हैं। ये सब मिलकर बाद में यकृत सिरोसिस का रूप ले लेते हैं।

कुछ अन्य चयापयची सम्बन्धी विकारों जिनमें यकृत कोशिकाओं के अन्दर अधिक मात्रा में लौह संचित होने लग जाता है, जैसे कि हीमो क्रोमेटोसिस रोग में या अधिक मात्रा में तांबा संचित होने लग जाता है, जैसे कि विल्सन डिजीज में या अधिक मात्रा में ग्लाइकोजन संचित होने लग जाता है, जैसे कि ग्लाइकोजन स्टोरेज डिजीज में, तो इनका परिणाम भी कुछ समय पश्चात यकृत के सिरोसिस रोग के रूप में सामने आता है। इनके अतिरिक्त पित्त प्रणाली के अवरोध, कुपोषण तथा शरीर के अंदर ही कुछ विशेष प्रोटीन कणों (एण्टीजन) के प्रति एण्टीबॉडीज उत्पन्न होकर यकृत कोशिकाओं का नुकसान पहुँचाना शुरू कर देती हैं, के कारण भी यह रोग हो सकता है।

कई बार चिरकालीन विषाणुजन्य यकृत शोथ तथा कुछ औषधियों के लगातार सेवन करते रहने से जैसे कि मिथाइडोपा, मिथोट्रेक्सेट आदि भी से यकृत सिरोसिस तथा चिरकालिन यकृत शोथ के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं।

### यकृत सिरोसिस रोग के लक्षण

रोग के प्रारंभ में कुछ समय के लिए यकृत का आकार थोड़ा बड़ा हो जाता है, जिसे दाहिनी पसलियों के नीचे सुगमता से पहचाना जा सकता है, किन्तु बाद में सिकुड़ कर छोटा हो जाता है। रोगी की भूख घट जाती है तथा खाना खाने के बाद पेट में बोज़ सा महसूस होने लग जाता है। रोगी को कभी कब्ज तो कभी दस्त की शिकायत रहने लगती है। कभी वमन के साथ रक्त मिश्रित होकर आता है तो कभी रक्त की उपस्थिति के कारण मल काला-लाल रंग का आता है। त्वचा का रंग भूरा, शुष्क और खुरदरा सा हो जाता है तथा पेट के ऊपर की शिराओं में उभार आने लगता है। ऐसे रोगियों में कभी-कभी पीलिया जैसे लक्षण भी मिलते हैं। रोगी अत्यंत कमजोर और दुर्बल होने लगता है एवं उसकी आँखें, गाल, पेट अंदर की तरफ धंसने तथा माँस की जगह हड्डियाँ उभरने लगती है। सिरोसिस रोग में रोगी को अक्सर पेट में पानी पड़ (जलोदर रोग) जाता है। रोगी को रक्त मिश्रित वमन तथा पेट में पानी पड़ जाना इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं।

यदि रोगी का पेट पानी के कारण फूला हुआ हो, भोजन की इच्छा समाप्त हो गई हो, साथ में अजीर्ण, अफारा, मितली भी हो तो यह सिरोसिस रोग के कारण उत्पन्न हुए हिपेटिक फेल्योर (यकृत विफलता) के लक्षण हैं। इसी तरह यदि वमन के साथ रक्त आये, परीक्षा करने पर प्लीहा बड़ा हुआ मिले तथा पेट की शिराएं उभरी हुई हों तो यह सिरोसिस के कारण उत्पन्न हुए पोर्टल हाईपर टेन्शन के लक्षण है।

### रोग का उपचार

यकृत शोथ और यकृत वृद्धि का उपचार एक समान ही किया जाता है। अतः इनके उपचार के सम्बन्ध में पीलिया रोग के अन्तर्गत दिये उपचार पर ध्यान दे लेना चाहिए। इसके साथ ही यकृत विकार के रोगियों को तले-भुने और अधिक चिकनाई वाले आहार के सेवन से बचना चाहिए। 'शराब का सेवन पूर्णतः छोड़ देना चाहिए। रोगी को अनावश्यक औषधियों से भी बचना चाहिए। यदि रोगी किसी विशेष रोग का उपचार ले रहा हो तो इस सम्बन्ध में विशेषज्ञ चिकित्सक से परामर्श करके औषधि की आवयक न्यूनतम मात्रा का निर्धारण कर लेना चाहिए।

यकृत रोगियों को विशेषकर यकृत सिरोसिस के रोगियों को अधिकतम मात्रा में प्रोटीन वाले पौष्टिक आहार, विटामिन -बी समूह तथा विटामिन-सी वाले खाद्य पदार्थ लेने चाहिए, किन्तु प्रोटीन की आवश्यकता के लिए माँसाहार के स्थान पर वानस्पतिक प्रोटीन वाले आहार जैसे चोकर सहित अन्न, अंकुरित अनाज, सोयाबीन, मूंग, चना आदि को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। रोगी का आहार पीलिया रोग में लिये जाने वाले आहार के समान होना चाहिए।

रोगी यथावश्यक निम्न आयुर्वेद उपचार ले सकता है-

- घृत कुमारी का रस और शहद आधा'-आधा किलो ग्राम की मात्राओं में लेकर एक मिटटी के बर्तन में भरे कर मुँह बंद करके ७ दिन के लिए धूप में रख देते हैं। सात दिन के बाद इस रस को मोटे कपड़े से छान कर किसी साफ

बोतल में भर कर रख लेते हैं। इस रस का १५-२० मि.ली. की मात्रा में दिन में दो बार सेवन करते रहने से यकृत सम्बन्धी विकार ठीक हो जाते हैं।

- कुटज की छाल २४० ग्राम, काला नमक, सेन्धा नमक ५०-५० ग्राम, भुनी हींग २५ ग्राम को गाय के मूत्र तथा घृत कुमारी स्वरस की ३ भावना देकर १२० मि.ग्रा. की गोलियां बना लें। २-२ गोली दिन में तीन बार कुमारी आसव या पानी के साथ लेते रहने से यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, लिवर सिरोसिस आदि ठीक हो जाते हैं, पाचन क्रिया सुधर जाती है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

धूप्रपान, तम्बाकू, मदिरा इत्यादि के अत्यधिक सेवन से या अन्य कारणों से शरीर में विष संचित हो जाते हैं और यकृत की कार्यक्षमता पर प्रभाव डालकर उसे बीमार करते हैं। यकृत कोशिकाएं तेजी से नष्ट होने लगती हैं एवं शरीर में विजातीय तत्वों का जमावड़ा लग जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत लिवर सिरोसिस में समस्त शरीर का भी साथ में उपचार होना अत्यावश्यक है। रक्त साफ करना बहुत जरूरी है, ताकि विषों का निष्कासन भलीभांति हो सके। रोगी को सर्वप्रथम ३० मिनट के लिए पेट पर मिट्टी की पट्टी दें। बाद में चार बार क्रमशः ३ मिनट गरम २ मिनट ठण्डा सेक (तौलिया भिगोकर निचोड़कर) दें। ५ मिनट बाद हल्की मालिश देकर नीम के पत्ते उबले पानी का एनीमा दें। एनीमा के बाद रोगी की स्थिति के अनुसार सर्वांग मालिश, वाष्पस्नान, सोना बाथ, धूप स्नान, गीली चादर लपेट, गरम पैर स्नान, ठण्डा कटि स्नान या क्रमिक गरम-ठण्डा कटि स्नान, सूती-ऊनी लपेट इत्यादि उपचार प्रतिदिन बदल-बदलकर दें। इन उपचारों से सारे शरीर की शुद्धि होती है और यकृत में नई उत्तेजना पैदा होती है। रात्रि में प्रतिदिन पेट पर लपेट भी बांधें। १०-१५ दिन बाद यकृत की निष्प्राण कोशिकाएं पुनर्जागृत होकर नई कोशिकाओं का निर्माण प्रारंभ कर देती हैं। बाकी उपचार यकृत वृद्धि शोध के अनुसार करें।

### आहार चिकित्सा

सर्वप्रथम अगर रोगी उपवास करने योग्य हो तो २-४ दिन तक संतरा, नींबू, मौसम्मी, अनार, अंगूर, पालक के रसों पर या मूली पत्ते का रस, नारियल पानी या छाछ पर रखें। बाद में ३-५ दिन तक गाजर, अमरूद सेव, पपीता, लीची, जामुन, आलू, बुखारा इत्यादि का सेवन करायें। तत्पश्चात् दलिया खिचड़ी, भात, उबली सब्जी आदि दें। सब्जियों में लौकी, चौलाई, परवल, तुरई, करेला, अंकुरित रिजका, मूंग आदि दें। वसायुक्त तेलीय पदार्थ, तले-भुने आहार, चाय, कॉफी, मदिरा, फास्टफूड आदि एकदम बंद रखें। छाछ को मक्खन रहित करके पीना चाहिए। पूर्वोक्त वर्णित यकृतजन्य व्याधियों के अनुसार खान'-पान का प्रयोग परिवर्तित करके कर सकते हैं। रोगी की इच्छा, बल व शक्ति को ध्यान में रखते हुए उसे धैर्य बंधावें एवं पूर्ण विश्राम करायें।

## ऑत्र पुच्छ शोथ

(।च्छकवज्जै)

ऑत्रपुच्छ की शोथ श्लेष्मिक प्रकार की शोथ है जो अधिकतर कुछ समय के बाद शोथ से बदल कर घाव का रूप धारण कर लेती है। कभी इसमें पर्युदर्या उदावरण शोथ भी हो जाती है। ऑत्रपुच्छ शोथ के कारण पैदा होने वाला दर्द नाभि के अम्बलीकल भाग में होता है तथा दाहिनी इलियक फोसा की ओर जाकर मैकबर्नी चिन्ह पर ठहर जाता है। ऑत्रपुच्छ शोथ का दर्द आरंभ में तीव्र ऐंठन के रूप में होता है जो बाद में धीरे-धीरे ठहर जाता है। दर्द असहनीय होता है और इसका आक्रमण सदैव, अचानक और बड़ी तीव्र गति से होता है जो कई घंटे तक लगातार चल सकता है। ऑत्रपुच्छ शोथ में रोगी के चलने, फिरने एवं गति करने पर दर्द में वृद्धि हो जाती है। यथार्थ में यह वयस्क अवस्था का रोग है जो स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अपना शिकार अधिक बनाता है। इसे उण्डुक पुच्छ शोथ के नाम से भी जाना जाता है।

### ऑत्र पुच्छ क्या है ?

ऑत्रपुच्छ एक खोखली मूलांगी (त्नकपउमदजवतल) संरचना है, जो बड़ी ऑत्र के प्रारंभ की प्रतीक होती है। इस पतली सी नलिका समान रचना की लंबाई सामान्य स्वस्थ अवस्था में १ से ३ इंच तक लंबी हो सकती है। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि ऑत्रपुच्छ गर्भस्थ शिशु की ऑत्र के बनने से बचा हुआ भाग होता है। यों भी बंदरों की कुछ प्रजातियों में ऑत्रपुच्छ अघान्न का ही एक हिस्सा होती है और ऑत्रपुच्छ तथा अधान्न दोनों की अवकाशिकायें आपस में पूरी तरह से जुड़ी रहती हैं जिससे उसमें चली गई वस्तु फंसती नहीं है। परन्तु मनुष्य की ऑत्रपुच्छ इस प्रकार की नहीं होती। यद्यपि ऑत्रपुच्छ की संरचना बड़ी ऑत्र के समान ही होती है, तदपि वह कुछ भिन्न भी होती है।

### ऑत्रपुच्छ शोथ के कारण

ऑत्रपुच्छ में अवरोध और शोथ उत्पन्न होने की विशेष प्रकृति होती है। अवरोध का कारण लघु अवकाशिका तथा उसके छिद्र का छोटा होना तथा उसकी अवश्लेष्कता में लसिकाभ ऊतकों का बहुल्य होता है। ऑत्रपुच्छ शोथ में प्रायः ये दोनों ही अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं तथा एक-दूसरे की पूरक की भांति होती हैं।

ऑत्रपुच्छ शोथ का यह रोग शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों को अधिक होता है और उसकी प्रवृत्ति भी अधिक तीव्र व भयंकर होती है। अमरूद, नींबू, नारंगी, मनुक्का आदि के बीज या किसी अन्य बाहरी वस्तु का ऑत्रपुच्छ में फंसा या रुक जाना, शोथ या पूय पैदा करने वाले जीवाणुओं का उस स्थान पर चले जाना, ऑत्रपुच्छ की कठोरता अथवा उसमें कठोरता पैदा हो जाना, क्षय रोग के जीवाणुओं द्वारा ऑत्रपुच्छ का संक्रमित होकर उसमें ट्यूबर सृदृश रचनाएं बन जाना, ऑत्रपुच्छ में कैसर या अन्य प्रकार की रसौली उत्पन्न हो जाना, ऑत्रपुच्छ के स्थान पर चोट आदि लग जाना, पुरानी कब्ज, संकोचक, गरिष्ठ, दोषयुक्त आहार का सेवन करना, ऑत्रपुच्छ का सिकुड़ जाना या उसमें वैसे ही रुकावट उत्पन्न हो जाना, ऑत्र कृमि चुरने आदि, छोटे जोड़ों का विषैला पदार्थ (यूरेट), गठिया आदि में उस स्थान एकत्र हो जाना आदि ऑत्रपुच्छ शोथ के कारण बन सकते हैं।

ऑत्रपुच्छ का यह रोग बचपन और प्रौढ़ावस्था में अधिक होता है। किन्तु किसी भी आयु के व्यक्ति इससे मुक्त नहीं है। चार सप्ताह के शिशुओं में भी ऑत्रपुच्छ शोथ का यह रोग पाया गया है। फिर भी आयु के प्रथम वर्षों में यह रोग असाधारण ही होता है। बालकों में रोग की प्रगति शीघ्र होती है और समस्त लक्षण विवर्धित होते हैं। पिंड बनना साधारण देखने में नहीं आता। इसका कारण बालकों में ऑत्रपुच्छ में लसिका ऊतकों की अधिकता ऑत्रपुच्छ का बड़ा आकार, पर्युदर्या की रोग प्रतिरोधक क्षमता में कमी और वपा का अविकसित अवस्था में होना होता है। वपा की लंबाई की कमी से वह संरक्षक अवरोधन नहीं बना पाती और ऑत्रपुच्छ का बंध शीघ्र हो जाता है तथा पर्युदर्या के आसंजनी के न बनने से विसर्जित पर्युदर्या शोथ उत्पन्न हो जाती है। सबसे अधिक भय माता द्वारा बालकों को विरेचक देने से उत्पन्न होता है जिसे वे पेट दर्द के लिए बालक को प्रायः देती रहती है। वृद्धों में वयस्कों की अपेक्षा यह रोग बहुत कम देखने में मिलते हैं।

**सामान्यतः ऑत्रपुच्छ शोथ के दो प्रकार देखने में मिलते हैं-**

१. **श्लेष्मिक आँत्रपुच्छ शोथ** : में आँत्रपुच्छ का सम्पूर्ण भाग और उसकी माँसपेशियों की दीवारें मोटी हो जाती हैं तथा उनमें तन्तुयुक्त रचनाएं उत्पन्न हो सकती हैं। इसका भीतरी भाग दूषित, लेसदार श्लेष्मिक सदृश द्रव से भर जाता है। यदि यह शोथ पुराना हो जाए तो उसके अंदर थैली के समान रसौली बन जाती है जो अंत में किसी भी समय पर्युदर्या या उदरावरण में फट जाती है व भयानक प्रकार की जटिलता उत्पन्न कर डालती है।
२. **व्रण युक्त आँत्रपुच्छ शोथ** : वैसे तो इसमें भी वे समस्त लक्षण पाये जाते हैं जो श्लेष्मिक प्रकार के आँत्र शोथ में मौजूद रहते हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त इसमें घाव बन जाते हैं और पूय (मवाद) पड़ जाती है जो इस रोग की एक अत्यंत भयानक स्थिति होती है।

### रोग लक्षण और चिन्ह :

श्लेष्मिक प्रकार आँत्रपुच्छ शोथ एकाएक अज्ञात रूप में पैदा हो जाता है। इसमें सबसे पहले नाभि के चारों ओर या अधि जठर प्रदेश में दर्द शुरू हो जाता है। इसके बाद दाईं ओर तीव्र दर्द की वेदना उठती है। यह दर्द दाईं जांघ के जोड़ के अतिरिक्त पेट के दूसरे अंगों में भी होने लगता है। इस रोग का केन्द्रीय स्थान कूल्हे में अगले ऊपरी गड्ढे के नाभि की ओर लगभग पौने छः सेमी. की दूरी पर स्थित होता है साथ ही यह दर्द रोगी के हिलने-डुलने पर बढ़ता जाता है। प्रायः दर्द के क्षणों में रोगी पेट के बल लेटा रहता है और अपनी दाहिनी टांग को ऊपर की ओर सिकोड़ कर रखता है। आगे चलकर वेदना क्षेत्र आँत्रपुच्छ की वास्तविक स्थिति पर निर्भर होकर उसी स्थान पर ठहर जाता है।

रोगी को वमन शुरू हो सकती है जो रोग के प्रारंभ में सबसे तीव्र होती है और आँत्रपुच्छ के आध्यान (सूजन) की उत्तम द्योतक होती है। अवरोधी प्रकार के आँत्रपुच्छ शोथ में वमन की तीव्रता कम रहती है। वमनों की आवृत्ति और उनकी प्रबलता आँत्रपुच्छ के भीतर तनाव और उसके विदार की संभावना की सूचक होती है।

१०१<sup>१८</sup> तक का सामान्य ज्वर तीव्र अनावरोधी आँत्रपुच्छ शोथ की सूचना देता है। अवरोधी प्रकार की आँत्रपुच्छ शोथ में ज्वर पूर्णतः अनुपस्थित ही रह सकता है। पूयभवन की अवस्था के अतिरिक्त उच्च ज्वर नहीं होता। उच्च ज्वर विद्रधि (फोडेनुमा सूजन या गांठ) का सूचक है तो शीत कंपकंपी प्रतिहारी पूयरक्ता का सूचक है। शोथ युक्त आँत्रपुच्छ की विशेष स्थिति में विशेष लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे मूत्र करते समय दर्द, मूत्र बूंद-बूंद और रूक-रूक कर आना, मूत्र में रक्त की उपस्थिति। इन सबसे गवीनी (यूरेटर) में पथरी का भ्रम हो सकता है। श्रोणिगत आँत्रपुच्छ मलाशय में आंसजित होने पर पुनः पुनः मल त्याग और सपीड़कुंचन का कारण हो सकता है और कब्ज भी हो सकती है। रोगी की नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है।

व्रणयुक्त आँत्रपुच्छ शोथ में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त दर्द के केन्द्र पर नर्म सी रसौली की भांति उभार महसूस होता है, जो कभी बढ़ जाता है और कभी फैल जाता है। यदि उभार को टोका जाए तो प्रायः भद्दी सी आवाज पैदा होती है। प्रयोगशालीय अन्वेषणों से रोग के निदान में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती, केवल श्वेत रक्त कोशिकाओं की संख्या में बढ़ोतरी मिल सकती है जो आन्त्रपुच्छ में विद्रधि बनने पर २० हजार प्रति घन मि.मी. से अधिक हो सकती है। परन्तु परीक्षण पूर्ण प्रति जीवियों के औषधीय प्रयोग से 'श्वेत रक्त कणों की संख्या में वृद्धि रूक जाती है। वैसे श्वेत कोशिका बहुधा कई अन्य दशाओं में भी दिखने को मिलती है।

एक्स-रे या अल्ट्रासाउण्ड से कुछ दशाओं का व्यातिकरण हो जाता है जिनमें कुछ हद तक आँत्रपुच्छ शोथ की स्थिति की पुष्टि हो जाती है।

### रोग स्थिति :

रोग की स्थिति मामूली होने पर रोगी को ८-१० दिन के अंदर उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियों से आराम आ जाता है। परन्तु ३-४ दिन तक भी रोग की तीव्रता में कोई कमी न आये बल्कि रोग घटने की बजाए बढ़ जाये तो समझ लेना चाहिए कि फोड़ा बन रहा है जो रोग का एक बहुत ही भयानक संकेत है। ऐसी स्थिति में रोगी का तुरन्त शल्य कर्म किया जाना ठीक रहता है।

कारणों को दृष्टि में रखते हुए ऑत्रपुच्छ शोथ को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है - अवरोधक और अनावरोधक ऑत्रपुच्छ शोथ।

१. **अवरोधक ऑत्रपुच्छ शोथ :** इस प्रकार के रोग में अवरोध हो जाता है जो अंग के भीतर, बाहर या अंग की दीवारों की विकृति के कारण संभव है अथवा पहले कभी हुई शोथ से उत्पन्न अवकाशिका की संकीर्णता से या मलाशय पथरी से उत्पन्न हो सकती है। अवरोध पैदा हो जाने पर वहाँ उपस्थित जीवाणुओं का संक्रमण भी हो सकता है। ऑत्रपुच्छ शोथ का यह प्रकार जीवन के लिए अधिक भयप्रद है, क्योंकि ऑत्रपुच्छ में जल्दी ही कोथ (सड़न) बन जाती है।
२. **अनावरोधक ऑत्रपुच्छ शोथ :** ऑत्रपुच्छ शोथ का यह प्रकार रक्तजन्य संक्रमण के कारण उत्पन्न होता है। इससे व्रण और शोथ उत्पन्न हो जाने के कारण अवकाशिका की संकीर्णता हो जाती है और फिर उससे अवरोधी ऑत्रपुच्छ का आक्रमण हो जाता है इस प्रकार कोथ बनने (गंग्रीन होने) में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। कोथ बनने से पहले या तो शोथ पूरी तरह दूर हो जाती है, ऑत्रपुच्छ में व्रण बन सकता है, पूय पड़ सकती है अथवा ऑत्रपुच्छ तन्तुमयता के कारण रज्जू के सदृश हो सकता है। उसमें कोथ होने के कारण धमनी धनास्त्रता होता है।

रोगोत्पादक जीवाणुओं में एस्केरिकिया कोलाई सबसे प्रमुख है जो क्लोस्ट्रीडियम समूह के वातनिरपेक्षी जीवाणु हैं और ऑत्र में ही उपस्थित रहते हैं। दूसर रक्त संवलायी तथा अरक्त संवलायी दोनों प्रकार से स्टेप्टो कोकस होते हैं। अन्य पूयोत्पादक जीवाणु भी सक्रिय रहते हैं। कई बार अतिसार से भी यह रोग हो सकता है। एन्टोमीबा हिस्टोलिटिका जन्य व्रणोत्पत्ति ऑत्रपुच्छ में फैलकर जीवाणुओं द्वारा संक्रमित होने के पश्चात तीव्र रोग उत्पन्न कर सकती है। इसके अतिरिक्त अमीबाजन्य व्रण के विरोहण से क्षतांक के बनने के कारण ऑत्रपुच्छ की अवकाशिका संकीर्ण हो सकती है जिससे अवरोधी प्रकार की ऑत्रपुच्छ शोथ हो सकती है।

### ऑत्रपुच्छ शोथ की चिकित्सा

ऑत्रपुच्छ शोथ चूंकि एक आपातकालीन समस्या है इसलिए इसके उपचार में आधुनिक आरोग्य विज्ञान की सहायता ली जा सकती है। यदि तीव्र ऑत्रपुच्छ शोथ के आक्रमण का शमन चिकित्सकीय उपक्रमों से न हो पा रहा हो तो प्रथम २४ घंटों में ही शल्य चिकित्सा द्वारा आन्त्रपुच्छेदन करा लेना जरूरी बन जाता है। इस समय का शल्य कर्म आवश्यक और आपत्ति रहित है तथा बिना शल्य कर्म करने से आगे चल कर जो जटिलताएं और उपद्रव रोगी को हो सकते थे, उनसे रोगी बच जाता है। केवल कुछ विशेष दशाओं जैसे सांरक्षी गाठ बन जाने पर या रोगी के शल्य कर्म कराने को तैयार न होने पर ही संरक्षी चिकित्सा करनी चाहिए। वैसे भी ४८ घंटे के बाद शल्य कर्म करना मुश्किल हो जाता है। आक्रमण के पांचवें या छठे दिन पर केवल अनुभवी और निपुण शल्य चिकित्सक से आपरेशन करा कर ऑत्रपुच्छ शोथ की पीड़ा से छुटकारा पाया जा सकता है। अधान्त्र और बड़ी ऑत्र के क्षति ग्रस्त हो जाने पर भय वास्तविक बन जाता है जो आगे चलकर नाड़ी व्रण का सा रूप ग्रहण कर सकता है।

### किन अवस्थाओं में शल्य कर्म आवश्यक है ?

ऑत्रपुच्छ शोथ के रोगी की कुछ ऐसी जटिल अवस्थाएं होती हैं। जब शल्य कर्म आवश्यक बन जाता है। जैसे-पेट के अन्य दूसरे तीव्र अवस्था वाले रोगों से ऑत्रपुच्छ शोथ का सापेक्ष निदान करना कठिन हो जाये, पेट दर्द में तेज जुलाव देने के बाद रोगी पेट में कोई शोथ बताता हो, रोग का प्रकटीकरण यदि बालपन या वृद्धावस्था में हो और मधुमेह तथा गर्भ की अवस्था में, जब औषधीय उपचार से लाभ की संभावना संदिग्ध लगे। यदि ऑत्रपुच्छ में फोड़ा (विद्रधि) बन चुका हो।

ऑत्रपुच्छ शोथ की शल्य चिकित्सा के बाद भी विशेष सावधानी रोगी द्वारा बरतनी चाहिए, क्योंकि शल्य कर्म के बाद कई प्रकार के उपद्रव रोगी के शरीर में उठ खड़े होते हैं। शल्य कर्म के कुछ समय बाद या काफ़ी समय बाद तक ऑत्र अवरोध तथा ऑत्रावरण हो सकते हैं। शल्य कर्म के बाद यदि रोगी की दशा सन्तोषप्रद न लग रही हो जैसे नाड़ी की गति तीव्र, शरीर का तापमान उच्च और पेट पर उभार प्रतीत होने लग जाए तो ये सब शल्य कर्म उपरांत के उपद्रव हैं।



## संरक्षी चिकित्सा

हमारे देश के अधिकांश रोगी प्रायः शाकाहारी होते हैं, इसलिए उन्हें संरक्षी चिकित्सा से लाभ होते देखा गया है जिसका कारण शायद उनकी आँत्र के जीवाणुओं की दुर्बलता हो सकती है। किन्तु पहले से यह निश्चित कर पाना लगभग असंभव ही है कि संरक्षी चिकित्सा से किस रोगी को लाभ होगा और किसमें भयंकर उपद्रव उत्पन्न हो जायेंगे। संरक्षी चिकित्सा के निम्नलिखित सिद्धांत हैं-

- रोगी को मुख द्वारा आहार का सेवन बिल्कुल बंद करा दें। रोगी केवल पानी या पानी में ग्लूकोज अथवा लवण आदि घोल कर या फलों का रस हलका करके ले सकता है। आवश्यकतानुसार द्रव या आहार की आपूर्ति शिरामार्ग से की जा सकती है।
- पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त प्रतिजीवियों का जीवाणु संक्रमण का निषेध और उन्हें नष्ट करने के लिए प्रयोग कराया जाये।
- आँत्रपुच्छ के स्थान पर अर्थात् दक्षिण श्रोणि फलक खात के स्थान पर दिन में कई बार सेक किया जाये।
- रोगी की प्रति दो घंटे के अंतराल से ताप, नाड़ी गति और श्वसन गति का निरीक्षण किया जाये और उन्हें चार्ट में नोट करते रहें। ताप और स्थानीय चिन्हों के शांत होने के २-३ दिन के बाद तक प्रतिजीवी चिकित्सा जारी रखी जानी चाहिए। फिर भी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उपरोक्त प्रतिजीवी चिकित्सा का एक दोष भी है कि इससे आँत्रपुच्छ शोथ का पूर्ण रूप से शांत होने में बहुत समय लग जाता है और दक्षिण श्रोणिखात के स्थान पर एक बड़ा पिंड बहुत समय तक बना रह सकता है। इस कारण शमन काल में भी आँत्रपुच्छोच्छेदन करना कठिन हो जाता है।

कुछ समय तक रोग के लक्षणों के शांत रहने के पश्चात नाड़ी की गति का एकाएक बढ़ जाना (प्रति मिनट २० से अधिक, एक घंटे में ही), वमन का पुनः आरंभ हो जाना और सामान्य दशा का हास, चिन्हों में कठोरता के विस्तार के साथ बढ़ना, स्पर्श सहता का अधिक होना आदि पुर्यदर्या शोथ की प्रवृत्ति इंगित करते हैं।

यों तो आँत्रपुच्छ शोथ की एकमात्र सफल और अनुभवगम्य उपचार आधुनिक आरोग्य विज्ञान में ही उपलब्ध है, लेकिन आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली में इस रोग की कई सफल चिकित्सा उपक्रमों का वर्णन कई विद्वान आचार्यों ने किया है। इनमें से कुछ का वर्णन इस प्रकार है, जिन्हें सुविधा और रोगी की अवस्थानुसार उपयोग में लाया जा सकता है अथवा शल्य चिकित्सा से पूर्व सहायक चिकित्सा के रूप में अपनाया जा सकता है।

- दिन में दो बार सुबह-शाम २०-२० ग्राम की मात्रा में वरुणदि क्वाथ लें। दिन में दो बार ही नाशें के एक घंटे बाद शाम के भोजन से दो घंटे पहले गंधक रसायन, त्रिफला गुगल, आरोग्यवर्धिनी, चन्द्रप्रभा और पुनर्वादि मण्डूर वटी सभी एक-एक गुनगुने पानी के साथ दें। इसके आधा-आधा घंटा बाद सितोपलादि चूर्ण श्रृंग भस्म, मण्डूर भस्म, शंख भस्म तथा हल्दी का मिश्रण एक ग्राम की मात्रा में शहद के साथ। दर्द की स्थिति में आवश्यकतानुसार अग्नितुण्डी या शूलवीज्रणी वटी गुनगुने पानी के साथ। रात्रि को सोते समय शिवाक्षार पाचक चूर्ण एक छोटा चम्मच ताजा पानी के साथ।
- दिन में दो बार सुबह-शाम त्रिफला गुगल २-२ गोली वरुणदि क्वाथ १०-१० मि.ली. के साथ। भोजन के बाद दिन में दो बार अग्नितुण्डी वटी २, महाशंखवटी २ गोली पानी से। इनके आधा-आधा घंटे बाद सारिवाघासब दो चम्मच और अभियारिष्ट दो चम्मच मिलाकर समान मात्रा में पानी के साथ लें। दिन में दो बार ही सुबह आठ बजे और शाम ६ बजे के लगभग आरोग्यवर्धिनी वटी, प्रवाल पंचामृत और पुनर्वादि मण्डूर की १-१ गोली शहद के साथ चाटें। रात्रि को सोते समय १-२ चम्मच शिवाक्षार पाचक चूर्ण पानी या एरण्ड तेल के साथ। दर्द के स्थान पर संहजन की छाल का लेप करें।
- एरण्ड फल मज्जा, सोंठ, वचा और तिल का चूर्ण बनाकर कटेरी के पानी के साथ पीसकर गर्म-गर्म आँत्रपुच्छ के स्थान पर लेप करने से शोथ और शूल का शमन होता है।

## प्राकृतिक चिकित्सा

प्रायः अपेण्डिसाइटिस के रोगी शल्य कर्म को ही एकमात्र उपचार मानते हैं या उनको बार-बार यही सलाह दी जाती है कि ऑपरेशन करायें। परंतु कभी-कभी गलत निदान के कारण अपेण्डिसाइटिस के बजाय अन्य अंगों की सूजन होने पर भी रूपों के लालच में जबरदस्ती मानसिक दबाव बनाकर सर्जरी कर देते हैं जो कि एक घातक प्रवृत्ति है। इसका सारा खामियाजा रोगी व उसका परिवार भोगता है। शल्य कर्म यदि अत्यावश्यक हो और प्राणरक्षा के लिये किया जाये तो जरूर कराना चाहिए अन्यथा रोगी को प्राकृतिक चिकित्सा व आहार द्वारा उसकी पाचन प्रणाली एवं जीर्णकब्ज को दूर करके उपचारित करना चाहिए। जिन व्यक्तियों के हमेशा कब्ज की शिकायत रहती है उन्हें आंत्रपुच्छ शोथ की संभावना ज्यादा होती है।

एपेण्डिसाइटिस के रोगी को सावधानी से उपचार देना चाहिए। सर्वप्रथम रीढ़ एवं पेट पर ३ मिनट गर्म, २ मिनट ठंडा ३ बार सेक देकर नीम के पत्ते उबले गुनगुने पानी अथवा केवल गुनगुने पानी में १ बड़ा नींबू का रस तथा शहद १ चम्मच मिलाकर एनीमा दें। एनीमा देते समय दो विशेष सावधानी रखें, एक यह कि रोगी को दायीं करवट लिटाकर ही एनीमा दें तथा दूसरी यह कि एनीमा पॉट की ऊंचाई १ से २ फीट ही रखें व पानी की मात्रा १०० मिली. रखें ताकि एनीमा द्रव धीरे-धीरे अवरोही वृहदांत्र में चढ़े अन्यथा तेज गति से द्रव जाने पर एपेण्डिक्स फटने का भय रहता है। दिन में २-३ बार या स्थिति के अनुसार एनीमा देना चाहिए। कब्ज दूर करने वाली विरेचक औषधियों का प्रयोग कदापि नहीं करें। ऐसा करने से अपेण्डिक्स में छिद्र होकर विस्फोट हो सकता है एवं रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। तीव्र वेदनार हो रही हो तो नाभि के दायीं तरफ नीचे मैक बर्नी पाइन्ट पर ३ मिनट गरम व २ मिनट ठंडा सेक देकर सूती-ऊनी लपेट बांधना चाहिए। सेक देते समय ध्यान रखें कि एपेण्डिक्स पर ज्यादा दबाव या जोर नहीं पड़े अन्यथा एपेण्डिक्स के फटने का भय रहता है। गरम-ठंडा सेक दिन में २-३ बार देना चाहिए। पेट पर ठण्डी पट्टी रखकर पिण्डलियों पर लपेट बांधें। इनको ३० मिनट बाद हटाकर शरीर के अन्य अंगों का स्पंज बाथ करायें। रोग तीव्र हो तो गुनगुने पानी में कटिस्नान दें। रोग की उग्रता थोड़ी कम होने पर गरम-ठण्डा कटिस्नान क्रमशः ३ मिनट गरम, १ मिनट ठंडा ३ बार दें या केवल ठण्डा कटिस्नान भी दे सकते हैं। कुछ दिन तक धैर्य से उपचार करने के बाद रोगी ठीक हो जाता है परन्तु १ डेढ़ माह तक निरन्तर प्राकृतिक चिकित्सा ले ताकि शरीर के समस्त दोष, विजातीय तत्व बाहर आ जाएं।

७ दिन तक एनीमा देकर रोगी की स्थिति व शारीरिक बल को ध्यान में रखते हुए धूप स्नान, वाष्प स्नान, सोनाबाथ, गीली चादर लपेट, टबस्नान, पेट पर लपेट, मिट्टी का लेप, पिण्डलियों की मालिश एवं लपेट इत्यादि चिकित्सा बदल-बदल कर दें और शरीर की शुद्धि कर डालें। रोगी को पूर्ण विश्राम करायें।

### आहार चिकित्सा :

यदि संभव हो तो सबसे पहले रोगी को पानी पर उपवास करायें। अपेण्डिसाइटिस तीव्र अवस्था में है तो भूलकर भी ठोस आहार नहीं दे अन्यथा संक्रमण और तीव्रता से रोग बढ़ जाता है। नींबू, पानी, शहद चम्मच से आधा घंटे के अंतराल से पियें। रोगी को कुछ लाभ महसूस होने पर संतरा, मौसम्मी, गाजर, सेव, अनार आदि का रस ५०-१०० मिली. की मात्रा में अंतराल से पियें। रोग की तीव्र अवस्था में वमन होती है अतः पानी को उबालकर ठंडा करके दें। रस के पात्र को भी गरम पानी के पात्र में रखकर कुछ गर्म करके दें। ठोस आहार ७ से १० दिन बाद धीरे-धीरे शुरू करना चाहिए। सर्वप्रथम गेहूं का दलिया या खिचड़ी दें। सब्जियों का सूप, रोटी की पपड़ी, चावल, उबली सब्जी (परवल, तोरई, लौकी, गाजर, टिण्डा, शलगम) दें। धीरे-धीरे १-२ चपाती, उबली सब्जी, पतला दलिया आदि देकर सामान्य आहार पर लाएं।

आहार को मूलरूप में ही खाएं ताकि सेल्युलोज की पर्याप्त मात्रा उपबल्य हो सके। परिशोधित आहार नहीं खाएं। भोजन में फाइबर एवं सेल्युलोज रहित आहार के सेवन से एपेण्डिसाइटिस शीघ्रता से फैलता है। फास्ट फूड, मांसाहार, अण्डा, चीनी, मैदा, बेसन आदि से निर्मित परिशोधित आहार का सेवन बिल्कुल नहीं करें। एक बार रोग ठीक जाने के बाद भी अपथ्य का पूर्ण ध्यान रखें अन्यथा थोड़ी सी लापरवाही करने पर भी पुनः यह रोग होने की संभावना रहती है। तोज फलों का सेवन करें जैसे अंगूर, चीकू, मौसम्मी, संतरा, अनार आदि। प्रतिदिन २ से ३ लीटर जल अवश्य पियें। मिर्च-मसालें, गरिष्ठ पदार्थ, तले-भुने खाद्य पदार्थ, जैम, जैली, मैदा, बेसन के व्यंजन, केक, ब्रेड, बिस्कुट, बर्गर, पावभाजी,

भेलपूरी, साफ्ट ड्रिंक, अल्कोहल, धूम्रपान, तम्बाकू, पानमसाला, मांसाहार इत्यादि से हमेशा परहेज रखें। योगासन, प्राणायाम, सुबह की सैर, व्यायाम इत्यादि प्रतिदिन करें। इस प्रकार प्रकृति के नियमों का पालने करते हुए इस रोग से बचा जा सकता है जो कि आधुनिक संस्कृति में सर्वाधिक आम रोग है।

## बवासीर

(भण्डवत्पथै न चरै)

बवासीर एक अत्यंत तीव्र वेदनाकारी रोग का नाम है। इसे आयुर्वेद में 'अर्श' तथा आधुनिक आरोग्य विज्ञान में 'पाइल्स' या 'हेमरेडोइड्स' नाम से जाना जाता है। यह एक आम रोग है जो केवल भारत में ही नहीं, बल्कि संसार के सभी देशों में पाया जाता है। वास्तव में देखा जाये तो इस रोग के लक्षण ७५ प्रतिशत से भी अधिक लोगों में किसी न किसी रूप में अवश्य देखने को मिलते हैं तथा तीव्रता के आधार पर अपने लक्षण और कष्ट उत्पन्न करते हैं। यों यह रोग शहरी आबादी में, ग्रामीणों की तुलना में अधिक पाया जाता है। इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं- गुदा द्वार से मल त्याग के समय रक्त आना, शौच क्रिया में पीड़ा होना, मस्से बनना, मस्सों में पीड़ा, जलन एवं खुजली होना इत्यादि ।

बवासीर रोग के साथ जब कभी फिशर (गुद-विदर) की भी शिकायत हो जाती है, तब वेदना और तीव्र रूप धारण कर लेती है। उस समय रोगी को किसी भी अवस्था में चैन नहीं मिलता । फिशर रोग में गुदा द्वार की श्लेष्मिक कला फट जाती है जिससे उस जगह पर विदर बन जाता है। फिशर का प्रमुख लक्षण भी मल त्याग के समय और उसके पश्चात जलन युक्त वेदना होना है। यह वेदना तीव्र हो सकती है कि रोगी मल त्याग के पश्चात दो-तीन घंटे तक कुछ भी काम न कर पाये। विदर से रक्त स्राव भी हो सकता है। फिशर में भी शुष्क मल से गुद कपाटिका खिंचकर फट जाती है तथा एक फीते (टैग) के समान लटकने लगती है, इन्हें तब 'सन्तरी बवासरी' कहा जाता है।

### लक्षण और निदान

सरसरी तौर पर बवासीर दो प्रकार का होता है- बादी और खूनी। बादी बवासीर में मससे केवल फूल कर बड़े हो जाते हैं, जबकि खूनी बवासीर में इन मस्सों से रक्त रिसने लग जाता है कभी-कभी व्यक्ति को कब्ज के कारण भी आँत के भीतरी सिरे से रक्त आने लग जाता है और शौच क्रिया के समय मल के साथ काफी मात्रा में निकलता है। वैसे बवासीर रोग को साधारण अवस्था से लेकर कष्टदायी अवस्था तक के लक्षणों के आधार पर तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है-

**प्रथम प्रकार** के रोग में गुदा के भीतर अथवा बाहर मस्से बन जाते हैं जिनमें शोथ, पीड़ा, जलन एवं रक्तस्राव की शिकायत पायी जाती है। **दूसरी अवस्था** में मस्सों का आकार और बड़ा हो जाता है तथा शौच क्रिया के समय मल के साथ मस्से गुदा मार्ग से बाहर आ जाते हैं, परन्तु शौच के बाद पुनः अपने स्थान पर बैठ जाते हैं या उन्हें हाथ के थोड़े दबाव से अंदर किया जा सकता है। **तीसरी अवस्था** में मस्से सूज कर इतने बड़े हो जाते हैं कि वे गुदा मार्ग के अंदर नहीं समा पाते और गुदा द्वार के बाहर ही लटके रहते हैं। यही कारण है कि द्वितीय एवं तृतीय अवस्था में स्थानीय संक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। जिसकी वजह से रोगी का कष्ट और भी बढ़ जाता है और स्थिति असहनीय बन जाती है। इस अवस्था में कभी-कभी तो रोगी न तो भली प्रकार शौच आदि कर पाता है , न बैठ ही सकता है और न खड़ा ही रह सकता है। लंबे समय रक्त हानि होते रहने से रोगी को तीव्र रक्ताल्पता भी हो सकती है, जिससे रोगी अत्यंत कमजोर, चेहरा पीला, निस्तेज और निराश हो सकता है। कई रोगियों में तो हीमोग्लोबिन स्तर ४ ग्राम प्रति १०० मिली लीटर रक्त या उससे भी कम हो जाता है ।

### बवासीर रोग के कारण

बवासरी गुद नलिका के भीतर और उसके चारों ओर की शिरा स्फीति की अवस्था है। उर्ध्व मलाशय शिराओं में कपाट नहीं होते जिससे मलाशय की पेशियों के संकोच द्वारा उनके दबने से उनमें रक्त एकत्र रह जाता है। ऐसा अधिकतर लंबे समय तक खड़े रहने या अधिक समय तक लगातार बैठे रहने, साइकिल चलाने एवं घुड़सवारी आदि करने व चलने-फिरने की कमी से भी हो सकता है।

पाचन क्रिया के विकार, अति अम्लीयता, कोष्ठबद्धता और मल त्याग के समय जोर लगाने से रोग की प्रवृत्ति होती है। गर्म, गरिष्ठ, बासी भोजन करने, मांस, मदिरा आदि से, वात व्याधि बढ़ाने वाले पदार्थों से जैसे' बैंगन, आचार, चटनी,

मछली, अण्डे, मिठाई आदि से यह रोग भयंकर रूप धारण कर लेता है। इन पदार्थों से कब्जियत बढ़ती है, मल शुष्क होता है और वात रोग की वृद्धि होने से मलद्वार के मस्से फूल जाते हैं, जो कई बार शुष्क मल त्याग से चिर जाते हैं और उनसे रक्त स्राव शुरू हो जाता है।

वास्तव में अधिकांश बवासीर के रोगियों में जीर्ण कब्ज और कठोर मल त्याग का इतिहास मिलता है। अनेकों परीक्षणों में भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो लोग अपने आहार में रेशेदार साग सब्जियों और फलों का प्रयोग अधिक करते हैं और जिनके मल की मात्रा थोड़ी अधिक होती है उनमें बवासीर रोग से ग्रस्त बहुत कम लोग होते हैं। जैसे कि अफ्रीका के वर्किट आदिवासी कबीले के लोग। इनमें बवासीर होने का प्रतिशत दुनिया भर में सबसे अल्पतम है। कारण, इनका मुख्य आहार साग-सब्जियां औरी कंद, मूल फल हैं जिससे इन्हें जीवन भर कब्ज की बिलकुल शिकायत नहीं रहती और आहार में रेशों की अधिकता रहने से मल की मात्रा भी सामान्य से अधिक रहती है।

शाकाहारियों की तुलना में माँसाहार का अधिक प्रयोग करने वाले विशेषकर आहार में मछली की अधिकता रहने से बवासीर की समस्या ज्यादा होती है। यदि व्यक्ति, माँस, मछली और अण्डों के साथ शराब का सेवन भी अधिक मात्रा में करता रहा है तो उसमें बवासीर होने की संभावना बढ़ जाती है। क्योंकि इनके आहार में रेशेयुक्त भोजन की कमी रहती है, जिससे मल कम मात्रा में बनता है और शौच प्रक्रिया आसानी से सम्पन्न नहीं होती। कब्ज की शिकायत सदैव बनी रहती है, जो बाद में भयंकर रूप धारण कर लेती है। इसी कारण भारत में बिहार, पं.बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि राज्यों में बवासीर रोग अधिकता से फैलता है। इसका कारण, वहाँ के लोगों के आहार का मछली मुख्य घटक है।

बवासीर के वास्तविक कारणों पर आम सहमति नहीं है। कुछ विशेषज्ञ इसका सम्बन्ध आनुवंशिकता से भी जोड़ते हैं तो कुछ अन्य चिकित्सकों का मानना है कि जन्म से ही गुदा मार्ग के निचले भाग में दो स्थानों पर शिराओं का सघन जाल बना होता है। ऊपर का शिरा जाल गुदा द्वार से लगभग एक इंच की दूरी पर होता है, जबकि नीचे का शिरा जाल गुदा मुख के बिलकुल समीप पाया जाता है। इसी कारण जब इन शिरा जालों पर दबाव बढ़ जाता है या उनमें चोट आदि आ जाती है तो स्थानीय शोथ बढ़ जाती है और बवासीर के मस्से बन जाते हैं। कई स्त्रियों में गर्भावस्था के दौरान और पेट में बढ़ते हुए गर्भ के कारण भी गुदा मार्ग के शिरा जाल पर दबाव बढ़ जाता है, जिससे उन स्त्रियों में बवासीर रोग पनपने लगता है।

कई बार बवासीर रोग कुछ असाध्य रोगों जैसे मलाशय कैंसर, सगर्भ गर्भाशय, यकृत सिरोसिस आदि के लक्षणों के रूप में भी प्रकट हो जाता है क्योंकि इन सभी कारणों से भी मलाशय शिराओं से रक्त के लौटने में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

गुदा द्वार पर मस्सों की उपस्थिति के आधार पर बवासीर दो प्रकार का होता है। बाह्य बवासीर और आन्तरिक बवासीर। जब इन मस्सों की उपस्थिति बाह्य मलाशय जालिका की शिराओं पर होती है तब यह बाह्य बवासीर और जब उस उर्ध्व मलाशय शिराओं की शाखाओं पर होते हैं तो आन्तरिक बवासीर कहलाते हैं।

### **बाह्य बवासीर**

बाह्य बवासीर के मस्से गुदा द्वार पर या उसके बाहर होते हैं और त्वचा से ढके रहते हैं जबकि आन्तरिक बवासीर के मस्से श्लेष्मिक कला से ढके रहते हैं। परिगुदा क्षेत्र में संवेदी तन्त्रिकाओं की अधिकता रहती है जिससे बाह्य मस्से अत्यधिक वेदनाकर होते हैं। वास्तव में देखें तो बवासीर की यह दशा तीव्र गुदा रक्त संग्रह की है जो प्रायः कठोर मल त्याग के समय विस्फारित गुदशिरा के चिरने से उत्पन्न होती है। अकस्मात् वेदना तथा गुदा के पार्श्व भाग पर पिंड बनने का इतिहास मिलता है परीक्षा करने पर गुदा के परिसर पर गहरे नीले रंग का तना हुआ उत्सेध पाया जाता है जो कोई उपद्रव न होने पर धीरे-धीरे सिकुड़ कर एक तन्तु फीते के समान रह जाता है।

### **आन्तरिक बवासीर**

आन्तरिक बवासीर का विशेष लक्षण मलाशय से रक्त का निकलना है। रोग की साधारण अवस्था में केवल मल पर रक्त लगा हो सकता है। रोग की उग्रतानुसार रक्त की बूंदें निकल सकती हैं अथवा रक्त प्रवाह भी हो सकता है। बीच-बीच में कुछ समय तक रक्त बंद भी रह सकता है। कुछ रोगियों में श्लेष्मा युक्त स्त्राव भी रिसता है अथवा मल त्याग के समय जोर लगाने पर भ्रंश भी हो सकता है। रक्त मल त्याग से पहले या पश्चात भी निकल सकता है।

### बवासीर की चिकित्सा

वर्तमान आरोग्य विज्ञान में बवासीर की सर्व सामान्य चिकित्सा में कब्ज दूर करने वाली औषधियों का प्रयोग, मस्सों की स्थानीय शोथ तथा दर्द व जलन को शांत करने वाली मलहमों का प्रयोग, संक्रमण रोगों से बचाव के लिए प्रतिजीवियों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार गर्म पानी में पोटेश डालकर स्थानीय सिकाई भी की जाती है। कुछ चिकित्सक मस्सों में विशेष दवाओं के इन्जेक्शन लगाकर उसे सुखाने का प्रयास भी करते हैं। इनके अतिरिक्त मस्सों को बांधने या शल्य कर्म द्वारा उन्हें काट कर निकालने का उपक्रम भी किया जाता है। परन्तु इन सब चिकित्सा विधानों से रोगी को कुछ समय के लिए लाभ तो मिल जाता है, पर स्थायी लाभ नहीं मिल पाता और न ही रोग पूर्ण रूप से ठीक ही हो पाता है।

एलोपैथी चिकित्सा में शल्य चिकित्सा ज्यादा सफल और कामयाब है, परन्तु इससे भी पूर्ण स्थायी लाभ मिलने में सन्देह सदैव बना रहता है। कभी-कभी तो बवासीर के ऑपरेशन के बाद मलद्वार ऐसा निष्क्रिय हो जाता है कि मल त्याग की प्रक्रिया अनियन्त्रित हो जाती है और गुदा द्वार से पानी सा रिसता रहता है। ऐसी अवस्था में रोगी को या तो पेड्स (गद्दी) बांधने पड़ते हैं या फिर लंगोट आदि लगानी पड़ती है। शल्य कर्म (ऑपरेशन) के बाद एक बात और देखने में आती है कि सफल शल्य कर्मों के बावजूद ६० प्रतिशत से अधिक रोगियों में यह रोग शल्य को काट कर निकाल दिया जाता है उसके अतिरिक्त अन्य दूसरे मस्से बचे रह जाते हैं जो बाद में पुनः उन्हीं कारणों से फूल कर बवासीर का कारण बन जाते हैं।

### आयुर्वेदिक उपचार

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में बवासीर की ऐसी अद्भुत चिकित्सकाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है जिनसे यह रोग जड़ मूल से समाप्त हो जाता है। चरक संहिता में बवासीर के उपचार के लिए निम्न विधियों का उल्लेख किया गया है'-

१. मौखिक औषधियाँ ।
२. स्थानीय रूप में मस्सों पर लगाई जाने वाली औषधियों व अन्य प्रक्रियायें।
३. शल्य कर्म ।
४. क्षार सूत्र चिकित्सा ।
५. अग्नि कर्म इत्यादि ।

आयुर्वेद सबसे पहले खान-पान पर नियन्त्रण रखने का निर्देश देता है। आहार में सादा और सुपाच्य भोजन जैसे मूंग की दाल, छिलका सहित मोटे आटे की रोटी, हरी पत्तेदार साग-सब्जियाँ, निशोथ की पत्ती, पलाश की पत्ती, बांस रोहिणी के पत्ते, इमली के पत्ते, कचूर, गाजर, धनिया आदि के पत्ते, मूल, बथुआ, पालक, चित्रक के पत्ते, जमीकंद, फलों का रस, नींबू सलाद, दही की लस्सी आदि का प्रयोग अधिक मात्रा में करें, जिससे एक तो कब्ज न होने पाये और दूसरे पाचन क्रिया भी ठीक रहे। इन सबसे बवासीर की चिकित्सा में सहयोग मिलता है।

यदि कब्ज की समस्या रहती हो तो इसके लिए समय-समय पर हरड़ का मुरब्बा, ईसबगोल छिलका, एरण्डी का तेल, बादाम का तेल, गुलकंद, रसौत, त्रिफला आदि सेवन करते रहना चाहिए। दिन भर में पानी भी पर्याप्त मात्रा में पीते रहना चाहिए और आहार में हरी-ताजा सब्जियाँ सलाद आदि की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए।

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली में इस रोग पर बहुत अनुसन्धान कार्य हुआ है और विभिन्न ग्रन्थों में अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ इस विषय पर लिखा है। इनमें ऐसे आयुर्वेदिक योगों का वर्णन है जो इस रोग को जड़मूल से नष्ट कर देते हैं। इनमें से कुछ परीक्षित और अनुभूत योगों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

आयुर्वेद में सर्वप्रथम बवासीर की चिकित्सा में कब्ज को दूर करने के लिए विरेचन दिया जाता है। इसके बाद सुबह-शाम २-२ चम्मच अभयारिष्ट समान मात्रा में पानी मिला कर भोजनोपरांत दिया जाता है।

### मौखिक औषधियां :

१. बकायन फल का अत्यंत बारीक चूर्ण एक चम्मच समान मात्रा में मिश्री चूर्ण के साथ प्रातःकाल खाली पेट एक गिलास ताजा पानी के साथ एक माह तक सेवन करते रहने से बवासीर की प्रथम और दूसरी अवस्था में आराम आ जाता है।
२. जायफल, लौंग, पीपल, सेंधा नमक, सोंठ, धतूरे के शुद्ध बीज, हिंगुल और सुहागा का फूला आदि सभी बराबर मात्रा में लेकर उनका बहुत बारीक चूर्ण बना लें। फिर जम्भीरी नींबू के रस में १२ घंटे के लगभग अच्छी तरह घोंट करके १२० मिलीग्राम की गोलियां बना कर छाया में सुखा लें। १ से २ गोली दिन में दो बार ६ ग्राम तिल और १२ ग्राम मक्खन में मिलाकर दही की पतली लस्सी या फिर ताजा पानी के साथ लेने से शीघ्र ही बवासीर में मल त्याग के समय आने वाला रक्त बंद हो जाता है। कुछ दिनों तक इन गोलियों का पथ्य-अपथ्य के अनुसार सेवन करते रहने से मल की शुद्धि होने लगती है, रोगी की पाचन क्रिया बलवान बन जाती है तथा बवासीर के मस्सों की जलन समाप्त होकर वे सूखने लग जाते हैं।
३. खूनी बवासीर में रक्त को रोकने के लिए गेंदे के पुष्प की पंखुड़ियां १० ग्राम और ५ दाने काली मिर्च के लेकर उन्हें पानी के साथ भली प्रकार पीसकर रोगी को पिला दें। इससे तुरंत रक्त स्राव बंद हो जाता है व रोगी को राहत महसूस होती है।
४. नीम की निंबोली की गिरी, बकायन फल, शुद्ध रसोंत, शुद्ध गुगल, गंदना के बीज और काली मिर्च आदि सभी को १०-१० ग्राम की मात्रा लेकर और नाग केशर २० ग्राम लेकर सभी को अच्छी तरह कूट, पीस कर महीन चूर्ण बना लें तथा मूली के रस में क्रमशः पांच बार तर करके सुखा लें। बाद में मूल के रस के साथ ही खरल करके ५०० मिली ग्राम की गोलियां बना कर छाया में सुखा लें। सुबह-शाम दो-दो गोलियां पानी से सेवन करें। इन गोलियों के सेवन काल में घी का प्रयोग भी अधिक किया जाये, क्योंकि इस योग में गुगल प्रयुक्त हुई है। इन गोलियों के सेवन से बवासीर के मस्सों की जलन, दर्द आदि में शीघ्र आराम आ जाता है और मस्सों का आकार घटने लग जाता है।
५. कुटज की छाल ४ किलो ८०० ग्राम लेकर उसे मोटा-मोटा कूट लें और २४ लीटर पानी में डाल कर धीमी आग पर पकायें। जब यह पकायें और जब यह गाढ़ा होने लगे तो उसमें मोचरस, मजीठ, प्रियंगु सभी ४८-४८ ग्राम, इन्द्र जौ १४५ ग्राम आदि को महीन चूर्ण करके मिला दें। इस अवलेह में से ३ से ६ ग्राम की मात्रा में प्रातः काल बकरी के दूध या चावल के माँ के अनुपान के साथ सेवन कराने से बवासीर का रक्तस्राव एक-दो दिनों में ही बंद हो जाता है।
६. प्रातःकाल घृत कुमारी के एक पत्ते को चाकू से चीर कर उसमें से जो पीले रंग का रस निकले उसे किसी कांच के बर्तन में एकत्र कर लें और उसी बर्तन में घृत कुमारी के पत्र का गूदा २० ग्राम की मात्रा में, १२ ग्राम हल्दी का महीन चूर्ण तथा २० ग्राम मिश्री मिलाकर बवासीर के रोगी को पिला दें। इससे शीघ्र ही बवासीर सम्बन्धी समस्त कष्ट दूर होकर शक्ति और बल की वृद्धि होती है। रक्तार्श के कारण उत्पन्न हुई रक्ताल्पता में रोगी में नये रक्त का निर्माण होने लगता है।
७. हारसिंगा के बीज की गिरी २० ग्राम, काली मिर्च ६ ग्राम दोनों को आपस में मिलाकर बारीक चूर्ण बना लें और त्रिफला क्वाथ के साथ ५०० मिलीग्राम की गोलियां बना कर छाया में सुखा लें। सुबह-शाम २-२ गोली पानी से लेने पर रक्तस्राव तुरंत बंद हो जाता है। रोगी के मस्सों की जलन, दर्द में आराम आ जाता है और उनकी सूजन घटने लगती है।

### मस्सों पर लगाने की औषधियां

निम्न आयुर्वेदिक योगों का बवासीर के मस्सों पर स्थानीय रूप से प्रयोग करने पर मस्सों की जलन, दर्द, खारिश आदि में तुरंत आराम आता है और मस्से सूख कर समाप्त हो जाते हैं-

- जस्टामाँसी और हल्दी को आपस में मिलाकर और अच्छी तरह पीस कर लेप सा बचा लें। इसे मस्सों पर लगाने से तुरंत वेदना का शमन होता है और मस्से मुरझाने लगते हैं।
- फिटकरी का फूला, माजूफल, नीला थोथा भस्म और अफीम को पीसकर वैसलीन या मक्खन में मिलाकर मलहम बना लें। इसे मस्सों पर लगाते ही जलन और दर्द में तुरंत आराम आ जाता है।
- फिटकरी का फूला, सफेद कत्था प्रत्येक ६-६ ग्राम, रसकपूर और सिन्दूर ४-४ ग्राम, कबीला, रसोत ३-३ ग्राम, सफेद राल और कपूर २-२ ग्राम को गाय के घी में अच्छी तरह मिलाकर मलहम बना लें। यह मलहम बवासीर के मस्सों की जलन और दर्द आदि को शांत कर उन्हें सुखा देती है।
- एक शीशी में १० मिली. लीटर एरण्डी का तेल लेकर उसमें २५० मि ग्राम कुचला घिसकर मिला लें और उसे अपने शौचालय में रख छोड़ें। जब आप मल त्याग के लिए जायें तो मल त्याग के बाद गुदा के अंदर बाहर से अच्छी तरह पानी से धोकर यह तेल अंगुली से गुदा द्वार पर अच्छी तरह लगा दें। कुछ दिन तक यह प्रयोग करते रहने से मस्से सूखने लगते हैं।

### क्षार सूत्र चिकित्सा

बवासीर की भी भगन्दर की भांति क्षार सूत्र से चिकित्सा की जाती है। इसमें हल्दी चूर्ण और थूहर के दूध में रूई के सूत को बार-बार भावना देकर क्षार सूत तैयार कर लिया जाता है। जब इस सूत को गुदा के मस्सों का दृढ़ता से बांध दिया जाता है तब वे नष्ट हो जाते हैं।

### अन्य चिकित्सा

इनके अतिरिक्त कई अन्य ऐसी वनौषधियां हैं जिनके तैयार योगों का सेवन करने से बवासीर में पूर्ण रूप से स्थायी लाभ मिल जाता है। हमने भी ६ साल के विशेष अध्ययन और अनुसन्धान उपरांत ऐसा ही एक योग तैयार करवाया है जिसका सैंकड़ों रोगियों ने लाभ उठाया है। इसमें इस औषधि के जलीय अर्क के सेवन करने से मस्सों से रक्त आना, उनमें दर्द, जलन, खुजली आदि २-३ दिन में ही पूरी तरह समाप्त हो जाती है और मस्से सिकुड़ने लग जाते हैं। ३-४ माह के नियमित सेवन से रोगी को स्थायी लाभ मिल जाता है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

जीर्ण कब्ज से तथा यकृत में विकार उत्पन्न होने से गुदाद्वार की शिराओं में रक्त प्रवाह प्रभावित होकर बवासीर को जन्म देता है। बवासीर की चिकित्सा करते समय केवल गुदा एवं नितम्ब ही नहीं अपितु पूर्ण शरीर का शोधन करना चाहिए। निसर्गोपचार में सबसे पहले रोगी के उदर एवं गुदाद्वार पर मिट्टी की पट्टी ३० मिनट तक रखें। इसके बाद पेट एवं गुदा पर क्रमशः ३ मिनट गरम, २ मिनट ठण्डा सेक ३ बाद दें। नीम के पत्ते उबले पानी में १ बड़ा नींबू का रस मिलाकर एनीमा लगायें। यदि बवासीर में तीव्र वेदना हो रही हो तो एनीमा देने से पूर्व गरम कटि स्नान या केवल गरम सेक देना चाहिए और गुदा एवं पेट पर गरम मिट्टी की पट्टी रखें (खूनी बवासीर में गरम उपचार नहीं दें)। तत्पश्चात् एनीमा लगायें। एनीमा देने के बाद उष्ण पादस्नान १५ मिनट तक दें। स्पंज बाथ देकर पैरों पर लपेट बांधें। इस उपचार से दर्द में एकदम लाभ होता है। पेट तथा पैरों पर एक दिन में लपेट २-३ बार लपेट बांधना चाहिए। दोपहर बाद में पेट पर ३० मिनट तक मिट्टी की पट्टी रखें एवं बर्फ के ठण्डे पानी से ठण्डा कटि स्नान दें। कटिस्नान देते समय पैरों को गर्म पानी के टब में रखें एवं रोगी को गर्दन तक कम्बल से ढक दें ताकि शारीरिक ऊष्मा का ह्रास नहीं हो। इस उपचार से गुदामार्ग की सूजन एवं जलन बंद होकर रक्तस्राव भी रुक जाता है। जोर लगाकर मल त्याग नहीं करें। यदि मलत्याग के समय गुदभ्रंश या अर्श बाहर निकल आये तो रोगी को छाती व घुटनों के बल उल्टा लिटाकर धीरे-धीरे यथास्नान अंदर करें। फिर भी आराम नहीं मिले तो बर्फ के पानी से गुदाद्वार पर सेक करके अंदर डालें। यह उपचार कम से कम १ माह तक करायें। इससे शरीर की पूर्ण सफाई हो जाती है। इस उपचार के अलावा वाष्पस्नान, धूपस्नान, गरम पैर स्नान, सोना बाथ, टब बाथ, स्पंज बाथ, घर्षण स्नान, यकृत पर गरम-ठंडा सेक, जीर्ण बवासीर में गरम-ठण्डा कटिस्नान क्रमशः ३ से ५ बार लें। ये सभी उपचार



परिवर्तन करके देते रहें। रोग ठीक हो जाने पर भी उपचार लेते रहें अन्यथा बवासीर की पुनरावृत्ति हो जाती है। तीव्र वेदना होने पर जैली लगाने की बजाय बर्फ की ठण्डी पट्टी बनाकर लगायें तो ज्यादा आराम मिलता है।

### आहार चिकित्सा

प्रारंभ में रोगी की शक्ति के अनुसार २-३ दिन नींबू, पानी, शहद (१ नींबू + १ चम्मच शहद + १ गिलास पानी दिन में ४ से ६ बार) पर उपवास करायें। इसके बाद १-२ दिन फलों के रस पर रखें। फलों में नाशपाती, अनार, सेव, आंवला, संतरा, अन्ननास इत्यादि का रस दें। इसके बाद १-२ दिन सब्जियों के रस पर रखें। सब्जियों में पालक, बथुआ, पुनर्नवा, चौलाई, टिण्डा, लौकी, कद्दू, करेला, मैथी, धनिया, पुदीना आदि का रस दें। इसके बाद धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाएं। सामान्य आहार में प्रातः नाश्ते में १० मुनक्का या १५ किशमिश, ३-५ अंजीर, पपीता २५०-४०० ग्राम तथा दूध २५० मिली. दें। दोपहर के भोजन में चौकर युक्त आटे की रोटी, उबली सब्जी, सब्जियों का सूप, सलाद, मट्ठा आदि दें। अपरान्ह में आंवला, गाजर, चुकन्दर, पालक, धनिया, पुदीना, टमाटर या लौकी आदि में से किसी का रस दें। रात्रि में भी दोपहर के भोजन की तरह ही हल्का-फुल्का आहार दें। भोजन के बाद तक्र (छाछ) जरूर पियें।

चाय, कॉफी, मांस, मदिरा, अण्डे, बिस्कुट, ब्रेड, जैम, जैली, पूड़ी, परांठे, तम्बाकू, धूम्रपान, भांग, अफीम, गरिष्ठ भोजन, डिब्बाबंद परिशोधित आहार इत्यादि से परहेज रखें। कब्ज नहीं होने दें। कब्ज दूर होने से बवासीर भी दूर हो जाती है।

### विशेष :

कब्ज रोग में वर्णित चिकित्सा एवं आहार का सेवन करायें तो शीघ्र आराम मिलता है क्योंकि बवासीर का मुख्य कारण कब्ज है। इसके लिए निम्न उपाय भी लाभदायक सिद्ध हुए हैं

- नीम की कोंपले पीसकर १० से १५ ग्राम की मात्रा में प्रातःकाल उठकर कुल्ला करके खा लें। ७ दिन तक सेवन करने से बवासीर में अवश्य लाभ मिलता है।
- अरण्डी के तेल में तुलसी के पत्ते पीसकर बवासीर पर लगायें।
- हल्दी चूर्ण को गाय के घी में मिलाकर ग्वारपाठा के गूदे के साथ पीसकर लेप लगायें। आराम मिलता है।
- पानी भरपूर मात्रा में पियें ताकि कब्ज नहीं हो।
- वज्रासन अवश्य करें।

## भगन्दर

(शैज्ज्स् फ १४८)

प्राचीन समय से ही भगन्दर (फिशुला) को एक कष्टपद एवं जटिल रोग माना जाता रहा है। विश्व के प्राचीनतम चिकित्सा ग्रंथों विशेषकर आयुर्वेदिक ग्रंथों में बवासीर व अन्य गुदा नलिका सम्बन्धी रोगों के साथ भगन्दर रोग पर भी विस्तृत व गहन रूप से चर्चा की गई है। आयुर्वेद के एक विशिष्ट और आचार्य सुश्रुत द्वारा रचित 'सुश्रुत संहिता' नामक ग्रंथ में भगन्दर की असहनीय पीड़ा से मुक्ति दिलाने के लिए एक विशेष शल्य कर्म का वर्णन किया गया है, जो आज के समय में भी भगन्दर के उपचार में बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

वास्तव में देखा जाए तो भगन्दर एक प्रकार का कणिकामय नाड़ी व्रण है जो गुदा प्रदेश के निकट की त्वचा में बनता है और जिसका एक सिरा (बाह्य मुख) गुदा के बाहर त्वचा में खुलता है तो दूसरा सिरा (आभ्यन्तर मुख) गुदानलिका (एनल कैनाल और रेक्टम) के अंदर खुलता है, जैसे कि अधोश्लेष्मिक भगन्दर। जिसके परिणामस्वरूप पूरा मिश्रित मल का स्त्राव इस छिद्र या व्रण से निरन्तर या रुक-रुक कर होता रहता है। कभी-कभी यह स्त्राव स्वतः ही या किसी चिकित्सकीय उपचार से कुछ समय के लिए बंद हो जाता है परंतु कुछ समय उपरांत अचानक ही पुनः रिसना शुरू कर देता है। इस अंतराल में व्रण के कारण उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं का सामना रोगी को करना पड़ता है। इस प्रकार यह व्रण धीरे-धीरे पुरानी व्याधि का रूप धारण कर लेता है।

### भगन्दर बनने के कारण

वैसे तो भगन्दर बनने के कारणों की स्पष्ट जानकारी अभी तक नहीं मिल पायी है। लेकिन भगन्दर बनने से पूर्व प्रायः परिगुद्रा क्षेत्र में एक फुत्सी या विद्रधि (जख्म) बनने का इतिहास अवश्य मिल जाता है, जो स्वयं पक कर फूट गयी थी या जिसका चीरा लगाया गया था, जिससे अब भी समय-समय पर स्त्राव निकलता रहता है। यों इसके एक अन्य कारणों में गुद ग्रन्थि (एनल ग्लेण्ड) का संक्रमित होकर सूज जाना भी माना जाता है। गुद ग्रन्थि से ही भगन्दर के व्रण के आभ्यन्तर मुख का निर्माण होता है। इस जगह से व्रण का बनना शुरू होकर अन्ततः त्वचा पर बाह्य मुख भी बन जाता है।

भगन्दर के व्रण को भरने में निम्न कारण बाधा उत्पन्न कर देते हैं, जिससे यह आखिर में जीर्ण रूप धारण कर लेता है। इनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं- व्रण के स्त्राव का भली प्रकार से न निकल पाना, नाड़ी में विजातीय पदार्थ की उपस्थिति, मलादि द्वारा जनित क्षोभ, ज्यादा भाग-दौड़ या खड़े रहने की आदत अर्थात् पूर्ण विश्राम का अभाव तथा कुछ जीर्ण रोग यथा अल्सरेटिव कोलाइटिस, एक्टेनोमाइकोसिस, क्रोहन कैसर (मैलिंगनैट रोग) तथा क्षय रोग आदि। इन समस्त रोगों के कारण भगन्दर रोपित नहीं हो पाता और जीर्ण काल तक बना रह कर रोगी को देता रहता है।

क्षयजन्य भगन्दर रोग लगभग १२ प्रतिशत तक रोगियों में पाया जाता है। क्षयजन्य भगन्दर के लक्षण अलग से ही पहचाने जा सकते हैं। भगन्दर का बाह्य मुख क्षय व्रण या नाड़ी व्रण के समान दिखता है। गुदा नलिका में जाने वाले पथ में तन्तुमयता नहीं दिखायी देती है। भगन्दर व्रण से निकलने वाला स्त्राव जल के सामान होता है। शरीर के किसी और अंग, विशेषकर फेफड़ों या आंत्र में क्षय रोग के लक्षण मिल सकते हैं, अथवा प्रयोगशाला परीक्षण में क्षय रोग प्रमाणित किया जा सकता है। इस प्रकार के भगन्दर की चिकित्सा में क्षय की चिकित्सा को भी केन्द्र में रखना चाहिए।

### भगन्दर के प्रकार

भगन्दरों के गुदा नलिका में उनकी उत्पत्ति के आधार पर चार समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे- अधस्तवक और अधोश्लेष्मिक निम्न भगन्दर, उच्च भगन्दर और गुद मलाशय भगन्दर।

अधस्तवक और अधोश्लेष्मिक भगन्दर जैसा कि इनके नामों से ही विदित है, ये भगन्दर गुदा नलिका की त्वचा तथा श्लेष्मिक त्वचा के नीचे बनते हैं। इस प्रकार के भगन्दर व्रण ५ प्रतिशत रोगियों में देखे जाते हैं। निम्न भगन्दर जो सबसे ज्यादा ७५ प्रतिशत रोगियों में मिलते हैं। ये अधस्तवक बाह्य संवरणी और आभ्यन्तर संवरणी के बीच में होते हैं। उच्च

भगंदर का पथ गुद-मलाशय वलय के नीचे, वलय और गंभीर आभ्यंतर संवरणी के बीच में अथवा उपस्थि और गंभीर भागों के बीच से होकर गुदा नलिका में प्रवेश करता है। इस प्रकार के उच्च भगंदर व्रण १५ प्रतिशत रोगियों में मिलते हैं। गुद मलाशय भगंदर में उसका अन्तः मुख गुद मलाशय वलय से ऊपर होता है। यह प्रायः भीतर की ओर बंद सा होता है। ये दुष्कर किस्म के गुद मलाशय भगंदर ५ प्रतिशत रोगियों में होते हैं।

### भगंदर का निदान

भगंदर के निदान के समय रोगी की परीक्षा करने पर उसके गुदा द्वार के पास के क्षेत्र में छिद्र दिखाई देता है जहाँ से एक दृढ़ पथ गुदा नलिका में जाता है। यदि अंगुली परीक्षण से गुदा के भीतर छिद्र प्रतीत हो तो भगंदर का आकार जानने की कोशिश अवश्य की जानी चाहिए।

### भगंदर की चिकित्सा

आधुनिक आरोग्य विज्ञान में भगंदर का एकमात्र सफल उपचार शल्य चिकित्सा ही है। यों व्रण के संक्रमण और स्थानीय पीड़ा के निवारणार्थ अस्थायी उपचार के रूप में प्रतिजीवियों और कष्ट निवारक औषधियों का उपयोग भी किया जाता है।

भगंदर की शल्य चिकित्सा का सिद्धांत यह है कि भगंदर पथ तथा उसकी शाखाओं को खोलना तथा उनमें बने तान्त्व ऊतकों का उच्छेदन (काटना)। इस प्रकार आजकल भगंदर के लिए दो प्रकार के शल्य कर्म किये जाते हैं- भगंदर छेदन कर्म (फिशचुलेक्टोमी) और भगंदर भेदन कर्म (फिशचुलोटोमी)। परंतु भगंदर के मामले में मुख्य समस्या यह है कि एक सफल शल्य कर्म के बाद भी भगंदर की यह समस्या कुछ समय बाद ही अधिकांश रोगियों में पुनः प्रकट होने लगती है।

### आयुर्वेदिक उपचार

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मीनषियों ने भगंदर रोग की सफल चिकित्सा का बहुत ही विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, जिनमें विभिन्न प्रकार के भगंदरों के लिए अलग-अलग चिकित्सा उपक्रमों का उल्लेख मिलता है जैसे कि औषधीय चिकित्सा, क्षार सूत्र कर्म, अग्नि कर्म और शल्य कर्म आदि। इनमें से १-२ सफल चिकित्सा विधियों का वर्णन इस प्रकार है-

(अ) औषधीय चिकित्सा : आयुर्वेद में सैंकड़ों की संख्या में औषधीय योगों का वर्णन मिलता है जो भगंदर रोगी की चिकित्सा में सफलता पूर्वक उपयोग किये जा सकते हैं, अथवा जब इन्हें रोगियों का उपयोग कराया जाता है तो सदैव आशानुकूल परिणाम ही प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ विशिष्ट योग इस प्रकार हैं-

१. करंज की छाल का स्वरस पिचकारी द्वारा भगंदर व्रण में भरने से शीघ्र ही उस व्रण का शोधन हो जाता है।
२. सोंठ, गिलोय, मुलहठी, पुनर्नवा, मूल छाल और बड़ के कोमल पत्तों का रस, सभी को पीसकर भगंदर व्रण में लगाने से व्रण भरने लग जाता है।
३. खैर छाल के चूर्ण को विजयसार की छाल के क्वाथ की १२ भावनाएं देकर उसमें समान मात्रा में शुद्ध गुग्गल मिला कर मधु के साथ सेवन करने से भगंदर का व्रण सूखने लग जाता है।
४. गिलोय २ किलो, त्रिफला एक किलो, पुनर्नवा मूल ७५० ग्राम लेकर इन्हें मोटा-मोटा कूट लें और फिर १० लीटर पानी में मध्यम आग पर पकायें। जब यह एक-चौथाई शेष रह जाये तो इसे उतार कर छान लें तथा इसमें ७५० ग्राम शुद्ध गुग्गल मिलाकर पुनः धीमी अग्नि पर पकायें। जब यह गाढ़ा होने लगे तब इसे आग से उतार कर उसमें दन्तीमूल, चित्रकमूल, सोंठ, वायबिडंग, त्रिफला, दालचीनी और गिलोय सभी के २५-२५ ग्राम अत्यंत बारीक चूर्ण या घनसत्व मिला कर और उनमें १०० ग्राम गोघृत मिला कर दो घंटे तक कूट कर ५००-५०० मि.ग्राम की गोतियां बना लें तथा उन्हें छाया में सुखा कर कांच की शीशी में भर कर रख लें। इनमें से २-४ गोतियां प्रतिदिन शहद या गोघृत के साथ सेवन करने से समस्त प्रकार के भगंदर व्रण सूख जाते हैं यह योग कई अन्य रोगों जैसे अर्श, व्रण, नासूर, कुष्ठ, आमवात, अम्लपित्त आदि में भी लाभ करता है।

५. छोटी इलायची २ किलो ४०० ग्राम, अडूसा मूल छाल १ किलो, मजीठ, कुटज की छाल, खैर की छाल, दन्तीमूल, हल्दी, दारु हल्दी, गिलोय, खस, रास्ना, मुलहठी, शिरीस की छाल, अर्जुन की छाल, नीम की अंतर छाल, चिरायता, चित्रक मूल छाल, कूठ आदि सभी ४८०-४८० ग्राम की मात्रा में लेकर मोटा-मोटा कूट करके सभी को आपस में मिला लें और इस मिश्रण को २०५ लीटर पानी में हल्की आग पर पकायें। जब यह आंठवा भाग के बराबर रह जाये, तो उसे उतार कर छान लें। इसके पश्चात इस क्वाथ में धाय के फूल ७७० ग्राम, शहद १५ किलो, दालचनी, तेजपात, छोटी इलायची, नागकेशर, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, सफेद और लाल चंदन, जटामाँसी, मुरामाँसी, नागरमोथा, छरीला, सफेद और काली सारिवा आदि सभी ४८-४८ ग्राम की मात्रा में लेकर मोटा-मोटा कूट कर मिला दें। इन सबको मिट्टी के बर्तन में भरकर उसका मुंह अच्छी तरह से बंद कर दें और लगभग एक महीने के लिए सन्धान कर दें, ऐसे ही छोड़ दें। एक महीने के बाद इसे पात्र में से निकाल कर छान लें तथा किसी कांच आदि के बर्तन में बंद करके रख लें। यह भगंदर नाशक एक अदभुत अरिष्ट है।

भगन्दर के रोगियों को इसे दिन में दो बार भोजन के बाद १५ से ३० ग्राम की मात्रा में समान मात्रा में पानी मिला कर पीना चाहिए। इस आरिष्ट के कुछ दिनों तक नियमित रूप से सेवन करने से भगंदर व्रण में स्थायी लाभ आ जाता है। भगंदर के अतिरिक्त यह आरिष्ट विसर्प, विषम ज्वर, नाड़ी व्रण, नासूर (हठीले व्रण), श्वास रोग आदि को भी समूल नष्ट कर देता है।

औषधीय गुण के रूप में यह आरिष्ट मूत्रल, दीपन, पाचन, रक्त प्रसादन, विषधन और बल्य है। इसके सेवन से मूत्रोत्पत्ति कुछ अधिक मात्रा में होती है तथा रक्त में संचित विष मूत्र के साथ शरीर से बाहर निकल जाता है। यकृत से पित्त स्राव की वृद्धि होकर अन्तः स्थिति आमविष और कीटाणु तथा उनके उत्पन्न विषों को नष्ट कर देता है।

**(ब) क्षार सूत्र चिकित्सा :** आचार्य सुश्रुत ने भगंदर रोग के लिए एक विशेष क्षार सूत्र उपचार करने का निर्देश सुश्रुत संहिता में किया है इसी प्रक्रिया को बाद में आचार्य चक्रपाणि दत्त आदि ने थोड़ा विकसित करके क्षार सूत्र निर्माण, विधि तथा उसका भगंदर में उपयोग आदि के विषय में कुछ नवीन प्रयोग कर रोगियों के लिये और अधिक उपयोगी बनाया है।

इसी चिकित्सा पद्धति को बाद में कई अन्य आयुर्वेदिक आचार्यों ने और विकसित कर जन उपयोगी बनाया। वर्तमान समय में भी कई आयुर्वेदिक चिकित्सा संस्थाओं में योग्य वैद्य इस प्रणाली से भगंदर के रोगियों का सफल उपचार करते हैं। मैं ने स्वयं भी इस चिकित्सा पद्धति को सैकड़ों भगंदर के रोगियों पर अपनाया है। इस संबंध में जिज्ञासु चिकित्सक व भगंदर के रोगी हमारे अनुसंधान केन्द्र से विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

इस चिकित्सा पद्धति में जो क्षार सूत्र प्रयोग में लाया जाता है, उन्हें कई विधियों से तैयार किया जाता है। इनमें से एक विधि इस प्रकार है रूई के धागे को विशेष वैज्ञानिक तरीके से स्नूही क्षीर, हल्दी चूर्ण तथा अपामार्ग क्षार द्वारा भापित कर 'क्षार सूत्र' तैयार किया जाता है। बाद में पूर्ण संक्रमित रहित वातावरण में इस क्षार सूत्र को भगंदर के मुंह में पेवश कराया जाता है जिससे भगंदर नाड़ी का भेदन और रोपण कर्म एक साथ ही हो जाता है। इस क्षार सूत्र को सात दिनों के पश्चात नये क्षार सूत्र से बदल दिया जाता है। इस तरह कुछ क्षार सूत्रों के रोपण के पश्चात भगंदर का सम्पूर्ण पथ कटकर रोपित हो जाता है। इस प्रक्रिया से भगंदर की चिकित्सा करा चुके रोगियों में भगंदर के पुनः होने की संभावना बहुत कम रहती है। साथ ही इस सूत्र क्षार प्रक्रिया के दौरान रोगी अपने समस्त दैनिक कार्य बिना किसी कष्ट और बाधा के सुगमता पूर्वक कर सकता है।

### प्राकृतिक चिकित्सा

जीर्ण कोष्ठबद्धता की देन है भगन्दर। अतः सर्वप्रथम कब्ज दूर करने की चिकित्सा करे। कब्ज प्रकरण में वर्णित उपचार दें। खाली पेट आधा घंटे मिट्टी की पट्टी पर रखें। इसके बाद गरम-ठण्डा सेक देकर एनीमा लगायें। ठण्डा कटिस्नान १५ मिनट तक देना चाहिए। पेट पर लपेट बांध दें। यह क्रम ५-७ दिन तक करायें। दोपहर बाद मिट्टी की पट्टी ३० मिनट तक पेट एवं गुदा द्वार पर रखें। गरम-ठण्डा कटिस्नान, स्थानीय, वाष्प, स्पंज बाथ, घर्षण स्नान, गुदाद्वार पर

ठण्डा सेक करके लपेट बांधें। अन्य उपचार भी बदल-बदल कर दें। बवासीर एवं कब्ज रोग में वर्णित प्राकृतिक चिकित्सा विधि के अनुसार उपचार दें। गुदा से खून आ रहा हो तो बर्फ की पट्टी बनाकर सेक करें। रोगी को सीधा लिटाकर विश्राम करायें।

### आहार चिकित्सा

- १-२ दिन उपवास करायें। बाद में १-२ दिन रसाहार पर रखकर फल देना शुरू करें। एवं सब्जी रसदार दें। धीरे-धीरे लघु आहार शुरू करायें। पतला दलिया, चावल, दाल का पानी, सूप, उबली, सेव, दही, छाछ, मट्ठा, नारियल पानी इत्यादि इच्छानुसार पाचन शक्ति देखकर सेवन करायें। फलों में अंगूर, नाशपाती, चीकू, भीगे किशमिश, भीगे मुनक्का, भीगे अंजीर आदि दें। सब्जियों में पालक, गाजर, लौकी, आंवले का रस दें। हरी सब्जियां , रेशेदार-पत्तेदार सब्जियां भरपूर दें। तले-भुने पदार्थ, गरिष्ठ भोजन, मिर्च-मसाले, फास्ट फूड, चाय, कॉफी , तेल , शराब, मांस, धूम्रपान, तम्बाकू, कोल्ड ड्रिंक इत्यादि बंद रखें।
- दूब का रस २५ मिली. दो बार पियें।
- आंवले या करेले या नीम पत्ती का रस २०-४० मिली. की मात्रा में पियें।

नोट: भगंदर की प्राकृतिक एवं आहार चिकित्सा कब्ज एवं बवासीर प्रकरण में वर्णित विधि के अनुसार दें।

## हर्निया और मलाशय का बाहर आना

(भ्रूच्छ)

किसी बंद गुहा (केविटी) के अवयवों (अंगों) का या उसके किसी एक अवयव या उस अवयव के किसी एक भाग का गुहा की भित्ति में से बाहर निकल आना और उस दुर्बल स्थान पर उभार के रूप में प्रकट हो जाना, हर्निया उत्पन्न हो जाना कहलाता है। अतः हर्निया किसी भित्ति पर बनी एक गांठ सदृश संरचना है। कभी-कभी उदर गुहा में पर्युदर्या के जो भाग बाहर की ओर प्रलम्बित हो जाते हैं तो उनके द्वारा उदर भित्ति में दुर्बल स्थान बन जाते हैं। कई बार चोट आदि से भी ऐसे दुर्बल स्थान बन जाते हैं। बाद में इन स्थानों द्वारा हर्निया उत्पन्न हो जाती है। उदर गुहा में जन्म से ही पर्युदर्या का भाग प्रलम्बित हो सकता है जैसे कि वंक्षण नलिका और नाभि में या गर्भावस्था ही से दो गुहाओं के बीच एक मार्ग सा बना होता जैसे बारवडलिक प्रकार की मध्यच्छ (डाय फ्रागमेटिक) की हर्निया।

जबकि चोट या अभिघातजन्य हर्निया उन व्यक्तियों में उदरांतर दाब के बढ़ जाने के कारण उत्पन्न हो सकती है। जिनकी उदर पेशियों किन्हीं कारणों से दुर्बल हो चुकी हैं। वृद्धावस्था में चिरकालीन तीव्र खांसी के साथ उदर भित्ति की अतानता और वसा में अन्तः सरण अथवा पौरुष ग्रन्थि शोथ (प्रोस्टेट ग्लेण्ड इनलारजमेंट) से मूत्र स्थान में कष्ट के कारण हर्निया हो सकती है। वंक्षण हर्निया मनुष्य के लगाता खड़े रहने की क्षमता का फल है। जिससे गुरुत्व बल तथा दाब दोनों ही हर्निया का कारण बनते हैं।

शरीर में हर्निया बनने के सबसे प्रमुख स्थान उदर पर्युदर्या है, जबकि इसके अतिरिक्त यह शरीर के किसी भी स्थान की भित्ति पर बन सकती है। उदर भित्ति पर सामान्यतः बनने वाली हर्निया इस प्रकार है-

1. वंक्षण हर्निया (इंग्यूनल हर्निया)
2. नाभि हर्निया (अम्बिलिकल हर्निया) और परा नाभि हर्निया
3. और्वी हर्निया (फेमोरल हर्निया)
4. मध्यच्छ हर्निया (डाय फ्रागमेटिक हर्निया)
5. हायेटस हर्निया, और
6. आभ्यंतर हर्निया (इन्टरनल हर्निया)

### वंक्षण हर्निया

यह हर्निया पुरुषों में वंक्षण नलिका के कटि प्रदेश में घृषण के पर्युदर्यापश्च स्थिति से उतरकर घृषण कोष में आने के कारण बनती है, जबकि स्त्रियों में वंक्षण नलिका के रूडीमेन्टरी रूप में छोटी होती है, क्योंकि डिंब ग्रन्थि श्रोणि ही में रह जाती है। यह लगभग साढ़े तीन इंच लंबी तथा दृढ़ तन्तुओं से निर्मित रहती है। रचना अनुसार यह हर्निया अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष दो प्रकार की हर्निया स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में ही अधिक होती है। जबकि हर्निया का अप्रत्यक्ष प्रकार साधारणतया बालकों और नवयुवकों में ही अधिक पाया जाता है। प्रत्यक्ष प्रकार की हर्निया प्रायः 40 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों में ही होता है।

**वंक्षण हर्निया के कारण :** इस प्रकार की हर्निया साधारणतया दो कारणों से ही पैदा होती है। एक तो उदर भित्ति की सहज दुर्बलता जैसे वृद्धावस्था में माँसपेशियों का दुर्बल हो जाना या बार-बार प्रसव प्रक्रिया से गुजरना, किसी चोट आदि के कारण या शल्य चिकित्सा अथवा उदर की पेशियों की तंत्रिका के क्षतिग्रस्त हो जाने से। जबकि इसका दूसरा प्रमुख कारण है उदरांतर दबाव का एकाएक अत्यंत बढ़ जाना जैसे कि पुरानी खांसी, क्षय, दमा आदि में जोर से खांसते रहने, मल त्याग में अधिक जोर लगाने से, पौरुष ग्रन्थि शोथ के कारण मूत्र मार्ग के संकीर्ण हो जाने से उत्पन्न मूत्र त्याग में कष्ट तथा भार उठाने वाले मजदूरों, किसानों तथा खिलाड़ियों आदि में, उत्पन्न हुआ अत्यधिक उदरांतर दबाव। इनके अतिरिक्त कई बार अधांत्र या अवगृह वृहत आंत्र पश्च उदर भित्ति पर से सरक कर वंक्षणी नलिका में आ जाती है और पर्युदर्या की एक थैली को अपने सामने खींच लेती है। अतः आंत्र की भित्ति ही स्वयं नलिका की पश्च भित्ति बन जाती है। इस प्रकार की हर्निया प्रायः बड़ी आयु वालों को ही होती है।

**लक्षण :** अनेक बार तो वंक्षण हर्निया बिना किसी कष्ट के लक्षणहीन ही बनी रहती है और रोगी को केवल खड़े होने पर या बल लगाने पर ही वंक्षण प्रदेश में एक पिंड सा उभार महसूस होता है। इस प्रकार की हर्निया कोश में आँत्र या वपा (ओमेन्टम) या फिर आँत्र और वपा दोनों ही मौजूद हो सकते हैं। हर्निया कोश में आँत्र के होने पर उस स्थान पर स्पर्श करने से आँत्र की पुनःसंरण गति के शब्द सुनाई देता है तथा उसके पुनः स्थापन पर गड़गड़ाहट के शब्द सुनाई देते हैं। मूत्राशय की विपुटी के हर्निया कोश में आ जाने पर रोगी को बार-बार मूत्र त्याग या मूत्र त्याग में कष्ट होने लगता है।

कई बार वंक्षण हर्निया में तीव्र प्रकार की जटिलताओं वाले लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे आँत्र का आक्रांत हो जाना, आँत्र योजनी शिरा का अवरोध तथा हर्निया कोश में तरल का निस्त्राव होना। ऐसी स्थिति में रक्त धमनियों में रक्त के अवरोध के कारण कोथ बन सकते हैं। रोगी को ऐसी दशा में हर्निया की जगह तीव्र वेदना, तीव्र आँत्र अवरोध के लक्षण तथा जिस हर्निया का पहले दबाने से पुनः स्थापन होता था, उसी हर्निया का पुनः स्थापन न हो सकना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

### नाभि हर्निया

नाभि हर्निया दृढ़ संताक है जो वास्तव में हर्निया की उत्पत्ति को रोकता है। जन्म के समय और उससे पूर्व नाभि के द्वारा रक्त वाहिकाओं में आने-जाने से क्षतांक में एक दुर्बल स्थान बन जाता है और नाभि रज्जू के पृथक् होने के पश्चात उस दुर्बल स्थान के बंद होकर इतने दृढ़ होने की संभावना रहती है कि उसके द्वारा शैशव काल में हर्निया न निकलने पाये। सामान्यतया भ्रूणावस्था के ५वें १०वें सप्ताह तक नाभि के द्वारा आध मध्यांत्र निकल कर भ्रूण बाह्य उदर गुहा अथवा सीलोम में जाती है और १० वें सप्ताह के पश्चात आँत्र सीलोम से पुर्यदर्या गुहा में लौट आती है। नाभि हर्निया तीन प्रकार की बनती है। शैशव नाभि हर्निया (इन्फेन्टिल अम्बिलिकल हर्निया), जन्म जात नाभि बाह्य हर्निया (कन्जेनिटल एक्सोम्बिललस) और वयस्कों में परानाभि हर्निया (पैरा अम्बिलिकल हर्निया)।

**शैशव नाभि हर्निया :** इस प्रकार की हर्निया शिशु में, खांसने या बल लगाने पर नाभि में एक थैली के रूप में निकल आती है। यह दृढ़ नहीं, वरन अत्यंत नरम होती है। ऐसे शिशुओं की उदर पेशियां प्रायः दुर्बल होती हैं तथा उनमें रिकेट्स रोग (कैल्शियम की कमी) भी हो सकता है। इस हर्निया का प्रमुख लक्षण यही है कि यह शिशु की नाभि पर स्पष्ट रूप से उभरी होती है।

यदि यह हर्निया आधे इंच से कम चौड़ाई की है तो उसके स्वतःबंद हो जाने की प्रबल संभावना रहती है। ऐसे शिशु के पेट पर उदर की पेटी (स्ट्रेप बिन्डर) बांधने से काफी आराम मिलता है। यदि उसका उपचार इनसे न हो तो उसका शल्य कर्म (ऑपरेशन) किया जाना चाहिए।

**जन्मजात नाभि बाह्य हर्निया :** हर्निया की यह दशा शिशुओं में जन्म से ही होती है तथा समय पर उसका ऑपरेशन न करने पर कोश के फटने अथवा उदर भित्ति में तीव्र संक्रमण होने का डर रहता है जो बच्चे के जीवन के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

**वयस्कों में परा नाभि हर्निया :** इस प्रकार की हर्निया प्रायः अधिक आयु वाली मोटी स्त्रियों में उनकी नाभि के ऊपर एक छोटी थैली के रूप में प्रारंभ होती है और धीरे-धीरे उदरांतर दाब के बढ़ने तथा पेशियों के दुर्बल होते जाने से आकार में बढ़ने व नाभि पर लटकने लग जाती है। यह हर्निया उन स्त्रियों में भी अधिक होती है जो कई बार गर्भ धारण व प्रसव प्रक्रिया से गुजरती हैं।

इस हर्निया के कष्ट से उदर की पेटी या शल्य चिकित्सा द्वारा ही छुटकारा मिल पाता है। इनके अतिरिक्त वजन कम करना तथा बार-बार की प्रसव प्रक्रिया से बचने का प्रयास करना, हर्निया न होने देने में सहायक है।

**और्वी हर्निया :** इसमें पुर्यदर्याकृत कोश और उसके अवयव और्वी नलिका द्वारा निकल जाते हैं और हर्निया का रूप धारण कर लेते हैं। यह स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से ही होती है, किन्तु पुरुषों में यह वंक्षण हर्निया की अपेक्षा काफी कम

ही होती है। जबकि स्त्रियों में और्वी नलिका के अधिक चौड़ी होने से और्वी की हर्निया की अधिक प्रवृत्ति होती है। यह हर्निया जोर से खांसने या बल लगाने पर और्वी नलिका पर एक उभार के रूप में प्रकट हो जाती है।

और्वी हर्निया की एकमात्र और सफल चिकित्सा केवल ऑपरेशन चिकित्सा ही है।

**मध्यच्छ हर्निया :** भ्रूण की प्रारंभिक अवस्था में उसमें एक बड़ी काय गुहा होती है जिसे सीलोम कहा जाता है। आगे चल कर इस गुहा में मध्यच्छद्रिका के बनने से दो भाग उदर और वस गुहा नामक हो जाते हैं, जबकि मध्यच्छद्रिका वहाँ से पेशी पिंड के पांच भागों में परिवर्तित हो जाती है। ये सभी भाग गर्भावस्था के तीसरे मास में आपस में जुड़ते हैं। यदि किसी कारण इनका जुड़ना कहीं पर नहीं होता तो उदर और प्लूरा गुहाओं के बीच छिद्र रह जाते हैं। मध्यच्छद्रिका में ग्रास प्रणाली, महाधमनी तथा अधो महाधमनी के द्वार भी होते हैं तथा उनके द्वारा ही वहाँ कभी-कभी हर्निया उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार की हर्निया प्रायः लक्षणहीन होती है और इसकी पहचान अकस्मात् रूप में ही होती है। कभी-कभी जन्म के पश्चात् ही इसके कारण शिशु में श्वास कष्ट, होठों आदि का नीला पड़ने लगना, अपचयन तथा वमन जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। शिशु की जीवन रक्षा के लिए तत्काल ऑपरेशन की आवश्यकता होती है। मध्यच्छ हर्निया के सामान्य लक्षण भी इसी प्रकार के होते हैं जो कभी भी प्रकट हो सकते हैं।

**हायेटस हर्निया :** इस प्रकार की हर्निया सबसे अधिक ग्रास प्रणाली छिद्र द्वारा बनती है, जिसका कारण छिद्र का बड़ा आकार होना है। इसमें उदर के अधिक दबाव के कारण ग्रास प्रणाली के द्वारा पर्युदर्या की थैली आमाशय के बुहन सहित वक्ष गुहा में चली जाती है। इस प्रकार की हर्निया को हायेटस या उपार्जित हर्निया कहा जाता है।

यह हर्निया मध्य आयु के व्यक्तियों, विशेषकर स्त्रियों में अधिक होती है। इसके लक्षण प्रायः अनिश्चित तथा अन्य अंगों से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, जो इस हर्निया के आकार तथा स्थिति पर निर्भर करते हैं जैसे जठरांत्र पथ, हृदय और श्वसन संस्थान सम्बन्धी जब यह हर्निया जठरांत्र पथ में होती है तो अग्निमाँद्य, भोजन निगलने में कष्ट या फिर पित्ताशय के रोगों के समान लक्षण हो सकते हैं। जब हर्निया का दबाव हृदय पर पड़ता है तो तीव्र हृदय की धड़कन, छाती में भारीपन अथवा वेदना या गला रुंधने के समान कष्ट होने लगता है जबकि हर्निया की स्थिति फेफड़ों में होती है तो श्वास कष्ट या श्यावता के लक्षण मिलते हैं। कुछ रोगियों को अधि जठर या छाती के पीछे या पीठ में वेदना का अनुभव होता है। झुकने या भार उठाने या कभी-कभी लेटने पर उसकी वेदना बढ़ जाती है। मुँह में, विशेषकर झुकने पर, खट्टा पानी सा भर आता है जबकि हर्निया के कारण जठर अम्ल की वापसी होती रहने से ग्रास प्रणाली में शोथ, व्रण तथा आमाशय व्रण तक होने की संभावना रहती है।

लक्षणहीन हायेट्स हर्निया को चिकित्सा की विशेष आवश्यकता नहीं होती, जबकि थोड़े बहुत लक्षण रोगियों को अपने शरीर भार को घटाने, झुकने वाले कार्य न करने, कब्ज से बचने आदि सावधानियां रखने तथा सोते समय रोगी को कंधे उठाये रखने की सलाह देनी चाहिए।

**आभ्यंतर हर्निया :** कुछ हर्निया ऐसी होती है जो बाह्य रूप में प्रकट होने की बजाय अंदर ही अप्रत्यक्ष रूप में पैदा होकर रोगी के जीवन के लिए भारी जटिलताएं उत्पन्न कर देती है। इन हर्नियों में विपाशन की संभावना भी अधिक रहती है। यद्यपि इस प्रकार की हर्निया बाह्य हर्नियों की तुलना में बहुत कम होती है। आभ्यंतर हर्नियों के लक्षण कभी-कभी आँत्रावरोध के रूप में भी प्रकट होता है और बहुधा शल्य चिकित्सा के दौरान ही इनका निदान हो पाता है।

### हर्नियों की चिकित्सा या बचाव

यों तो हर्नियों का एकमात्र सफल उपचार शल्य चिकित्सा (ऑपरेशन) ही है, किन्तु यदि हर्निया का आकार छोटा और उससे होने वाले कष्ट सहनीय है तो आँत की पेटी बांधने, भोजन सम्बन्धी कुछ सावधानियां रखने तथा कुछ विशेष प्रकार की शारीरिक गतिविधियों व कर्म से बचने से काफी समय तक आराम की जिन्दगी जिया जा सकता है।



आँत्र की पेटी (ट्रस) हर्निया की वृद्धि और वेदना को रोकने का एक यांत्रिक साधन मात्र है। कुछ दशाओं, जैसे अधिक वृद्धों या असाध्य रोगों से ग्रसित व्यक्तियों जिनमें शीघ्र शल्य चिकित्सा नहीं की जा सकती, उनमें हर्निया को रोकने के लिए इस पेटी की आवश्यकता पड़ती है। इसका प्रयोजन व्यक्ति की विपाशन से रक्षा और बड़ी हर्नियों की असुविधा को दूर करना भी होता है।

वंक्षणी हर्निया पर ट्रस उत्तम प्रकार से लगायी जा सकती है, किन्तु और्वी हर्निया पर इसका प्रयोग कोई अनुकूल परिणाम नहीं देता और उसे वहाँ लगाया भी नहीं जा सकता। बड़ी हर्निया उदर पर लपेटने की चपटी पट्टी से रोकी जा सकती है। शिशु की छोटी नाभि हर्निया को उस पर बिना कुछ लगाये ऐसे ही छोड़ देना चाहिए, जिससे नाभि वलय स्वतः ही बंद हो सके। प्रौढ़ों की अधि नाभि पर कोई ट्रस उपयोगी सिद्ध नहीं होती।

रोगी को लिटा कर हर्निया के पुनःस्थापन के पश्चात् ट्रस को लगाया जाता है। जहाँ तक संभव हो उसको हर समय लगाये रखना चाहिए, केवल रात्रि को सोते समय, लेटने के पश्चात् ही उतारा जाना चाहिए। नींद में खांसने या तनिक बल लगाने से हर्निया का विपाशन होने का खतरा रहता है। ट्रस लगाने के प्रारंभ में रोगी को कुछ असुविधा हो सकती है, किन्तु यह शीघ्र ही उसका अीयस्त बन जाता है। विपाशन से रक्षा का साधन होने के कारण रोगी को इसका अभ्यास अवश्य अपनाना चाहिए।

हर्निया के रोगियों को अपने आहार में भी विशेष सावधानी रखनी चाहिए, जिससे उनके पेट में न तो गैस पैदा और न कब्ज की स्थिति बने। रोगी को मल त्याग के समय या मूत्र त्याग के समय बिल्कुल भी जोर लगाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जोर से खांसने से भी हर्निया के रोगी को असुविधा होती है। अतः खांसी, दमा आदि पर तत्काल ध्यान देकर खांसी की संभावना से बचना चाहिए। रोगी को वजन उठाने, तेजी से दौड़ने या पहाड़ आदि पर चढ़ने का प्रयास भी नहीं करना चाहिए।

### प्राकृतिक उपचार

हर्निया का उपचार ऑपरेशन कराना ही नहीं है। कई बार ऑपरेशन के बाद भी हर्निया हो जाता है। फिर हर्निया प्लास्टो द्वारा ठीक किया जाता है। अतः शल्य चिकित्सा नहीं अपनाकर प्राकृतिक योग आहार चिकित्सा को अपनाना चाहिए। सर्वप्रथम रोगी के पेट पर गरम-ठंडा सेक देकर हल्की मालिश करें। मालिश में ध्यान रखें कि दाहिने तरफ में हर्निया हो तो हाथ को दायें से बायें घुमाकर मालिश करें एवं बायीं तरफ के हर्निया में हाथ बायें से दायें घुमाकर मालिश करें। तत्पश्चात् नीम के पत्ते उबले गुनगुने पानी का एनीमा दें। एनीमा के बाद हल्का वाष्प स्नान (सप्ताह में २ बार ही दें) देकर ३ मिनट गरम, ३ मिनट ठण्डा क्रमानुसार ५ बार गरम ठण्डा कटिस्नान देना चाहिए। सांयकालीन उपचार में पेट पर पुनः गरम-ठण्डा कम्प्रेस (३ मिनट गरम, २ मिनट ठंडा) देकर पेट पर लपेट बांध दें। कभी-कभी पेट पर स्थानीय भाप से स्वेदन करके पेट पर लपेट बांध सकते हैं। रात्रि को सोते समय पेट पर लपेट अवश्य बांधें। रोगी का बल व स्थिति देखकर वाष्प स्नान, सोना बाथ, सर्वांग मालिश, टब बाथ, कटिस्नान, इमरसन बाथ इत्यादि चिकित्सा बदल-बदल कर देनी चाहिए। हर्निया के रोगी को इसके साथ ही योग चिकित्सा भी किसी उचित योग चिकित्सक की देखरेख में लेनी चाहिए।

### आहार चिकित्सा

रोगी की हालत को देखते हुए एवं जरूरत को ध्यान में रखते हुए पूर्ण अथवा आंशिक उपवास करायें तथा या ५-७ दिन तक रसाहार या फलाहार देना चाहिए। ७ दिन बाद धीरे-धीरे ठोस आहार पर लाना चाहिए। ठोस आहार में रोटी १-२, उबली सब्जी, सलाद, सूप आदि धीरे-धीरे प्रारंभ करायें। मौसमी, सेव, आम, अनार, संतरा, गाजर, चुकन्दर, लौकी, चीकू, पपीता, टमाटर आदि मौसमानुसार फलों का निरन्तर सेवन करायें।

### मलाशय का बाहर आना

जब मलाशय की श्लेष्मिक कला या फिर समस्त भित्ति ही गुदा द्वार से होकर बाहर निकल जाती है तो उसे मलाशय का बाहर निकल आना या मलाशय भ्रंश कहा जाता है। मलाशय की यह दशा पांच साल से छोटे बच्चों तथा वृद्धों

में ही अधिक देखने को मिलती है। मलाशय के बाहर निकलने की यह दशा आंशिक भ्रंश अथवा पूर्ण भ्रंश के रूप में हो सकती है। आंशिक भ्रंश की अवस्था में केवल मलाशय की श्लेष्मिक कला ही गुदा द्वार से बाहर निकलती है। इस प्रकार के भ्रंश की यह दशा बहुत कुछ अभ्यंतर बवासीर रोग (आन्तरिक मस्सों) में मस्सों के गुदा द्वार से बाहर निकल आने के समान ही दिखती है। दो अंगुलियों से स्पर्श करने पर आंशिक भ्रंश पतला व पट्टी के समान प्रतीत होता है। इसमें श्लेष्मिक पुटक गुदद्वार से अरीय प्रकार से निकले रहते हैं।

पूर्ण भ्रंश की अवस्था में मलाशय की समस्त भित्ति ही गुदद्वार से होकर बाहर निकल आती है। यह मलाशय भ्रंश स्पर्श में मोटा तथा प्रायः ३ से ४ इंच की लंबाई तक बाहर फैला रहता है। इसमें श्लेष्मिक पुटक वृत्ताकार स्थिति के होते हैं। पूर्ण भ्रंश की स्थिति प्रायः प्रौढ़ व्यक्तियों तथा अल्पायु के युवकों में ही देखी जाती है। उसमें मलाशय के सब स्तर प्रतीत होते हैं।

छोटे बच्चों और वयस्कों में होने वाले मलाशय भ्रंश को अध्ययन, कारण और चिकित्सा की दृष्टि से सुविधानुसार छोटे बच्चों का भ्रंश तथा वयस्कों का भ्रंश समूहों में बांटा जा सकता है।

**छोटे बच्चों के भ्रंश :** बच्चों में मलाशय के बाहर निकलने का रोग अधिकतर आंशिक भ्रंश के रूप में ही होता है, यद्यपि कुछ मामलों में पूर्ण भ्रंश के भी देखे जाते हैं। यह रोग प्रायः किसी जीर्ण व क्षीण कारक रोग के पश्चात् ही उत्पन्न होता है, क्योंकि इन जीर्ण रोगों के कारण आसन मलाशय खात में संचित वसा (फैट) का क्षय हो जाता है अर्थात् वहाँ के संचित वसा भण्डार पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं और आसन मलाशय खात मल त्याग के समय बल लगाने पर अनियमित शौच त्याग के अभ्यास और तीव्र विरेचक औषधियों का प्रयोग करने वाले बालकों में गुदद्वार से बाहर निकल आती है। कई बार इस रोग का आक्रमण आँत्र कृमि ग्रस्त बालकों में भी होते देखा गया है। रोमान्तिका (गलखण्डों का संक्रमण मिलिसिस) अथवा काली खांसी के आक्रमण के पश्चात् भी कई बार मलाशय गुदद्वार के बाहर निकल जाता है।

इस रोग का मुख्य और एकमात्र लक्षण मलाशय श्लेष्मिक कला का गुद द्वार से बाहर निकलना ही है, किन्तु कई बार इसके अतिरिक्त मलाशय भ्रंश के साथ प्रवाहिका (अतिसार), श्लेष्मा स्त्राव तथा रक्तस्त्राव आदि भी हो सकते हैं। कई बार बच्चों में बल लगाने पर भ्रंश बाहर निकल आता है, किन्तु उनमें इसे आँत्रात्रप्रवेश से भिन्न कर लेना आवश्यक होता है, जिससे गुदा और प्रवर्धित भाग के बीच परावर्तन के सर्वोच्च स्थान तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

साधारणतया मलाशय भ्रंश की यह अवस्था ३ से ५ वर्ष के बच्चों में ही अधिक देखने में आती है। शिशुओं का मलाशय श्रोणि के निम्न धरातल पर स्थिति होता है जो नीचे मलाशय द्वार पर दबाव डालता है तथा कुछ विशेष कारणों में, जैसे कि उदर में एकाएक दबाव के बढ़ जाने से आँत्र भित्ति को नीचे की तरफ धकेल देता है।

### वयस्कों का गुद भ्रंश

वयस्कों में गुद भ्रंश कई बार बालकों में होने वाले रोग के अतिरिक्त मलाशय मूत्राशय कोष्ठ की लंबा होकर दुर्बलता के कारण इसकी ओर को उभर आता है और अग्र मलाशय भित्ति का बहिर्बलन करता है, जिससे मलाशय भ्रंश अग्रभित्ति द्वारा होने के कारण वह नीचे और पीछे की ओर बढ़ता है।

**मलाशय भ्रंश की चिकित्सा :** बच्चों और बालकों में पूर्ण भ्रंश को स्वच्छ और शुष्क गाज या रुई से दबाकर उसका पुनः सामान्य स्थापन करने के पश्चात् रोगी के दोनों नितंबों को मिलाकर दबाव बनाए रखना चाहिए तथा ऊपर से एडहेन्सिब टेप लगा देनी चाहिए। इनके अतिरिक्त आगे से रोगी बच्चों को करवट से लिटाकर मल त्याग कराना चाहिए। आवश्यक हो तो शौच क्रिया कुछ दिनों तक हल्के एनीमा या विरेचन औषधियों का प्रयोग कराना चाहिए।

रोगी को अन्य कोई जीर्ण रोग हो तो पहले उन रोगों का उपचार किया जाये। इसके साथ ही रोगी में पोषक तत्वों की पूर्ति यथा प्रोटीन, वसा, विटामिन आदि की पूर्ति की जाये। यदि रोगी में कोई पाचन सम्बन्धी विकार हो तो उसे ठीक किया जाये। रोगी को कब्ज की समस्या से बचाया जाये और यदि आवश्यक हो तो रोगी को जैतून के तेल की बत्ती दी जाये।

इस रोग में आहार का विशेष महत्व है, अतः पौष्टिक भोजन यथा फल, दही, दूध, सोयाबीन, चौकर सहित अनाज की रोटियां, अंकुरित अनाज, दालें, हरी-साग सब्जियां पर्याप्त मात्रा में दें। इनके अतिरिक्त यदि रोगी को और अधिक मात्रा में पोषक तत्वों की आवश्यकता हो तो आधुनिक चिकित्सा की औषधियों का यथा विटामिन, प्रोटीन पाउडर, खनिज तत्वों वाले मिश्रणों का मौखिक तथा इंजेक्शनों के रूप में प्रयोग कराया जाये। जब तक रोगी की स्थिति में संतोषप्रद सुधार न आ जाये तब तक बिस्तर पर पूर्ण विश्राम कराया जाये।

मलाशय भ्रंश की पुनः स्थापना (गुदद्वार के अंदर धकेलने) के समय पूर्ण स्वच्छता का ध्यान रखा जाये तथा उसे गंदे हाथों, धूल, मिट्टी, दूषित पानी आदि से दूर रखा जाये, अन्यथा उसमें संक्रमण होकर अन्य जटिलताएं जन्म ले सकती हैं। यदि आवश्यक समझा जाये तो मलाशय के स्थान को पुनः स्थापित करने से पूर्व एण्टी सेप्टिक औषधियों के द्वारा स्वच्छ बना लिया जाये और फिर स्वच्छ गाज या रुई से ही उसे पुनः स्थापित किया जाये।

### प्राकृतिक चिकित्सा

जीर्ण कब्ज से पीड़ित होने पर जोर लगाकर शौच जाने के कारण गुदा की मांसपेशियां कमजोरी हो जाती है। फलतः गुदा बाहर निकलने लगती है। रोगी को कब्ज से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करायें। इसके लिए गरम-ठण्डा सेक देकर गुनगुने पानी (१ डेढ़ लीटर) का एनीमा लगायें। कब्ज रोग में वर्णित उपचार करायें। जब कभी गुदा बाहर आ जाये तो नाखून कटी हुई साफ अंगुलियों के हल्के दबाव से उसे यथा स्थान धकेल कर स्थापित कर देना चाहिए। इसे बार-बार बाहर आने से रोकने के लिए मुलायम कपड़े का लंगोट बांधना बहुत उपयोगी होता है। गुदा को अंदर स्थापित करते समय रोगी को घुटने तथा छाती के बल लिटा देना चाहिए। इससे सुविधा रहती है। गुदा स्थान पर बर्फ के पानी में भिगोकर तैयार की गई मिट्टी की पट्टी आधा घंटे तक रखें। मिट्टी पट्टी दिन में २-३ बार लगायें। ठण्डा कटिस्नान १० मिनट तक दें। इस दौरान पैरों को गरम पानी में रखें एवं गर्दन तक कम्बल से ढक दें। इसके बाद गुदा पर टी लपेट बांधें। अश्विनी मुद्रा, सर्वांगसान, शीर्षसन, हलासन इत्यादि का अभ्यास करें।

### आहार चिकित्सा

१-२ दिन उपवास करायें। फिर रसाहार पर रखकर फल एवं सब्जियों के सूप पर ३-४ दिन रखें। ठोस आहार धीरे-धीरे शुरू करें। ठोस आहार में चौकर युक्त आटे की मोटी रोटी, हरी एवं रेशेदार सब्जियां गुनगुना दूध एवं कब्ज नाशक (कब्ज रोग में वर्णित) आहार दें। मुनक्का, किशमिश, पपीता, लौकी, नाशपाती, तरबूजा, संतरा, मौसमी इत्यादि का सेवन अत्यंत लाभदायक है।

### आहार चिकित्सा में इन बातों पर विशेष ध्यान दें -

१. गरम मिर्च-मसाले, गरम भोजन नहीं खावे।
२. तले-भुने गरिष्ठ पदार्थ, चाय, कॉफी, शराब, धूम्रपान का सेवन नहीं करें।
३. अधिक श्रमयुक्त कार्य नहीं करें।
४. कब्ज नहीं रहने दें।
५. पानी पर्याप्त मात्रा में पियें।
६. भोजन में रेशेदार पत्तीदार सब्जियां, सलाद अवश्य लें।

## नाभि चढ़ना

कई बार व्यक्ति को सख्त प्रकार की कब्ज हो जाती है। उसे महसूस भी होता है कि उसकी अन्तड़ियाँ और मलाशय पूरी तरह मल से भरे पड़े हैं जिसके कारण उसका पेट सख्त व कठोर बन जाता है तथा पेट में भारीपन महसूस होता है। मल विसर्जन के लिए मलाशय में प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है और वह मल त्याग के लिए शौचालय जाता भी है किन्तु गुदा द्वार से मल बाह्य नहीं आता अथवा बहुत कम मात्रा में फीते के समान चपटा मल आता है। रोगी को रोग के प्रारंभ में सामान्य भूख लगती है किन्तु जब धीरे-धीरे अन्तड़ियाँ मल से पूरी तरह भर जाती हैं तो उसे भोजन से अरुचि होने लगती है और भोजन ध्यान आते ही जी मिलाने लग जाता है। अन्तड़ियों में पड़े मल का वृहत् आँत्र में निवास करने वाले जीवाणुओं द्वारा विघटन होता रहता है। उससे कई प्रकार की गैसों का निर्माण होता रहता है, पर रोगी की उपरोक्त अवस्था में उसकी अन्तड़ियों में जीवाणुओं द्वारा अधिक मात्रा में गैस का निर्माण होने लगता है लेकिन वह गुदा मार्ग से बाहर न निकल कर अन्तड़ियों में ही जमा होती चली जाती है। उसके कारण धीरे-धीरे व्यक्ति में गैस की शिकायत या अफारा जैसे लक्षण उत्पन्न होने लग जाते हैं। कई बार रोगी को कब्ज की बजाय तीव्र अतिसार का सामना करना पड़ता है। तीव्र अतिसार अथवा भोजन से अरुचि के कारण व्यक्ति के शरीर में पानी, खनिज लवण तथा अन्य पोषक तत्वों की कमी होने लग जाती है और उसका वजन घटने लग जाता है।

उपरोक्त रोगी की दो ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनमें तमाम प्रकार निरीक्षण व परीक्षण करने पर भी न तो कब्ज का कोई कारण ज्ञात हो पाता है और न अतिसार का। मल के पैथोलॉजिकल परीक्षण में भी किसी जीवाणु का पता नहीं चल पाता है। रोगी में पाचक रसों, पित्त और पुरःसरण गति सामान्य होती है, लेकिन उसके पेट के शारीरिक परीक्षण में नाभि पर धमनी की तीव्र धड़कन महसूस न होकर उससे कुछ हटकर प्रतीत होती है। जबकि सामान्य अवस्था में यह धड़कन नाभि के बिल्कुल मध्य में महसूस होती है। इसके अतिरिक्त रोगी के दोनों स्तनों के केन्द्र की नाभि के मध्य से दूरी एक समान न होकर पृथक-पृथक होती है। रोगी के साथ की दोनों कनिष्ठा अंगुलियों (हाथ की सबसे छोटी व चौथी अंगुली) की लंबाई भी एक समान न होकर कुछ छोटी-बड़ी प्रतीत होती है। जबकि सामान्य व स्वस्थ व्यक्ति में कनिष्ठा अंगुलियों की लंबाई एक समान ही होती है। कुछ विशेष प्रयासों के द्वारा जब नाभि के केन्द्र को उसके केन्द्र में पुनः स्थापित कर दिया जाता है तो रोगी को बिना किसी औषधीय उपचार से उपरोक्त रोगों से मुक्ति मिल जाती है। चूंकि इन रोगों के पीछे नाभि का अपने स्थान से खिसक जाना ही प्रमुख कारण होता है इसलिए इस रोग को नाभि का खिसकना या पेचुटी, नाभि चढ़ना, धरण का टलना आदि नामों से जाना जाता है।

### कारण :

किसी ऊंची, नीची, असंतुलित जगह अथवा गड्ढे आदि में पैर पड़ जाने, सीढ़ियाँ चढ़ने-उतरने, तीव्र गति से दौड़ने, साईकिल चलाने, ऊंट-घोड़े आदि की सवारी करने , अधिक भारी बोझ को उठाने, कुएँ आदि से पानी खींचने, किसी पर लात का प्रहार करने या पैर में ठोकर आदि लग जाने, शरीर का वजन बहुत भारी होना, गलत करवट लेकर सोने आदि से आँत्र अपने स्थान से इधर-उधर थोड़ी बहुत खिसक जाती है अथवा उदर गुहा में स्थित कोई आन्तरिक अंग अपने स्थान से थोड़ा हट कर आँत्र के किसी हिस्से पर दबाव डालने लग जाते हैं, जैसे कि गर्भावस्था के दौरान गर्भाशय में भ्रूण के पलने से गर्भाशय का आकार फैलने लगता है तथा वह वृहत् आँत्र के किसी भाग पर दबाव डालने लग जाता है। आँत्र का अपने स्थान से खिसकने अथवा उसके किसी भाग पर अतिरिक्त दबाव बनने से अन्तड़ियों में मल के आगे बढ़ने की गति प्रभावित होती है अथवा आँत्र में अस्थायी रूप में अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे मल वृहत् आँत्र से मलाशय में बिल्कुल भी नहीं पहुँच पाता या फिर बहुत कम मात्रा में ही पहुँच पाता है। व्यक्ति में कब्ज की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

कई बार आँत्र के किसी भाग के अपने स्थान से खिसक जाने के कारण उस स्थान पर एक गुहा सी बन जाती है। ऐसी स्थिति में मल के अन्तड़ियों में आगे धकेलने की गति व मात्रा तो प्रभावित नहीं होती, किन्तु कुछ मात्रा में मल उस गुहा में फँस जाता है तथा वहाँ पड़ा-पड़ा वह मल शुष्क व कठोर बन जाता है। यह शुष्क मल आँत्र की सामान्य गति से आगे नहीं बढ़ पाता, इसीलिए आँत्र में इस शुष्क मल की गाँठ को आगे धकेलने के लिए बार-बार उत्तेजना सी पैदा होने लग जाती है जिससे छोटी आँत्र से बड़ी आँत्र में पहुँचा तरल रूप में मल पर्याप्त समय तक वृहत् आँत्र में नहीं रुक पाता

जिससे वृहत् अंत्र की भित्तियां मल के जल भाग का पर्याप्त मात्रा में अवशोषण नहीं कर पातीं और न ही मल अपना सामान्य अर्द्ध ठोस रूप ले पाता है। इस कारण रोगी को बार-बार मरोड़ के साथ दस्त आने लग जाते हैं।

### नाभि क्या है ?

गर्भावस्था में विकसित हो रहे भ्रूण के अपने श्वसन और पाचक तंत्र बिल्कुल कार्य नहीं करते। भ्रूण के अन्य अंग जैसे गुर्दे और यकृत (लिवर) आदि का भी भ्रूण के लिए कोई विशेष महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहता । यकृत और गुर्दे अपने स्वयं का थोड़ा बहुत कार्य कर लेते हैं। इसलिए भ्रूण की अति महत्वपूर्ण क्रियाओं यथा श्वसन, पोषक तत्वों की पूर्ति के लिए पाचन और भ्रूण के शरीर की विभिन्न क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले व्यर्थ और हानिकारक पदार्थों के उत्सर्जन के लिए किसी तंत्र की आवश्यकता रहती है। इस तंत्र का कार्य माँ के गर्भाशय से विकसित हुआ प्लेसेन्टा नामक झिल्ली द्वारा होता है जो गर्भस्थ शिशु की नाभि से जुड़ी रहती है। अतः हम कह सकते हैं कि शिशु के जीवन के प्रथम पड़ाव में उसकी नाभि ही वह मार्ग है जिसके माध्यम से वह अपनी कई महत्वपूर्ण क्रियाओं, सांस लेने, पोषक तत्वों को ग्रहण करने तथा व्यर्थ व हानिकारक पदार्थों का निष्कासन करने का कार्य लेता है।

**क्योंकि** प्लेसेन्टा (आँवल) भी भ्रूण की श्वसन, उत्सर्जन और पोषक तत्वों की पूर्ति जैसे महत्वपूर्ण कार्यों को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसलिए पोषक तत्वों, की पूर्ति जैसे महत्वपूर्ण कार्यों को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसलिए पोषक तत्वों, श्वसन गैसों और व्यर्थ पदार्थों की अदला-बदली प्लेसेन्टा में ही सम्पन्न होती है और भ्रूण पोषक पदार्थों तथा ऑक्सीजन से संतृप्त माँ के रक्त को प्लेसेन्टा से अपनी नाभि शिरा (अम्बिलिकन वेन) द्वारा ग्रहण करता है।

वयस्क शरीर के विपरीत भ्रूण की अपनी रक्त धमनियों में ऑक्सीजन की संतृप्ता शरीर के विभिन्न भागों और अलग-अलग अंगों में अलग-अलग रहती है, जैसे कि मस्तिष्क और हृदय जैसे अति महत्वपूर्ण अंगों में रक्त की आपूर्ति करने वाली धमनियों के रक्त में ऑक्सीजन की संतृप्ता ६२ प्रतिशत तक, जबकि दूरस्थ स्थित ऊतकों में रक्त की आपूर्ति करने वाली रक्त धमनियों में ऑक्सीजन की संतृप्ता ५८ प्रतिशत तक ही रहती है।

क्योंकि माँ का प्लेसेन्टा गर्भ में पल रहे भ्रूण के विकास व उसकी महत्वपूर्ण शारीरिक क्रियाओं, श्वसन, उत्सर्जन, पोषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसलिए भ्रूण की अपनी दायीं व बायीं नाभि धमनियाँ भ्रूणके रक्त को प्लेसेन्टा तक पहुँचाती है तथा भ्रूण की दो नाभि शिरायें प्लेसेन्टा से रक्त ग्रहण करके भ्रूण के यकृत तक पहुँचाती हैं। किन्तु भ्रूणावस्था के अन्तिम दिनों में प्लेसेन्टा का रक्त केवल वाम नाभि शिरा से ही शिशु तक पहुँच पाता है क्योंकि इसके पश्चात दायीं नाभि शिरा अवरोद्ध होकर बंद हो जाती है। वयस्कों का नाभि स्थान वही जगह है जहाँ भ्रूण जीवन में उसके और माँ की रक्त वाहिनियों का सम्बन्ध जुड़ता रहा था।

जन्मोपरांत शिशु के गर्भ से बाहर आते ही सबसे पहला कार्य उसकी नाभि और माँ के प्लेसेन्टा का संबंध विच्छेदन करना तथा शिशु को जैसे ही कसकर बांधा जाता है उसकी इन्फिरियर वेना केवा में रक्त का दबाव काफी गिर जाता है, जबकि धमनिय-रक्त दबाव बढ़ने लगता है। इस तरह बायीं धमनी में रक्त का दबाव वेना केवल से बढ़ने लगता है, क्योंकि फेफड़ों से बायीं धमनी में रक्त की वापसी धीरे-धीरे बढ़ती चली जाती है। इसके अतिरिक्त नाभि रज्जू के बांध देने से इन्फिरियर वेना केवा से भी रक्त की वापसी घटती जाती है।

जन्मोपरांत नाभि रज्जू के रक्त संचरण का अंत हो जाने से एक से तीन घंटों के अंदर ही डक्टस वेनोसस बंद हो जाती है, क्योंकि रक्त नलिका में रक्त दबाव इतना गिर जाता है कि वह खुला ही नहीं रह पाता । ऐसे कुछ मामलों में जिनमें नलिका खुली रह जाती है, पोर्टल वेनस में रक्त दबाव बढ़ने लगता है।

अतः जन्मोपरांत स्वस्थ अवस्था में जिस स्पंदन या धड़कन को नाभि के स्थान पर अनुभव किया जाता है वह पोर्टल वेन या प्रतिहारिणी शिरा की होती है। यह पांच शिराओं के मिलने से बनती है। इसके द्वारा ही आमाशय आंतों , अग्न्याशय और प्लीहा का रक्त यकृत में पहुँचता है और इसी से आमाशय और आंतों से शोषित पचित भोजन के सारांश यकृत तक पहुँचता है। प्रतिहारिण शिरा के स्थान से थोड़ा ऊपर और उसके पीछे उदरीय महा धमनी दो शाखाओं में

विभाजीत होती है। उदरीय महाधमनी की स्पंदन भी उसकी दोनों शाखाओं और प्रतिहारिणी शिरा तक प्रसार करती है और महाधमनी का यह स्पंदन ही नाभि के स्थान पर स्पर्श करने पर महसूस होता है।

नाभि के पीछे स्वस्थ अवस्था में वृहत् आँत्र का अनुप्रस्थ भाग, ग्रहणी का कुछ भाग तथा मध्यांत्र और शेषांत्र का काफी भाग स्थित रहता है। अतः नाभि खिसकने के समय आँत्र के इन्हीं भागों के किसी भाग का विस्थापन हो जाता है अथवा उदर में स्थित किसी अंग के थोड़ा बहुत इधर-उधर खिसक जाने से उसका दबाव आँत्र के किसी भाग पर पड़ने लग जाता है। इसलिए आँत्र के उस भाग के आकार में अस्थायी परिवर्तन आ जाता है। वृहत् आँत्र के अनुप्रस्थ भाग, ग्रहणी तथा मध्यांत्र व शेषांत्र के साथ ही नाभि के पीछे पोर्टल वेन भी अपनी शाखाओं के साथ स्थित रहती है अतः इन अंगों के अपने स्थान से थोड़ा इधर-उधर विस्थापित हो जाने से नाभि के मध्य की स्पंदन नाभि के दायीं या बायीं और अथवा ऊपर-नीचे महसूस होती है। इससे व्यक्ति को या तो सख्त कब्ज हो जाती है अथवा मरोड़ युक्त अतिसार आने लग जाते हैं।

### रोग के कारण

नाभि खिसकने का सबसे प्रमुख लक्षण तो यही है कि नाभि के केन्द्र का स्पंदन नाभि के मध्य न होकर उसके आसपास होता है। इसके साथ आँत्र में मल के सामान्य गति से आगे न बढ़ने अथवा आँत्र में अस्थायी अवरोध आ जाने से व्यक्ति को कब्ज रहने लगती है। जबकि अन्तड़ियाँ मल से भरती जाती हैं। इस कारण नाभि के स्थान पर हाथ के स्पर्श से कठोर प्रतीत होती है। आँतों में मल के अधिक जमाव से नाभि स्पंदन कुछ मध्यम होता जाता है और रोगी के पेट में भारीपन तथा धीमा दर्द रहने लगता है। कभी-कभी आँत्र में अवरोध की बजाय उनके अपने विस्थापन या किसी अन्य अंग के दबाव से आँत्र में तीव्र प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है जिससे छोटी आँत्र की पुरःसरण गति तथा वृहत् आँत्र की समूह गति तीव्र हो जाती है। मल पर्याप्त समय तक अन्तड़ियों में नहीं रुक पाता है। उसके पोषक पदार्थों एवं जल अंश का अवशोषण न हो पाने से रोगी को मरोड़ के साथ दस्त आने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में आँते कठोर तो प्रतीत नहीं होती किन्तु उनमें तरल भरा होने के कारण नाभि की स्पंदन की एक तरंग सी कई स्थानों पर महसूस होने लगती है। इस अवस्था में नाभि स्पंदन भी तीव्र प्रकार का महसूस होता है। रोगी में अतिसार वाली यह अवस्था आदि अधिक समय तक बनी रहे तो उसके कारण रोगी के शरीर में विभिन्न पोषक तत्वों और जल का अभाव नजर आने लगता है।

नाभि प्रदेश में स्थिति आँत्र के किसी भाग के विस्थापन से कई बार उदर में स्थित किसी महत्वपूर्ण अंग को रक्त की आपूर्ति करने वाली रक्त धमनी अथवा रक्तशिरा दबाव पड़ने से दबने लग जाती है। ऐसा होने पर उस अंग विशेष की रक्ती की पूर्ति घट जाने से उस अंग की कार्य प्रणाली प्रभावित होने लग जाती है तथा तत्सम्बन्धी रोगों का जन्म होता है। यदि उन अंगों से रक्त की निकासी प्रभावित होती है। उन अंगों की विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के कारण उत्पन्न हुए व्यर्थ पदार्थ रक्त के साथ वापिस न जाकर उन्हीं अंगों में संचित होने लग जाते हैं। इससे उन अंगों का आकार बढ़ने लगता है उनमें कई प्रकार के विकार उत्पन्न होकर तत्सम्बन्धी रोगों को जन्म देते हैं।

नाभि खिसकने से सम्बन्धित इन रोगों की एक विशेषता है कि इन समस्त रोगों के मूल में वे कारण नहीं होते जिनके कारण सामान्यतः इन रोगों का जन्म होता है। इन रोगों का उपचार भी सामान्य रोगों की तरह न होकर नाभि को पुनः सामान्य स्थान पर स्थित करने पर स्वयं हो जाता है।

### उपचार

यों तो नाभि खिसलन या नाभि चढ़ने के नाम से जाना जाने वाले इस रोग को आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य पैथी ने मान्यता प्रदान नहीं की है, लेकिन जग कुछ विशेष प्रकार की तकनीकों से इन रोगों में स्थायी लाभ मिलते देखा जाता है, तब इस रोग की कल्पना को स्वीकार करना ही पड़ता है।

नाभि को अपने सामान्य स्थान पर पुनः स्थापित करने के लिए भारत में सैकड़ों विधियाँ प्रचलित हैं। इनमें से मेरे द्वारा परीक्षित की गई कुछ विधियाँ इस प्रकार हैं

- सबसे पहले प्रातःकाल एक चम्मच आँवले को चूर्ण एक गिलास गुनगुने पानी के साथ लें अथवा एक गिलास गुनगुने पानी में एक नींबू निचोड़ कर पी लें। यदि शौच विसर्जन की प्रतिक्रिया हो रही हो तो शौच के लिए जायें अन्यथा सीधे ही ३-४ कि.मी. की सैर करने के लिए किसी पार्क या खेतों की तरफ निकल जायें। जब सैर कर ली जाये और पानी पिये एक घंटे के लगभग हो जाये तब किसी पेड़ की टहनी या झूले या किसी अन्य सपोर्ट के साथ लटक जायें। लटकने पर पैर और जमीन के मध्य एक फीट के लगभग अंतर हो। लटक कर पैरों को जोरादार ४'-४ इंच दें और पैरों को पूरी शक्ति से जमीन की तरफ खींचते हुए तानें। ऐसा तीन मिनट तक करके नीचे उतर जायें और ५ से १० मिनट के लिए श्वासन में लेट जायें। इस विधि को नियमित रूप से सामान्य अवस्था में भी किया जा सकता है।
- पहली विधि के अंत में और श्वासन में लेने जाने के बाद ५-७ मिनट तक पेट पर अपने स्वयं के हाथों अथवा अन्य किसी से मालिश करायें। मालिश करने से पूर्व पेट पर थोड़ा सा सरसों का तेल लगा लें। दोनों हाथों की हथेलियां व अंगुलियों को नाभि पर रखें तथा हल्के दबाव के साथ हाथों को दोनों साइडों की तरफ फैलाते हुए पसलियों के पास लायें। फिर हाथों को बिना हटाये पसलियों के मध्य जोड़े तथा हल्के दबाव के साथ सीधे नाभि की तरफ ले जाये। इस विधि से नाभि अपने स्थान पर स्थित हो जायेगी।
- पहली विधि के अंत में और श्वासन में लेट जाने के बाद अपने पैरों को मोड़कर घुटनों को खड़ा कर लें। किसी अन्य व्यक्ति से कहें कि वह आपके पैरों की तरफ आपके पैर के पंजों पर अपने पैर रखकर खड़ा हो जाये और आपके बायें पैर के घुटने को जमीन की तरफ धीरे-धीरे दबाये। इस समय आप भी अपने पैरों को ढीला छोड़ दें, बिल्कुल न तानें। ऐसा ४-६ बार करें और फिर यही क्रिया ४-६ बार दायें पैर के घुटने के साथ दुहरायें। इसके बाद रोगी को उसके दोनों हाथों को पकड़ कर खड़ा कर दें तथा १५-२० कदम चलने के लिए कहें। इसके उपरांत रोगी १० मिनट आराम करके अपना सामान्य कार्य कर सकता है। इस विधि के अंत में भी दूसरी विधि के अनुसार पेट की मालिश की जा सकती है।

## प्राकृतिक उपचार

अधिक वजन उठाने से, पेट की मांसपेशियों पर तनाव आने से, आंतों की दुर्बलता से नाभि के स्थान से आस-पास स्पन्दन होता है। पेट दर्द, श्वास गति बढ़ जाती है। उल्टी, दस्त आदि रोग हो जाते हैं। कई तरह की औषध प्रयोग से भी लाभ नहीं मिलता है। ऐसे रोगी के लिए हल्का व्यायाम, योग या एक्जुप्रेशर चिकित्सा, कुशल चिकित्सक की देखरेख में लेना चाहिए। भूलकर भी पेट को मसलाकर धरण नहीं बिठावें। ऐसा करने से वो बार-बार हट जाती है। रोगी को दीवार के सहारे से खड़ा करके एडी के पीछे वाले भाग पर मालिश करते हुए पिण्डलियों तक जाएं। ६ इंच के इस भाग में दबाव दें एवं रोगी को पंजे के बल खड़ा करें। पेट पर नाभि के ऊपर तक जलता हुआ दीपक रखकर कांच का गिलास उस पर उल्टा रख दें। थोड़ी ही देर में दीपक बुझ जाता है और नाभि क्षेत्र की त्वचा गिलास में उभर जाती है। इससे भी नाभि सही स्थिति में आ जाती है।

अन्य उपचारों में रोग के लक्षणों के आधार पर चिकित्सा करें। यथा-कब्ज, अतिसार, वमन, पेट दर्द इत्यादि होने पर गरम-ठण्डा सेक, एनीमा, लपेट, ठण्डा कटिस्नान इत्यादि उपचार उपरोक्त प्रकरणों में वर्णित विधि के अनुसार दें।

## आहार चिकित्सा

रोगी को रसाहार पर उपवास करायें। लघु एवं सुपाच्य आहार दें। आंतों की दुर्बलता से यह रोग बार-बार होता है। आंतों को सबल बनाने के लिए फल, सब्जियां (रेशेदार, हरी पत्तेदार) भरपूर खाएं। फलों में संतरा, मौसम्मी, बेल, अनार, तरबूज, नाशपाती, सेव इत्यादि का भरपूर उपयोग करायें।

## निषेध

- भारी वजन नहीं उठावें।
- अति मैथुन (विभिन्न आसन विधि लगाकर) नहीं करें।

- तेज गति का व्यायाम (जिम) नहीं करें।



## पेट का कैंसर

### $\frac{1}{4}$ CANCER OF ABDOMEN $\frac{1}{2}$

कैंसर । वह असाध्य रोग जिसकी परिकल्पना मात्र से ही शरीर में कंपन पैदा हो जाता है। जैसे ही चिकित्सकों द्वारा रोगी को यह बताया जाता है कि वह कैंसर के चंगुल में फंस चुका है, उसी पल से रोगी की जीवन इच्छा दुर्बल जड़ जाती है। मृत्यु सामने खड़ी दिखायी देने लगती है, उसकी भूख समाप्त हो जाती है, चिन्ताएं उसको चारों ओर से घेर लेती है और कुल मिलाकर वह एक जीवित लाश की भांति जब तक जी सकता है, जीने पर बाध्य हो जाता है। उसके मस्तिष्क पर एक गहरा आघात लगता है। इन सबका एक प्रमुख कारण है कि कैंसर के निदान में प्रयुक्त की जाने वाली लगभग सभी विधियां और प्रणालियां चाहे वह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की हों या आयुर्वेद अथवा किसी अन्य प्रणाली की, इससे मुक्ति दिलाने में अब तक असमर्थ ही सिद्ध होती रही हैं।

वास्तव में मानव मृत्यु का एक प्रमुख कारण है यह 'कैंसर' इसके प्रकोप से हर साल दुनिया भर में ४५ लाख से अधिक लोग अपनी जान गंवा बैठते हैं और लगभग ६० लाख नये लोग इसकी चपेट में आकर इसके शिकार बन जाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका कैंसर रोग मानव मृत्यु का प्रमुख कारण है। विकसित देशों में हृदय सम्बन्धी रोगों से सर्वाधिक मृत्यु होती है और कैंसर के कारण होने वाली मृत्यु का वहाँ दूसरा स्थान है।

अकेले हमारे देश भागर में ही हर साल अनुमानतः ३ लाख ७० हजार से भी अधिक व्यक्ति कैंसर रोग की चपेट में आते हैं उनमें से लगभग २ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष मौत के शिकार बन जाते हैं। भारत में मृत्यु के दस प्रमुख कारणों की पहचान की गई है और उनमें कैंसर का प्रमुख स्थान है। इसके साथ ही प्रतिवर्ष इससे ग्रसित रोगियों की संख्या में वृद्धि हो रही है। वास्तव में देखा जाये तो कैंसर मानव जाति के लिए एक अभिशाप बन कर रह गया है। संसार का कोई भी हिस्सा, कोई भी देश इस बीमारी से अछूता नहीं है। बच्चे, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी वर्गों में यह रोग समान रूप से व्याप्त है।

कैंसर शरीर के किसी भी अंग, भाग, रक्त से लेकर त्वचा तक कहीं भी पैदा हो सकता है, परन्तु भारत में मुख ग्रसनी, हृदय, ग्रासनली के संगम से ऊपर की तरफ उर्ध्व पोष पथ तथा गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर अधिक पाये जाते हैं।

### कैंसर रोग के लक्षण

कैंसर एक ऐसा रोग है जिसमें शरीर के किसी भी अंग या भाग की कोशिकाएं अनियन्त्रित रूप से विभक्त होती चली जाती हैं और उस अंग या भाग में गांठ या अर्बुद (ट्यूमर) सा बन जाता है। इन अर्बुद कोषों में एक विशेष प्रकार के प्रोटीन का निर्माण होता है जो अन्य स्वस्थ कोशिकाओं के लिए विष का कार्य करता है। साथ ही अर्बुद की कुछ कोशिकाएं अपनी पृष्ठ कोशिकाओं से अलग होकर रक्त प्रवाह द्वारा शरीर के अन्य भागों में पहुँच जाती हैं और वहाँ भी अपनी तरह के नए अर्बुद पैदा करना शुरू कर देती हैं। धीरे-धीरे इन गांठों की संख्या शरीर में इतनी अधिक हो जाती है कि शरीर उन्हें बर्दाश्त नहीं कर पाता और अंत में इनके दबाव में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अर्बुद को अपने विकास के लिए सतत ऑक्सीजन तथा सभी पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है जो उसे शरीर में लगातार भ्रमण कर रहे रक्त से मिलते रहते हैं। यदि किसी कारणवश उसे इन आवश्यक पोषक तत्वों का रक्त द्वारा मिलना बंद हो जाता है तो वह (ट्यूमर) पहले काला पड़ जाता है और धीरे-धीरे सिकुड़ कर नष्ट हो जाता है या फिर कैंसर की कोशिकाएं अन्य स्वस्थ कोशिकाओं पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट करने लग जाती हैं और उनमें उपस्थिति पोषक तत्वों को ग्रहण करके अपने अस्तित्व को बनाये रखने के प्रयास जुट जाती हैं।

कैंसर की गांठ देखने में शीत तथा उष्ण विद्रवियों की तुलना में अधिक चमकीली प्रतीत होती है। स्पर्श करने पर उसमें उष्मा का अभाव पाया जाता है। शुरू में इन कैंसर की गांठों में दुःखन व पीड़ा नहीं रहती पर बाद में वेदना में वृद्धि होती चली जाती है और कभी-कभी तो असहनीय वेदना शुरू हो जाती है, साथ ही उसमें से असह्य दुर्गन्ध भी आने लग जाती है। कैंसर की गांठ फटने से बने व्रण (घाव) से रक्तस्राव तथा मवाद का स्राव शुरू हो जाता है। गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर से मासिक चक्र की तरह लगातार रक्तस्राव होना शुरू हो जाता है। मुख व कंठ के कैंसर से तीव्र दुर्गन्ध आनी शुरू

हो जाती है। यकृत के कैंसर से यकृत सिरोसिस के समान अधिक वृद्धि हो जाती है और यकृत में असहनीय वेदना शुरू हो जाती है तथा स्पर्श करने पर यकृत के स्थान पर उष्मा का अभाव मिलता है परन्तु दबाने पर अधिक कठोर प्रतीत होता है। इसकी वेदना और आकार का शमन किसी भी औषधि से नहीं हो पाता है।

यहाँ एक बात अवश्य ध्यान रखनी चाहिए कि यदि कैंसर की चिकित्सा रोग शुरू होने के बाद जितनी जल्दी संभव हो सके उतनी जल्दी शुरू कर दी जाए तो रोगी के जीवन काल को बढ़ाने में सफलता मिल सकती है। अन्यथा रोग की सफल चिकित्सा के अवसर कम होते चले जाते हैं। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की जानकारी हो कि कैंसर की शुरुआत की अवस्था में कौन-कौन से प्रमुख लक्षण उत्पन्न होते हैं जिससे कि वह रोग की प्रारंभिक लक्षणों का वर्णन है, जिससे कैंसर के सम्बंध में कुछ जानकारी हो सकती है।

### कैंसर के कारण

- शरीर के किसी भी मौसल भाग (जैसे स्त्रियों के स्तनों) में अचानक किसी गांठ का पैदा हो जाना या त्वचा का सख्त पड़ जाता आदि कैंसर का संकेत हो सकते हैं। हालांकि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक गांठ कैंसर से ही सम्बन्धित हो अथवा प्रत्येक कैंसर गांठ में दर्द जरूर हों, परन्तु फिर भी शरीर में किसी भी जगह गांठ के पैदा हो जाने पर चिकित्सकीय परामर्श अवश्य लिया जाये।
- स्त्रियों में स्तन कैंसर काफी संख्या में उत्पन्न होते हैं। अतः ४० वर्ष के ऊपर की स्त्रियों को विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। इस उम्र की स्त्रियों को प्रत्येक माह स्वयं अपने हाथों से स्तन दबा कर निरीक्षण करते रहना चाहिए कि कहीं त्वचा किसी भाग में सख्त या गठीली तो नहीं बनती जा रही है।
- किसी घाव या जख्म का लंबे समय तक न भरना भी एक खतरनाक संकेत है। घाव का ठीक हो जाना और कुछ दिनों बाद पुनः उसी स्थान पर पैदा हो जाना जैसी स्थिति बने तो इसके प्रति कतई लापरवाही नहीं बरती जानी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि वहाँ कैंसर बनना शुरू हो गया हो।
- कुछ भी खाने पीने अर्थात आहार निगलने में काफी तकलीफ होने लगे तो यह गले के कैंसर का संकेत हो सकता है।
- आवाज में अपने आप अचानक परिवर्तन आ जाये, जैसे आवाज में भारीपन आना, आवाज का बैठ जाना इत्यादि का भी निरीक्षण किसी कैंसर की उपस्थिति की शंका पर करना जरूरी बन पड़ता है।
- शरीर के किसी भाग में उपस्थित मस्से या तिल में एकाएक वृद्धि होने लग जाये, दर्द रहने लगे या फिर रक्त का स्राव शुरू हो जाये तो इनकी संदिग्धता की जानकारी के लिए चिकित्सक से सलाह ले लेनी चाहिए।
- अचानक अपच या कब्ज रहने लग जाये या दस्त शुरू हो जाएं, शौच के समय दर्द महसूस होने लगे, पेशाब में रूकावट या कष्ट होने लग जाये तो यह बड़ी आँत्र या मूत्राशय आदि के कैंसर के संकेत हो सकते हैं।
- स्त्रियों का मासिक रक्त स्राव एकाएक बहुत बढ़ जाये या अनियन्त्रित बन जाये तो यह योनि या गर्भाशय कैंसर के कारण भी हो सकता है।

### पेट के कैंसर

कैंसर रोग की उत्पत्ति शरीर के किसी भी अंग में हो सकती है और उसके प्रकार भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। परन्तु इस अध्याय में हम पेट सम्बन्धी कुछ कैंसरों पर अपना ध्यान देंगे। हमारी पोषण नाल जो मुंह में लेकर गुदा द्वार तक फैली होती है, इसकी कुल लंबाई ६ मीटर के आसपास होती है। इस पोषण नाल के कुछ मुख्य भाग हैं- मुख, गला, ग्रासनलिका, आमाशय, पक्वाशय, छोटी आंत, बड़ी आंत, मलाशय, गुदा आदि। पेट सम्बन्धी कैंसर भी इन्हीं अंगों पर उत्पन्न होते हैं। इसलिए विस्तारपूर्वक पेट के कैंसर के बारे में जानने के लिए आवश्यक है कि इन अंगों के कैंसर के बारे में जाना जाए-

9. **मुख का कैंसर** : मुख का कैंसर होठ, कपोल, मुख तल, जीभ और तालु में सामान्यतः पाया जाता है जबकि मसूड़ों का कैंसर बहुत कम मात्रा होता है। मुख के कैंसर स्त्रियों की तुलना में पुरुषों (८५÷) में ही अधिक होते हैं।

ल्यूकोप्लेकिया, जीर्ण उपरिस्थ जिह्वा शोथ और जीर्ण विदान आदि मुख के कैंसर की कुछ प्रारंभिक अवस्थाएं हैं। भारत में जिह्वा, मुख, कपोल और ग्रसनी के कैंसर के सर्वाधिक रोगी पाये जाते हैं। वह भी दक्षिण भारत, उत्तर प्रदेश के मैनपुरी जिले आदि में, क्योंकि वहाँ तम्बाकू चबाना बहुत प्रचलित है तथा वहाँ के लोगो के कपोलों की मौखिक पृष्ठ पर ल्यूकोप्लेकिया होना अत्यंत साधारण बात है। इसका प्रमुख कारण है- सुरती, पान की पत्ती और चूने से उत्पन्न क्षोभ आदि जिसे वे मुंह में रख कर बहुत समय तक गालों से दबा कर रखते हैं।

बीड़ी, सिगरेट, हुक्का आदि से उत्पन्न तम्बाकू का धंआ, उष्मा तथा निकोटोनिक अम्ल के प्रभाव तथा पान-मसाले, खैनी, जर्दा, तीव्र चूना आदि के रासायनिक प्रक्रिया और उष्मा के कारण मुख की लार ग्रन्थियों से लार का स्त्राव घट जाता है तथा मुख के आन्तरिक कपोलों व जिह्वा की श्लेष्मिक कला की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाने से मुख में कैंसर की उत्पत्ति होने लग जाती है।

मुख का यह कैंसर एक स्थान पर उत्पन्न होकर अन्य ऊतकों में बड़ी तेजी से फैलता है। होठ का कैंसर गाल तथा मसूड़ों तक फैल जाता है।

२. **उदर के कैंसर :** कैंसर से होने वाली कुल मृत्यु दर में ३५ प्रतिशत मृत्यु पेट के कैंसर के कारण होती है। वैसे पाचन तंत्र के कैंसरों का अनुपात भिन्न भिन्न देशों में पृथक-पृथक है। पाचन तंत्र के कैंसरों में भी होने वाली कुल मृत्युओं में ५० प्रतिशत आमाशय कैंसर से २८ प्रतिशत आँतों के कैंसर से, १३ प्रतिशत मलाशय के कैंसर से तथा २ ÷ ग्रासनली के कैंसर से होती है। चीन, जापान, मध्य यूरोप तथा फिनलैण्ड में आमाशय कैंसर से सर्वाधिक मृत्यु होती है, जबकि अमेरिका और ब्रिटेन में आमाशय कैंसर से मृत्यु दर काफी कम है। वहाँ मलाशय का कैंसर ज्यादा होता है। अकेले अमेरिका में बड़ी आँत्र तथा मलाशय कैंसर से प्रतिवर्ष ४५ हजार से अधिक व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बनते हैं। डेनमार्क, स्काटलैण्ड तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों में मलाशय का कैंसर ज्यादा होता है।

आमाशय का कैंसर तो बहुतायत से पैदा होने वाली व्याधि है और बहुत बड़ी संख्या में मानव जीवन का अंत इस प्रकार के कैंसर से हर साल होता है। अन्य देशों के समान ही भारत में भी आमाशय कैंसर के रोगी देखने में आते हैं। आमाशय का कैंसर स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को अधिक होता है, और अधिकतर ४० वर्ष से अधिक आयु में ही प्रकट होता है। जीर्ण व्रण पर कैंसर की गाँठें बन सकती हैं, किन्तु अधिकांश मामलों में वे नये ही बनते हैं।

आमाशय कैंसर सर्वाधिक जठर निर्गम में पैदा होता है। इसके पश्चात लघु वक्रता पर और अभिद्वद पर होते हैं। यद्यपि आमाशय के किसी भी भाग पर कैंसर बनने के बाद यह लसिका वाहिकाओं द्वारा या शिरा रक्त संचरण द्वारा अन्य भागों तक फैल सकते हैं।

आमाशय के कैंसर के कारण आमाशय का निचला भाग (द्वार) सिकुड़ कर तंग हो जाता है जिससे आमाशय में पचा भोजन जठर निर्गम से गुजरकर अन्तड़ियों में भली प्रकार से नहीं जा पाता तथा वह आमाशय में ही इकट्ठा होता रहता है। परिणामस्वरूप सांयकाल के समय रोगी को काफी मात्रा में वमन (उल्टी) आ जाती है।

छोटी आँत्र के कैंसर उत्पत्ति के मामले बहुत कम देखने में आते हैं। छोटी आँत्र के ये कैंसर प्रायः लसिका उत्तक से या आँत्रयोजनी के लसिका पर्वों से निकलते हैं और इसके पश्चात द्वितीय रूप से आँत्रभित्ति को आक्रांत करते हैं। इसीलिए ये लसिका सार्कोमा कहलाते हैं। इनके प्रमुख लक्षण आँत्रावरोध के ही होते हैं और पेट में एक पिंड सा बन जाता है। अन्य कोई विशेष नैदानिक लक्षण नहीं होते, किन्तु पेट में ये उपस्थित पिंड के साथ बालक या अल्पायु के युवकों में आँत्र अवरोध के लक्षण सन्देशजनक हो सकते हैं। तीव्र आन्त्रावरोध की उपस्थिति में इसकी आपात शल्य (आपरेशन) चिकित्सा की जाती है।

अनेक बार छोटी आँत्र की कैंसर गाँठों से सिरोटिन या इन्टरामिन आदि हार्मोन्स का अधिक मात्रा में स्त्राव होने लग जाता है। जब यह स्त्राव रक्त में अधिक मात्रा में संचारित होता है तो आर्जेन्टर्फिनोमा के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके लक्षण हैं- आनन पर लालिमा के चकत्ते बनना अथवा श्यामलता, प्रवाहिका और उदर वेदना। इसके साथ कभी-कभी

हृदय, कपाट, विक्षति और फेफड़ों की संकीर्णता के लक्षण भी मिलते हैं जिनसे श्वसनी, दमा और टांगों पर शोफ (सूजन) के आक्रमण होते रहते हैं।

भारत में बड़ी आँत्र में कैंसर के बहुत कम रोगी मिलते हैं। बड़ी आँत्र के कैंसर में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं। चूंकि दूरस्थ बड़ी आंत्र की चौड़ाई बहुत कम होती है इसलिए कैंसर गाँठ के कारण कठोर मल से अवरोध के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और फिर अपफारा, आँत्र शूल, बढ़ती हुई कोष्ठबद्धता और कभी-कभी बारी-बारी से प्रवाहिका एवं कोष्ठबद्धता के आक्रमण भी होते रहते हैं।

पेट से सम्बन्धित एक अन्य कैंसर यकृत का है। यह विकसित देशों की तुला में अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा सुदूर पूर्व के कई देशों में अधिक पाया जाता है। भारत में भी कभी-कभी यकृत कैंसर के रोगी देखने में आ जाते हैं। तीव्र, प्रोटीन, कुपोषण यकृत कैंसर का प्रधान कारण है। कवक, संक्रमित दालें, ज्वार, बाजरा, मूंगफली तथा चावल खाने से यकृत सिरोसिस होता है जो बाद में कैंसर का रूप लेकर व्यक्ति की मौत का कारण बन जाता है। यकृत कैंसर कई पशुओं से जैसे गाय, बैल, भैंस, सूअर, मुर्गा-मुर्गियां आदि में बहुतायत से फैलता है।

### कैंसर रोग के कारण

अभी तक कैंसर रोग के लिए जिम्मेदार किन्हीं भी कारणों को चिन्हित नहीं किया जा सकता है। फिर भी निम्न कारणों से कैंसर की संभावना बढ़ जाती है। जैसे

**अ) पोषक तत्व :** आहार में कई प्रकार की विटामिन्स, प्रोटीन व अन्य पोषक तत्वों की कमी व अधिक मद्यपान तथा संक्रमित भोजन करने से कैंसर होने की संभावना बढ़ जाती है। पौधों में भी बहुत से कैंसरकारी रासायनिक पदार्थ मौजूद रहते हैं, जो शरीर में पहुँच कर कैंसर का कारण बनते हैं। जैसे कि पायरोलिजिडिन एलकेलाइड आदि कैंसरकारी तत्व कई पौधों (सिनेसिया, क्रोटोलेरिया) में पाया जाता है इन्हीं पौधों में हैलिमोट्राइड, लिसियोकोर्पिन व मोनोक्रोटोलिन जैसे रासायनिक पदार्थ भी होते हैं, जो कोशिकानाशक होते हैं तथा मनुष्य एवं पशुओं के यकृत को इतनी क्षति पहुँचा सकते हैं कि वे जीवित न रह सकें।

कुछ खाद्य पदार्थ कवकों द्वारा ग्रस्त हो जाने पर कैंसरकारी पदार्थ उत्पन्न करते हैं। आसाम, जहाँ की जलवायु अति नमीयुक्त है, गर्म और नमीयुक्त होने के कारण यहाँ खाद्य पदार्थों पर सूक्ष्म जीवाणुओं का बहुत जल्द आक्रमण होता है जिनके सेवन से कैंसर होने की संभावना बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त आसाम में कुछ ऐसे पौधों को भी खाया जाता है जिनसे कैंसर की संभावना और बढ़ जाती है। उदाहरण के रूप में फर्न की नवजात पत्तियों को वहाँ सब्जियों की तरह प्रयुक्त किया जाता है, कच्ची सुपारी को मिट्टी में आंशिक किण्वन कराने के बाद भी खाया जाता है। सुपारी पर एप्लोटॉक्सिन निर्माण करने वाले एस्परीजलस फ्लैक्स नामक कवक का बहुत शीघ्र आक्रमण होता है। कच्ची सुपारी में न्यूरोटॉक्सिन का प्रभाव भी होता है।

**आ) रासायनिक घटक :** कितने ही प्रकार के रसायन जो उद्योगों, खाद्य वस्त्र, वातावरण, औषधियों आदि के रूप में मनुष्य के सम्पर्क में आते हैं, अंत में कैंसर का कारण सिद्ध होते हैं। जैसे- एरोमैटिक, संखिया, एस्बेस्टोस, एजोरंग, टार्स, न्यूरेथेन, लौह, बैरीलियम, क्रोमियम आदि।

**इ) विकिरण ऊर्जा :** सौर्य विकिरण, पराबैंगनी किरणें, आयनीकृत विकिरण तथा उष्मा आदि कैंसर उत्पत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। चिकित्सकीय रेडियोलाजी के कारण ल्यूकीमिया (रक्त कैंसर) होने की संभावना १० गुना बढ़ जाती है। १९४५ में जापान के दो शहरों नागासाकी तथा हिरोशिमा पर नाभिकीय बम गिराने से ल्यूकीमिया रोग में अत्यधिक वृद्धि पायी गयी थी ।

सौर्य विकिरण (सूर्य की किरणों की सीधी बौछार) से भी कैंसर को प्रोत्साहन मिलता है। इसी सौर्य विकिरण के कारण अमेरिका, न्यूजीलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया आदि में ईपीथियोलोमा तथा बेसल सैल कार्सिनोमा (त्वचा कैंसर) के रोगी अधिक पाये जाते हैं। सतत उष्मा के सम्पर्क में रहने के कारण भारत में कई प्रकार के कैंसर देखने को मिलते हैं। जैसे- काश्मीर में

कांगरी कैंसर सर्दियों में अंगीठी को छाती से चिपकाये रखने के कारण, आन्ध्र में उल्टा सिगार पीने से मुख का कैंसर आदि।

**ई) यांत्रिक घटक :** लंबे समय तक शरीर के किसी भाग में लगातार घर्षण, आघात या क्षोभ के कारण वहाँ कैंसर बन सकता है। जैसे- जूतों की रगड़ से पैर की अंगुलियों के पोरों पर, धोती बांधने से नाभि के नीचे कैंसर गांठ बन सकती है।

**उ) अन्य घटक :** १) यों तो अभी तक किसी भी जीवाणु अथवा विषाणु को सीधे रूप में कैंसर के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया गया है, परन्तु कैंसर उत्पत्ति में इनकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

२) आयु वृद्धि के साथ कैंसर की संभावना बढ़ जाती है प्रथम गर्भावस्था और स्तन कैंसर से भी आयु का कुछ संबंध अवश्य होता है। जिन स्त्रियों में स्तन कैंसर की संभावना दुगुनी रहती है, जिनका प्रथम शिशु ३० वर्ष की आयु के आसपास होता है। इसी प्रकार अप्रजाता स्त्रियों की तुलना में प्रजाता स्त्रियों में स्तन कैंसर कम पाया जाता है। जबकि कन्याओं का विवाह छोटी उम्र में कर देने और छोटी उम्र में ही प्रथम शिशु के जन्म से गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर की संभावना बढ़ जाती है।

३) आनुवंशिकता का भी कैंसर से कुछ सम्बन्ध अवश्य है। कितने ही ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जो यह दर्शाते हैं कि एक परिवार में कई पीढ़ियों तक उनके सदस्यों की मृत्यु का कारण कोई विशेष कैंसर ही रहा था। अब तो इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए विकृति जीन भी खोजी जा सकी है।

## आयुर्वेद और कैंसर

वास्तव में देखा जाये तो कैंसर कोई नई व्याधि का नाम नहीं है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में कैंसर जैसी कई बीमारियों का विस्तृत विवरण मिलता है। इन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में कई इस प्रकार के रोगों के लक्षणों का वर्णन उपलब्ध है जैसे कि कैंसर के विषय में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों में पाया जाता है। लेकिन इनमें विधिवत रोगों का वर्गीकरण नहीं किया गया है, फिर इन रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा की जानकारी इन ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह अद्वितीय है। इन पुस्तकों के वर्णनों का अध्ययन करके हैरानी होती है कि जिन रोगों की नगन्य जानकारी भी आज से २००-३०० साल पूर्व तक आधुनिक चिकित्सकों तक को नहीं थी, वह जानकारी इन ग्रन्थों में कैसे लिपिबद्ध हो सकी। आयुर्वेद में कुछ जगह कैंसर के लिए 'अर्बुद' शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु प्रत्येक जगह नहीं।

आचार्य सुश्रुत ने तो 'सुश्रुत संहिता' के निदान स्थान खण्ड में विविध कैंसरों के संबंध में बहुत ही स्पष्ट जानकारी दी है। इसमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

- गले में श्वास नलिका के आसपास बनने वाले कैंसर के विषय में सुश्रुत लिखते हैं कि 'कफ दोष के कारण भोजन नलिका और श्वास नलिका के मार्ग के बीच में लंबे आकार की एक ग्रन्थी सी बन जाती है, जिसे उन्होंने 'वलय' नाम दिया है। 'इस रोग का उपचार असंभव है। अतः इसे असाध्य मान कर इसका उपचार नहीं करना चाहिए'।
- इसी तरह गले के 'गलौध नामक कैंसर' का वर्णन उन्होंने निम्न शब्दों में किया है- 'कफ एवं रक्तजन्य व्याधी से उत्पन्न गांठ के कारण गले का मार्ग पूरी तरह अवरुद्ध हो जाता है जिसके फलस्वरूप रोगी अपना आहार तक नहीं ग्रहण कर पाता। इतना ही नहीं, यह रोग वमन तक को रोक देता है। ऐसा रोगी यहाँ कष्ट और ज्वर से पीड़ित होकर प्राण त्याग देता है।'

## कैंसर रोग का उपचार

पेट के कैंसर की प्रारंभिक अवस्था में जब रोगी को वमन, भोजन करने में असमर्थता, अत्यधिक कमजोरी, रक्ताल्पता, वजन कम होते जाना, रक्त वमन एवं तीव्र प्रकार के पेट दर्द आदि कष्ट रहते हैं, तब इस आयुर्वेदिक चिकित्सा से कैंसर गांठ की वृद्धि रुक जाती है।

रोगी दिन में दो बार सुबह-शाम १२५ मि.ग्रा. आदित्य रस, अदरक के रस, नींबू के रस तथा शहद में मिला कर चाटे। दिन में एक बार नाश्ते से २ घंटे के बाद ५०० मि.ग्राम की मात्रा में प्रवाल भस्म गुनगुने दूध में शहद मिला कर सेवन करे। भोजन के बाद दिन में दो बार द्राक्षारिष्ट २५-२५ मि.ली. समान मात्रा में पानी मिला कर ले। सायंकाल बड़ वृक्ष की छाल भस्म एक ग्राम कच्चे नारियल पानी और ताजा पानी के साथ ले।

### आधुनिक चिकित्सा

सत्य तो यह है कि विगत २-३ दशकों में कैंसर पर बहुत शोध कार्य हुआ है तथा इस बात के ठोस प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि विभिन्न प्रकार के कैंसरों में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं और इसी उपलब्ध जानकारी के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकता है कि किस प्रकार के कैंसर की क्या चिकित्सा की जाये। फिर भी यह बात सत्य है कि अभी तक यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है कि यह रोग होता क्यों है ? अथवा उससे बचाव के कौन-कौन से कारण हो सकते हैं। इसी प्रकार अभी तक इनसे बचाव के लिए न तो कोई वैक्सीन ही तैयार हो पायी है और न कोई अन्य ऐसी औषधि ही तैयार की जा सकी है जो समूचे रोग को नष्ट कर सके। वैसे आधुनिक आरोग्य विज्ञान में कैंसर चिकित्सा के लिए शल्य कर्म, विकिरण तथा कीमोथेरेपी आदि का सहारा लिया जाता है। परन्तु ये चिकित्सा विधियां भी दोष मुक्त नहीं हैं। ये सभी पद्धतियां अपने-कु प्रभावों के कारण मानव पीड़ा को बढ़ाने का कार्य करती हैं और जीन का आनन्द समाप्त कर देती हैं। इतना ही नहीं, बहुत अधिक महंगी और दौड़-धूप के कारण रोगी के परिवार की आर्थिक स्थिति भी बिगड़ जाती है।

यही कारण है कि आजकल चिकित्सक इन दोषपूर्ण औषधियों और पद्धतियों का विकल्प ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा यह कार्यक्रम विश्व स्तर पर चलाया जा रहा है और अन्यान्य देशों की चिकित्सा पद्धतियों को वैज्ञानिक कसौटी पर आंका जा रहा है। इसके साथ ही रहन-सहन, खान-पान के बदलते परिवेश एवं कैंसर उत्पन्न करने वाले संभावित कारणों पर अंकुश लगाने के प्रयास भी किये जा रहे हैं।

हमने भी तमाम आसध्य और जटिल रोगों पर आधुनिक रोग निदान और चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों पर जानकारी जन सामान्य और चिकित्सकों तक पहुँचाने के लिए एक स्वास्थ्य विषयक सूचना और अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना की है जिससे सम्पर्क स्थापित करके सम्बन्धित जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

### आधुनिक चिकित्सा प्रणालियाँ

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में कैंसर उपचार में अपनायी जाने वाली कुछ चिकित्सा विधियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

१) **शल्य चिकित्सा** : कैंसर चिकित्सा में शल्य चिकित्सा का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। शल्य चिकित्सा का सहारा उस स्थिति में लिया जाता है जब कैंसर बहुत अधिक न फैला हो तथा यह विश्वास हो कि कैंसर ग्रस्त भाग को काट कर निकाल देने से रोगी का जीवन बचाया जा सकता है। शरीर के बाहरी अंगों जैसे त्वचा, कान, आँख, स्तन, जनन अंग आदि में पैदा हुए कैंसर के इलाज में शल्य कर्म बहुत उपयोगी है। शरीर के भीतरी अंगों जैसे आँत्र, मलाशय, गर्भाशय, हड्डी, स्वर यंत्र तथा मुँह आदि अंगों में पैदा हुए कैंसर के लिए भी शल्य चिकित्सा का सहारा लिया जा सकता है। रक्त कैंसर व स्नायु तंत्र प्रकार के कैंसर में शल्य चिकित्सा का उपयोग नहीं किया जा सकता।

अनेक बार कैंसर ग्रस्त भाग को निकालने के लिए पूरा का पूरा अंग ही काट कर निकालना पड़ता है। गर्भाशय, स्तन, स्वर यंत्र आदि अंगों के कैंसर की शल्य चिकित्सा में इन अंगों को पूरा का पूरा निकाल दिया जाता है। इन अंगों को निकाल देने पर रोगी की सामान्य दिनचर्या पर कोई विशेष प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन इससे अपंगता या शारीरिक विकृति अवश्य उत्पन्न हो जाती है।

प्रायः देखा गया है कि कैंसर की शुरुआत होते ही कैंसरीय भाग की कुछ कोशिकाएँ वहाँ से निकलकर लसिका पर्वों में एकत्र हो जाती हैं। लसिका पर्व शरीर के लगभग सभी जोड़ों में पाये जाते हैं। शल्य चिकित्सा के बाद इन लसिका पर्वों में से कैंसर कोशिकाएँ निकल कर और रक्त संचार द्वारा अन्य अंगों में पहुँच कर पुनः कैंसर पैदा कर देती हैं। इस स्थिति से

निपटने के लिए प्रायः कैंसर भाग को निकालने के समय लसिका पर्व को भी निकाल दिया जाता है ताकि कैंसर दुबारा पैदा न हो सके। कई बार शल्य चिकित्सा के बाद विकिरण चिकित्सा तथा कैंसर रोधी औषधियों की मदद भी ली जाती है ताकि शरीर में उपस्थित अन्य कैंसर कोशिकाएं पूरी तरह नष्ट हो जायें।

**२) विकिरण चिकित्सा :** विकिरण चिकित्सा का अर्थ है रेडियोधर्मी किरणों की सहायता से कैंसर ग्रस्त भाग को सेक पहुँचाना। इसमें प्रमुख है कोबाल्ट किरणों से सेक करना। रेडियोधर्मी किरणें सीधे ही कोशिका के केन्द्र में उपस्थित गुण सूत्रों को प्रभावित करके उनकी विभाजन क्षमता को नष्ट कर देती है जिससे अन्ततः कोशिका ही समाप्त हो जाती है। चूंकि रेडियोधर्मी किरणों का सामान्य कोशिकाओं की तुलना में कैंसर कोशिकाओं पर जल्दी व अधिक प्रभाव पड़ता है अतः विकिरण की मदद से कैंसर कोशिकाएं आसानी से नष्ट की जा सकती है। जैसे-जैसे कैंसर की कोशिकाएं नष्ट होती जाती है वैसे ही कैंसर की गांठ का आकार छोटा होता जाता है। बाद में छोटे आकार की गांठ शल्य क्रिया द्वारा आसानी से बाहर निकाल दी जाती है। विकिरण चिकित्सा से पूर्व कैंसरीय गांठ की स्थिति की बिल्कुल सही जानकारी प्राप्त कर लेनी आवश्यक होती है। इसके बाद उस क्षेत्र को चिन्हित कर लिया जाता है। कैंसर गांठ की स्थिति, उसके आकार, प्रकृति तथा व्यक्ति की शारीरिक संरचना के आधार पर दी जाने वाली रेडियोधर्मी विकिरण की कुल मात्रा पहले ही निर्धारित कर ली जाती है।

रेडियोधर्मी किरणों की सारी मात्रा एक बार में नहीं बल्कि थोड़ी-थोड़ी करके कई दिनों तक दी जाती है। ऐसा करने से कैंसर कोशिकाएं नष्ट होने लगती हैं परन्तु सामान्य कोशिकाएं रेडियोधर्मिता से बहुत कम प्रभावित होती हैं। एक बार में यह कोर्स ५ से ६ मिनट में सम्पन्न कर लिया जाता है।

**३) कीमोथेरापी :** कैंसर उपचार के लिए अब तक ढेरों ऐसे रसायनों का ज्ञान हो चुका है जिनमें कैंसर कोशिकाओं को नष्ट कर देने की क्षमता मौजूद है। लेकिन शल्य या विकिरण चिकित्सा के विपरीत रासायनिक चिकित्सा का प्रभाव व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है ये सभी रसायन कोशिकाओं पर कोशिका विष की तरह कार्य करते हैं चाहे वह डी.एन.ए. को प्रभावित करें या कोशिका विभाजन को रोकें। एक बार जब कोशिकाओं के बढ़ने या विभाजित होकर नई कोशिकाएं बनाने की क्षमता नष्ट हो जाती है तो कैंसर की गांठ धीरे-धीरे सिकुड़ने लगती है।

### **कैंसर की आधुनिक चिकित्सा के दुष्प्रभाव :**

यह बात तो कुछ हद तक ठीक है कि उपरोक्त कैंसर उपचार से रोगी का जीवन काल कुछ समय के लिए बढ़ाया जा सकता है, लेकिन इनके दुष्प्रभाव भी काफी हैं। शल्य चिकित्सा से रोगी में अपंगता तथा शारीरिक विकृति तो उत्पन्न होती ही है, स्वयं यह क्रिया भी अत्यंत पीड़ाजनक है। कई बार शल्य कर्म के बाद घाव भरने में कई सप्ताह का समय लग जाता है। इस दौरान थोड़ी सी लापरवाही से ही घाव में संक्रमण हो सकता है और अन्य जटिलताएं पैदा हो सकती हैं।

विकिरण चिकित्सा के भी कई दुष्प्रभाव हैं। कमजोरी इनमें प्रमुख है। उपचार के साथ-साथ रोगी की कमजोरी बढ़ती जाती है, लेकिन चिकित्सा उपरांत रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। अनेक रोगियों में भूख समाप्त हो जाती है, दस्त लग जाते हैं, वजन कम होने लगता है, त्वचा का रंग बदल कर लाल या काला सा पड़ जाता है तथा उस भाग के बाल उड़ जाते हैं। लंबे समय तक विकिरण चिकित्सा लेने से स्वस्थ कोशिकाएं भी नष्ट होने लगती हैं व रक्त कैंसर तक होने की संभावना रहती है।

कीमोथेरापी के भी रोगी पर कई दुष्प्रभाव पड़ते हैं। कमजोरी आना, भूख समाप्त हो जाना, उल्टी या जी मिचलाना, दस्त लगना, वजन का तेजी से गिरना, रक्त की कमी, बाल झड़ना, गंजापन, मुँह में घाव हो जाना, त्वचा पर चकत्ते पड़ जाना आदि कष्ट हो सकते हैं। कई बार मस्तिष्क तथा तन्त्रिकाओं पर भी औषधियों का विपरीत प्रभाव पड़ता है। स्त्रियों में इनसे मासिक चक्र बिगड़ जाता है, गर्भावस्था के दौरान ली गई दवाओं का सीधा प्रभाव भ्रूण पर पड़ता है और गर्भस्थ शिशु में अनेक विकृतियां उत्पन्न हो सकती हैं।

### **प्राकृतिक चिकित्सा**

अति मात्रा में किए गए अव्यवस्थित खानपान से जैसे तम्बाकू, सिगरेट, गुटखा, शराब, मिर्च-मसाले, मिलावटी कार्सिनोजेनिक पदार्थों के अति सेवन से पेट का कैंसर हो जाता है। शारीरिक संरचना की दृष्टि से इसके अलग-अलग नाम हैं परंतु सार्वभौमिक तथ्य यह है कि 'कैंसरजीन की प्रेरणा से पेट में किसी अंग विशेष की कोशिकाओं की अगणित वृद्धि होने लगती है जिनको नियंत्रित करना अत्यंत दुःसाध्य है। प्राकृतिक उपचार धैर्य एवं विश्वास से लिया जाये तो अवश्य लाभ होता है। सबसे पहले पेट की सफाई अत्यावश्यक है। कब्ज के कारण आंतों में पेट्रोजेनिक बैक्टीरिया करोड़ों की तादाद में जमा होकर टॉक्सिक आर्गेनिज्म पैदा करके हैं और रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा कैंसर कोशिकाओं की वृद्धि में सहभागी बनते हैं। अतः रोगी की स्थिति को देखकर पहले पेडू पर ३० मिनट तक मिट्टी पट्टी रखें। इसके बाद रीढ़ एवं पेट पर गरम-ठण्डा सेक देकर हल्की मालिश करके नीम के पत्ते उबला या गेंहू के पत्ते उबला गुनगुना पानी का एनीमा धीरे-धीरे लगायें। एनीमा पॉट की ऊंचाई १ फीट से ऊंची न रखें। एनीमा सावधानी से लगाना चाहिए अन्यथा आंतों पर दबाव पड़ सकता है। इसके बाद स्थानीय मिट्टी की पट्टी, वाष्पस्नान, स्थानीय वाष्पस्नान, गरम पाद स्नान, गीली चादर लपेट, ठण्डा कटिस्नान, गरम-ठण्डा सेक, रीढ़ स्नान, मालिश, घर्षण स्नान, मेहन स्नान इत्यादि उपचार स्वविवेक से रोगी की स्थिति के अनुसार बदल-बदल कर देना चाहिए।

### आहार चिकित्सा

प्रातः उठते ही १ नींबू का रस, २ चम्मच शहद, रात्रि में भिगोयं १ गिलास पानी में २० ग्राम गेहूं पानी में मिलाकर पियें। यदि अल्सर या पेट में छाले हैं तो नींबू नहीं दें। प्रातः ७:३० बजे गेहूं के पत्तों का रस १५० मिली. की मात्रा में दें। फिर १ घंटे के अंतर से पत्तागोभी, गाजर, लौकी आदि सब्जी का रस दें। १-डेढ़ घंटे के अंतर पर फलों का ताजा रस निकाल कर पियें। इस तरह पूरे दिन में सब्जी का रस, फलों का रस, फल इत्यादि खिलाएं। पाचन शक्ति के अनुसार ही भोजन दें धीरे-धीरे ठोस आहार देना शुरू करें। फल, उबली सब्जी, सूप, सलाद, पतला दलिया, अंकुरित गेहूं, मूंग, मोठ इत्यादि जठराग्नि के अनुसार एवं इच्छा के अनुसार अल्प मात्रा से शुरू करायें। धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाएं। पेट कैंसर में गेहूं घास का रस, सेव का रस, गाजर, पपीता, अंकुरित गेहूं, पत्तागोभी, अंगूर, किशमिश, मनुक्का, अनार, संतरा, मौसम्मी, अन्ननास, शहद, तुलसी पत्ते, अंकुरित अनाज, कच्चे फल व सब्जियां अत्यंत उपयोगी हैं। इनमें कैंसर अवरोधी तत्व पाये जाते हैं। अतः आहार में इनका भरपूर सेवन करायें। तम्बाकू, धूम्रपान मदिरा, मादक पदार्थ, चाय, कॉफी, चीनी, नमक, कोल्ड ड्रिंक्स, पान-मसाला, सुपारी, आइस्क्रीम, मिठाइयां, मछली, मांसाहार, रासायनिक आहार इत्यादि सख्ती से बंद रखें।

धैर्य एवं निष्ठा से किसी योग्य प्राकृतिक योग चिकित्सक से रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही उपचार करायें तो ३-६ माह में पूर्णतया लाभ मिल जाता है।



## जलोदर या पेट में पानी पड़ जाना

(1177)

जलोदर, जैसा कि इस रोग के नाम से ही प्रकट होता है, जल तथा उदर अर्थात् उदर में पानी अथवा दूसरे शब्दों में यों कहें कि पेट में पानी पड़ जाना या एकत्रित होते जाना जलोदर कहलाता है। इसे एडोमिनल ड्रोप्सी के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि कई रूपों में यह रोग जलशोफ या ड्रोप्सी (एडीमा) से मिलता जुलता ही है। ड्रोप्सी या एडीमा रोग में तरल कोशिकाओं से बाहर निकल कर या लसिका वाहिनियों आदि के अवरुद्ध हो जाने से शरीर के किसी भी भाग की अधोस्तरी त्वचा के नीचे या सारे शरीर की त्वचा के नीचे ही इकट्ठा होने लग जाता है। जबकि जलोदर रोग में रक्तवाहिनियों आदि का तरल उनसे निकल कर त्वचा के नीचे की कोष्ठक युक्त रचनाओं या भीतरी अंगों के आवरण में एकत्र होने लग जाता है। जलोदर रोग में उदरावरण या पर्युदर्या झिल्ली (पेरीटोनियम मेम्ब्रेन) की दोनों परतों में मध्य की गुहा (कैविटी) में यह तरल इकट्ठा हो जाता है, जिसके कारण व्यक्ति का पेट फूल कर घड़े जैसा आकार ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार जलोदर रोग जलशोफ और सर्वांग शोफ आदि रोगों से भिन्न रोग ही है।

जलोदर रोग दो प्रकार का होता है

1. वसा पायसी जलोदर (कायलस कायफीफोर्म एसाइटिस)
2. कूटवसा पायसी जलोदर (सिउडो काइलस एसाइटिस)

### वसा पायसी जलोदर

इस रोग में उदरावरण या पर्युदर्या के मध्य खाली स्थान में एक तरल जैसा पदार्थ इकट्ठा होने लग जाता है। जिससे धीरे-धीरे रोगी के पेट का आकार बढ़ने लगता है और उसका पेट चपटे घड़े या मशक की भांति फूल सा जाता है।

### रोग के कारण

इस रोग के प्रमुख कारण हैं- आमाशय, यकृत, प्लीहा और अन्तड़ियों के रक्त संचार में बाधा उत्पन्न हो जाना, यकृत की तीव्र व पुरानी यकृतावरण शोथ, यकृत की प्रतिहारिणी शिरा का तंग या बंद हो जाना, प्रतिहारिणी शिरा या यकृत में रक्त का जम जाना इत्यादि। इनके अतिरिक्त इस रोग के विशेष कारण है यकृत का सिकुड़ जाना (यकृत सिरोसिस या यकृतदालयुदर रोग में), यकृत में विषैले पदार्थ का पैदा होने लग जाता या पहुंच जाना अथवा उसका यकृत में संचय होने लग जाना, यकृत, आमाशय, आँत्र, गुदा नलिका या गर्भाशय आदि में रसोली या कैंसर का उत्पन्न हो जाना, प्लीहा का वृद्धि कर जाना, हृदय फेफड़ों और वृक्कों से सम्बन्धित रोग इत्यादि।

आमाशय अन्तड़ियों आदि के रक्त संचार में बाधा उत्पन्न हो जाने से रक्त की इन अंगों से हृदय व गुर्दों आदि की वापसी बहुत कम मात्रा में ही हो पाती है जिससे रक्त और उसका तरल काफी अधिक मात्रा में उदर में ही संचित होता चला जाता है। इसके साथ ही रोगी में मूत्र की निकासी भी धीरे-धीरे घटती चली जाती है।

वर्तमान में मद्यपान की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण यकृत रोग सम्बन्धी जलोदर रोग अधिकतर रोगियों में देखने को मिलता है। मद्यपान के कारण यकृत कोशिकाएं विकारग्रस्त होने लगती हैं और उनकी कार्यक्षमता घटती चलजी जाती है। ऐसे अधिकांश रोगियों में कुछ वर्षों के उपरांत यकृत सिरोसिस या यकृदल्युदर रोग हो जाता है। यकृत की शोथ या यकृत कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त हो जाने के कारण यकृत स्थित रक्त शिराओं (पोर्टल कैपिलरीज) में रक्त का जमाव और दबाव बढ़ने लगता है, क्योंकि इन शिराओं से रक्त की वापसी समुचित मात्रा में नहीं हो पाती है। फलस्वरूप इनकी दीवारों से रक्त का जलीय अंश रिसने लगता है जो उदरावरण में एकत्र होता चला जाता है एवं जलोदर रोग का कारण बनता है। इसमें प्लीहा भी सूज कर बड़ी हो जाती है।

जलोदर रोग के लिए यकृत सिरोसिस रोग में बढ़ा प्रतिहारिणी रक्तचाप (पोर्टल हायरप्रेशन) ही एक मात्र मुख्य कारण नहीं होता। इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे कारण हैं जो प्रतिहारिणी रक्तचाप और लसिका वाहिनियों में रुकावट के

साथ शरीर के तरल में खनिज लवणों और पानी का जमाव बढ़ा देते हैं। यकृत की विफलता के साथ वृक्कों में रक्त संचार घटने से मूत्र का निर्माण कार्य कम हो जाता है और वृक्कों की विशेष कोशिकाएं मूत्र में जा रहे सोडियम तत्व तथा पानी का पुनः अवशोषण करने लग जाती हैं। इसके साथ ही रेनिन नामक हार्मोन का स्राव भी वृक्कों में बढ़ जाता है। इन सभी के परिणामस्वरूप शरीर में पानी और खनिज लवण संचित होते चले जाते हैं और रोगी के शरीर में शोफ (सूजन) अथवा जलोदर की समस्या प्रकट होने लगती है।

मूत्र उत्सर्जन तंत्र के संक्रमित या विकारग्रस्त हो जाने से भी वृक्कों की कार्य क्षमता पर प्रभाव पड़ता है और उनकी मूत्र छानने व बनाने की प्रक्रिया घट जाती है। इसके कारण रक्त में यूरिया आदि पदार्थों की मात्रा में वृद्धि होने लगती है और उनके मूत्र में भी वृक्कों की कोशिकाओं से छनकर एल्बुमिन जाने लगता है। इसके परिणामस्वरूप शिराओं का रक्तचाप घट जाता है और रक्त प्लाज्मा में कोलाइडल ऑस्मोटिक प्रेशर बढ़ जाता है। इससे त्वचा के नीचे ऊल्लको और उदरावण आदि में तरल का संचय प्रारंभ हो जाता है।

हृदय जैसे महत्वपूर्ण अंग के रोगग्रस्त हो जाने से भी विभिन्न अंगों अथवा समस्त शरीर में ही रक्त संचार में बाधा आने लगती है। वृक्क में भी मूत्र की मात्रा कम बनने लगती है। तथा रक्त का अतिरिक्त तरह अंश शरीर में ही संचित होने लग जाता है। इसके परिणामस्वरूप भी जलोदर की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

यकृत, आमाशय, अन्तड़ियां, गुदा, गर्भाशय आदि अंगों में अवर्ध (साधारण रसोली या कैसर) बन जाने से भी उनका प्रसार उदरकला की ओर होने लगता है। इससे भी रक्त संचार में बाधा उत्पन्न होने लग जाती है तथा उदर कला में तरल का जमाव होने लग जाता है।

## रोग के लक्षण

शरीर में सूजन या तरल संचय की तीन अवस्थाएं देखने में मिलती हैं, जिनके अनुसार रोग का कारण ज्ञात करने में थोड़ी बहुत सहायता मिल जाती है। प्रातःकाल जब सोकर उठने पर रोगी के चेहरे, पलकों तथा पैरों के ऊपर शोफ (सूजन) दिखाई पड़े तो उसका सम्बन्ध वृक्क रोगों के साथ होता है। यदि व्यक्ति अत्यधिक शराब पीने का अभ्यस्त रहा है तथा ऐसी दशा में उसके पैरों में सूजन आ जाये अथवा शरीर के किसी अन्य अंग में शोफ उत्पन्न हो जाये, तब यकृत सम्बन्धी रोगों का सम्बन्ध इसके साथ हो सकता है। यदि व्यक्ति में कुछ समय पूर्व तक अथवा वर्तमान समय में भी सांस फूलने के साथ पैरों में सूजन आयी हो और दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हो तो उसका सम्बन्ध हृदय रोगों के साथ हो सकता है।

जलोदर रोग में जब पर्युदर्या (पेरीटोनियम) की दोनों परतों के मध्य तरल इकट्ठा होना शुरू होता है तो पहले उसकी मात्रा इतनी थोड़ी होती है कि रोगी के खड़े होने पर ही पेट के निचले भाग में केवल थोड़ा सा उभार ही दिखाई देता है और लेटने पर उसका यह उभार दूर हो जाता है। परन्तु जब उदरावरण में तरल की मात्रा अधिक होने लगती है तो रोगी का पेट चपटे घड़े की भांति फूलकर बहुत बड़ा हो जाता है और उसकी पेट की त्वचा पर मोटी-मोटी शिराओं का जाल सा दिखाई देने लग जाता है। ऐसी अवस्था में जब रोगी पीठ के बल लेटता है तो तरल दोनों करवटों की तरफ बंट कर वहाँ एकत्र होने लगता है, तथा पेट का उभार कुछ घट जाता है।

इस रोग में उदरावरण में एकत्र तरल की मात्रा कुछ मि.ली. से लेकर १० से २० लीटर तक हो सकती है। यह तरल कभी पानी की भांति स्वच्छ-पारदर्शक और कभी हल्का पीलाहट लिए, तो कभी गंदला, अपारदर्शक एवं कभी अण्डे की सफेदी की भांति गाढ़ा और लेसदार होता है। तरल की मात्रा अधिक होने पर पेट तन सा जाता है और नाभि का गड्ढा उभर आता है। रोगी को सांस लेने में भी कष्ट होने लग जाता है।

रोग दुबला और कमजोर होता जाता है। उसकी आँखें अंदर धंस जाती हैं। उसमें कभी-कभी मामूली पीलिया रोग के लक्षण प्रकट होने तथा चेहरा और पैरों पर भी शोथ आने लग जाती है। रोगी की नाड़ी अत्यंत कमजोर हो जाती है और उसके मूत्र की मात्रा घटती चली जाती है। रोगी को ज्वर, अरुचि, वमन तथा कब्ज के कष्ट भी हो सकते हैं।

रोगी के पेट का निरीक्षण करने पर, रोगी को चित्त, पीठ के बल लिटाकर उसके पेट की एक करवट पर हाथ रख तथा दूसरी करवट पर दूसर हाथ से मामूली ठोकर देने पर पानी की एक लहर जैसे दूसरे साथ के स्थान पर महसूस होती है। ऐसी दशा में पेट के दोनों ओर ठोकने पर एक ठोस आवाज सी निकलती है।

यदि रोगी में जलोदर रोग के पीछे यकृत, हृदय या गुदों की विफलता मुख्या कारण है तो ऐसे रोगी की स्थिति जटिल बन जाती है। अधिकांश जलोदर के रोगी हृदय की विफलता, लंबी बेहोशी तथा रक्त वमन के कारण मौत के ग्रास बन जाते हैं।

### कूट वसा पायसी जलोदर

इस रोग में उदरावरण के दोनों पर्दों अर्थात् उदरावरण गुहा में थोड़े तरल के साथ कुछ मात्रा में वायु भी इकट्ठी हो जाती है। जिससे रोगी का पेट ठोकने पर ढोल के समान बजने लगता है। रोगी का पेट फूल कर गोलाकार घड़े के रूप में तन सा जाता है।

### रोग के कारण

इस रोग के अधिकतर प्रमुख कारण वे ही हैं जो वसा पायसी जलोदर के होते हैं। जैसे कि यकृत के पुराने रोग-यकृत सिरोसिस, यकृत का छोटा हो जाना या सिकुड़ जाना, यकृत में वृद्धि और पुरानी यकृत शोथ इत्यादि। इनके अतिरिक्त कभी-कभी पुराने अजीर्ण, पुरानी आमाशय शोथ, प्लीहा की शोथ तथा आँत्र के कारण भी यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है। दूषित आहार के सेवन करते रहने और उन दूषित पदार्थों का पेट में इकट्ठा होते चले जाना, मलेरिया तथा श्लीपद रोग का संक्रमण तथा स्त्रियों में मासिक रक्त स्राव के एकाएक रुक जाने से भी इस रोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

### रोग के लक्षण

इस रोग में भी उदरावरण में अघुलनशील तरल और वायु एकत्र हो जाने से रोगी का पेट फूल कर फुटबाल की गेंद जैसा हो जाता है, तन जाता है। रोगी के पेट में प्रायः दूषित हवा के घूमने से गड़गड़ाहट सी पैदा होती रहती है। परन्तु रोगी को डकारों के आने तथा हवा के निकल जाने पर अस्थायी आराम आ जाता है। इस रोग के कारण भी रोगी को सांस लेने में भी कठिनाई होने लगती है। यह रोग जलोदर के प्रथम रूप की अपेक्षा कम जटिल और घातक होता है।

रोगी का निरीक्षण करने पर उसके पेट पर हाथ मारने से ढोलक जैसी आवाज उत्पन्न होती है। इस रोग में पहले रोग की अपेक्षा पेट में बोज़ बहुत कम प्रतीत होता है, किन्तु पेट में तनाव पहले की अपेक्षा ज्यादा अनुभव होता है।

### रोग का उपचार

जलोदर रोग का सर्वोत्तम उपचार यही है कि सबसे पहले रोग के वास्तविक कारण का पता लगाया जाये और उस रोग के अनुसार रोगी की चिकित्सा की जाये। जैसे कि यदि रोग का कारण यकृत के विकार (यकृत सिरोसिस आदि) है तो सर्वप्रथम उसका ही उपचार किया जाये। यदि जलोदर रोग हृदय रोगों या वृक्क विकारों के कारण उत्पन्न हुआ है तो रोगी का उपचार उनके अनुसार ही किया जाये जिससे रोगी को स्थायी और शीघ्र आराम आ सके। फिर भी जलोदर के रोगियों को कुछ विशेष सावधानियां अवश्य ही रखनी चाहिए, जैसे कि उन्हें मद्यपान का सेवन सदैव के लिए छोड़ देना चाहिए तथा किसी भी प्रकार की औषधि या अनावश्यक पदार्थ बिना चिकित्सक के परामर्श के बिलकुल भी नहीं लेने चाहिए। साधारण नमक का सेवन या तो बंद कर देना चाहिए अथवा आवश्यक न्यूनतम मात्रा में ही करना चाहिए, किन्तु पोटेसियम क्लोराइड वाले नमक की पूर्ति के लिए उबली सब्जियों की तरी, चने की तरी अथवा हरी सब्जियों का ताजा रस अवश्य सेवन करते रहना चाहिए। क्योंकि जलोदर रोग के उपचार के लिए सदैव ही रोगी को मूत्र लाने वाली मूत्रल औषधियों का सेवन कराया जाता है। इन औषधियों के कारण रोगी को अधिक मात्रा में बार-बार मूत्र त्याग करना पड़ता है, जिससे मूत्र के साथ शरीर के विभिन्न खनिज लवण, विशेष कर पोटेसियम और मैग्नीशियम तत्वों की काफी मात्रा बह जाती है और शरीर में इनकी

कमी होने लगती है। यह पोटेशियम और मैग्नीशियम खनिज हृदय के कार्य को सामान्य बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

आहार के रूप में जलोदर के रोगियों को शीघ्र पचने वाले सुपाच्य और गर्मशुद्ध खाद्य पदार्थ सेवन के लिए दिये जाते हैं। जैसे कि बिना छने आटे की चोकर सहित रोटियां, मूंग, अरहर की पतली दाल, मकोय का साग, मूली के पत्तों की भुजिया, शलजम, परवल का साग, चने की तरी, माँस की तरी इत्यादि। अंजीर और अनार का रस जलोदर का रस जलोदर के रोगियों में अत्यंत लाभप्रद सिद्ध होता है। इन रोगियों को पानी की जगह यदि गाय का ताजा मूत्र, सौंफ का अर्क, मकोय का अर्क आदि पीने को दिया जाये तो काफी अच्छा परिणाम सामने आता है। रोगी को अशुद्ध पानी, गरिष्ठ, तली और घी, तेल युक्त कोई भी खाद्य पदार्थ बिलकुल भी सेवन करने को न दिया जाये।

कूट वसा पायसी जलोदर के रोगियों को मूत्रल और रोग विशेष की औषधियों के साथ यदि पाचक एन्जाइम और उदर की गैस दूर करने वाली औषधियों का सेवन भी कराया जायें, तो अच्छा परिणाम निकलता है। जलोदर के रोगियों को विरेचक औषधियों से भी लाभ मिलता है, क्योंकि इनसे रोगी को मल त्याग सरलता से हो जाता है और उसके पेट का विस्फार घट जाता है।

### आयुर्वेदिक उपचार

आयुर्वेदिक उपचार के रूप में रोगी के लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं-

- रोगी को मूत्र लाने वाली मूत्रल औषधियों के रूप में गोक्षुर और पुनर्नवा मूल छाल का क्वाथ तथा इसके साथ अर्जुन छाल का क्वाथ सेवन कराया जाता है। गोक्षुर और पुनर्नवा मूल छाल का क्वाथ बनाने के लिए दोनों का १०-१० ग्राम मोटा चूर्ण लेकर उसे एक गिलास पानी में रात्रि के समय भिगोया जाता है और प्रातःकाल उन्हें धीमी आंच पर १०-१२ मिनट तक उबाल कर, तथा छानकर प्रयोग किया जाता है। अर्जुन छाल का क्वाथ बनाने के लिए १० ग्राम की मात्रा में अर्जुन छाल का चूर्ण लेकर उसे एक कप पानी में भिगोया जाता है तथा प्रातःकाल उसमें एक कप दूध मिलाकर और उबाल कर क्वाथ बना लिया जाता है। उपरोक्त क्वाथों के स्थान पर पुनर्नवा मूल छाल और मकोय का काढ़ा भी ३० मि.ली. की मात्रा में दिन में दो बार दिया जा सकता है।
- त्रिवृत्त चूर्ण और पीली हरड़ की छाल का चूर्ण ३-३ ग्राम की मात्रा में लेकर रात्रि के समय केवल एक मात्रा के रूप में लगातार १-२ सप्ताह तक देने से रोग में आराम आने लग जाता है।
- कुटली, पीली हरड़ की छाल, अमलतास का गुदा, पिप्पली मूल तथा मुस्ता आदि सभी समान-समान मात्रा में लेकर उनका मोटा-मोटा चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण में से २०-२५ ग्राम चूर्ण लेकर रात्रि के समय तक गिलास पानी में भिगों दें और उसे कांच या मिट्टी के बर्तन में भर कर रख दें। प्रातः इस चूर्ण को पानी सहित धीमी आग पर उबालें। जब यह उबलते-उबलते एक चौथाई के बराबर रह जाये, तो उसे नीचे उतार कर छान लें। इस क्वाथ को रोगी को पिला दें। जलोदर के रोगियों में वह क्वाथ शीघ्र लाभ करता है।
- प्रतिदिन प्रातःकाल खाली पेट ६ ग्राम पीली हरड़ के छिलके का बारीक चूर्ण ५० मि.ली. गाय के ताजा मूत्र के साथ और रात्रि को सोते समय भी इसी प्रकार यह चूर्ण गाय के ताजा मूत्र के साथ सेवन करने से उदरावरण में संचित तरल मूत्र के माध्यम से शरीर से बाहर निकलने लगता है और रोग में शीघ्र आराम आने लगता है।

### प्राकृतिक चिकित्स

उदरावरण कोष में जल भरने लगता है। इसके कई कारण हो सकते हैं- (१) यकृत वृद्धि जनित (२) वृक्क रोग जनित (३) हृदय रोग जनित (४) उदर रोग जनित (५) कैसर रोग जनित। कारण को समझकर रोग का मुख्य एवं प्रभावी उपचार प्रारंभ करें। पेट पर गरम-ठण्डा सेक करके मिट्टी की पट्टी रखें। ३० मिनट बाद हल्का वाष्प स्नान देकर पेट पर लपेट बांधें। इससे संचित विजातीय पदार्थ त्वचा एवं मूत्र द्वारा निकलने लगता है। दोपहर के उपचार में गरम-ठण्डा कटि स्नान ३ मिनट गरम, २ मिनट ठण्डा देकर घर्षण बांध दें। पेट पर लपेट बांधें। यह उपचार १०-१५ दिन दें। अन्य उपचारों

में सर्वांग मिट्टी लेप, धूप स्नान, गरम पैर स्नान, गीली चादर लपेट, कटिस्नान आदि बदल-बदल कर दें। रोगी की इच्छा एवं बल को ध्यान में रखकर उपचार दें। कब्ज होने पर गुनगुने पानी का एनीमा दें।

### आहार चिकित्सा

३-५ दिन तक केवल उपवास करायें। जलोदर रोग में जल, अनार, संतरा, मालटा, ईख आदि का रस भी अत्यल्प (कम) मात्रा में प्रयोग करायें अन्यथा जल की मात्रा बढ़ती जाती है। गोमूत्र का २० मिली. की मात्रा में दिन में २-३ बार सेवन करायें। कफनाशक आहार का प्रयोग करायें। पतली, गेहूं की दलिया, ठोस फल (रूक्ष गुण वाले) , जौ की रोटी इत्यादि इच्छानुसार दें। अत्यंत नमक, क्षार, हरी सब्जियां आदि बंद रखें।

चाय, कॉफी, नमक, क्षारीय पदार्थ, एल्कोहल, चरपरे, तले-भुने पदार्थ, संश्लिष्ट पदार्थ इत्यादि बंद रखें। धैर्य एवं विश्वास से चिकित्सा कराने पर रोगी को निश्चित लाभ मिलता है।

## मूत्र मार्ग की पथरियाँ

प्राचीन काल से ही मूत्रमार्ग की पथरी अर्थात् वृक्काश्मरि या रीनल केल्व्यूलस होने का ज्ञान था क्योंकि आचार्य सुश्रुत और चरक ने अपनी-अपनी संहिताओं में पथरी बनने के कारणों और उपचार का विस्तृत वर्णन किया है। मिस्त्र की ७००० साल पुरानी सुरक्षित ममियों (मसाला लगे मुर्दे) में भी पथरी होने के प्रमाण मिल हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक वर्णनों में विश्व के अनेक विख्यात व्यक्ति भी पथरी रोग से पीड़ित रहे थे।

यों तो वृक्क की पथरी का रोग संसार के लगभग प्रत्येक देश में ही पाया जाता है लेकिन गर्म देशों विशेषकर अरब और उन्नतिशील देशों के लोग इससे अधिक ग्रस्त होते हैं। भारत के उत्तरी राज्यों विशेषकर पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी उत्तरप्रदेश में यह रोग बहुत होता है। राजस्थान के कई ग्रामीण क्षेत्रों में तो प्रति दस हजार व्यक्तियों पर २०० से अधिक पथरी के रोगी मिल जाते हैं। पश्चिमी पाकिस्तान, ईरान, ईजिप्ट, चीन, वाल्कन प्रायद्वीप और वोल्गा की घाटी में भी पथरी रोग साधारणतः देखने में आता है। शायद इन क्षेत्रों में पथरी बनने का एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि इन क्षेत्रों (रेगिस्तान) में गर्मी अधिक पड़ती है। रेतीली भूमि में रेत व लवण युक्त पदार्थ व खनिजों का अधिक मात्रा में जलीयांश में रहने से, पानी औसतन कम मिलने से या पानी कम पीने से जल का अंश वाष्प बन कर उड़ जाता है तथा पसीना भी ज्यादा आने से जलीयांश शरीर में कम हो जाता है जिससे मूत्र में घनत्व पदार्थों की मात्रा बढ़ जाती है।

सामान्यतः वृक्क की पथरी का रोग ३० से ४५ वर्ष की आयु के लोगों को ही अधिक होता है, किन्तु यदा-कदा बच्चे भी इससे ग्रसित हो जाते हैं। स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को पथरी का रोग अधिक होता है। पथरी बच्चों की मूत्र की थैली तथा बड़ों के मूत्र पिण्ड में अधिक पायी जाती है।

### पथरी रोग के लक्षण

वृक्क की पथरी बहुत समय तक लक्षणहीन रह सकती है, विशेषकर यदि वह बड़ी हो अथवा आलवाल या सार ऊत्तक में स्थिर हो। जबकि छोटी पथरियाँ स्वतंत्र होने के कारण अधिक वेदनाकर होती हैं। वेदना भी दो प्रकार की हो सकती है- स्थानिक, जो कटि प्रदेश में वृक्क कोण पर मंद प्रकार की होती है जो व्यायाम या परिश्रम से बढ़ जाती है। कभी-कभी वेदना पेट में सामने अवपर्शुक प्रदेश में महसूस होती है। यह पीड़ा कटि प्रदेश से असहनीय रूप में शुरू होकर नीचे ओर जंघा के आभ्यंतर भाग तक जाती है और फिर नीचे वृषण अथवा वृहद भगोष्ठ और कभी-कभी अरु के भीतर की ओर जाती भी प्रतीत होती है। इसका प्रारंभ भी अकस्मात्, विश्राम के समय या परिश्रम करते समय हो सकता है। रोगी असहनीय वेदना से छटपटाता है और करवट बदलता रहता है। रोगी चिल्लाता है। मूत्रावरोध, मूत्र त्याग के समय तीव्र वेदना और मूत्र थोड़ी मात्रा में आता है और साथ ही वमन होने लगते हैं। पसीना आता है। रोगी का तापमान सामान्य से कम तथा नाड़ी की गति निर्बल तथा तीव्र हो जाती है। पथरी के खुरदरी या चपड़ी होने से मूत्र प्रणाली में अटक जाने से तीव्र वेदना के साथ थोड़ा-थोड़ा रक्त भी आता है। दर्द कुछ घंटे तक जारी रहता है और पथरी के गोणिका में लौट आने अथवा मूत्राशय में निकल जाने पर उतना ही आकस्मिक बंद हो जाता है जैसे वह शुरू हुआ था। दर्द के पश्चात् बहुमूत्रता हो सकती है और विशेष प्रयास से वह निकल सकती है।

### पथरी का निदान

परीक्षा करने पर वृक्क कोण पर स्पर्शसहता प्रतीत होती है, पर सामने उदर पर नहीं। मूत्र परीक्षा में लाल रक्तकणिकायें या पूय कोशिकायें मिल सकती हैं। साधारण एक्स-रे चित्र में कैल्शियम कार्बोनेट, कैल्शियम फास्फेट अथवा कैल्शियम आक्जिलेट की पथरियाँ दिखाई दे जाती हैं, शुद्ध यूरिक अम्ल की नहीं। अल्ट्रा सोनोग्राफी द्वारा पथरियों के आकार के साथ-साथ वजन व स्थिति भी ज्ञात हो जाती है।

### पथरी उत्पन्न होने के कारण

सामान्यतः मूत्र में दो प्रकार के पदार्थ घुले रहते हैं, जैसे कि क्रिस्टेलाइड यूरिक अम्ल, सोडियम, पोटेसियम और मैग्नीशियम यूरेट, कैल्शियम आक्जलेट, कैल्शियम फास्फेट, एमोनियम, मैग्नीशियम फॉस्फेट, कैल्शियम कार्बोनेट, सिस्टीन, नील, यूरिया आदि। इसके अलावा कोलाइड-म्यूसिन और कोन्ड्रोटिन, सल्फूरिक अम्ल आदि।

क्रिस्टेलाइड अतिसंतृप्त विलयन के रूप में कोलाइडों से अधिशोषित रहते हैं। यदि किसी कारणवश कोलाइडों और क्रिस्टेलाइडों का सामान्य अनुपात गड़बड़ा जाये तो क्रिस्टलीकरण की संभावना बढ़ जाती है, अर्थात् पथरी बनने की। वास्तव में पथरी बनने की शुरुआत मूत्र में आंशिक रूप से विलेय ऊपर वर्णित रासायनिक यौगिकों के वृक्क, मूत्रनली या मूत्राशय में जमने से ही होती है। रासायनिक संघटक के आधार पर पथरिया प्रायः चार प्रकार की होती हैं जैसे कैल्शियम पथरी, यूरिया पथरी, सिस्टीन पथरी और जीवाणु कृत पथरी कभी-कभी जैन्थीन, सिलिका और सल्फोनेमाइड निक्षेप की पथरियां भी देखने में आती हैं। ६० से ७० प्रतिशत पथरियां कैल्शियम आक्जलेट या पोटेसियम फॉस्फेट की बनी होती है। ६० प्रतिशत तक पथरियां वृक्क व आंतरिक मूत्रनली अर्थात् यूरेटर में पायी जाती हैं।

भिन्न भिन्न तत्वों की पथरियां अलग-अलग प्रकार से बनती हैं जैसे-कैल्शियम फास्फेट और कैल्शियम एमोनियम। मैग्नीशियम फास्फेट की पथरियां गोल या अंडाकार, कैल्शियम आक्जलेट की खुरदरी और अत्यंत कठोर, यूरिक अम्ल की पथरियां चिकनी पृष्ठ वाली होती है।

### पथरी बनती कैसे है?

यद्यपि पथरी बनने के कारणों की जानकारी अभी तक पूरी तरह नहीं मिल पायी है, लेकिन उसकी प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले कई कारणों का ज्ञान प्राप्त हो चुका है जो इस प्रकार से है- यदि मूत्र में विलेय यौगिकों का किसी कारण से निक्षेप होने लगे। कुछ वैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास भी है कि वृक्क आदि अंगों में पथरी बनने से रोकने वाला एक विशेष कारक होता है, जब यह व्यक्ति के मूत्र में सामान्य से कम मात्रा में मौजूद रहे तो पथरी की संभावना बढ़ जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मूत्र में कैल्शियम और आक्जलेट की अधिक उपस्थिति मूत्र की क्षारीयता बढ़ने, यूरिक अम्ल की मात्रा में वृद्धि और मूत्र में पथरी अवरोधक कारक 'ग्लाइकोज एमीनोलो गाइकेन' की कमी, पथरी बनने के लिए मुख्यतः जिम्मेदार होते हैं। जबकि निम्न कारण पथरी बनने की गति को तीव्र कर देते हैं-

- संक्रमण, विशेषकर यदि बार-बार हो और यह प्रैटियस व स्टेफिलोकोकस नामक जीवाणु से हो तो पथरी बनने की संभावना बढ़ जाती है। इसका एक कारण तो यह है कि इन जीवाणुओं में यूरिया नामक तत्व को विनिष्ट करने की क्षमता होती है व बार-बार संक्रमण के कारण वृक्क के क्षतिग्रस्त भाग में कैल्शियम आक्जलेट, फॉस्फेट या यूरिक अम्ल का जमाव शुरू हो जाता है।
- वृक्क में रक्त के साथ बहुत से तत्व जैसे यूरिक अम्ल, कैल्शियम के यौगिक, सिस्टीन आदि आते हैं। यदि रक्त में इन तत्वों की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो तो यह मूत्र द्वारा शरीर से बाहर नहीं निकल पाते और यदि ये रासायनिक पदार्थ इतनी अधिक मात्रा में वृक्कों में आ जायें कि शोषित होने के बाद भी वृक्क इन्हें शरीर से बाहर नहीं निकाल पाये तो ये पदार्थ वृक्कों में ही जमा होने लगते हैं। विशेषकर वृक्क के उस भाग में जो क्षतिग्रस्त या संक्रमित है और एक बार यदि जमाव क्रिया शुरू हो जाये तो फिर पुनः पुनः बनना शुरू हो जाता है। इन तत्वों का सन्तुलन या असन्तुलन आहार के घटकों, कुछ हार्मोन ग्रन्थियों के स्त्रावों आदि पर भी निर्भर करता है। जैसे कि मूत्र में कैल्शियम की उपस्थिति भोजन में ली गई मात्रा पर निर्भर करती है। यदि एक व्यक्ति प्रतिदिन अपने आहार से २-३ ग्राम से अधिक कैल्शियम लेता है तो उसके मूत्र में कैल्शियम की मात्रा बढ़ने लगती है। चूंकि हमारे देश में दूध और उससे बने पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है जो कि कैल्शियम के मुख्य स्रोत होते हैं। अधिक मात्रा में आक्जलेट वाले पदार्थ जैसे चाय, कोला, पेय, चॉकलेट, चुकंदर, खट्टे फल, पालक, हरी सब्जियां, सरसों का साग आदि। इनके अधिक सेवन से मूत्र में आक्जलेट की मात्रा में वृद्धि होने लगती है। आहार में अधिक मात्रा में प्रोटीन, विशेषकर मांस लेने से मूत्र में कैल्शियम और आक्जलेटी मात्रा में वृद्धि होती है। जबकि कुपोषित व्यक्तियों में भी पथरी बनने की संभावना अधिक होती है। विटामिन ए, पथरी बनने को रोकती है, जबकि विटामिन सी और डी के अधिक सेवन से पथरी होने ककी संभावना बढ़ती है। कारण, मूत्र का एक-तिहाई आक्जलेट विटामिन सी से ही होता है जबकि सोडियम और गेहूं की भूसी पथरी बनने को रोकते है।

कुछ हारमोन्स ग्रन्थियों के रोग जैसे पेराथायराइड ग्रन्थि के रोग में कैल्शियम हड्डियों से अधिक मात्रा में रिसता है व रक्त में इसका स्तर बढ़ जाता है। इसी प्रकार गठिया, जोड़ों के रोगों में यूरिक अम्ल शरीर में अधिक मात्रा में बनता है। इसका जमाव पथरी का कारण बन जाता है।

३. मूत्र में अम्ल और क्षार सदैव एक विशेष साम्यावस्था में रहते हैं। जब मूत्र अम्लीयता (पीडिटी) बढ़ने लगती है तो आक्जलेट व सिस्टीन नामक तत्व जमने लगते हैं। इसी प्रकार के मूत्र की अत्यधिक क्षारीयता की स्थिति में फास्फेट जमना शुरू हो जाता है।

## पथरी की चिकित्सा

यों तो आधुनिक चिकित्सा पद्धति में पथरी का एक मात्रा उपचार शल्य चिकित्सा ही है। आयुर्वेद में भी प्राचीन समय से ही पथरी को निकालने के लिए शल्य कर्म का विधान था, जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने अपनी संहिता में इस शल्य कर्म का विस्तृत उल्लेख किया है। लेकिन पथरी के रोगियों के लिए एक विडम्बना यह रहती है कि अक्सर एक पथरी की शल्य चिकित्सा कराने के पश्चात ५ से ७ साल के अंतराल से ही ७० प्रतिशत से अधिक रोगियों में वृक्क की पथरियां बनने लगती हैं।

यद्यपि ऐसी लघु पथरियां जो एक सेन्टीमीटर से अधिक बड़ी नहीं हैं और जो दर्द के पुनःपुनः आक्रमण के लिए उत्तरदायी होती हैं, रोगी को प्रचुर मात्रा में तरल पिलाने, आकर्षहर औषधियों के साथ कुछ विशेष आयुर्वेदिक औषधियों के सेवन कराने से, इस प्रकार की पथरियों के मूत्र मार्ग से निकल जाने की संभावना रहती है। वैसे आजकल जो लोग शल्य चिकित्सा से बचना चाहते हैं अथवा जिनका मधुमेह, हृदय रोग और बड़ी उम्र के कारण शल्य कर्म नहीं किया जा सकता, उन लोगों के लिए 'लीथोट्रिप्सी' विधि ने एक नई आशा जगाई है। इस विधि में लीथोट्रोपर मशीन से एक विशेष प्रकार की तरंगों की बौछार करके पथरी को अंदर ही तोड़कर मूत्र मार्ग से निकाल दिया जाता है।

वैसे हमने ७-८ वर्ष के अनुसंधान के बाद कदली क्षार, श्वेत पर्पटी, हजरूल, जहूद भस्म, गुलदाऊदी, क्रेटीवा नुखाला, पाषाण भेद, मोखेल आदि बारह से अधिक औषधियों के मिश्रण से एक विशेष आयुर्वेदिक योग तैयार करवाया है जिसके सेवन कराने से ५८ प्रतिशत तक वृक्क मार्ग की पथरियों को बिना शल्य चिकित्सा के निकालने में हमें सफलता मिली है। यदि पथरियों का आकार ५-७ मि.मी. के बीच है तो इस औषधि के केवल एक सप्ताह सेवन कराने से ही ८० प्रतिशत तक पथरी के मूत्र मार्ग से निकल जाने की संभावना रहती है। यदि पथरी का आकार एक सेंटीमीटर से अधिक है तब इस औषधि का एक से डेढ़ माह तक नियमित सेवन कराना होता है। जबकि इनसे अधिक बड़ी पथरियों के लिए इसका सेवन तीन माह तक कराना होता है। इससे पथरी धीरे-धीरे घुलकर मूत्र मार्ग से निकल जाती हैं।

इस आयुर्वेदिक योग का परीक्षण हमने ८७ रोगियों पर किया था जिनमें २५ रोगियों का परिणाम पूर्ण संतोषप्रद रहा। इस औषधि की दो और विशेषताएं भी हैं कि इसके सेवन करने से शल्य चिकित्सा करा चुके रोगियों में पुनः पथरी बनने की संभावना नगण्य रह जाती है और मूत्र मार्ग के संक्रमण रोगों से भी सुरक्षा होती है।

## पथरी से बचाव के उपाय

पालक, सरसों का साग, बथुआ, प्याज, टमाटर, दूध से पदार्थ (पनीर, बर्फी आदि), माँस, मछली, अंडे, कैल्शियम युक्त आधुनिक औषधियों का अधिक सेवन न करें। एसीडिटी कम करने के लिए एंटेसिड औषधियां, कोला पेय आदि के अधिक सेवन करने से शरीर में कैल्शियम आक्जलेट की मात्रा बढ़ने लगती है, अतः पथरी बनने की संभावना रहती है। पथरी की शल्य चिकित्सा के बाद विटामिन-सी, डी तथा कैल्शियम पदार्थों का अधिक सेवन न करें। पथरी बनने की संभावना ३० से ४५ वर्ष की आयु में अधिक रहती है, अतः इस आयु के व्यक्तियों को अपने आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

वृक्कों, आन्तरिक व बाहरी मूत्र नली व मूत्र थैली के संक्रमण की तुरंत चिकित्सा की जानी चाहिए। मूत्र का बार-बार आना, दर्द होना, कम मात्रा में रूक-रूक कर आना आदि संक्रमण के द्योतक हैं। मूत्र रूकावट का उपचार भी शीघ्र किया जाना चाहिए।



पथरी के रोगियों को नियमित रूप में कुछ अधिक मात्रा में पानी लेना चाहिए, विशेषकर गर्मी के मौसम में कम से कम ४ लीटर पानी रोज पियें। रात को भी पानी पीकर सोना चाहिए, विशेषकर कैल्शियम आक्जलेट की पथरी से पीड़ित व्यक्तियों को पानी अधिक मात्रा में पीना चाहिए, ताकि अधिक मात्रा में मूत्र बने।

### प्राकृतिक चिकित्सा

शरीर में दूषित पदार्थों के एकत्र होने से ही यह रोग उत्पन्न होता है। कई बार शल्य कर्म कराने के बाद भी पुनः पथरी का निर्माण हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा चयापचय की क्रिया को उत्तेजित करके पथरी रोग को स्थाई रूप से ठीक किया जा सकता है। रक्त को शुद्ध करके नई रक्तकोशिकाओं का निर्माण होने से लाभ मिलने लगता है। पथरी वाले रोगी को तीव्र वेदना होने पर वेदना वाले स्थान पर भिगोकर निचोड़ा हुआ तैलिया रखें ऊपर गर्म थैली रखकर कंबल से ढक दें। तुरंत लाभ मिलता है। जरूरत के हिसाब से गरम-ठण्डा सेक या गरम-ठण्डा कटिस्नान (३ मिनट गरम, २ मिनट ठण्डा) देकर लपेट बांधें। स्थानीय वाष्प देकर भी लपेट बांध सकते हैं। इससे तीव्र दर्द में लाभ मिलता है।

दर्द ठीक होने के बाद गरम-ठण्डा सेक पेट पर करके ३० मिनट के लिए पेडू पर मिट्टी की पट्टी रखें। तत्पश्चात् नीम के पत्ते उबले गुनगुने पानी का एनीमा लगायें। एनीमा के बाद गरम-ठण्डा कटिस्नान (३ मिनट गरम, २ मिनट ठण्डा) दे एवं लपेट बांधें। मूत्र का वेग रुक गया हो तो गरम पैं स्नान देना चाहिए। यदि मूत्र के साथ रक्त आ रहा हो तो पैं पर लपेट बांधें एवं गुर्दे वाले स्थान पर बर्फ की थैली से सेक करते रहें। रोगी को पूर्ण विश्राम करायें। रोगी की स्थिति के अनुसार चिकित्सा का निर्धारण करें।

### आहार चिकित्सा

रोगी को २४ घंटे में कम से कम ४-५ लीटर पानी पियें ताकि मूत्र निष्कासन अधिक मात्रा में हो नारियल का पानी, ककड़ी, खीरा, नीरा, संतरा, मौसम्मी, नींबू, अन्ननास इत्यादि का भरपूर सेवन करायें। अंकुरित कुलथी चबा-चबाकर खिलाएं। कुलथी पथरी को तोड़कर निकाल बाहर करती है। पाषाण भेद का चूर्ण शहद के साथ चार्टें। इमली का पानी भी लाभदायक रहता है।

पनीर, मक्खन, मांस, चॉकलेट, केक, अण्डा आदि में कैल्शियम अधिक होता है। अतः इनका सेवन नहीं करें अथवा कम करें। पालक, टमाटर, मिर्च, बैंगन, अंजीर, चाय में आक्सेलेट्स पाये जाते हैं। अतः इनके प्रयोग से भी बचें। मांसाहार करने से यूरिक एसिड बनता है तथा यूरिक एसिड पथरी बनाते हैं। अतः मांसाहार नहीं करें।

छोटी पथरियां प्राकृतिक उपचार एवं आहार से आसानी से निकल जाती है। यदि पथरी बड़ी एवं आपात स्थिति हो तो अन्य पद्धतियों द्वारा चिकित्सा करवानी चाहिए।

## नवजात शिशु एवं बच्चों के पेट दर्द एवं चिकित्सा

पेट के अंदर उदर अंतरांग में होने वाले प्रत्येक प्रकार के दर्द को पेट दर्द या कॉलिक कहा जाता है जैसे आमाशयिक शूल (गैस्ट्रिक कॉलिक), यकृत में होने वाले दर्द (हैप्टिक कॉलिक), वृक्कों में होने वाला दर्द (रीनल कॉलिक), गर्भाशय में होने वाला दर्द इत्यादि। पर नवजात शिशुओं एवं बच्चों में होने वाले अधिकांश पेट दर्द आहार नाल से ही सम्बन्धित रहते हैं जैसे कि अजीर्ण, अफारा, कब्ज, पीलियाजन्या, आँत्र कृमिजन्य पेट दर्द इत्यादि। इनके अतिरिक्त छोटे शिशुओं की पेट से सम्बन्धित एक अन्य परेशानी भी होती है, उनका भूखा रहना अर्थात् माँ द्वारा पर्याप्त मात्रा में दूध की आपूर्ति न कर पाना। कभी-कभी बच्चों में आँत्रपुच्छ शोथ, आमाशय शोथ, आमाशय व्रण, पेचिश, आँत्र अवरोध व वृक्क रोगों के कारण भी उदर में सख्त दर्द होने लग जाता है।

### कारण :

वातकारी, गरिष्ठ और दूषित खाद्य पदार्थों का सेवन , आँत्र में मल के सूख कर जम जाने के कारण, तीव्र विरेचक औषधियों का बार-बार सेवन करना, आँतों में दूषित भोजन के सड़ने से उत्पन्न हुई गैस का आँतों में ही इकट्ठे होते रहना, आमाशय में जठर अम्ल का व आँतों में अधिक पित्त की मात्रा का मौजूद रहने लगता, आँतों में गांठें पड़ जाना, आँत में कीड़ों की उपस्थिति, आँत्र भित्ति की किसी विशेष खाद्य पदार्थ के प्रति तीव्र अनुर्जता (एलर्जी), तीव्र कब्ज, आमाशय व आँत्र की शोथ, कुछ हानिकारक विषैले पदार्थों का सेवन, आहार का आवश्यकता से कम या अधिक मात्रा में सेवन करना और कुछ मानसिक व स्नायविक रोग जैसे हिस्टीरिया आदि।

शिशुओं और बच्चों के पेट दर्द को भली प्रकार से जानने व समझने में अक्सर यह समस्या सामने आती है कि छोटे शिशु तो कदापि इस बात का पता नहीं दे पाते कि उनके पेट में दर्द है। बस, वे रोने और बेचैन रहने लगते हैं तथा खाना-पीना छोड़ देते हैं। यद्यपि ऐसी कुछ परिस्थितियों में दर्द का स्थान पेट न होकर मुँह या कान के आस-पास हो सकता है जो स्तनपान कराने की स्थिति में दबने लगता है जिससे दर्द की तीव्रता बढ़ने से शिशु बेचैन हो उठता है। यद्यपि अधिकांश तीव्र प्रकार के पेट दर्दों में शिशु अपने पैरों को घुटनों से मोड़कर पेट की तरफ कर लेते हैं और पेट पर हल्के से स्पर्श से और जोर से तड़पने लग जाते हैं। यदि दर्द का केन्द्र अन्य स्थान पर है तो शिशु ऐसा व्यवहार नहीं करते ।

शिशु अपने जीवन के प्रथम कुछ सप्ताह तक बहुत अधिक भूख अनुभव करता है। यदि उस अवस्था में उसे पर्याप्त मात्रा में माँ का दूध न मिले तो उसकी भूख शांत नहीं हो पाती तथा वह बेचैन व लगातार रोता रहता है। इस कारण उसका वजन बढ़ने की बजाय घटने लगता है। नवजात शिशुओं के जीवन का प्रथम माह, विशेषकर प्रथम दो माह सप्ताह बहुत अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि इसी समय में उसे स्वयं को नये वातावरण के साथ सामंजस्य बैठाना पड़ता है। इसी कारण ७२ प्रतिशत नवजात शिशुओं की मौत प्रथम महीने और उसमें से भी आधे शिशुओं की मौत प्रथम २४ घंटे में हो जाती है।

जीवन के प्रथम दो-तीन दिनों में शिशुओं का वजन तेजी से गिरता है और वह बिना किसी ज्ञात कारण के उसके शरीर का भार का १० ÷ तक कम हो सकता है, लेकिन जिन शिशुओं का वजन जन्म के समय ही अन्य सामान्य वजन वाले शिशुओं का वजन पांचवें दिन से १० वें दिन तक पुनः बढ़ना शुरू हो जाता है। यदि शिशुओं को ऐसी अवस्थाओं के दौरान पर्याप्त मात्रा में माँ का दूध न मिले तो ऐसी स्थिति में उसकी त्वचा शुष्क व झुर्रियां युक्त प्रतीत होने लगती है व शिशु लगातार रोता रहता है और चिड़चिड़ा बन जाता है। कुछ माताएं अपने शिशुओं को अधिक मात्रा में दूध का सेवन कराती हैं तथा अपने दूध के अतिरिक्त उन्हें गाय आदि का बाहरी दूध भी देने लग जाती है। इससे शिशु का वजन तो तेजी से बढ़ता ही है, इसके साथ ही दूध में वसा की मात्रा अधिक होने से शिशुओं को मल त्याग समय पर नहीं हो पाता और उनके पेट में कष्ट और दर्द रहने लगता है जबकि कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होने से आँत्र में उसका किण्वन अधिक होने लग जाता है। उनके पेट में तनाव व अफारा जैसी स्थिति बन जाती है और शिशु परेशान रहने लगता है। दो वर्ष से अधिक आयु के बच्चे अपने माँ-बाप को अपने पेट दर्द की सूचना देने लग जाते हैं किन्तु वे भी उसकी तीव्रता व प्रकार के विषय में ठीक ठीक नहीं बता पाते हैं।

## लक्षण

पेट का दर्द एकाएक या धीरे-धीरे शुरू होकर नाभि के स्थान पर तीव्र रूप में ठहर जाता है। कभी-कभी तो दर्द की तीव्रता इतनी अधिक रहती है कि रोगी उसके कारण बेहोश तक हो जाता है, दर्द से तड़पने लग जाता है तथा अपने पेट को दोनों हाथों से दबाता है। कभी-कभी वह आँधा लेट जाता है। पेट को दबाने से दर्द कुछ कम हो जाता है। रोगी बच्चा खाना-पीना छोड़ देता है तथा उसे कब्ज भी हो सकती है। कभी उन्हें वमन या मितली भी आने लग जाती है। मूत्र भी थोड़ी मात्रा में लाल रंग का आने लगता है। श्लेष्मिक उदर शूल में रोग के शुरू होने से पहले मल के साथ श्लेष्मा आती है। वायु रुक जाने से पैदा उदर शूल में पेट में तनाव, अफारा और गुड़गुड़ाहट होने लगती है व बदबूदार डकारें आती हैं। कभी-कभी टटोलने पर पेट में गोला सा प्रतीत होता है। गर्म सेक देने से रोगी को आराम मिलता है। प्रायः वायु के निकल जाने से दर्द में आराम आ जाता है।

पित्तजन्य उदर शूल में दर्द धीरे-धीरे बढ़ता है और साथ में मिली तथा वमन के कष्ट भी रोगी को हो सकते हैं। वमन के साथ पित्त मिश्रित होकर आ सकता है। इस प्रकार का पेट दर्द कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक रह सकता है। यदि यह दर्द अधिक समय तक बना रहे तो सम्भवतः पीलिया रोग की संभावना रहती है। आँतों में शोथ भी हो सकती है।

कई बार बच्चों के पेट में शुष्क मल के सुद्धे जम जाने से पेट का दर्द होने लगता है। सामान्यतः पर्याप्त मात्रा में माँ के दूध का सेवन करने वाले शिशुओं को कब्ज की समस्या नहीं रहती, साथ ही उनका मल भी ज्यादा नरम होता है। किन्तु बाहरी दूध (गाय) का सेवन करने वाले शिशुओं का मल सख्त और कभी-कभी उन्हें कब्ज की शिकायत होती रहती है। जन्मोवरांत ४ से ६ वें दिन में शिशु के मल में कई परिवर्तलन आते हैं। प्रारम्भिक दिनों में यह पतला, हरे-पीले रंग का और म्यूकस युक्त हो सकता है, किन्तु कुछ दिन के उपरांत ही यह सफेद रंग का आने लग जाता है। माँ के द्वारा कोई विरेचन औषधि लेने या किसी विशेष आहार का सेवन करने से शिशुओं के मल की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है। अधिक मात्रा में माँ का दूध पीने वाले शिशुओं की मल त्याग की आवृत्ति व प्रकार में अंतर आ जाता है, लेकिन शिशुओं में अतिसार जैसी समस्या पैदा नहीं होती है।

६० प्रतिशत से अधिक नवजात शिशु प्रथम २४ से ४८ घंटे के मध्य मेकोनियम का विसर्जन करते हैं, जबकि शेष शिशुओं में ऐसा कुछ और समय में हो जाता है। इसलिए आँत्र अवरोध की संभावना ऐसे शिशुओं में बढ़ जाती है जो समय पर मेकोनियम का विसर्जन नहीं करते। इस प्रकार की आँत्र के शोथ के कारण हो सकते हैं जैसे आँत्र में स्टेनोसिस, जन्मजात विसंगति आदि।

कब्ज की दशा में बच्चों को मल विसर्जन के समय मल शुष्क गुठलियों के रूप में आता है। दर्द होने पर रोगी ऐसा अनुभव करता है जैसे आँतें कटी जा रही हैं और पेट में बहुत भारीपन है। अक्सर बच्चे मल विसर्जन में लापरवाही बरतते हैं जिससे उनकी अन्तड़ियाँ सदैव मल से भरी पड़ी रहती हैं। इस कारण मल शुष्क होकर सुद्धे के रूप में परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए ऐसे बच्चों को अक्सर कब्ज की शिकायत रहती है। कुछ मातायें भी अपने बच्चों को लाड़-प्यार के कारण भारी, गरिष्ठ भोजन अधिक मात्रा में सेवन कराती रहती हैं। इससे भी बच्चों को अक्सर अपच या कब्ज की समस्या का सामना करना पड़ता है।

स्नायविक उदर शूल प्रायः मानसिक उत्तेजनाओं जैसे क्रोध, डर, चिन्ता, वहम आदि कारणों तथा अन्य मानसिक और स्नायविक रोग जैसे हिस्टीरिया के आक्रमण व छोटे जोड़ों के दर्द, गठिया आदि के आक्रमण के समय हो सकता है। इसमें वायु चलने और अफारा जैसे लक्षण बहुत कम जाये जाते हैं। रोगी बच्चा दर्द का स्थान ठीक प्रकार से बता नहीं पाता है। कभी एक ओर तो कभी दूसरी ओर इशारा करता है। कभी पीठ की ओर तो कभी छाती की तरफ बताता है। रोगी के पेट को दबाने से दर्द में थोड़ा आराम आ जाता है।

कई बार उछलने, कूदने, गिर पड़ने, भारी बोझ उठा लेने के बाद भी पेट में दर्द होने लग जाता है, जो माध्यम से तीव्र प्रकार का होता है तथा अक्सर एक ही स्थान पर बना रहता है। इस दर्द के साथ कई बार मल मिश्रित वमन आने लग जाती है तथा यह दर्द अनेक बार घातक सिद्ध हो सकता है।

आँत्र में कृमियों की उपस्थिति से भी बच्चों के पेट में मध्यम से तीव्र प्रकार का उदर शूल हो सकता है। आँत्र कृमिजन्य उदर शूल में आँत्र कृमियों के अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं तथा रोगी में रक्ताल्पता, कब्ज या कभी अतिसार जैसे लक्षण भी मिलते हैं। शोथजन्य पेट दर्द में आँतों और आमाशय में शोथ के लक्षण भी पाये जाते हैं।

कई बार बच्चे अज्ञानवश या भूलवश कई विषाक्त पदार्थों को खा लेते हैं, जिनके प्रभाव के कारण बच्चों में अन्य लक्षणों के अतिरिक्त उदरशूल के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं जैसे शीशा, ताँबा वाले पदार्थों के खा लेने पर।

सीसा खा लेने पर बच्चों को उदर शूल के अतिरिक्त पेट में खिंचाव, पीठ, हाथ और पाँव में दर्द रहने लगता है। कलाई की माँसपेशियाँ पक्षाघात ग्रस्त हो सकती हैं। मसूढ़ों पर नीली लकीरें पड़ जाती हैं और रोगी में अत्यंत कमजोरी भी आ जाती है। जबकि ताँबा खा लेने पर उदर में दर्द और दूसरे लक्षणों के साथ वमन और मितली भी अधिक आने लग जाती है लेकिन रोगी को कब्ज नहीं होती। साँस लेने में कठिनाई, शरीर का रंग पीला पड़ना, होठ नीले पड़ने लग जाते हैं और आँखें अंदर धंस जाती हैं। मसूढ़ों पर बैंगनी रंग की रेखाएँ पड़ सकती हैं। पेट को दबाने पर दर्द में वृद्धि होती है।

कई बार बच्चों को उदरशूल की बजाय पेट में मरोड़ अर्थात् अन्तड़ियों में रस्सी बाँटने की भाँति का दर्द और कष्ट महसूस होता है। मरोड़ का उदरशूल की तुलना में कम तीव्र व सहनीय होता है और पेचिश रोग में प्रायः पाया जाता है।

कई बार बच्चों को पेट में दर्द वृक्कों के रोगों के कारण अनुभव होता है। यह वृक्क शूल बच्चों को वृक्को के स्थान पर ही होता है और अत्यंत तीव्र रूप में असहनीय प्रकार का होता है तथा दर्द की टीस जाँघों के जोड़ और वृषणों की ओर जाती है। इस दर्द के साथ रोगी का मूत्र बंद हो सकता है या मूत्र में रक्त आने लग जाता है। इसके विपरीत उदर शूल प्रायः नाभि के आस-पास होता है और दायीं एवं बायीं ओर की तरफ फैलता है। मूत्र आने से प्रायः किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

पित्ताशय के रोगों या उसकी पथरी के कारण भी उदरशूल होता है। इस दर्द की टीस सदैव ऊपर दायें कंधे और उसके पीछे जाती है। दर्द पित्ताशय के स्थान पर होता है और उसके शुरू होने के दो-तीन दिन बाद प्रायः पीलिया के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

## उपचार

शिशुओं और बच्चों के पेट दर्द के उपचार के लिए सबसे पहले तो पेट दर्द के कारण को ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है और फिर उसी के अनुसार उसकी चिकित्सा की जाती है। लेकिन पेट दर्द के उपचार के दौरान बच्चों को गरिष्ठ व अधिक तला-भुना भोजन देना बंद करके सुपाच्य और तरल आहार पर ही रखा जाता है। छोटे शिशुओं को माँ का दूध पिलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बच्चों को एक-दो दिन तक केवल नींबू की शिकंजी, अंगूर संतरा, मौसम्मी आदि का रस, मूंग, मसूर की दाल का पानी फलों तथा सब्जियों का पतला सूप दिया जा सकता है। दूध के स्थान पर बच्चों को मक्खन रहित दही की पतली लस्सी भी थोड़ा सा भुना हुआ जीरा और काला नमक मिला कर दिया जा सकता है।

यदि बच्चे ने पिछले २-३ दिन से मल त्याग नहीं किया या वह पहले भी मल त्याग में शुष्क मल सुद्दों के रूप में करता रहा है तो उसे सख्त कब्ज हो सकती है। ऐसे बच्चों को किसी प्रकार की विरेचक औषधि देने की बजाय पहले एनीमा का प्रयोग करके निचली अन्तड़ी में फंसे सुद्दों को निकाला जाये। एनीमा के लिए बाजार में मिलने वाली आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की वतियों का उपयोग किया जा सकता है अथवा बच्चों के मल द्वार के अंदर थोड़ा सा सरसों का तेल या शुद्ध घी या एरण्डी अथवा बादाम का तेल लगाया जा सकता है। इनके प्रयोग से २०-२५ मिनट में ही १-२ मल खुल कर आ जाने से मलाशय और अन्तड़ियों में फंसा शुष्क मल निकल जाता है तथा रोगी को आराम आ जाता है।

यदि बच्चों में दर्द का कारण अजीर्ण या अन्तड़ियों में पड़े मल के सड़ांध से उत्पन्न गैस है तो उसके पेट पर गर्म पानी की सेक करने और नाभि के आस-पास पानी में हींग घोल कर या लहसुन के रस से हलके हाथों से मालिश करने पर २०-२५ मिनट में आराम आ जाता है। इसके साथ बच्चों को थोड़ा सा अदरक का रस शहद में मिलाकर चटाने से भी लाभ होता है।



**COLLECTION OF VARIOUS**  
**-> HINDUISM SCRIPTURES**  
**-> HINDU COMICS**  
**-> AYURVEDA**  
**-> MAGZINES**

**FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)**

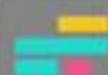
**Made with**



**By**

**Avinash/Shashi**

**Icreator of  
hinduism  
server!**



**KAPWING**





**COLLECTION OF VARIOUS**  
**-> HINDUISM SCRIPTURES**  
**-> HINDU COMICS**  
**-> AYURVEDA**  
**-> MAGZINES**

**FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)**

**Made with**  
  
**By**  
**Avinash/Shashi**

**Icreator of**  
**hinduism**  
**server!**

 **KAPWING**

बच्चों को पेट दर्द के लिए अजवायन, हींग और हरड़ का चूर्ण समान मात्रा में लेकर और उसमें एक चम्मच चूर्ण को पानी में उबाल कर ५ से १० मिली. की मात्रा गुनगुना पिलाने से पेट दर्द में आराम आ जाता है। छोटे शिशुओं का यही चूर्ण एक चम्मच माँ के दूध में एक ग्राम की मात्रा में घोल कर पिलाने से तत्काल आराम आ जाता है।

उन बच्चों या शिशुओं को जिनके पेट अक्सर खराब रहते हैं, उन्हें सदैव ही अजवायन और हींग का पानी पिलाते रहना चाहिए तथा उनके पेट पर दिन में कम से कम १-२ बार १०-१२ मिनट के लिए गर्म पानी की बोतल से अवश्य ही सेक देना चाहिए। छोटे शिशुओं को अपना दूध पिलाने के तुरंत बाद बिस्तर पर न लिटाकर ५-१० मिनट तक अपने कंधों से लगा कर रखना चाहिए जिससे ग्रास प्रणाली में भरा दूध आमाशय में चला जाये और बच्चे को १-२ डकारें आ जायें। अन्यथा दूध पिलाकर सीधे ही बिस्तर पर बच्चे को सुला देने से उसे दूध की वमन (उल्टी) आ जाती है।

बच्चों की पाचन क्रिया को सुधारने वाले योगों का प्रयोग भी करना चाहिए। इस प्रकार की कई एन्जाइम युक्त औषधियां बाजार में उपलब्ध हैं। इनके स्थान पर स्व निर्मित योग का प्रयोग भी कराया जा सकता है। यह औषधि इस प्रकार से तैयार की जा सकती है- पीली हरड़ का छिलका, आँवला, बहेड़ा और अजवायन समान मात्राओं में लेकर उन्हें बारीक पीस कर चूर्ण बना लें और उसमें थोड़ा सा काला नमक मिला कर रख लें। इस चूर्ण में से एक-चौथाई से एक चम्मच चूर्ण बच्चों की आयु अनुसार दिन में एक-दो बार गर्म पानी से दें अथवा माँ के दूध घोल कर चटा दें। इससे बच्चों की पाचन क्रिया सुधरती है और वे अनेक पेट रोगों से सुरक्षित रहते हैं।